दान बहादुर पाठक

भाषा विज्ञान

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ-७

भाषा-विज्ञान

(हिन्दी भाषा और लिपि)

(प्रश्नोत्तर रूप में)

प्राक्कथन लेखक

डॉ० परसनाथ तिवारी, एम्० ए०, डी० फ़िल्०

हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक द्वय

डॉ० दानबहादुर पाठक 'वर'

एम्० ए० (हिन्दी), एम्० ए० (भाषा-विज्ञान), पी-एच्० डी०

डॉ० मनहर गोपाल भार्गव

एम्० ए०, पी-एच्० डी०

प्रकाशन केन्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226007

एक प्रामाणिक पुस्तक

(संशोधित संस्करण)

Linguistics
Hindi Language &
Graphemics

प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र
रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226007
(फोन : 31858)

मूल्य : बीस रुपये पचास पैसे [20.50]
मुद्रक : भार्गव ऑफसेट, इलाहाबाद—211006

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी समस्त प्रश्न और उनके उत्तर लिखे गए हैं, जिनके माध्यम से इस विषय के दोनों पक्षों—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक—से सम्बद्ध सभी प्रमुख समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। विशेषतया दूसरे पक्ष में हिन्दी की विभिन्न समस्याओं पर विस्तार से विचार किया गया है। उसका विकास-क्रम संक्षेप में बतलाते हुए उसका क्षेत्र निर्धारित किया गया है और फिर उसकी प्रधान बोलियों का भाषा-शास्त्रीय विवेचन किया गया है। अगले उपखण्डों में क्रमशः हिन्दी की ध्वनि, शब्द-रचना आदि (शब्द भण्डार के स्रोत, प्रकृति-प्रत्यय, सर्वनाम, विशेषण, लिंग, क्रिया, उपसर्ग-प्रत्यय, अव्यय, कारक चिह्न आदि) पर प्रकाश डाला गया है और अन्त में नागरी-लिपि के विकास तथा उसके गुण-दोषों का परिचय दिया गया है। इस प्रकार हिन्दी-भाषा-विज्ञान की सभी प्रमुख समस्याओं का समाहार प्रस्तुत पुस्तक में कर दिया गया है और सारा विवेचन सरल तथा सुस्पष्ट शैली में होने के कारण विद्यार्थियों की दृष्टि से बहुत उपयोगी बन गया है। आशा है, वे इसका स्वागत करेंगे।

—(डॉ०) पारसनाथ तिवारी
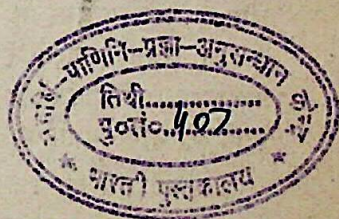
भूमिका

भाषा और विचार का अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य के मस्तिष्क में जब विचार उठे होंगे, तभी भाषा भी आई होगी। पाणिनि ने बताया है—

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥

अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझकर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि-शक्ति पर ज़ोर डालता है और वह शक्ति वायु को प्रेरित करती है, जिससे शब्द-वाक् की उत्पत्ति होती है। इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के विकास के साथ-साथ वाणी का भी विकास हुआ है।

पाणिनि के उपर्युक्त कथन में वैज्ञानिकता का पुट है। सच तो यह है कि भारत के प्रारम्भिक वैयाकरणों ने आरम्भ काल में ही संस्कृत की ध्वनियों और शब्द-भंडार का आश्चर्यजनक सटीकता के साथ इतना विश्लेषण कर लिया था तथा व्याकरण को इतना वैज्ञानिक ढाँचा दे दिया था, जितना कि रोम के प्राचीन तथा जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैण्ड के आधुनिक भाषा-विज्ञानी अभी तक नहीं दे सके।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन विद्यार्थियों के लिए हुआ है। इसमें प्राचीन, अर्वाचीन एवं अद्यतन प्रचलित सभी सिद्धांतों को समाहित करने का प्रयास किया गया है। इस सृजन के पार्श्व में हमारा उद्देश्य रहा है कि विद्यार्थीगण भाषा-विज्ञान की प्राचीन काल से लेकर अब तक की समस्त गतिविधियों से परिचित हो जाएँ और अपने को भाषा-विज्ञान में कोरा न महसूस करें।

सर्वप्रथम हम उन लेखकों और विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं, जिनकी रचनाओं का उपयोग इस कृति के कलेवर-संपोषण में किया गया है। विद्वद्वर डॉ० पारसनाथ तिवारी ने इस ग्रन्थ का 'प्राक्कथन' लिखकर इसे पारस-स्पर्श दिया है, इसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञता-वश नमित हैं। प्रकाशक पं० पद्म-धर मालवीय के हम अत्यन्त आभारी हैं, जिनकी कृपा से यह पुस्तक अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत हो रही है।

—(डॉ०) दानबहादुर पाठक 'वर'
(डॉ०) मनहर गोपाल भार्गव

अनुक्रमणिका

खण्ड 1 : भाषा-विज्ञान

खण्ड 2 : हिन्दी-भाषा

अध्याय 6—हिन्दी-ध्वनि-समूह

खण्ड १ : भाषा-विज्ञान

अध्याय | 1

भाषा-विज्ञान : परिभाषा एवं क्षेत्र

प्रश्न 1—भाषा-विज्ञान की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनका विवेचन करते हुए उसकी परिभाषा निश्चित कीजिए।

उत्तर—भाषा-विज्ञान दो शब्दों से मिलकर बना है—भाषा और विज्ञान। भाषा मनुष्य के परस्पर विचार-विनिमय का सर्वोत्तम साधन है। भाषा का यह प्रयोग ध्वनियों पर आधारित है। ध्वनियों की विशिष्ट संयोजना सार्थक भाषा का निर्माण करती है और फिर मनुष्य उसी के माध्यम से अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन करता है।

विज्ञान का अर्थ है शास्त्रीय ज्ञान या अध्ययन। दूसरे शब्दों में उसे ज्ञान का विशिष्ट एवं सम्यक् अध्ययन कहा जा सकता है। अस्तु, भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला विषय 'भाषा-विज्ञान' हुआ।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा पर विचार करते समय इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि भाषा परिवर्तनशील है, अतएव इसके नियमों में अपवाद भी हो सकते हैं। इस विज्ञान में भाषा से सम्बन्धित नाना प्रकार की समस्याओं—भाषा, भाषा का विकास, भाषा की उत्पत्ति-गठन, वर्गीकरण, भाषा के अंग-उपांगों (स्वन, स्वनिम, अक्षर आदि) का विश्लेषण किया जाता है। इसका क्षेत्र एक जाति, एक देश और एक भाषा तक सीमित न रहकर इसका विस्तार सभ्य और असभ्य, शिक्षित, अर्ध शिक्षित तथा अशिक्षित तक हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन ही इसका लक्ष्य है।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा

भाषा-विज्ञान के सामान्य परिचय के बाद अब भाषा-विज्ञान की विभिन्न परिभाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना तथा उसकी एक उपयुक्त परिभाषा करना उचित है। प्रमुख विद्वानों द्वारा की गई भाषा-विज्ञान की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

डॉ० पी० डी० गुणे ने भाषा-विज्ञान की परिभाषा देते हुए लिखा है—"तुलनात्मक भाषा-विज्ञान या केवल भाषा-विज्ञान भाषा विज्ञान है। यथार्थतः 'फिलॅलॉजि' शब्द का अर्थ किसी भाषा का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन है। जर्मनी में, यूरोप के अन्य देशों की भाँति ही 'फ़िलॅलॉजि' का अर्थ अब भी किसी साहित्य का अध्ययन है।......सम्प्रति भाषाओं के किसी विशेष वर्ग के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का उद्देश्य है—"उनकी पारस्परिक समानताओं का अन्वेषण एवं उनकी व्याख्या।"

डॉ० गुणे की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(1) भाषाओं का विशिष्ट अध्ययन ही भाषा-विज्ञान या तुलनात्मक भाषा-विज्ञान है।
(2) साहित्यिक दृष्टि से भाषाओं का अध्ययन भाषा-विज्ञान है।
(3) विश्व के किसी व्यक्ति की भाषा और साहित्य का अध्ययन भाषा-विज्ञान में होता है।
(4) भाषा-विज्ञान से विभिन्न वर्गों की भाषाओं की वर्गीय समानता तथा असमानता का अध्ययन होता है।

"एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" में भाषा-विज्ञान को भाषाओं का विज्ञान कहा गया है, क्योंकि इसमें भाषाओं के रूप गठन तथा उनके विकास का अध्ययन किया जाता है :—

"The word Philology is here taken as meaning the science of language i. e. the study of the structure & development of languages."

डॉ० श्यामसुन्दर दास भाषा-विज्ञान की परिभाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं कि इनमें "भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।…… इसमें शब्दों की उत्पत्ति, रूप-विकास तथा वाक्यों की बनावट आदि सभी पर विचार किया जाता है। सारांश यह कि भाषा-विज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं और जब हम इस प्रकार का विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन कर लेते हैं, तब उसी दृष्टि से किसी दूसरी भाषा अथवा अनेक भाषाओं का विवेचन करते हैं तथा एक भाषा के सिद्धान्तों तथा नियमों आदि का दूसरी भाषा या भाषाओं के सिद्धान्तों और नियमों आदि से मिलान करते और आपस में उनकी तुलना करते हैं। इस अवस्था में इस विज्ञान की सीमा का और भी प्रसार हो जाता है और हम उसे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का नाम देते हैं। सच पूछा जाय तो विना तुलना के अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता। इससे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं।" (भाषा-विज्ञान।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री की दृष्टि में "भाषा-विज्ञान उसको कहते हैं जिसमें सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का, और अन्ततः भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।" (तुलनात्मक भाषाशास्त्र)

डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार "भाषा तत्वों का अध्ययन भाषा-विज्ञान का विषय है।" (सामान्य भाषा-विज्ञान)

डॉ० भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि "जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषा-विज्ञान कहते हैं।" (भाषा-विज्ञान)

डॉ० मनमोहन गौतम के कथनानुसार "भाषा-विज्ञान वह शास्त्र है जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास एवं ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।" (भाषा-विज्ञान)

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा के मतानुसार "भाषा-विज्ञान का सीधा अर्थ है, भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषा-विज्ञान कहलायेगा।" (भाषा-विज्ञान की भूमिका)

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमने' लिखते हैं—"भाषा-विज्ञान वह है विज्ञान है जिसमें भाषाओं का सामान्य रूप से या किसी एक भाषा का विशिष्ट रूप से प्रकृति, संरचना, इतिहास, तुलना, प्रयोग आदि की दृष्टि से सिद्धान्त निश्चित करते हुए, वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।" (भाषा-विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग)

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया की दृष्टि में "भाषा-विज्ञान' का तात्पर्य उस शास्त्र से है, जिससे भाषा का तात्त्विक विश्लेषण मात्र किया जाता है।" (भाषा-भूगोल)

इन परिभाषाओं के अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भाषा के विशिष्ट, सम्यक् तथा सुव्यवस्थित ज्ञान को 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास और ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या होती है, वह 'भाषा-विज्ञान' कहलाता है। किसी भी परिभाषा की विशेषता होती है–संक्षिप्तता और स्पष्टता। इस दृष्टि से भाषा-विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

"भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें मानव द्वारा प्रयुक्त एवं व्यक्त वाक् (भाषा) का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।"

इसमें वर्णागम, वर्ण-लोप, वर्ण-विपर्यय और अर्थ-विकार आदि भाषा के कार्यों का निरीक्षण करने के आधार पर सामान्य नियम बनाए जाते हैं। भाषा में क्यों परिवर्तन होता है? कैसे कालान्तर में एक भाषा विभाषा बन जाती है? कैसे दो या अधिक भाषाओं को देखकर उनकी एक मूल भाषा का पता लगाया जाता है? संज्ञा, क्रिया आदि शब्दों और विभक्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? देश-काल-भेद से एक शब्द अपने अर्थ को क्यों और कैसे खो देता है? आदि की विवेचना भाषा-विज्ञान का कार्य है। समस्त संसार की सब कालों की और सब जातियों की भाषाओं तथा बोलियों की पर्यालोचना इसमें की जाती है। जीवित और मृत ही नहीं, काल्पनिक भाषाओं तक का विचार इस विज्ञान में होता है।

भाषा के आभ्यंतर जीवन के सूत्र खोजना, उसकी उत्पत्ति का पता लगाना, उसके विकास की क्रमिक अवस्थाओं का अनुसंधान करना और उसके विकार तथा परिवर्तन सम्बन्धी ऐसे नियम ढूँढ़ना, जिनसे भाषा के वर्तमान रूपों की एकता और अनेकता दोनों समझी जा सके, भाषा-विज्ञान का विषय होता है। भाषा किस प्रकार विचारों का वहन करती है, किस प्रकार वह बुद्धि का विकास और ज्ञान का प्रसार कर मानव-मस्तिष्क के इतिहास पर प्रभाव डालती है, यह सब भाषा-विज्ञान की सीमा के अन्तर्गत ही आता है।

भाषा-विज्ञान का क्षेत्र

प्रश्न 2—भाषा-विज्ञान की विषय-वस्तु की समीक्षा कीजिए ।
प्रश्न 3—भाषा-विज्ञान का क्षेत्र विषय पर संक्षिप्त लेख लिखिए ।

उत्तर—भाषा-विज्ञान में भाषा का प्रत्येक दृष्टि से सम्यक् अध्ययन और विश्लेषण होता है, उसकी सीमा देश-काल से परे है । किसी देश में प्रचलित मानवीय भाषा के प्रत्येक रूप पर भाषा-विज्ञान विचार करता है । जीवित भाषाओं के साथ-साथ लेख और शिलालेखों के रूप में प्राचीन मृत-भाषाओं का भी रूप मिलता है । भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत मृत-भाषा के इन रूपों पर भी विचार किया जाता है । बहुत-सी प्राचीन और वर्तमान भाषाओं में एक परिवार की होने के कारण शब्दों और वाक्य-गठन में समता होती है । भाषा-वैज्ञानिक इन पर विचार करके 'मूल भाषा' का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करता है । भाषा-वैज्ञानिक भारत और यूरोप की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत-यूरोपीय भाषाओं का मूल स्रोत कोई एक भापा थी, जिससे आधुनिक यूरोपीय भाषाओं का विकास हुआ ।

भाषा-विज्ञान को देश-विशेष, जाति-विशेष या काल विशेष की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता । भाषा-वैज्ञानिक वर्त्तमान भाषा के आधार पर जहाँ उसके प्राचीन मूल की खोज करता है, वहाँ भविष्य के विकास पर भी प्रकाश डालता है । वह कई देशों की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके उनमें समता और असमता के परिणाम निकालता है । भाषा-वैज्ञानिक के अध्ययन का क्षेत्र जहाँ सभ्य जातियों की साहित्य-सम्पन्न भाषाएँ होती हैं, वहाँ वह असभ्य-से-असभ्य–जातियों की बोलियों का भी अध्ययन करता है । भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों और सिद्धान्तों का पता लगाने के लिए असाहित्यिक बोलियों का भी महत्व होता है । असभ्य जातियों की बोलियों में अधिक स्वाभाविकता होती है । इसलिए इन बोलियों में भाषा का परिवर्तन और विकास स्पष्ट रूप से लक्षित होता है ।

भाषा मानव-जीवन की कचहरी है । अतः भाषा-विज्ञान का क्षेत्र मानव-सभ्यता, संस्कृति और जीवन तक व्यास है । उसका क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी कि सम्पूर्ण मानवता, क्योंकि इसका सम्बन्ध संसार के मनुष्यों की भाषा से है—

"The Scope of the science of language is, therebore, as wide as the whole cf humanity, as it deals with human speech itself."

भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध किसी भाषा के, काल विशेष के तत्त्वों से नहीं, अपितु सभी कालों के तथ्यों से होता है; भापा चाहे आधुनिक हो अथवा प्राचीन, चाहे उच्चकोटि की हो या निम्न कोटि की, सभी भापा-विज्ञान के अध्ययन के विषय हैं । इन्हें भापा-विज्ञान न केवल एकत्र, व्यवस्थित और वर्गीकृत करता है, अपितु उनके आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण भी करता है ।

भाषा-विज्ञानी भाषा के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का संग्रह और तुलना करके भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटने का प्रयत्न करता है, जिससे कि वह उनके ठीक-ठीक स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध को मालूम कर सके । इस प्रकार से भाषा के स्वभाव, जीवन, उत्पत्ति,

विकास और इन सबके नियमों को समझना पड़ता है। भाषा के स्वभावादि को समजने के लिए भाषा-विज्ञानों को वर्णों की उत्पत्ति और उच्चारण; उनके मेल से अक्षरों की तथा अक्षरों के मेल से शब्दों की व्युत्पत्ति और शब्दों द्वारा वाक्य रचना पर विचार करना पड़ता है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान का क्षेत्र वर्णनात्मक (Descriptive) या संरचनात्मक (Stxuctural) है। जीवित और मृत दोनों ही प्रकार की भाषाओं पर इन दृष्टियों से काम हो रहा है। ध्वनियों का अध्ययन 'उच्चारण' तथा उनसे वनने वाली लहरों आदि के सहारे किया जा रहा है। इन दोनों ही क्षेत्रों में एक्सरे, स्पेक्टोग्राफ, ऑसिलोग्राफ, काइमोग्राफ, पिचमीटर, इंकराइटर, पैटर्नप्लेक, स्पीच-स्ट्रेचर, फार्मेट ग्राफिंग मशीन, लैरिगोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, ऑटोफोनोस्कोप आदि अनेक यन्त्रों की सहायता वड़ी फलप्रद सिद्ध हो रही है। स्वर-व्यंजन के अतिरिक्त सुर, सुरलहर, तान, बलाघात, संगम, आदि का भी गहराई से अध्ययन हो रहा है। **ध्वनिग्राम-विज्ञान** के सहारे भाषा के खंड और खंडेतर ध्वनिग्राम तथा संध्वनियों की खोज की जा रही है। कम्प्यूटर के सहारे ध्वनियों के वितरण पर काम हो रहा है। **रूपग्राम-विज्ञान** तथा **रूपध्वनिग्राम-विज्ञान** के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के रूपों पर काम हो रहा है। प्रकारात्मक (typotogical) एवं व्याकरणिक कोटियों (Grammatical catagories) की दृष्टि से भाषाओं के अध्ययन की शुरूआत हो चुकी है। **वाक्य** के क्षेत्र में पहले पदक्रम, लोप, उद्देश्य-विधेय आदि की दृष्टियों से काम होता था। इधर कुछ दिनों से निकटतम अवयव, अतः केन्द्रिक रचना, तथा बहिष्केन्द्रिक रचना के आधार पर विश्लेषण होता रहा है। अब चॉम्स्की के रूपांतरण (Formation) तथा हैलिड के व्यतिरेकी विश्लेषण (Contrastive analysis) के आधार पर काम होने लगा है। **भाषा-भूगोल** तथा **बोली-विज्ञान** में भी काम चल रहे हैं, यद्यपि मन्द गति से। रूस आदि कुछ देशों को छोड़कर **अर्थ विज्ञान** को भाषा-विज्ञान से प्रायः बाहर-सा कर दिया गया था, किन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि अर्थ के अध्ययन को छोड़ा नहीं जा सकता। **कोश-विज्ञान, भाषा-कालक्रम-विज्ञान, व्यक्ति-भाषा-विकास** तथा **नाम-विज्ञान** आदि क्षेत्रों में भी काम चल रहे हैं। इधर कुछ काम **काव्य-अभिव्यंजना (शैली-विज्ञान)** पर भी भाषा विज्ञान की दृष्टि से शुरू हुआ है। **भू-भाषा विज्ञान** (Geolinguistics) अपेक्षाकृत नई शाखा है, जिसमें विश्व में भाषाओं के वितरण, उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक महत्त्व का भाषाएँ कैसे एक-दूसरे को तथा राष्ट्रों की संस्कृति को प्रभावित करती हैं, तथा विभिन्न राष्ट्रों की भाषिक समस्याओं का हल कैसे हो सकता है, आदि का अध्ययन किया जा रहा रहा है। **प्रायोगिक** (Applied) **भाषा-विज्ञान** में दूसरी भाषा की शिक्षा, मातृ-भाषा की शिक्षा, अनुवाद, लिपि-सुधार तथा उच्चारण-सुधार आदि की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित है। गणित इधर सभी विज्ञानों में प्रवेश करता रहा है और भाषा-विज्ञान भी अपवाद नहीं है। उसके सूचना-सिद्धांत (Information theory) तथा सांख्यिकी (Staltstics) भाषा विज्ञान के लिए धीरे-धीरे अनिवार्य होते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी के अच्छे टाइपराईटर के लिए आवश्यक है कि हिन्दी-ध्वनियों के प्रयोग का प्रतिशत निकाला जाए। हिन्दी की विभिन्न स्तर की पाठ्य-पुस्तकों के लिए इसी प्रकार हिन्दी शब्दों, रूजे एवं व्याकरण के नियमों के प्रयोग-प्रतिशत की जानकारी आवश्यक है। स्पष्ट ही इनके लिए गणित का सहारा अनिवार्य

है। यों ये तो सामान्य बातें, हैं, उच्च स्तर पर और भी कई प्रकार से गणित अनिवार्य होती जा रही है। मशीन से अनुवाद के क्षेत्र में प्राथमिक तैयारी के रूप में इधर काफी काम हो रहा है। व्यतिरेकी विश्लेषण एवं रूपान्तरण जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसके लिए बड़े सहायक सिद्ध हो रहे हैं। किन्तु सब ले-देकर अभी इस दिशा में अपेक्षित सफलता प्राप्त करने में समय लगेगा। इस प्रकार भाषा-विज्ञान दिनों दिन अधिक वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण, गहरा तथा विस्तृत होता जा रहा है और पहले तो यह केवल अन्य विज्ञानों से सहायता लेता था, अब मनोविज्ञान, यांत्रिकी तर्कशास्त्र, इतिहास, साहित्य आदि अनेक ज्ञान क्षेत्रों की सहायता करता हुआ मानवता की अधिकाधिक सेवा के लिए अग्रसर हो रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान का क्षेत्र मानव से सम्बन्धित होने के कारण दिनों-दिन विस्तृत होता जा रहा है।

अध्याय | 2

भाषा-विज्ञान तथा अन्य विषय (मानवीय शास्त्रों एवं विद्याओं से सम्बन्ध)

प्रश्न 4—भाषा-विज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध निरूपित कीजिए।

प्रश्न 5—भाषा-विज्ञान का मानवीय शास्त्रों एवं विद्याओं से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—भाषा मनुष्य के विचार-विनिमय का माध्यम है। वस्तुतः भाषा के कलेवर में आवेष्ठित होकर विचार हमारे सामने आते हैं अर्थात् भाषा कलेवर है और विचार आत्मा। सामान्यतः विचार सभी विषयों में निहित होते हैं और सभी विषयों को विचार के बाह्य कलेवर भाषा का सहारा लेना पड़ता है। अतः भाषा-विज्ञान का अन्य विषयों और विज्ञानों से सम्बन्ध स्वाभाविक है। संसार के सारे ज्ञान-विज्ञान भाषा का ही आधार लेकर चलते हैं और भाषा का अपना सम्बन्ध भाषा-विज्ञान से होने के कारण सभी ज्ञान विज्ञानों का सम्बन्ध भाषा विज्ञान से जुड़ जाता है।

(1) **भाषा-विज्ञान और व्याकरण**—दोनों का भाषा से सम्बन्ध होने के कारण परस्पर सम्बन्ध सहज है। भाष-विज्ञान का उद्गम व्याकरण से ही है। व्याकरण भाषा में साधुता-असाधुता का विचार करता है और भाषा-विज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। व्याकरण किसी भाषा की ध्वनियों और शब्द रूपों का संचय करता है, भाषा-विज्ञान उसका उपयोग करता है। भाषा के नवीन प्रयोगों के सम्बन्ध में व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। वस्तुतः भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी

व्याकरण है, उसका विकसित रूप है, इसलिए उसे तुलनात्मक व्याकरण अथवा ऐतिहासिक तुलनात्मक व्याकरण भी कहते हैं। व्याकरण के ऐतिहासिक और तुलनात्मक रूपों का बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। किसी भाषा विशेष से सम्बन्धित होने के कारण व्याकरण संकुचित है, किन्तु सामान्य भाषा से सम्बन्धित होने के कारण भाषा-विज्ञान का क्षेत्र व्यापक है। भाषा-विज्ञान भाषा विषयक ज्ञान के विश्लेषण-विवेचना का संचय करता है और व्याकरण जब उसे ग्राह्य मान लेता है तो अपना लेता है।

(2) **भाषा-विज्ञान और साहित्य**—भाषा-विज्ञान और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य द्वारा प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके आधार पर भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। भिन्न-भिन्न शब्दों और उनके रूपों और अर्थों में परिवर्त्तन होने का ज्ञान, जो भाषा-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है, केवल साहित्य से ही हो सकता है। साहित्यहीन बोलियों के इतिहास का तो पता चलाना भी प्रायः असम्भव-सा होता है, जबकि साहित्य-सम्पन्न भाषा साहित्य द्वारा अमर होकर भाषा-विज्ञान के अधिकांश नियमों और सिद्धान्तों के निर्माण में सहायता पहुँचाने वाली अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करती है। साहित्य के अध्ययन में भाषा का विचार प्राधान्येन अर्थ की दृष्टि से होता है, परन्तु भाषा-विज्ञान में भाषा के स्वरूप पर विचार किया जाता है। साहित्य के पढ़ने वाले का उद्देश्य साहित्य के प्रकट किए गए सुन्दर-सुन्दर विचारों का आस्वादन करना ही होता है। परन्तु भाषा-विज्ञानी किसी भाषा की परीक्षा केवल उस भाषा के स्वरूप को जानने के लिए करता है।

(3) **भाषा-विज्ञान और इतिहास**—भाषा-विज्ञान का राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक इतिहास से भी सम्बन्ध है। भारतीय भाषाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का होना हमें यह बताता है कि हमारा देश पिछली कई शताब्दियों तक ये भाषाएँ बोलने वाली जातियों के अधीन रहा। बंगाली और मराठी भाषाओं में ब्रजभाषा के शब्दों को देखकर यह ज्ञात होता है कि वैष्णव धर्म का प्रचार देश के विभिन्न भागों में है। भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में इतिहास जानकारी देता है।

(4) **भाषा-विज्ञान और भूगोल**—भाषा-विज्ञान का भूगोल से आभ्यन्तर और बाह्य दोनों रूपों में सम्बन्ध बड़ा प्रभावशाली है। किसी क्षेत्र विशेष में उपबोलियों, बोलियों और भाषाओं की सीमाएँ कैसे बन जाती हैं? इस प्रश्न के समाधान में भूगोल का ज्ञान विशेष सहायक सिद्ध होता है। मैदान में दूर-दूर तक सम्पर्क रखना सरल है। अतएव बोली में एकरूपता बनी रहती है, जबकि पहाड़ी प्रदेश में आने-जाने की सुविधा कम होने के कारण भाषा में अनेक रूपता का आ जाना स्वाभाविक है।

देश के जलवायु का प्रभाव वहाँ के रहने वालों पर पड़ता है। पर्वतीय प्रदेशों की भाषा की ध्वनियाँ (स्वर) कुछ भिन्न रहती हैं। पहाड़ों और मैदानों की भाषा में अन्तर मिलता ही है, पर गर्म और ठंडे देशों की भाषाएँ भी पृथक् बनी रहती हैं। हीनरिख बेनफ़े ने तो ध्वनि परिवर्तन का सिद्धान्त ही भूगोल के आधार पर बनाया था। मुहावरों के निर्माण में जलवायु का विशेष प्रभाव पड़ता है, इंग्लैंड, स्कॉटलैंड आदि ठंडे देशों में अतिथि का 'वार्म रिसैप्शन' किया जाता है, जब कि भारत जैसे

गर्म देश में ठंडे पानी, शर्बत लस्सी आदि से स्वागत किया जाता है। भारत में शीतल मंद सुगन्धित समीर को अच्छा समझा जाएगा। जलवायु का प्रभाव पशु-पक्षी पेड़-पौधों पर पड़ता है और प्रकारान्तर से मनुष्य की भाषा पर भी पड़ता है। किसी बोली या भाषा का दूर तक विस्तार क्यों होता है और कोई भाषा छोटी सीमा में क्यों घिरी रह जाती है, इसका समाधान अन्य विषयों के साथ-साथ भूगोल करता है। सलतल मैदान में जनसंख्या की सघनता और आवागमन के साधन भाषा को दूर-दूर तक फैलाने में सहायए सिद्ध होते हैं। शब्दों के अर्थ निश्चित करने में 'भूगोल' सहायक सिद्ध होता है। प्राकृतिक वस्तुओं के नाम पर अनेक प्रकार के नाम पड़ जाते हैं। सिन्धु नदी के नाम पर 'सिन्ध प्रदेश' जाना जाता है। भूगोल देशों, नगरों, पखंडों, गाँवों आदि के स्थान-नामों के निर्धारण में पर्याप्त प्रभाव डालता है।

(5) **भाषा-विज्ञान और दर्शन**—आत्मा-परमात्मा जीवन-मृत्यु आदि-आध्यात्मिक क्षेत्र के रहस्यों का विचार दर्शन का विषय है। जीवन और जगत् के अन्य अनेक प्रश्नों की भाँति ही भाषा का प्रश्न भी पर्याप्त रहस्यपूर्ण है। यही कारण है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करने वाले सभी भारतीय मनीषी दार्शनिक ही थे। 'पतञ्जलि' तथा 'भर्तृहरि' ने भाषा पर दार्शनिक दृष्टि से ही विचार किया है। स्फोटवाद का सिद्धान्त, शब्द ब्रह्म की कल्पना आदि सभी विषय दार्शनिक क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार की अनेक जिज्ञासाएँ जो मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होती हैं और जिनके समाधान भाषा-विज्ञान के द्वारा होता है, वे सब भी दर्शन के ही अन्तर्गत आती हैं। भारत ही नहीं, पश्चिम के देशों में भी भाषा पर सर्वप्रथम विचार करने वाले विद्वान दार्शनिक ही थे। उदाहरणार्थ, प्लेटो, अरस्तू आदि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर पर्याप्त विचार किया है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और दर्शन दोनों ने मिलकर भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का समाधान किया है।

(6) **भाषा-विज्ञान और शिक्षा-शास्त्र या भाषा-शिक्षण**—भाषा-शिक्षण में भाषा-विज्ञान से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। भाषा में 'कब' 'क्या' सिखाया जाए इसका निर्णय भाषा-विज्ञानी ही करता है। भाषा की पाठय एवं सहायक पुस्तकों की रचना, व्याकरण का निर्माण, वर्त्तनी का निर्धाण, लिपि का निर्मारण एवं सुधार आदि शिक्षा के कुछ ऐसे विषय हैं, जो भाषा-विज्ञान के बिना संभव नहीं हैं।

(7) **भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान**—भाषा मनुष्य के भावों और मानसिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति का साधन है और भाषा-विज्ञान इस साधन (भाषा) का वैज्ञानिक अध्ययन है तथा मनोविज्ञान मानव की मानसिक प्रवृत्तियों का अध्ययन है। फलतः दोनों में सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। मन में कतिपय भाव उठते हैं और उनको कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। कुछ शब्द किसी समय किसी अर्थ विशेष के द्योतक होते हैं किन्तु आगे चलकर अर्थ परिवर्त्तन हो जाता है। कैसे ? कुछ शब्द सामान्य रूप में कुछ अर्थ देते हैं किन्तु कतिपय कारणवश वे कुछ घृणास्पद अथवा हास्यास्पद अर्थ देने लगते हैं। क्यों ? शरीर के उच्चारण सम्बन्धी अवयवों के बिलकुल ठीक रहने पर भी तुतलाकर बोलते हैं। क्यों ? इन सब प्रश्नों के उत्तर मनोविज्ञान की सहायता से ही प्राप्त हो सकते हैं। शब्द के अर्थ-परिवर्तन के मूल में मानसिक स्थिति का भयंकर परिवर्त्तन विद्यमान है। जातियों के प्राचीन संस्कारों अथवा आदिम जातियों की मानसिक अध्ययन भाषा-विज्ञान के सहारे किया जा सकता

है । मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड ने Totem तथा Taboo शब्दों का अर्थ-विश्लेषण, भाषा-विज्ञान की ही सहायता से किया था ।

(8) **भाषा-विज्ञान और समाज-विज्ञान समाज-शास्त्र** (Sociology) — समाज विज्ञान में सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार आदि का विश्लेषण किया जाता है । व्यक्ति और समाज का सम्बंध, व्यक्ति पर समाज का प्रभाव, समाज के निर्माण में व्यक्ति का प्रभाव आदि विषयों की चर्चा समाज-विज्ञान में है । भाषा भी सामाजिक सम्पत्ति है । वह समाज में ही उत्पन्न और समाज में ही विकसित होती है । मनुष्य के आचार-विचार आदि में भाषा का कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष प्रभाव रहता है । इस तरह भाषा-विज्ञान समाज-विज्ञान के बहुत समीप आ जाता है···भाषा द्वारा समाज की गति-विधि को बहुत दूर तक किस प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है, यह युद्ध या क्रान्ति के समय स्पष्ट हो जाता है । समाज विज्ञान और मानव-विज्ञान दोनों का, मानव जाति से, ही सम्बन्ध है । अन्तर यह है कि समाज-विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक है, उसमें सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप का, जिसमें भाषा भी है, विश्लेषण किया जाता है जबकि भाषा-विज्ञान क्रिया केवल भाषा तक सीमित है । यह अन्तर मुख्यतः मात्रा का ही है, अन्यथा दोनों समाज-सापेक्ष है ।

(9) **भाषा-विज्ञान और शरीर-विज्ञान** (Physiology) — भाषा का निस्सरण मुख से होता है अतएव भाषा-विज्ञान में उसका सम्यक् अध्ययन आवश्यक हो जाता है, यथा स्वर-यन्त्र, स्वर-तन्त्री, नासिका विवर, कौवा, तालु, दाँत, जीभ, ओठ, कंठ मूर्द्धा तथा नाक के कारण उसमें क्या परिवर्तन होते हैं तथा कान द्वारा कैसे ध्वनि का ग्रहण होता है आदि । इस अध्ययन में शरीर-विज्ञान ही उसकी सहायता करता है । लिखित भाषा का ग्रहण आँख से होता है, अतएव इस प्रक्रिया का अध्ययन भी भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत ही है ।

(10) **भाषा-विज्ञान और मानव-विज्ञान** (Anthropology) — मानव-विज्ञान मानव की उत्पत्ति और विकास का विवेचन करता है । बनावट के अनुसार मानव जाति के कितने भेद हैं ? उनका विस्तार कैसे हुआ ? उनकी क्या विशेषताएँ हैं ? आदि बातें मानव-विज्ञान में निरूपित होती हैं । मनुष्य आदिम अवस्था से अब तक कैसे पहुँचा । इस विकास-क्रम में उसकी रहन-सहन, भाषा, कला आदि का उस पर क्या प्रभाव पड़ा है ? यह हम मानव-विज्ञान के द्वारा जानते हैं । मनुष्य के विकास में भाषा का भी महत्वपूर्ण योग है, इसमें दो मत नहीं । मनुष्य के प्राकृतिक :और सांस्कृतिक दोनों विकास रूपों में सांस्कृतिक विकास में भाषा की योगदान अपरिमित रहा है । मनुष्य की बातचीत, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि पर भाषा का अपना प्रभाव पड़ा है । भाषा-विज्ञान भाषा का विज्ञान है, अस्तु दोनों का नैकट्य स्पष्ट है ।

(11) **भाषा-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान** (Physics)—मानव जब कुछ कहता है तो ध्वनि उसके मुँह से निकलने के बाद और किसी के कान तक पहुँचने के पूर्व आकाश में लहरों के रूप में चलती है । इन लहरों का अध्ययन करने में भौतिक-शास्त्र ही हमारी सहायता करता है । यह बतलाता है कि ये लहरें किस प्रकार की होती हैं तथा अन्य ध्वनियों की लहरों में क्या अन्तर होता है । प्रयोगात्मक ध्वनि शास्त्र (Experimental Phonetics) के अध्येता भाषा-विज्ञान के इस क्षेत्र के

अध्ययन में भौतिक-शास्त्र से बहुत लाभ उठा रहे हैं। स्वर-व्यंजन आदि के तात्त्विक रूप पर भौतिक शास्त्र के आधार पर इधर बहुत प्रकाश डाला गया है।

(12) **भाषा-विज्ञान और तर्क-शास्त्र** (Logic)—किसी विशिष्ट अर्थ का बोधक शब्द आगे चलकर सामान्य का बोधक कैसे कराने लगता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर देने में तर्कशास्त्र से सहायता मिलती है। भाषा-विज्ञान में व्याख्या, उत्पत्ति, विकास और तुलना प्रमुख हैं। इन सब में तर्क-शास्त्र के सामान्य सिद्धान्त उपयोगी होते हैं। कार्य-कारण, नियमन आदि की विवेचना शुद्ध तार्किक विवेचना होती है। इस प्रकार तर्क-शास्त्र की शल्य परीक्षा ही भाषा विज्ञान का प्रमुख अस्त्र है।

(13) **भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व** (Archaeology)—भाषा-विज्ञान का एक नवीन विभाग है—प्रागैतिहासिक खोज। इसमें भाषा के अध्ययन के आधार पर प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जाता है।

(14) **भाषा-विज्ञान और संचार-विज्ञान** (Communication Engineering)—संचार-विज्ञान या संचार प्राविधि भाषा के संचार या प्रसार का विज्ञान है। भाषा-विज्ञान द्वारा जो व्यवस्थित जानकारी प्राप्त होती है, उसका प्रयोग संचार-विज्ञान में किया जाता है।

(15) **भाषा-विज्ञान तथा प्रजातीय-विज्ञान** (Ethnology)—प्रजातीय-विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक विकास से है। जातियों और जनजातियों के अध्ययन में भाषा-विज्ञान एवं प्रजातीय विज्ञान एक दूसरे के सहायक सिद्ध होते हैं।

(16) **भाषा-विज्ञान एवं पदार्थ-विज्ञान**—वायु-तंरगों एवं ध्वनि के परस्पर प्रभाव का अध्ययन 'पदार्थ-विज्ञान' के अन्तर्गत होता है। ध्वनियों के तरंगात्मक एवं प्रायोगिक अध्ययन में भाषा-विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है।

(17) **भाषा-विज्ञान और गणित**—सांख्यिकी, समुच्चय आदि के प्रवेश के कारण भाषा-विज्ञान और गणित का सम्बन्ध घनिष्ठ होता जा रहा है।

सारांश यह है कि भाषा-विज्ञान का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोविज्ञान से लेकर ठोस भौतिक विज्ञान तक से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध है।

प्रश्न 6—व्याकरण का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करते हुए दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

भाषा विज्ञान और व्याकरण का पारस्परिक सम्बन्ध

उत्तर—व्याकरण शब्द का प्रयोग भाषा-विज्ञान् से प्राचीनतर है। व्याकरण का शब्दार्थ-खण्ड करके शुद्ध रूप प्रदर्शित करना है। भाषा तथा पद के शुद्धाशुद्ध का विवेक व्याकरण ही करता है। प्रारम्भिक काल में व्याकरण और भाषा-विज्ञान को एक-दूसरे से भिन्न करके नहीं देखा जाता था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में भाषा-विज्ञान सम्बंधी जितना भी कार्य हुआ है, वह सभी व्याकरण के अन्तर्गत हुआ है। उस समय व्याकरण के दो रूप थे—

(अ) वर्णनात्मक, (ब) व्याख्यात्मक।

इस व्याख्यात्मक व्याकरण के भी तीन उपविभाग थे—

(क) ऐतिहासिक, (ख) तुलनात्मक, (ग) सामान्य।

कालान्तर में भाषा-विज्ञान और व्याकरण के संज्ञा एवं स्वरूपगत भेद की आवश्यकता अनुभव की गई तो व्याख्यात्मक 'व्याकरण' भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आ गया और वर्णनात्मक व्याकरण 'व्याकरण' के नाम से ही अपना कार्य करता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विज्ञान और व्याकरण में मूलतः कोई भिन्नतः नहीं है। भाषा की उत्पत्ति, बनावट और विकास, ह्रास आदि का विवेचन भाषा-विज्ञान का प्रमुख कार्य है और भाषा का शुद्ध स्वरूप तथा उसकी बनावट पर प्रकाश डालना व्याकरण का ही कार्य है। अस्तु दोनों अन्योन्याश्रित तथा परस्पर पर्याप्त साम्य रखने वाले हैं।

भाषा-विज्ञान और व्याकरण में अन्तर

व्याकरण भाषा और उसके शब्दों की साधुता-असाधुता पर विचार करता है, जबकि भाषा-विज्ञान की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। वह विज्ञान के अधिक निकट है। उदाहरण के लिए व्याकरण की दृष्टि से 'करि' की तृतीया 'करिणा' और हरि की तृतीया 'हरिणा' होती है। पिछला नियम-विरुद्ध रूप है। भाषा-विज्ञान उपमान अथवा. मिथ्या-सादृश्य को इसका कारण बताया है। व्याकरण के अनुसार धातु के अन्त में 'आ' जोड़ने से भूतकालिक कृदन्त बनता है। यदि धातु के अंत में 'आ' अथवा 'ओ' हो, तो उस धातु के अन्त में अ अथवा 'या' कर देते हैं। जैसे 'कहना' से 'कहा' मरना' से 'मरा' और 'लाना' से लाया, 'बोना' से 'बोया' आदि। पर 'करना से किया' और 'जाना' से 'गया' इस नियम के अपवाद हैं। भाषा-विज्ञान यहाँ हमारी सहायता करता है और हमें बताता है कि 'किया' और 'गया' हिन्दी के 'कर' और 'ना' धातु के नहीं बने हैं, वरन् संस्कृत के 'कृत' और 'गत' अथवा प्राकृत के 'कओ,' 'गओ' तथा अपभ्रंश के 'किया' 'गया' 'गवा' आदि से बने हैं।

व्याकरण का सम्बन्ध केवल एक भाषा से होता है, इसके विपरीत भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह एक विशिष्ट भाषा से सम्बन्धित होकर सामान्य रूप से भाषाओं के अध्ययन से सम्बन्ध रखता है। आवश्यकता पड़ने पर वह एक भाषा के अतीत की आलोचना करता है और सामान्य भाषा की प्रवृत्तियों की व्याख्या करता है तथा अनेक भाषाओं के साम्य और वैषम्य की परीक्षा करता है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए की भाषा-विज्ञान यह समस्त कार्य व्याकरण की सहायता से ही कर पाता है।

व्याकरण नियम, उपनियम और अपवाद की विस्तृत विवेचना करता है, जब कि भाषा-विज्ञान एक शब्द का इतिहास प्रस्तुत कर देता है। व्याकरण सिद्ध और निष्पन्न रूपों को लेकर अपना काम करता है, परन्तु भाषा-विज्ञान उसके कारणों की भी खोज करता है। जैसे आज हिन्दी में उत्तम पुरुष एक वचन में 'मैं' के साथ-ही साथ 'हम' का प्रयोग भी होता है, किन्तु व्याकरण ने इस नवीन प्रयोग को अभी तक ग्रहण नहीं किया। संभवतः भाषा-विज्ञान द्वारा इंगित इस परिवर्तन को कुछ समय बाद व्याकरण स्वीकार कर ले। इस प्रकार भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है।

भाषा-विज्ञना भाषा के नये विकसित रूपों का ज्ञान देता है, जिसे व्याकरण कालान्तर में सिद्ध करता है। भाषा का तर्क-सम्मत अध्ययन करके सिद्धान्त निरूपण

भाषा-विज्ञान का कार्य है। इसकी व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं "भाषा का वर्तमान रूप क्या है ? यह वैयाकरण वतलाता है, उसका भाव क्या है ? साहित्यिक सिखलाता है, पर भाषा वैज्ञानिक एक पग आगे बढ़ करके साधन की मीमांसा करता है।"

व्याकरण का सम्बन्ध किसी काल-विशेष एवं देश-विशेष की किसी विशिष्ट भाषा से होता है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध सभी देशों और सभी कालों की सभी भाषाओं से होता है। मृत एवं अनुमान पर आधारित भाषाएँ भी उसके क्षेत्र में आ जाती हैं। प्रत्येक भाषा का व्याकरण पृथक्-पृथक् होता है, जवकि भाषा-विज्ञान सभी भाषाओं का समान ही होता है।

व्याकरण, भाषा में घटित परिवर्त्तनों अथवा अन्य विशेषताओं को एक स्थान पर लाकर रख देता है। भाषा-विज्ञान व्याख्या और विश्लेषण करके उन परिवर्त्तनों अथवा विशेषताओं के कारणों, परिस्थितियों, विकास के रूपों आदि का विवेचन करता है। इस प्रकार 'भाषा-विज्ञान' विज्ञान है और व्याकरण कला।

व्याकरण भाषा को रूप-रचना और वाक्य-गठन का विवरण देता है, किन्तु भाषा-विज्ञान ध्वनि, अर्थ, शब्द-समूह और लिपि आदि का भी विवेचन करता है।

व्याकरण एक भाषा-ज्ञान है और भाषा-विज्ञान विज्ञान है। एक वर्णन प्रधान है तो दूसरा व्याख्या प्रधान। व्याकरण केवल क्या का उत्तर देता है, उसका सम्बन्ध भाषा के वर्त्तमान से होता है, परन्तु भाषा-विज्ञान 'क्यों और कैसे' जिज्ञासा को शांत करता है। उसका सम्बन्ध कालातीत होता है।

व्याकरण का सम्बन्ध केवल शिष्ट और साहित्यिक भाषा से होता है, पर भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध असभ्य और जंगली मनुष्यों की वोली से भी होता है। भाषा-विज्ञान उन्हें अधिक महत्त्व देता है, क्योंकि उनके सहारे वह भाषा के मूल स्वरूप तक शीघ्र ही पहुँच सकता है।

प्रश्न 7—'भाषा-विज्ञान' कला है या विज्ञान ? संक्षेप में वतलाइए।

उत्तर—सामान्यत: यह प्रश्न किया जाता है कि भाषा-विज्ञान, 'विज्ञान' science है अथवा 'कला' Art ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आवश्यक है कि हम पहले विज्ञान और कला का स्वरूप स्पष्ट कर लें। सामान्यत: ज्ञान के दो स्वरूप होते हैं (1) नैसर्गिक ज्ञान' Instinctive Knowledge और (2) 'बुद्धि ग्राह्य ज्ञान' Acquisitive Knowlege। नैसर्गिक ज्ञान की प्रधानता तो पशुओं में होती है, मनुष्यों में तो बुद्धि ग्राह्य ज्ञान की ही प्रधानता होती है।

बुद्धि ग्राह्य ज्ञान के विभाग—इस बुद्धि ग्राह्य ज्ञान के भी दो विभाग हैं (1) विज्ञान (2) कला। विज्ञान किसी विषय अथवा विभाव के क्रमवद्ध ज्ञान को कहते हैं। इसमें मन की स्थिति विकल्प रहित हो जाती है।

कला—विज्ञान के माध्यम से प्राप्त ज्ञान का व्यावहारिक रूप कला है। विकल्प की पूरी गुंजाइश रहती है।

विज्ञान और कला में अन्तर—विज्ञान में विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं होता। उसके नियम सभी जगह लागू होते हैं और उनका परिणाम भी सर्वत्र एक जैसा होता है। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन जव एक निश्चित मात्रा में मिलेगी तो

उनका फल पानी होगा। यह बात भारत, यूरोप, अमेरिका आदि सभी कहीं होगी। कला में ऐसी बात नहीं होती। उसका प्रधान उद्देश्य उपयोगिता अथवा मनोरंजन है। उसके नियम भी निर्विकल्प नहीं होते। उनका रूप देश काल और आवश्यकताओं के अनुरूप बदलता रहता है। इसीलिए भारतीय संगीत और पाश्चात्य संगीत में अन्तर है।

'भाषा-विज्ञान' विज्ञान है और साथ ही कला भी। वह भाषा का क्रमबद्ध अथवा विशिष्ट अध्ययन है। उसके नियम भी सर्वथा एक जैसे होते हैं। किन्तु साथ ही उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है, भले ही वह गौण हो। वह हमारी ज्ञान-पिपासा को शान्त करता है और साथ ही विज्ञान रूप में प्राप्त ज्ञान के सहारे भाषा के सही प्रयोग आदि में सहायता भी पहुँचाता है। इस दृष्टि से उसमें कला के तत्त्व-उपयोगिता और मनोरंजकता भी विद्यमान है। इसलिए 'भाषा विज्ञान' विज्ञान होते हुए भी कला के गुणों से युक्त है।

•

अध्याय | 3

भाषा-विज्ञान का इतिहास

भारत में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य

प्रश्न 8—भारत में हुए भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 9—भारतीय भाषा-विज्ञान के इतिहास का दिग्दर्शन कराइए। क्या भाषा-विज्ञान पश्चिम की उपज है?

प्रश्न 10—"भाषा-विज्ञान पश्चिम की उपज है"—इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए भारत में भाषा-विज्ञान के इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए।

प्रश्न 11—भाषा-विज्ञान की उत्पत्ति तथा विकास में भारत का क्या कार्य रहा है? वर्त्तमान शताब्दी में इस विषय में भारतीय विद्वानों ने क्या कार्य किया है?

उत्तर—'भाषा-विज्ञान' का वर्त्तमान रूप आधुनिक युग की देन है, उसका नाम भी युरोपीय विद्वानों की देन है; किन्तु इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जा सकता कि इसकी उत्पत्ति विदेशों में हुई। भाषा-विज्ञान का वर्त्तमान रूप शताब्दियों के विकास का परिणाम है। वेद, प्रातिशाख्य, पाणिनि, शिक्षा (भारत) शुओ-वेन-

कीत्सी, एर्हंय (चीन) का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन ग्रन्थों या ग्रंथकारों ने भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की तात्त्विक चर्चा की है। अतः यह कहना कि भाषा-विज्ञान पश्चिम या युरोप की उपज है, सर्वथा भ्रामक है।

सुकरात (469 ई० पूर्व से 369 ई० पूर्व) ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार किया है। उनकी दृष्टि से इनका सम्बन्ध स्वाभाविक न होकर कल्पित है। प्लेटो [429 ई० पूर्व से 347 ई० पूर्व] ने शब्दार्थ के सम्बन्ध में सुकारात के मन्तव्य का समर्थन कर ध्वनियों का वर्गीकरण भी किया है। विचार और भाषा को स्वतन्त्र माना है। वाक्य विश्लेषण, शब्द भेद, ध्वनि और व्युत्पत्ति आदि के आधार पर भाषा विज्ञान के अध्ययन का शिलान्यास किया है। प्लेटो (385 ई० पूर्व 322 ई० पूर्व) ने अरस्तू के कार्य का विकास किया तथा अपने 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ में वर्ण की अविभाज्यता, ध्वनि के स्वर, अन्तस्थ और स्पर्श नामक भेद, तथा ह्रस्व दीर्घ और अल्प प्राण स्वरों का भी विभाजन किया है। इसके अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी लिङ्ग, कारक, संज्ञा, क्रिया और काल आदि पर विचार किया है।

यूनान से ही ग्रीक और लेटिन का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व यूरोप में भाषा विज्ञान का कार्य करने वालों में रूसो, कैडिलैक, हर्डर, आदि ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये थे। फ्रांसीसी पादरी कोर्डो (1764 ई०) ने एक लेख लिखकर संस्कृत, ग्रीक लैटिन, ओर फ्रैंच के शब्दों को लेकर तुलना कर भाषा विज्ञान के अध्ययन की दिशा में प्रेरणा प्रदान की। जर्मनी विद्वान् डॉ० जेनिश (1796 ई०) ने भाषा सम्बन्धी अनेक लेख लिखे, जिनमें भाषा का वैभव, प्रभावान्विति, स्पष्टता और माधुर्य के आधार पर भाषा का विवेचन किया गया है।

भारतवर्ष में न केयल अत्यन्त प्राचीन भाषाएँ सुरक्षित हैं वल्कि भाषा-विकास का अविच्छिन्न क्रम भी सुरक्षित है। अधिक नहीं तो 1500 ई० पू० से लेकर आज तक यहाँ भाषा को उसके सम्पूर्ण गत्यात्मक स्वरूप में देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म के कारण वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत, बौद्ध धर्म के कारण पालि और जैन-धर्म के कारण अर्ध मागधी विशेष रूप से सुरक्षित हुई। भाषाओं की संरक्षा में इतनी व्यापक और कालक्रमागत भूमिका सम्भवतः अन्य किसी देश के धर्मों की नहीं है।

वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि और अर्ध मागधी प्राकृत ये चार भाषिक विकास-क्रम की दो हजार वर्ष की अविच्छिन्न परम्परा है। प्राकृतों के उपरान्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की सामग्री उनके साहित्यों के माध्यम से सहज ही सुरक्षित है। इस प्रकार उपर्युक्त परम्परा लगभग 3500 वर्ष की है।

भारत में हुए अध्ययन को प्राचीन और अर्वाचीन दो वर्गों में रखा जा सकता है—

प्राचीन अध्ययन

(1) **ऋग्वेद**—भारत ही नहीं अपितु विश्व के सर्वप्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में 'वागाक्भृणीय सूक्त' नाम से एक पूरा सूक्त (10/125) ही वाक् (भाषा) में सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ के सूक्त (10/71) में वाक् उत्पत्ति-प्रक्रिया का भी वर्णन हुआ है। इसमें बतलाया गया है कि पहले बोलने की इच्छा होती है, फिर चिन्तन होता है, उसके

वाद स्वर उत्पन्न होता है और अन्त में, सुनने या देखने योग्य वाणी प्रकट होती है। इस प्रकार ऋग्वेद में 'भाषा-चिन्तन' के साथ-साथ शब्द-निर्वचन विषयक अभिव्यक्ति कौशल स्पष्ट परिलक्षित होता है।

(2) अथर्ववेद—इसमें व्युत्पत्ति पक्ष अधिक स्पष्ट है।

(3) ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ—आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्द और अर्थ निर्वचन के बहुविध रूप ही नहीं मिलते, अपितु व्युत्पत्तिपरक विश्लेषण तो इतना समृद्ध हो गया था कि उसे पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाला एक समर्थ साधन माना जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण में तो धात्वर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की गई है।

(4) पदपाठ—इसमें सन्धि और समास के आधार पर वाक्य के शब्दों को अलग करने का यत्न और सुराघात पर विचार हुआ है। शाकल्य ऋषि ऋग्वेदीय पदपाठ, गार्ग्य सामवेदीय पदपाठ तथा मध्यन्दिन यजुर्वेदीय पदपाठ के कर्त्ता हैं। वेद पाठ कई प्रकार के हैं—मन्त्र-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, घन पाठ आदि। मन्त्रस्थित पदों को एक साथ मिला कर पढ़ना मन्त्र-पाठ, पदों को तोड़-तोड़ कर पढ़ना पद-पाठ क्रम से दो-दो पदों को मिला कर पढ़ना क्रम पाठ, प्रथम पद का द्वितीय के साथ, फिर द्वितीय का प्रथम के साथ और फिर प्रथम का द्वितीय के साथ पाठ जटा पाठ, अन्त की ओर से आरम्भ कर दूसरे पाठ के साथ पहले पद का पाठ करते जाना घन-पाठ।

(5) शिक्षा—वेदाङ्गों में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक ऋषियों ने वैदिक भाषा को शुद्ध बनाए रखने के लिए ध्वनियों का वर्गीकरण, पदपाठ तथा वैदिक शब्दों के उच्चारण, पठन-पाठन आदि की सुव्यवस्था के लिए शिक्षा नामक वेदांग की रचना की थी। वेदांग में उच्चारण सम्बन्धी निर्देश समाविष्ट हैं। शिक्षा शब्द का अर्थ है—वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे - स्वर-वर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा।" वेद पाठ में किस स्वर का किस प्रकार उच्चारण ठीक हो, मुख किस प्रकार खोला जाए जिससे ध्वनियों का उच्चारण ठीक से हो सके, इस प्रकार उच्चारण की शुद्धता के लिए शिक्षा ग्रंथों का सृजन हुआ है। क्योंकि मन्त्र के एक वर्ण के अशुद्ध प्रयोग से महान् हानि कि सम्भावना, रहती थी, जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि "जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है, वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जैसे कि स्वर के अपराध से 'इन्द्र शत्रु' शब्द यजमान का ही विनाशक हुआ—

मन्त्रो हीनो स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

—पा० शि० श्लो० 52

इसी प्रकार पतंजलि का कहना है अच्छी तरह से जाना और विधि पूर्वक प्रयोग किया एक ही शब्द स्वर्ग और मर्त्य दोनों लोकों को पूर्ण करता है—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।"

शिक्षा ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं प्रातिशाख्य जो कि प्रत्येक वेद के अलग-अलग हैं। इन प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ भी शिक्षा ग्रन्थ हैं :—पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, भावशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघनन्दिनी शिक्षा, केशवीय शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका, मल्लकर्म शिक्षा, स्वरांकुश शिक्षा षोडश श्लोकीय शिक्षा स्वर-भक्ति-लक्षण शिक्षा, नारदीय शिक्षा, माण्डुकी शिक्षा।

इन ग्रन्थों में विशेष रूप से इन बातों पर विचार किया है—"वर्ण, स्वर-मात्रा, बल, साम और सन्तान वेदपाठ की शुद्धता के लिए इन विधि-विधानों की पूर्ण जानकारी आवश्यक बतायी गयी है—ध्वनि का अवरोह, उच्चारण की विशुद्धता और समय का ज्ञान।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में भाषाशास्त्र का गम्भीर तथा सूक्षात्मक अध्ययन किया गया था, जो कि आज के अध्ययन का मेरुदण्ड है।

(6) प्रातिशाख्य—शिक्षा विषयक ज्ञान का विवेचनात्मक अध्ययन करने वाले ग्रन्थों का नाम प्रातिशाख्य है। इनमें वेदों की विभिन्न शाखाओं के अनुसार ध्वनि विषयक अध्ययन किए गए हैं।

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है "वेद-पाठ की जो पृथक्-पृथक् पद्धतियाँ प्रचलित थीं उन्हें यथावत् रखना और पाठकों को तत्तद् शाखानुसार शुद्ध उच्चारण का निर्देश देना प्रातिशाख्यों का काम था।" उपलब्ध प्रातिशाख्यों की संख्या छह से अधिक नहीं है जिनमें प्रमुख हैं—ऋक् प्रातिशाख्य (शौनककृत), शुक्लयजुः प्रातिशाख्य (कात्यायनकृत), कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय और मैत्रायिणी प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र और अथर्वप्रातिशाख्य (शौनककृत)।

प्रातिशाख्यों पर विचार करते हुए डॉ० राजकिशोर सिंह ने लिखा है कि "वेदमन्त्रों के उच्चारण की शुद्धता के लिए ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रातिशाख्य के रूप में मिलता है। इन प्रातिशाख्यों में वेदों की प्रत्येक शाखा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उनके उच्चारण की सुरक्षा उनका मुख्य उद्देश्य है। परिणामतः मात्रा, काल, स्वराघात और उच्चारण सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक अध्ययन ही प्रातिशाख्यों का मुख्य उद्देश्य है। प्रातिशाख्यों में पद के नाम (संज्ञा), आख्यात, उपसर्ग और निपात चार विभाग किए गए हैं। प्रातिशाख्यों में स्वर और व्यंजन के उच्चारण सम्बन्धी स्वरूप का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया गया है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रातिशाख्यों में ध्वनि-विज्ञान का प्रायोगिक अध्ययन किया गया है। भाषा विज्ञान में ध्वनि का महत्त्व क्या है किसी से छिपा नहीं है। अतः प्रातिशाख्यों की भाषा विज्ञान के लिए उपयोगिता सिद्ध है।

(7) निघण्टु—यास्क के अनुसार निघण्टु का अर्थ है—वह शब्द-समूह जो वेदों से चुनकर एकत्र किए हुए शब्दों का अर्थ द्योतन करे। निघण्टु में विशिष्ट वैदिक ग्रन्थ के शब्दों का संग्रह तो है पर वह समस्त शब्दों का न होकर कतिपय कठिन और दुर्बोध शब्दों का संकलन है। शब्द-संकलन-पद्धति की दृष्टि से इसमें पर्यायवाची, अनेकार्थक और विरल शब्दों का संग्रह मिलता है। अज्ञात-व्याकरण संस्कार वाले शब्द भी संगृहीत हैं। वह आर्यभाषा का प्रथम कोश होने के साथ-साथ

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत कोश-विज्ञान के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। निघण्टु-कारों में मात्र कौत्सय और शाकपूणि के ही निघण्टु मिलते हैं।

(8) **निरुक्त**—निरुक्त पद की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है **"निरपेक्ष-तया पदजात यत्र उक्तं तत्र निरुक्तम्"** अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है वही निरुक्त है। निरुक्त में वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-नाश और धातु के अर्थ-विस्तार का विवेचन किया गया है।

इन पाँच तत्त्वों की सीमाओं में ध्वनि, पद और अर्थ का समाहार हो जाता है। इस प्रकार निरुक्त में भाषा-विज्ञान में मूलभूत तत्त्वों का विस्तार से अध्ययन होता है।

वस्तुतः निरुक्त भारतवर्ष में किए गए भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसमें शब्द, शब्द का अर्थ, वाक्य, भाषा का वैज्ञानिक विवेचन, शब्दों का इतिहास, धातुओं में शब्द का मूल, विभाषाओं की ओर संकेत, पदों के नाम, उपसर्ग, निपात, आख्यात आदि के विषय मे प्रारम्भिक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन मिलता है।

(9) **व्याकरण**—वेदांग साहित्य में व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याकरण शब्द का शाब्दिक अर्थ है जिसके द्वारा सुबन्त, तिङन्त आदि पदों की व्याख्या की जाती है वह व्याकरण है—**"व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्"**। पाणिनि शिक्षा में वेदांगों के लिए एक रूपक दिया गया है उस वेद भगवान् के शिक्षा नासिका, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त कान, छन्द पैर और ज्योतिष आँखें हैं। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि - **मुखं व्याकरणं स्मृतम्**। इस वेदांग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को सुरक्षित रखना और उनके अर्थ को व्यक्त करते हुए वेदार्थ की रक्षा करना है।

व्याकरण शास्त्र की परम्परा बहुत विस्तृत और प्राचीन है। इस शास्त्र के आपिशालि तथा काशंकृत्स्न नामक आचार्यों से विभिन्न व्याकरण सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ हैं। इन दो व्याकरण के सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक सम्प्रदाय 'ऐन्द्र' भी था। तैत्तिरीय संहिता में इन्द्र देवता को प्राचीनतम वैयाकरण कहा गया है। भापाविज्ञान के अध्ययन में इस सम्प्रदाय से सर्वाधिक सहायता मिलती है।

आजकल प्राप्त व्याकरण ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन अष्टाध्यायी है जो पाणिनि मुनि की रचना है। पाणिनि मुनि से पूर्ववर्ती आचार्यों में गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि उल्लेखनीय हैं जिनका उल्लेख विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में हुआ है। परवर्त्ती आचार्यों में पतंजलि, कात्यायन, जिनेन्द्र बुद्धि, भर्तृहरि, कय्यट, विमल सरस्वती, रामचन्द्र, भट्टोजी दीक्षित, हेमचन्द्र प्रमुख हैं। संस्कृत के इन वैयाकरणों के कार्य की प्रशंसा करते हुए मैकडॉनल ने लिखा है—**"भारतीय वैयाकरणों ने ही विश्व में सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन किया है, प्रकृति और प्रत्यय का अंग पहचाना है, प्रत्ययों के कार्य का निर्धारण किया है, सब प्रकार से परिपूर्ण और अति विशुद्ध पद्धति को जन्म दिया है जिसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्त नहीं है।"**

व्याकरण शास्त्र में कारक प्रकरणादि के कारण वाक्य-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि का विस्तार से अध्ययन किया गया है। वास्तव में व्याकरण के अन्तर्गत उन समस्त विषयों का अध्ययन होता था जिनका आज के भाषा-विज्ञान में अध्ययन हो रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में संस्कृत वैयाकरणों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

(10) **पाणिनी तथा उनकी अष्टाध्यायी**—व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पाणिनि का नाम महत्त्वपूर्ण है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों (प्रत्येक में चार पाद) में चार हजार सूत्रों के द्वारा संस्कृत को नियमबद्ध करने का उल्लेखनीय श्रेय प्राप्त किया है। अष्टाध्यायी पाणिनि की ऐसी कृति है जिसको यदि भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक विवेचन के लिए मेरुदण्ड की संज्ञा दी जाए तो अत्युक्ति न होगी। अपनी विशेषताओं के कारण आज भी इस क्षेत्र का यह अमूल्य रत्न हैं।

पाणिनि का समय विवादास्पद है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व 480-410 के मध्य में अनुमानित किया गया है। डॉ० कीथ ने ई० पू० 900 से 300 के मध्य माना है, किन्तु अधिकांश विद्वान् ई० पू० 750 से ई० पू० 700 के मध्य पाणिनि का समय स्वीकार करते हैं।

पाणिनि तथा उनकी अष्टाध्यायी की सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—

(1) सूत्र शैली में व्याकरण जैसे दुरूह तथा विस्तृत शास्त्र को सरल तथा संक्षिप्त बना दिया है। (2) भाषा के चरम अवयव वाक्य को पाणिनि ने स्वीकार किया है, शब्द को नहीं। (3) पाणिनि ने शब्दों को सुबन्त, तिङन्त तथा अव्यय नामक तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। (4) एकाक्षर धातुओं के सम्पूर्ण शब्दों की रचना हुई है। उपसर्ग, प्रत्यय आदि की योजना से अपरिमित शब्दों की रचना हो सकती है। वाक्य भाषा की इकाई है। इस मत के मूल में पाणिनि का यही धातु सिद्धान्त है। भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने भी इसी मत में अपनी आस्था व्यक्त की है—Sentence is the unit of language। (5) पाणिनि ने अपने सूत्रों में ध्वनि विज्ञान का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत किया है। स्थान, प्रयत्न तथा ध्वनि का सर्वाङ्गपूर्ण वर्गीकरण पाणिनि का आज तक मान्यता प्राप्त है। (6) लौकिक तथा वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन पाणिनि की अष्टाध्यायी की एक विशेषता है। (7) चौदह माहेश्वर सूत्रों द्वारा समस्त वर्ण माला का एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करना भी पाणिनि की एक बिशेषता है।

पाणिनि का परवर्ती काल

(11) **कात्यायन**—पाणिनि के पश्चात् सर्वप्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन हुए जिन्होंने पाणिनि के ढंग से ही सूत्रों में पाणिनि के मत की आलोचना की। इनके सूत्र 'वार्तिक' कहलाते हैं। इन्होंने पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या कर उस समय की भाषा में हुए परिवर्तन को स्पष्ट किया। उदाहरणार्थ, कात्यायन ने पाणिनि के 'अदर्शनं लोपः' सूत्र को लेकर 'वर्णस्याऽदर्शनं' कर दिया। इसके अतिरिक्त इन्होंने छन्दस भाषा के विषय भी दिए हैं, जो पाणिनि के सूत्रों के अधिकांशतः अनुकूल हैं और जहाँ भेद हैं, वहाँ अधिक उपयुक्त है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पतंजलि की अपेक्षा कात्यायन ने अधिक सामग्री दी है।

(12) **पतञ्जलि**—कात्यायन के उपरान्त पतञ्जलि आते हैं। इनका काल ईसा पूर्व दूसरी शती का है। इन्होंने कात्यायन आदि पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई पाणिनि के ग्रन्थ की आलोचना का बलपूर्वक खण्डन किया है। विशेष रूप से उन्होंने कात्यायन के नियमों में दोष दिखाए हैं और पाणिनि के मत का समर्थन किया है। इनके नियम 'इष्टि' कहे जाते हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य है जिसमें इन्होंने

भाषा का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। ध्वनि क्या है, वाक्य के कौन-कौन से भाग होते हैं, ध्वनि-समूह (शब्द) और अर्थ में क्या सम्बन्ध है, इत्यदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर पतञ्जलि ने बहुत सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

(13) **काशिका**—"पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि"—ये तीन ऋषि संस्कृत के 'मुनित्रय' कहे जाते हैं। इसके बाद टीकाकारों का समय आता है। टीकाकारों में वामन जयादित्य की बनायी 'काशिका' अधिक प्रसिद्ध है। काशिका पर की गई टीकाओं में जिनेन्द्र बुद्धि का 'काशिका-न्यास' और हरदत्त की 'पदमञ्जरी' अत्यन्त, प्रसिद्ध है।

(14) **कौमुदी**—कौमुदी-ग्रन्थों में संस्कृत भाषा का वर्णनात्मक पक्ष प्रस्तुत हुआ है। इन ग्रन्थों में सूत्रों को प्रकरण के अनुसार रखा गया है तथा प्रकरणों के शीर्षक—संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, स्त्री प्रत्ययं, कारक, समास, तद्धित, तिङन्त, कृदन्त आदि रखे गए हैं। कौमुदी ग्रन्थों में सिद्धान्त कौमुदी, मध्य कौमुदी, लघु कौमुदी, प्रक्रिया कौमुदी तथा रूप माला आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं।

विमल सरस्वती कृत 'रूपमाला' सर्वप्रथम विपयानुकुल थी। इन कौमुदियों में भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' सर्वश्रेष्ठ है। चन्द्रगोविनु, जैनेन्द, शाकटायन आदि अन्य व्याकरणकार भी हुए, पर इनमें से कोई भी पाणिनि के आगे नहीं बढ़ सका। अन्य वैयाकरणों में 'शब्दानुशासन' के लेखक हेमचन्द्र और 'मुग्धबोध' के प्रणेता बोपदेव के नाम उल्लेखनीय हैं।

(15) **वाक्यपदीय**—यह भाषा-तत्त्व की वह अपूर्वतम कृति है, जिसे पढ़े बिना आज की बहुत-सी भाषा-वैज्ञानिक समस्याएँ असमाहित रहेंगी। इस ग्रन्थ में भाषा, नाद, स्फोट ध्वनि, वर्णान्तरस्वरूप, शब्द का मुख्य और गौण अर्थ आदि पर विचार किया गया है।

(16) **प्राकृत वैयाकरण**—पाणिनी तुलनात्मक व्याकरण के अदि गुरु थे। पतञ्जलि के पश्चात् सभी वैयाकरणों ने अपना ध्यान वैदिक भाषा को छोड़कर लौकिक भाषा पर ही लगाया। प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश' लिया प्राकृत-प्रकाश की ही शैली पर अन्य प्राकृत-व्याकरण बाद को बने। प्राय: सभी में प्रचचित प्राकृत का तुलनात्मक विवरण मिलता है। हेमचन्द्र और मार्कण्डेय के ग्रन्थ इस विषय में अच्छे बने। मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थों में तीन वर्ग स्थापित किए—भाषा-विभाषा और अपभ्रंश—पहले के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी प्राच्या, आवन्ती और मागधी; दूसरे में शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और (टाक्की) (टक्की) तथा तीसरे में नागर, व्राचड़ और उपनागर हैं। इसके अलावा पेशाचीका वर्ग अलग है और उसके तीन भेद (कैकेय पैशाचिकी शौरसेनी पैशाचिकी तथा पांचला पैशाचिकी) बतलाए गए हैं।

इसके अतिरिक पालि भाषा में कच्चायन, मोग्गल्लायन के बनाए हुए व्याकरण प्रचलित हैं। इन वैयाकरणों के अलावा साहित्यशास्त्रियों तथा नैयायिकों ने अपने-अपने शास्त्रों का अध्ययन करते हुए शब्द-शक्ति का विशेष विवेचन किया है। ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, रसगंगाधर आदि ग्रन्थों में इन शक्तियों का सुन्दर विवेचन मिलता है। आधुनिक ग्रन्थों में जगदीश तर्कालंकार का बनाया हुआ 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' नाम का ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक भारत में भाषा-वैज्ञानिक कार्य

भाषा-वैज्ञानिक कार्यों की दृष्टि से आधुनिक युग विशेष सक्रिय नहीं रहा। अधिकांश कार्य पश्चिमी विद्वानों द्वारा हुए हैं। फिर भी कुछ भारतीय विद्वानों का नाम अवश्य उल्लेखनीय है। रामकृष्ण गोपाल भण्डारकार (विल्सन व्याख्यान माला) डॉ० सुनीत कुमार चटर्जी (मूल भारोपीय भाषा), डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा (ध्वनि, भाषा और बोलियाँ), डॉ० कत्रे कोंकणी सुभद्र झा (मैथिली), विनायक मिश्र (उड़िया), सुकुमार सेन (बंगला), भेरूमल महरचन्द (सिन्धी), के० पी० कुलकर्णी (मराठी), केशवराम काशीराम शास्त्री (गुजराती), रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल (बुँदेली), सीताराम लालस (राजस्थानी), कान्तिकुमार (छत्तीसगढ़ी), जगदेव सिंह (बाँगरू), श्रीराम शर्मा (दक्खिनी हिन्दी), तारापुरवाला (अवेस्ता), नीलकंठ शास्त्री (तमिल), नरसिंह (कन्नड़), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (व्रज), डॉ० बाबूराम सक्सेना तथा रामाज्ञा द्विवेदी (अवधी), बनारसी दास जैन (पंजाबी), दुनीचन्द (हिन्दी-पंजाबी), बालीकान्त काकती। (असमी), रामास्वामी अय्यर (मलयालम) डॉ० उदयनाराण तिवारी (भोजपुरी), कामता प्रसाद गुरु (हिन्दी,) हरिशंकर जोशी (कुमायुनी), मोइनुद्दीन कादरी (हिन्दुस्तानी ध्वनि) डॉ० हरदेव बाहरी (हिन्दी अर्थ-विचार) आदि व्यक्तियों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। इनके अतिरिक्त व्याकरण के विभिन्न अंगों पर भी पर्याप्त कार्य हुआ है। शिवनाथ एम० ए० का 'हिन्दी-कारक-चिन्ह' आदि ऐसे ही कार्य हैं। संस्कृत और प्राकृत में पन्नालाल वैद्य तथा हीरालाल जैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इन विद्वानों के अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों ने भी भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त पक्ष पर किया है। डॉ० श्यामसुन्दर दास का 'भाषा-विज्ञान', 'भाषा रहस्य', डॉ० मंगलदेव शास्त्री का 'सामान्य भाषा-विज्ञान', डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'भाषा-विज्ञान', डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी भाषा का इतिहास', नलिनी मोहन सान्याल का 'भाषा-विज्ञान', डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'सामान्य भाषा-विज्ञान', आचार्य किशोरीदास बाजपेयी का 'हिन्दी शब्दानुशासन तथा 'भारतीय भाषा-विज्ञान' और डॉ उदयनारायण तिवारी का 'भाषा शास्त्र की रूपरेखा' डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा का 'भाषा-विज्ञान की भूमिका' डॉ रामविलास शर्मा का 'भाषा और समाज' और जयकुमार 'जलज' का 'एतिहासिक भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और व्यवहार' आदि ग्रन्थ इसी सन्दर्भ में विख्यात है।

वस्तुतः भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन काल का कार्य ही भारतीय प्रज्ञा के लिए गौरव का विषय है। उसकी प्रशंसा भारतीय मनीषियों ही ने नहीं प्रत्युत् विश्व के अनेक भाषा-तत्वविदों ने की है।

युरोप में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य

प्रश्न 12—युरोप में हुये भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्यों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

युरोप में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का समारम्भ भारत की अपेक्षा बहुत देर में आरम्भ हुआ। युरोपीय सभ्यता और संस्कृति का उद्गम-स्थल ग्रीस रहा है। साहित्य और विज्ञान के कार्यों का श्रीगणेश भी वहीं से हुआ। अस्तु स्वाभाविक था कि भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी सर्वप्रथम विचार ग्रीस से प्रारम्भ होता। ग्रीस के

विद्वान अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा से परिचित नहीं थे--यहाँ तक कि अपनी भाषा की विभाषाओं से भी उनका परिचय अत्यल्प था। ग्रीस की अन्य भाषाओं को तो वे वर्बर भाषा की संज्ञा दिए हुए थे, दृष्टि में संकीर्णता के कारण वैज्ञानिक विवेचन शक्ति का सर्वथा अभाव था। अपनी भाषा को ही वे सर्वोपरि समझते थे। परन्तु उसका ढाँचा संसार की अन्य भाषाओं पर कैसे लागू हो सकता था? दार्शनिकता और कल्पना के मोह से यूनानियों के अवैज्ञानिक विश्लेषण के निष्कर्ष भी अधकचरे होते थे।

ग्रीस में भाषा-वैज्ञानिक विचार करने वालों में सबसे पहला नाम सुकरात (469-399 ई० पू०) का आता है। सुकरात की मान्यता थी कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक न होकर रूढ़ होता है। **प्लेटो** (429-347 ई० पू०) दूसरा विचारक था जिसने विचार और भाषा की एकता का अनुभव किया। उसने ग्रीक भाषा को संघोष और अघोष नामक दो वर्गों में विभाजित किया और अघोष को—अन्तस्थ वर्ण और व्यंजन—में वर्गीकृत किया। अरस्तु (384 से 322 ई० पू०) की दृष्टि में वैज्ञानिक अधिक थी। उसने भाषा का विश्लेषण करके पदों में विभाजित किया। वाक्य में उद्देश्य और विधेय का भेद दिखाया, संज्ञा क्रिया, कारक, लिङ्ग आदि का पहले-पहल विभाजन किया—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को रूढ़ घोषित किया।

परन्तु सुकरात, प्लेटो, अरस्तु में से कोई भाषा-वैज्ञानिक नहीं था। उनके बाद **दियोनीसिअस थ्रैक्स** (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) और अपोलोनियस डिसकोलस द्वितीय शताब्दी ई० पू०) द्वारा लिखित व्याकरणों से उपर्युक्त विद्वानों के सिद्धान्तों का अधिक स्पष्ट रूप दिखाई पड़ा। थ्रैक्स ने प्राचीन ग्रीक भाषा की विभक्तियों और आघात के सम्बन्ध में उपयोगी सूचनाएँ दी हैं। ग्रीकों की भाषा सम्बन्धी कल्पना अठारहवीं शताब्दी तक ज्यों-की-त्यों चलती रही, उसमें कोई विशेष विकास नहीं हो सका।

ग्रीस से जब सभ्यता और प्रभुता का केन्द्र रोम हो गया तो लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगा और ग्रीक व्याकरण के आधार पर लैटिन के भी व्याकरण बनने लगे। 15 वीं शताब्दी में प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण **लॉरेन्स वॉल** ने लिखा। लोगों का ध्यान इन दोनों की समानताओं और विषमताओं की ओर गया। ईसाई धर्म के विस्तार से यहूदी और हिब्रू भाषा का भी अध्ययन होने लगा। साथ ही पड़ोसी अरबी, सीरियाई आदि भाषाओं के प्रति भी विद्वान आकृष्ट हुए। शीघ्र ही सारे यूरोप पर लैटिन भाषा का अखण्ड प्रभुत्व स्थापित हो गया। परिणामस्वरूप विभिन्न देशों में लैटिन के रूप भी बदलने लगे, उनमें प्रान्तीयता की छाप आने लगी।

रोम वालों ने स्वतः कुछ नहीं किया। वे यूनानियों की नकल करते रहे। सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् भाषाओं के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान पुनः आकर्षित हुआ। पर इस समय अलग-अलग भाषाओं के अध्ययन की प्रधानता थी। लिबनिज ने सोलहवीं शताब्दी में हिब्रू के महत्त्व का खण्डन किया और संसार की परस्पर सम्बद्ध भाषाओं का विभाग करने का प्रस्ताव किया। वह एक विश्व भाषा का पक्षपाती था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्व यूरोपीय भाषाओं पर जो भी काम हुआ, उस पर लैटिन के अध्ययन का बहुत प्रभाव पड़ा। बोली जाने वाली भाषा की अपेक्षा

लिखित भाषा को प्रधानता, कोश ग्रन्थों में व्युत्पत्ति आदि के लिए लैटिन की धातुओं का सहारा लेना, व्याकरण में लैटिन के नियम के आधार पर नियम आदि बातें उसी व्यापक प्रभाव की द्योतक हैं। परन्तु जहाँ लोग रिनेसाँ से अन्य वातों में उन्नत हुए, वहाँ भाषाओं के अध्ययन में दृष्टि विस्तृत हुई और लैटिन के अलावा ग्रीक फिर से पढ़ी जाने लगी तथा इट्रानी और अरबी की ओर भी ध्यान दिया गया।

कई यूरोपीय विद्वानों का ध्यान अठारहवीं सदी में भाषा के उद्गम की ओर गया। भाषा की उत्पति के विषय में रूसी; कंडिलेक, हर्डर आदि ने अपने-अपने मत निकाले। हर्डर ने भाषा के ईश्वर-प्रदत्त होने का खण्डन किया। इसी सदी के अन्त में डी० जेनिश ने 'आदर्श भाषा' के विषय पर एक निबन्ध लिखा, जिनमें उन्होंने अपनी आदर्श भाषा के लक्षणों का विवेचन किया और उनके अनुसार लैटिन, ग्रीक तथा कई अन्य यूरोपीय भाषाओं की तुलनात्मक जाँच की। इस प्रकार हर्डर जेनिश ने अपने विवेचन से भाषा-विज्ञान की नींव रखी। इसी सदी में यह विज्ञान इतना उन्नत हुआ कि पल्लस नामक एक विद्वान ने एक ऐसा शब्दकोश बनाया जिसमें यूरोप और एशिया की विभिन्न भाषाओं के २८५ शब्दों के तुलनात्मक रूप उपस्थित किए गए थे।

वस्तुतः भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन यूरोप में भारतीय विज्ञानों के संसर्ग से हुआ। फलतः सन् 1767 में फ्रान्सीसी पादरी कोर्दोस्क (Coeurdoux) ने संस्कृत की ओर अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। 1796 में सर विलियम जोन्स ने लोगों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि शब्द धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक, संस्कृत, लैटिन, गाथिक, केल्टिक तथा पुरानी फारसी मूलतः एक ही भाषा है, उन्होंने संस्कृत को ग्रीक और लैटिन आदि से श्रेष्ठ वताया हेनरी थामस कोलब्रुक (1765-1837) ने संस्कृत के सम्बन्ध में अनेक निबन्ध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे वढ़ाया। सन् 1808 ई० में जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक वानश्लेगल (1772-1829) ने भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसी विद्वान् ने तुलनात्मक व्याकरण का श्रीगणेश किया और बहुत से ऐसे शब्द इकट्ठे किए जो अर्थ तथा ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक, लैटिन, जर्मन और संस्कृत में एक ही थे। तुलना करने में इन्होंने कुछ ध्वनि-परिवर्तन तथा ध्वनि-नियमों की ओर भी संकेत किया। श्लेगल् ने ही पहली बार संसार की भाषाओं का वर्गीकरण किया था। उसने समस्त भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा- 1. संस्कृत तथा सगोत्रीय अन्य भाषाएँ। 2. अन्य भाषाएँ पहला वर्ग आज के श्लिष्ट वर्ग से मिलता-जुलता है और दूसरा वर्ग अश्लिष्ट वर्ग के समान :, जिसमें प्रत्यय, उपसर्ग आदि का प्रयोग होता है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में उनका मत है कि विभिन्न भाषाओं की उत्पत्ति विभिन्न आधारों पर हुई है। फ्रेडरिक वान श्लेगल के बड़े भाई अडोल्फ डब्ल्यू श्लेगल् (1667-1845) भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने फ्रेडरिक द्वारा किए-गए भाषाओं के वर्गीकरण को अधिक स्पष्ट किया और श्लिष्ट भाषाओं को संयोगात्मक और वियोगात्मक वर्गों में बाँट कर उनका अन्तर वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रस्तुत किया।

विल्हेल्म फान हम्बोल्ड्ट (1767 से 1835)—भाषा को एक अबोध कार्य मानते हैं। वे भाषा को स्थिर परिभाषा में बाँधने के पक्ष में नहीं हैं। उनकी दृष्टि में भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है। भाषा-वर्गों

सम्बन्ध में चीनी को जिसमें व्याकरण के रूप नहीं हैं, वे अलग मानते हैं। शेष को तीन वर्गों मे अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट में रखते हैं। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि कोई एक भाषा निश्चित रूप से एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। सभी भाषाओं में कुछ न कुछ नये वर्गों के लक्षण मिल सकते हैं। वे शब्दों को धातु पर आधारित मानते थे और प्रत्ययों के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि कभी न कभी ये स्वतन्त्र शब्द अवश्य थे। हम्बोल्ट्ट की भाषा-विज्ञान की सबसे बड़ी देन है, भाषा के अध्ययन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि इनको तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का पिता कहा गया है। जावा की भाषा का उन्होंने विशेष अध्ययन किया था।

रैज्मस रैस्क (1787 से 1832)—डेनिश विद्वान थे। इन्होंने आइसलैण्ड की भाषा का विशेष अध्ययन किया था। इनकी प्रथम पुस्तक 'आइसलैण्ड का व्याकरण' थी। उनके अनुसार किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा के गठन एवं शब्द-समूह से अच्छी तरह जाना जा सकता है। रैस्क ने ही द्रविड़ भाषाओं को संस्कृत से पूर्णतया भिन्न बतलाया था। इन्होंने बहुत-सी भाषाओ के व्याकरण लिखे जिनमें प्रमुखतः रूप-विचार-सम्बन्धी अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है।

याकोब ग्रिम (1785 से 1863) पेशे से वकील, किन्तु अभिरुचि और मस्तिस्क, से भाषा-विज्ञानी थे। उनके द्वारा भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में किया गया कार्य एक सुदृढ़ प्रकाश स्तम्भ है। आरम्भ में ग्रिम ने निरुक्तियों पर ध्यान दिया, किन्तु उनकी निरुक्तियाँ काल्पनिक अधिक और वैज्ञानिक कम थीं। बाद में ग्रिम का ध्यान इस त्रुटि की ओर गया तो उन्होंने मार्जन कर लिया। ग्रिम ने तीन बातों पर विशेष बल दिया —(1) प्रत्येक भाषा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व और महत्त्व है, इसलिए भाषा के क्षेत्र में छोटे-बड़े का भेद अग्राह्य है। (2) भाषाओं के अध्ययन में ऐतिहासिक अध्ययन की महत्ता प्रतिपादित की। (3) 1819 में ग्रिम की 'देवभाषा व्याकरण' (Deutsche Grmmarik) नामक प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई। 1822 में इसका द्वितीय संस्करण निकला जिसमें ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी उस नियम का उल्लेख है जो बाद में ग्रिम-नियम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रिम ने स्वयं भाषा-वैज्ञानिक शब्दों का निर्माण किया, जो आज भी व्यहृत होते हैं।

फान्त्स बॉप (1791-1867)—जेस्पर्सन ने आधुनिक भाषा-विज्ञान को प्रतिष्ठापक त्रयी (रैस्क, ग्रिम बाप) में बॉप को सर्वप्रमुख माना है। बॉप की प्रथम पुस्तक 'धातु-प्रक्रिया' है, जिससे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जर्मनी में आरम्भ माना जाता है। यह पुस्तक 1816 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई और 1820 में इसका परिवर्द्धित संस्करण निकला जिसका नाम था—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता और जर्मन भाषाओं की विश्लेषणात्मक तुलना'। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य बॉप ने 'व्याकरणिक रूपों की उत्पत्ति, पर विचार किया। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन तीनों भाषाएँ एक ही मूल स्रोत से निकली हैं, फिर भी मूल भाषा का रूप और लैटिन की अपेक्षा संस्कृत में अधिक पूर्णता से सुरक्षित है। आकृति के आधार पर उन्होंने भाषाओं का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

(क) धातु और व्याकरण से रहित भाषाएँ जैसे चीनी (ख) एकाक्षर धातु

वाली भाषाएँ जिनमें प्रत्यक्ष योग से शब्दों का निर्माण सम्भव है, जैसे भारत-यूरोपीय (ग) द्वयक्षर धातु वाली अथवा त्रिव्यंजनात्मक मूल वाली भाषाएँ जैसे सामी।

ऑगस्ट एफ० पाट (1802-1880)—ये वैज्ञानिक व्युत्पत्ति शास्त्र के पिता कहे जाते हैं। इनके समय तक तुलनात्मक ध्वनियों की तालिका नहीं बनाई गई थी। यह कार्य सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। इसके अतिरिक्त पॉट नें बॉप के व्याकरण का संस्करण भी किया।

के० एम रैप—ये ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनि-शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था। ध्वनि और लिपि में विशुद्ध सम्बन्ध स्थापित करके उन्होंने ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Phonetic transcription) प्रस्तुत किया।

जे० एच० ब्रेड्स्डॉर्फ—ये डेनिश विद्वान् थे। इन्होंने भाषा-विकास के करणों पर पहली बार प्रकाश डाला।

आगस्ट श्लाइखर—(1821-1868)—ये भाषा-विज्ञान के प्राचीन और नवीन युग के सन्धि-काल के प्रतिनिधि हैं। इनका मत है कि मनुष्य जाति का वर्गीकरण खोपड़ी की लम्बाई ,गोलाई आदि के आधार पर न करके भाषा की भिन्नता के आधार पर करना चाहिए, क्योंकि भाषा अधिक स्थिर चीज है। श्लाइखर ने इण्डो-जर्मेनिक (भारतीय-जर्मन) भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण को प्रकाशित करके भाषा को अयोगात्मक, अश्लिट योगात्मक और श्लिष्ट योगात्मक रूपों मे वर्गीकृत किया। इनका सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण काम आदिम आर्य भाषा का पुनर्निर्माण है। इसके ध्वनि-समूह, पद, वाक्य आदि सभी कुछ सिद्ध किए गए हैं।

गेओर्ग कुर्टीउस (1820-85)—इन्होंने ग्रीक भाषा का विशेष अध्ययन किया था तथा ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला था। ध्वनि नियमों में विश्वास होते हुए भी इनका विचार था कि इनमें अपवाद अनिवार्य है। इन्होंने प्राचीन भाषाओं की पद रचना में सादृश्य को स्वीकार किया।

फ्रेडरिक मैक्समूलर (1823-1900)—मैक्समूलर ने भाषा-विज्ञान को विद्वत् वर्ग से हटाकर जन-सामान्य के बीच ले आने का प्रयास किया। इन्होंने 1861 में भाषा-विज्ञान पर तीन व्याख्यान दिए, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। ये भाषा-विज्ञान को भौतिक विज्ञान मानते हैं; परन्तु फिजियालोजी से भिन्न ऐतिहासिक रूप में।

इन्होंने अर्थ-विज्ञान की ओर भी ध्यान दिया तथा आर्य भाषा के मूल स्थान की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात नागरी लिपि के प्रचार की थी। इन्हीं के प्रयास से नागरी लिपि की वैज्ञानिकता सम्पूर्ण भारत में ही नहीं अपितु युरोप में भी सराही गई।

विलियम ड्वाइट ह्विटनी (1827-1894)–ये अमेरिका निवासी थे। इनका संस्कृत का अध्ययन गम्भीर था। शैली भी उसी के अनुरूप प्रौढ़ एवं गम्भीर थी। इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई—(1) भाषा और भाषा का अध्ययन (1867) (2) भाषा का जीवन और विकास (1875), संस्कृत भाषा का व्याकरण (1879)। इनकी मान्यताएं थीं (क) भाषा एक प्रकार की मान्य संस्था है, जिसका बिकास धीरे-धीरे और पारस्परिक अववोध के लिए होता है। (ख) भाषा सम्बन्धी मीमांसा में रहस्यात्मकता नहीं रहनी चाहिए। (ग) शब्द रूढ़ संकेत हैं। इन्होंने मैक्समूलर के कतिपय काल्पनिक सिद्धान्तों की आलोचना की यथावश्यक उनमें सुधार भी किया।

इसके पश्चात् भाषा-विज्ञान में नये युग का सूत्रपात हुआ। यह 19 वीं शती का तृतीय चरण था। इस युग का नेतृत्व किया हेर्मैन स्टाइन्थाल (1825-99) ने। उन्होंने व्याकरण, तर्क-शास्त्र और मनोविज्ञान के परस्पर प्रभाव की सुन्दर विवेचना की। प्रायः 1870 तक भाषा-विज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका था। उस समय तक इस भाषा-विज्ञान के मूल सिद्धान्तों के अलावा तुलनात्मक व्याकरण के सहारे आदिम भाषा का ढाँचा खड़ा हो गया और ग्रीक, लैटिन, संस्कृत अधिकांश शब्दों की व्युपत्ति निश्चित हो चुकी थी। 1880 में तालव्य ध्वनि नियम ढूँढ़ लिया गया, जिसके सहारे आदिम आर्य भाषा के तृतीय श्रेणी के वर्ग की ध्वनियों का संस्कृत में, कवर्ग, चवर्ग का द्विधा विकास समझ में आ गया। इन नयी खोज के कारण स्वर क्रम के निष्कर्षों में भी संशोधन करना पड़ा। इसी वर्नर ने ग्रिम के नियम के अपवादों का सुर के प्रभाव द्वारा समाधान किया। इसके साथ ही ग्रासमान, वर्नर, ब्रुगमैन, डेलब्रुक, हर्मन आदि नवीन विद्वानों ने अनेक कई बातों पर बल दिया। उन्होंने मूल भारोपीय भाषा के स्वरूप की अधिक समीचीन कल्पना की, फलतः ध्वनि विज्ञान का महत्त्व बढ़ गया।

नव्य युग के भाषा-विज्ञानियों ने भाषा को अन्तरंग और बहिरंग— इन दो अंगों में विभाजित किया। अर्थ को भाषा का अन्तरंग और ध्वनि को उसका बहिरंग कहा 1882 ई० में अर्थविज्ञान पर ब्रेआल का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। वाक्य विज्ञान के कार्य के सम्बन्ध में हर्मन, ब्रुगमैन तथा डेवब्रुक के नाम उल्लेखनीय हैं। पाउल ने सामान्य भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों पर और ब्रुगमैन ने भारोपीय परिवार की भाषाओं की रूप-रचना पर अपने ग्रन्थ प्रकाशित किए।

आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के जनक फर्दिनाद द सस्युर (1857-1913 ई०) माने जाते हैं। ब्लूमफील्ड (1887-1948 ई०) और सपीर (1884-1939 ई०) वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के जनक हैं, साथ ही इन्होंने अनुप्रयुक्त भाषा-विज्ञान के अध्ययन का मार्ग भी प्रशस्त किया है। आगे चलकर संरचनात्मक भाषा-विज्ञान ने तो सैद्धान्तिक भाषा-विज्ञान ही नहीं, भाषा-शिक्षण जैसे अनुप्रयुक्त क्षेत्र में भी क्रान्ति कर दी है। हैरिस इसके प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। इसके बाद तो भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन के नये-नये सिद्धान्त विकसित होने लगे। पुराने सिद्धान्तों में जो दोष दृष्टिगत हुए उनके निराकरण का कार्य इन सिद्धान्तों ने किया। इन सिद्धान्तों में चौमस्की का रचनांतरण सिद्धान्त, पाइक का बन्धिम सिद्धान्त, हैलिडे का व्यवस्थापरक सिद्धान्त, लैंब का स्टेटिफिकेशन सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। फिलमोर का कारक-सिद्धान्त अभी विकास की अवस्था में है।

जेस्पर्सन, हेनरी स्वीट, ए० मेये, वन्द्रिये, डेनियल जोन्ज, टर्नर आदि इस युग के प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी हैं।

अध्याय | 4

भाषा-विज्ञान : अंग और शाखाएँ

प्रश्न 13—भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किन-किन विषयों का अध्ययन किया जाता है ? समझाइए ।

प्रश्न 14—भाषा-विज्ञान के अंग और उसकी शाखाओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

उत्तर—अध्ययन की सुविधा एवं समझने की दृष्टि से प्रत्येक विषय के कई विभाग किए जाते हैं । सामान्यतः जिस भाषा का उपयोग हम करते हैं उसके चार विभाग या अंग हैं—वाक्य पद, ध्वनि और अर्थ । अतएव भाषा-विज्ञान के भी चार अंग हैं । इनके अतिरिक्त भी उसकी बहुत-सी शाखाएँ हैं जिन्हें विद्वानों ने गौण विषय या अंग कहा है, जबकि वे गौण हैं नहीं ।

अंग

(1) **वाक्य-विज्ञान** (Syntax)—वाक्य-विचार या वाक्य-रचनाशास्त्र को विद्वान् वाक्य-विज्ञान भी कहते हैं । चूंकि इसमें वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, अतः इसे तुलनात्मक वाक्य विज्ञान (Comparative Syntax) भी कहा जाता है । वाक्य भाषा का महत्त्वपूर्ण अंग है । इसमें वाक्य का अध्ययन पद-क्रम, अन्वय, निकटस्थ अवयव, केन्द्रिकता, परिवर्तन के कारण, परिवर्तन की दिशाएँ आदि दृष्टियों से किया जाता है । वाक्य-रचना का सम्बन्ध बहुत कुछ बोलने वाले समाज के मनोविज्ञान से होता है । वाक्यों का अध्ययन कई प्रकार से हो सकता है । जैसे वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक । इन्हीं के आधार पर कभी सामान्य वाक्यों का अध्ययन किया जाता है और कभी वाक्य रचना के इतिहास का और कभी दो भाषाओं के वाक्यों की तुलना की जाती है ।

(2) **रूप-विज्ञान** (Morphology)—रूप-विज्ञान को रूप-विचार, पद-विज्ञान या पद-विचार भी कहा जाता है । इसमें शब्द-रचना के मूल अंग—धातु, उपसर्ग, प्रत्यय, शब्द तथा विभक्ति आदि का अध्ययन किया जाता है । इस विभाग के अध्ययन की सीमाएँ विस्तृत हैं और इनका संस्कृत जैसी भाषाओं के विद्वानों ने गम्भीर अध्ययन किया है ।

(3) **ध्वनि विज्ञान** (Phonology)—भाषा के प्रमुख अंग शब्द हैं । शब्दों की रचना ध्वनियों से होती है । अतः भाषा-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण विषय होते हुए भी नीरस एवं क्लिष्ट विषय है । ध्वनि-विचार के अन्तर्गत ध्वनि, ध्वनि-विकास, ध्वनि-परिवर्तन, उसके कारण और ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का अध्ययन किया जाता

है। डॉ० गुणे ने लिखा है "ध्वनि-विचार से ध्वनियों का उच्चारण, अक्षर-रूप में उनका नियोजन, उन अक्षरों का शब्द रूप में संयोग तथा अन्ततः शब्दों से वाक्यों का निर्माण आदि का अध्ययन किया जाता है"। ध्वनि ग्राम विज्ञान आदि इसके कुछ नये उप विभाग भी हैं।

(4) **अर्थ-विज्ञान (Semantics)**—अर्थ शब्द का प्राण है। भाषा इसी के कारण सार्थक बनती है। अतः इसके अन्तर्गत अर्थ, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, अर्थ-परिवर्तन, उसके कारण तथा अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं पर विचार किया जाता है।

शाखाएँ

(5) **भाषा की उत्पत्ति (Origin of Language)**—भाषा की उत्पत्ति कैसे और कब हुई, उसके विकास के कारण क्या हैं; आदि प्रश्न भी भाषा-विज्ञान में अध्ययन के विषय हैं। कुछ विद्वान् भाषा की उत्पत्ति को भाषा-विज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं मानते हैं किन्तु जब भाषा-विज्ञान में भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है फिर यह प्रश्न उससे परे कैसे हो सकता है। इस प्रसंग में डॉ० गुणे ने अपनी पुस्तक 'कम्परेटिव फ़िलॅलॉजि' में लिखा है "इसमें भाषा की उत्पत्ति तथा उसके विकास एवं परिवर्तन के कारण आदि अन्य बड़े प्रश्न भी आते हैं। इस प्रकार इसकी समस्या गत्यात्मक है। यह केवल भाषा की चिर-परिवर्तनशीलता का ही अध्ययन नहीं करता, अपितु परिवर्तन के कारणों का भी पता लगाने का प्रयत्न करता है"।

(6) **भाषाओं का वर्गीकरण (Classification of languages)**—वाक्य, रूप, ध्वनि तथा अर्थ के आधार पर विश्व की भाषाओं का विभाजन किया जाता है। इस वर्गीकरण के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और तुलना का सहारा लिया जाता है। इन्हीं आधारों पर विश्व की भाषाओं के विभिन्न वर्गीकरण किए गए हैं। इस प्रसंग में विचार करते हुए डॉ० गुणे ने लिखा है "भाषाओं के किसी वर्ग विशेष की पारस्परिक समानताओं का अन्वेषण और उनकी व्याख्या करना, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का उद्देश्य है।" इस प्रसंग में ह्विटनी का उदाहरण द्रष्टव्य है—"भाषा-विज्ञान-अभिव्यक्ति के साधन के रूप में, उसकी एकरूपता तथा सामग्री एवं संरचना की दृष्टि से आन्तरिक अनेकता को ठीक से समझने के लिए भाषाओं की समानता और अन्तर के कारण का पता लगाना पड़ता है, एवं समानना तथा अन्तर की स्पष्ट सीमा-रेखा निर्धारित करके उन्हें वर्गीकरण करना पड़ता है।"

(7) **व्युत्पत्ति-शास्त्र (Etymology)**—व्युत्पत्ति-शास्त्र का भाषा-विज्ञान के उद्भव एवं विकास में बहुत बड़ा योगदान है, क्योंकि भाषा शब्द से चलती है। शब्द के जीवन का इतिहास, धातु, प्रकृति-प्रत्यय का अध्ययन व्युत्पत्ति-शास्त्र में होता है। अतः व्युत्पत्ति-शास्त्र का ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ-विचार की दृष्टि से अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

(8) **शब्द-विज्ञान (Wordology) या शब्द-समूह (Vocabulary)**—शब्द, शब्द-गठन, विदेशी शब्द, तत्सम, तद्भव, देशज आदि का अध्ययन भाषा-विज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन शब्दों के अध्ययन से भाषा का स्वरूप स्पष्ट होता है। अतः यह विभाग भी भाषा-विज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है।

(9) **लिपि-विज्ञान (Grammatology)**—लिपि का सम्बन्ध भाषा से है।

अतः भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए लिपि का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इस विभाग के अन्तर्गत लिपि की उत्पत्ति, विकास और उसका वर्त्तमान तथा भविष्य का अध्ययन भाषा-विज्ञान के लिए उपयोगी है।

(10) **प्रागैतिहासिक खोज** (Linguistic Palaeontology)—भाषा-विज्ञान के द्वारा प्राचीन संस्कृति, सभ्यता पर भी प्रकाश पड़ा है; अतः भाषा-विज्ञानियों ने पुरातन संस्कृति आदि की खोज का कार्य भी आरम्भ किया है। इस अध्ययन ने भविष्य के लिए स्वर्णिम आभास दिया है।

(11) **भाषा-विज्ञान का इतिहास** (History of Linguistics)—भाषा-विज्ञान का अध्ययन करते समय स्वयं उसके इतिहास का अध्ययन न करना कहाँ तक उचित है? भारतवर्ष में पाणिनि आदि से लेकर जितना कार्य हुआ है, उसका व्यापक अध्ययन किया गया है, यही नहीं, पाश्चात्य देशों में भाषा-विज्ञान पर जो कार्य हुआ है, उसका आकलन भी परम अपेक्षित है।

(12) **भाषिक भूगोल** (Linguistic Geography)—भौगोलिक क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से किसी क्षेत्र-विशेष में कौन-सी भाषा बोली जाती है? उसकी कितनी उपबोलियाँ हैं और वे कहाँ-कहाँ प्रयुक्त होती हैं? भाषाओं की सीमा का निर्धारण कैसे होता है? सीमाओं पर मिलने वाली भाषाएँ या बोलियाँ एक-दूसरी को किस प्रकार प्रभावित करती हैं? सीमाओं पर स्थित भाषा को किस भाषा में परिगणित किया जाए? आदि विषय भाषिक भूगोल के अन्तर्गत आते हैं। **बोली-भूगोल, भाषा-भूगोल, क्षेत्रीय भाषाविज्ञान, शब्द-भूगोल** आदि भी इसके अन्तर्गत या इसी के सम्बद्ध हैं।

(13) **भाषा-विकास** (Linguistic Phylogeny)—इसमें सामान्य भाषा के विकास का अध्ययन किया जाता है। अभी तक सह-अध्ययन शैशवावस्था में है।

(14) **भाषाकालक्रम-विज्ञान** (Glottochronology)—इसका दूसरा नाम शब्द-सांख्यिकी (Lescieostatistics) है। इसमें एक भाषा-परिवार की दो या अधिक भाषाओं के शब्द-समूह को एकत्र करते हैं और फिर उनका तुलनात्मक अध्ययन करके पुराने शब्दों के लोप और नये शब्दों के आगम के आधार पर भाषाओं के एक मूल भाषा से अलग होने के काल का पता लगाते हैं।

(15) **शैली-विज्ञान** (Stylistics)—इसमें यह देखा जाता है कि साहित्य या बातचीत में प्रभाव की दृष्टि से किस प्रकार की ध्वनियों, रूपों, शब्दों, वाक्यों या अर्थों आदि को छोड़ा जाए और किन्हें प्रयुक्त किया जाए। इस प्रकार इसमें चयन-पद्धति और उसके आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।

(16) **बोली-विज्ञान** (Dialectology)—इसमें बोली का क्षेत्र, उपरूप, ध्वनि, अर्थ, रूप, शब्द, तथा वाक्य आदि का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है।

(17) **भाषा-प्ररूप विज्ञान** (Linguistic Typology)—इसमें भाषाओं के प्ररूप (type) या उनकी रचना (structure) का अध्ययन होता है। इस अध्ययन के आधार पर रूपात्मक वर्गीकरण भी किया जाता है।

(18) **व्यक्ति-बोली-विकास** (Linguistie Ontogeny)—इसमें एक व्यक्ति

की भाषा (idiolect) या बोली के जन्म से मृत्यु तक के विकास का अध्ययन किया जाता है।

(19) **सुर-विज्ञान** (Tonetics)---सुर, सुर के भेद, आघात, सुर-लहर आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है।

(20) **भाषिम विज्ञान** (Glossematics)—इसमें भाषा के भाषिम का पता लगाते हैं। 'भाषिम' अर्थ-परिवर्त्तन की शक्ति रखने वाली लघुत्तम ध्वन्यात्मक इकाई है। भाषिमों में द्विपार्श्वविरोध होता है। इसमें बीजगणित की सहायता ली जाती है।

(21) **नाम-विज्ञान** (Onomatology)—इसमें नामों का अध्ययन होता है। नामों का यहाँ अर्थ है—व्यक्तिवाचक संज्ञा। नाम-विज्ञान की दो शाखाएँ हो सकती हैं—व्यक्ति नाम विज्ञान, स्थान नाम विज्ञान (toponymics)।

(22) **अधिभाषा-विज्ञान** (Metalinguistics)—अधिभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन 'अधिभाषा-विज्ञान है। अधिभाषा सामान्य भाषा से भिन्न होती है।

(23) **जाति-भाषा-विज्ञान** (Ethnolinguistics)—इसमें भाषा विशेष के जातीय रूपों या किसी भाषा पर अन्य जाति के समवेत प्रभाव आदि का अध्ययन आता है।

(24) **शब्द-विज्ञान** (Wordology)—इसके अन्तर्गत शब्दों का वर्गीकरण, व्यक्ति या भाषा के शब्द समूह में परिवर्तन के कारण और दिशाओं आदि का विचार किया जाता है।

(25) **कोश-विज्ञान** (Lexicology) - इसमें उन सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं, जिनके आधार पर कोश बनाते हैं।

(26) **बंधिम विज्ञान** (Tagmemics)—बंधिम की सत्ता शब्द या रूप की तरह मूर्त्त नहीं है। यह एक अमूर्त्त कल्पना है। भाषा त्रिविध संरचनाओं'--ध्वनि-शास्त्रीय, व्याकरणिक, शब्दकोशीय—का व्यूह है। बंधिम विज्ञान संरचनाओं पर विचार करता है और संरचना-विशेष के खंडीकरण के नियमों को बताता है।

(27) **समाज-भाषाविज्ञान** (Sociolinguistics)—एक ही भाषा को बोलने वाले समाज के विभिन्न समूहों की व्यक्तिगत व्यावसायिक विशिष्टताओं के कारण भाषा की संरचना में परिवर्त्तन आते हैं। यह अन्तर कैसे आता है, और किस तरह का है? आदि का अध्ययन समाज-भाषाविज्ञान के विषय हैं। इस प्रकार यह विज्ञान विभिन्न सामाजिक स्थितियों में भाषा-व्यवहार का अध्ययन है।

(28) **शेष**—इनके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत—भाषा तथा उसके विविध रूप, उन रूपों के बनने के कारण, भाषा की प्रकृति, भाषा-विकास के कारण, विकास में व्याघात उपस्थित होने के कारण, किसी जीवित भाषा के अध्ययन एवं अध्ययनार्थ सामग्री एकत्र करने की प्रणाली, भाषा-शिक्षण, अनुवाद-कार्य, भाषण-कला, आदि का अध्ययन किया जाता है।

अध्याय | 5

भाषा-विज्ञान—एक अध्ययन

[प्रकार या पद्धतियाँ, लाभ या महत्त्व एवं उपयोगिता]

प्रश्न 15—भाषा-विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ (प्रकार) कौन-कौन सी हैं ? बतलाइए ।

उत्तर—भाषा-विज्ञान किसी भाषा के कारण-कार्य-मूलक युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण के लिए कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बाँधकर चलता है । उन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषा-विज्ञान के अध्ययन के चार प्रकार हैं—

(1) **समसामयिक, या विधि संकालिक अथवा समकालिक विधि** (Synchronic Method)—इसे भाषा अथवा भाषाओं के वर्तमानकालिक अध्ययन अथवा अध्ययन विधि भी कह सकते हैं । उस विधि अथवा इस प्रकार के अध्ययन में, किसी भाषा अथवा भाषाओं ;का विशद एवं व्यापक अध्ययन एक स्थिति अथवा काल में किया जाता है । यह विधि ऐतिहासिक विधि के सर्वथा विपरीत है । इसकी तीन उपविधियाँ अथवा शाखाएँ मानी जाती हैं :—

(क) **वर्णनात्मक** (Descriptive),
(ख) **संरचनात्मक** (Structural) और,
(ग) **रूपान्तरणमूलक** (Transformational),

(क) **वर्णनात्मक**—इस विधि में, एक समय की किसी एक भाषा के किसी एक रूप के ध्वनि पद, शब्द, वाक्य रचना आदि का विश्लेषण और अध्ययन किया जाता है इसमें वर्णन की प्रधानता होती है और यह विधि वीसवीं शताब्दी की देन और विशेषता है ।

(ख) **संरचनात्मक**—अमरीकी भाषा वैज्ञानिकों ने इसके विकास वर्णनात्मक विधि से ही किया है जिसमें भाषा के गठन अथवा रचना के अध्ययन की प्रधानता रहती है । यह विधि इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक भापा की एक संरचना (Structur) होती है और उसका अध्ययन अवयव विश्लेषण विधि से किया जा सकता है । अर्थ ही सव कुछ नहीं है । उसकी उपेक्षा की जा सकती है ।

(ग) **रूपान्तरण मूलकविधि**—यह संचरनात्मक विधि की प्रतिक्रिया और विरोधी है । वास्तव में इसका विकास ही, संचरनात्मक विधि के अतिवाद के विरोध में हुआ । यह विधि इस बात पर आधारित है कि भाषा का व्यापक अध्ययन अर्थ की अवहेलना कर, नहीं किया जा सकता है । भाषा की ऊपरी संरचना के साथ एक

गहरी संरचना भी होती है, जिसका अर्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और इसलिए अर्थ को छोड़कर संरचना का अध्ययन पूर्ण नहीं है।

(2) **ऐतिहासिक विधि (Diachronic or Historical Method)**—भाषा का सर्वाङ्गीण स्वरूप भाषा विज्ञान के अध्ययन का विषय है। भाषा के स्वरूप के अध्ययन के लिए उसको उसके विकास और परिवर्तन के इतिहास का अध्ययन इसके अन्तर्गत होता है। प्राचीन साहित्य ग्रन्थ, शिलालेख इत्यादि की सहायता से भाषा की उत्पत्ति और उसके विकास के इतिहास का अध्ययन भाषा विज्ञान की ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत होता है।

(3) **तुलनात्मक विधि (Comparative Method)**—इस विधि के अन्तर्गत भाषा विज्ञान भाषा के स्वरूप के अध्ययन के लिए एक भाषा की तुलना दूसरी भाषाओं, बोलियों उपभाषाओं आदि से करता है। इस तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति आदि का विवेचन होता है।

(4) **अनुप्रयुक्त या प्रायोगिक (Applied or Experimental Linguistics)**—इसमें देशी अथवा विदेशी भाषा को सिखाने की पद्धति, उच्चारण सिखलाने प्रक्रिया एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की शैली, भाषा से सम्बन्ध यन्त्रों एवं उपकरणों का व्यावहारिक ज्ञान तथा भाषा-सर्वेक्षण की पद्धति, आदि व्यावहारिक बातों को लिया जाता है। भाषा-विज्ञान की यह पद्धति आधुनिक है।

प्रश्न 16—आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान के अध्ययन की क्या उपयोगिता है?

प्रश्न 17—भाषा-विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता और आवश्यकता पर एक लेख लिखिए।

प्रश्न 18—भाषा-विज्ञान के अध्ययन के प्रयोजन और महत्त्व पर विचार कीजिए।

भाषा-विज्ञान : लाभ (महत्त्व) एवं उपयोगिता (प्रयोजन)

उत्तर—प्रत्येक ज्ञान या विज्ञान का उद्देश्य निष्पक्ष अध्ययन होता है। उससे किसी लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही समाज की संस्कृति और सभ्यता को समृद्ध बनाने में भी उसका योग होता है।

शास्त्र या विज्ञान का अध्ययन उपयोगिता आदि को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इसलिए पतंजलि ने षडङ्गवेद के अध्ययन का उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति ही बतलाया है—**ब्राह्मणेन निष्कारणे धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयोज्ञेश्च।**" यही नहीं, व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन भाषा अज्ञान सुलभ सन्देहों का निवारण होना चाहिए—"**असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्**"। उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों से सिद्ध है कि किसी शास्त्र या विज्ञान के अध्ययन का उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति होता है। अतः भाषा-विज्ञान के अध्ययन की कुछ महत्त्वपूर्ण उपयोगिताओं को हम, क्रमशः, इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

(1) भाषा-विज्ञान में भाषा विषयक अध्ययन किया जाता है अतः इस विज्ञान का प्रथम प्रयोजन भाषा विषयक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना है। इस अध्ययन से शब्द, वाक्य, भाषा आदि की आत्म कथा पढ़ने को मिलती है, जिससे

हमारा मनोरंजन होता है अतः हम कह सकते हैं कि बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान की तृप्ति के साथ हार्दिक मनोरंजन प्रदान करना भी इस विज्ञान का एक प्रयोजन है।

(2) भाषा-विज्ञान के अध्ययन से साहित्य के विद्यार्थी की प्रवृत्ति अन्वेषणपरक हो जाती है। फलतः उसकी सूझ-बूझ गहरी और तुलनात्मक पद्धति को अपनाने वाली हो जाती है।

(3) इसके द्वारा साहित्य की अनेक समस्याओं का समाधान होता है। प्राचीन काल में किसी शब्द का अर्थ कुछ और था और आज कुछ और है। यह क्यों और कैसे हुआ ? इसका समाधान भाषा-विज्ञान से ही होता है।

(4) भाषा-विज्ञान साहित्य के साथ-साथ व्याकरण की अनेक समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान के उदय से वेदों के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिली है और इस प्रकार प्राचीन संस्कृति के विभिन्न अध्यायों के उद्घाटन में इस विज्ञान ने पर्याप्त सहायता दी है। भाषा, सभ्यता एवं संस्कृति की प्रतीक होती है। व्याकरण उसका परिमार्जन एवं परिष्कार करता है। व्याकरण के दिशा-निर्देशन का कार्य भाषा-विज्ञान करता है। भाषा-विज्ञान जिन शब्दों को स्वीकार कर लेता है उन शब्दों को कुछ समय के पश्चात् व्याकरण भी स्वीकार कर लेता है। भाषा की जिन समस्याओं का समाधान व्याकरण नहीं कर पाता, भाषा विज्ञान उन समस्याओं के समाधान में व्याकरण का सहयोग करता है।

(5) भाषा-विज्ञान के द्वारा प्रागैतिहासिक अनुसंधान की प्रेरणा मिलती है और इसके सहयोग से हम मानव-जाति के इतिहास का अध्ययन करते हैं। भाषा-विज्ञान में हम मानव जाति के विभिन्न युगों की सभी भाषाओं का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, इस अध्ययन के द्वारा ऐतिहासिक विशेषतः प्रागैतिहासिक संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान होता है। भाषा-विज्ञान उस समय का इतिहास लिखने में सहायक होता है, जिस समय का इतिहास स्वयं इतिहास को भी ज्ञान नहीं है। भाषा-विज्ञान की इसी उपयोगिता ने आर्यों के निवास-स्थान आदि की खोज में अभूतपूर्व योगदान किया है।

(6) भाषा के अध्ययन के प्रसङ्ग में इतिहास, पुरातत्त्व, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, मानव शास्त्र आदि का अध्ययन भी होता है अतः ये विज्ञान परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और प्रभाव ग्रहण करते हैं। भाषा-विज्ञान के सहयोग से इन विषयों के अध्ययन में गम्भीरता और व्यापकता आती है।

(7) भाषा-विज्ञान के द्वारा विभिन्न विज्ञानों की उत्पत्ति हुई है। भाषा-विज्ञान ने तुलनात्मक विज्ञान जिसमें मानव जाति के विभिन्न धार्मिक विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और पुराण-विज्ञान जिसमें पौराणिक ग थाओं पर विचार किया जाता है तथा जन कथा-विज्ञान के उद्भव एवं विकास में सहयोग प्रदान किया गया है। मनुष्य-जाति-विज्ञान भी जिसमें भिन्न-भिन्न जातियों की वंश परम्परा आदि पर विचार किया जाता है, भाषा-विज्ञान से पद-पद पर सहायता ग्रहण करता है।

(8) भाषा-विज्ञान ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन में सहयोग प्रदान करता है। कोई तुतलाता है या हकलाता तो इससे उसकी अभिव्यजना में बाधा पड़ती है, इसके

कारण क्या हैं ? उच्चारण सम्बन्धी भूल कैसे दूर हो सकती हैं ? आदि प्रश्न भाषा-विज्ञान के सहयोग से सुविधा पूर्वक दूर हो सकते हैं ।

(9) प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भाषा-विज्ञान के एक अन्य प्रयोजन का भी संकेत किया है । वे लिखते हैं "भाषा-विज्ञान से संचार के साधनों को समुन्नत करने के लिए भी सहायता लेनी पड़ती है । उदाहरणार्थ, दूर-संचार या यांत्रितक अनुवाद के लिए संकेतों का निर्माण या तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रणयन तभी सम्भव है, जब भाषिक संकेतों से परिचय हो और भाषिक संकेतों का पूर्ण परिचय भाषा-विज्ञान के बिना अकरूपनीय है ।

(10) भाषा-विज्ञान का अध्ययन एक भाषा तक सीमित नहीं है; अतः विश्व की जातियों के भाषा-परिवारों का पारस्परिक परिचयन और विचारों का आदान-प्रदान विश्व बन्धुत्व की भावना के प्रचार और प्रसार में योगदान करता है ।

भाषा-विज्ञान की उपयोगिता असीम है । इसके द्वारा भाषा और वाणी विषयक सहज कूतुहल को शान्त किया जाता है । वह भाषा की आत्म कथा और शब्दों की राम कहानी है । भाषा-विज्ञान के अध्येता को उसमें रमने पर वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा काव्य-रसिक को काव्यास्वादन में हो ।

भाषा मानव के व्यवहारों की साधिका है, अतः जब तक मानवता है, तब तक उसका महत्व है । इस प्रकार सर्वाङ्गीण अध्ययन को करने और कराने के विज्ञान का महत्व स्वयं सिद्ध है ।

●

अध्याय | 6

भाषा : अर्थ, परिभाषा एवं लक्षण

प्रश्न 19—भाषा क्या है ? उसके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके व्यापक और संकुचित रूपों पर भी अपने विचार प्रकट कीजिए ।

प्रश्न 20—भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा लिखिए ।

प्रश्न 21—भाषा क्या है ? भाषा के सामान्य लक्षण बताइए ।

भाषा का अर्थ—'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाषा' धातु से बना है । 'भाषा' का अर्थ है 'बोलना' या कहना' । अर्थात् भाषा वह है जिसे बोला जाए । बोलते तो संसार के प्रायः सभी प्राणी हैं । प्रत्येक जीवधारी – गाय, बन्दर, कुत्ता, बिल्ली, चिड़िया आदि परस्पर विचारों एवं भावों के आदान-प्रदान हेतु किसी-न-किसी प्रकार

की भाषा का प्रयोग करते हैं। परन्तु हम उनके विचार-विनिमय को भाषा नहीं कहते हैं। उनकी भाषा केवल सांकेतिक होती है जब कि मानव की भाषा का स्वरूप केवल सांकेतिक न होकर लिखित है। विचार और भाव विनिमय के साधन के लिखित रूप को ही हम वस्तुतः भाषा कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य के भावों, विचारों और अभिप्रेत अर्थों की अभिव्यक्ति के ध्वनि-प्रतीकमय साधन को भाषा कहते हैं।

जब भाषा का वर्त्तमान रूप निर्मित नहीं हुआ था, उस समय मानव संकेतों के माध्यम से अपना काम चलाता होगा। आजकल भी अविकसित मानव-वर्ग अथवा गूँगे व्यक्ति संकेतों के द्वारा अपना काम चलाते हैं। उन दिनों मानव की भाषा का रूप इसी प्रकार सांकेतिक ही रहा होगा। ज्यों-ज्यों मानव शक्तियाँ विकसित होती गईं, उसकी अभिव्यक्ति को वाणी प्राप्त होती गई, त्यों-त्यों ध्वनि-प्रधान भाषा का विकास होता गया। इस प्रकार भाषा हमारे विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति का साधन कही जाता है।

भाषा का निर्माण जिन व्यक्त ध्वनियों से होता है, उन्हें 'वर्ण' कहा जाता है। स्वर-विकार, मुख-विकृति, इङ्गित आदि भी भाषा के अङ्ग हैं, जो असभ्य और पिछड़ी हुई जातियों की भाषा में पाए जाते हैं, किन्तु भाषा के विकास के साथ-ही-साथ कम होते चले जाते हैं।

भाषा-विज्ञान का विषय मानवीय भाषा है। सामान्य रूप से मानव-मात्र की भाषा को 'भाषा' कहा जाता है। भाषा एक सामाजिक प्रक्रिया है। वह वक्ता और श्रोता दोनों के विचार-विनिमय का साधन है। वास्तव में "भाषा मनुष्य के मुख से निसृत वह सार्थक ध्वनि-समूह है, जिसका विश्लेषण और अध्ययन किया जा सके।" व्यवहार में भाषा शब्द का कई अर्थों में प्रयोग होता है।

भाषा शब्द का सामान्य अर्थ मानव-मात्र की भाषा लिया जाता है। पशु-पक्षी भी अपनी बोली में भावाभिव्यक्ति करते हैं, किन्तु उनकी अस्पष्ट ध्वनियों को भाषा की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसी प्रकार इङ्गित, स्वर-विकार और मुख-विकृति से भी भावाभिव्यक्ति होती है, परन्तु इसे भी भाषा नहीं कहा जा सकता। मानव के मुख से जो सार्थक ध्वनि-समूह निकलता है और जिसका कुछ-न-कुछ स्पष्ट अर्थ निकलता है, उससे सामान्य भाषा का निर्माण होता है।

किसी देश, देश-विभाग या बड़ी जाति की भाषा के लिए भी 'भाषा' शब्द प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में तिब्बती चीनी, फ़ारसी आदि भाषाएँ भी 'भाषा' कहलाती हैं। एक भाषा में अनेक स्थानीय और प्रान्तीय भेद हो सकते हैं। 'हिन्दी' एक भाषा है, किन्तु इसमें अनेक स्थानीय और प्रान्तीय भेद हैं। किन्तु हिन्दी को अन्तरङ्ग भाषाओं और बोलियों में बोलने वाले भी समझ सकते हैं।

विभिन्न स्थानीय बोलियों के वर्गों की भाषा—कुछ ऐसी स्थानीय और प्रांतीय बोलियों के वर्ग के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो किन्हीं अंशों में परस्पर विशेष समता रखती हैं और स्वयं से सम्बद्ध बोलियों के इसके वर्ग से भिन्न होती हैं। बिहारी, राजस्थानी आदि नाम भिन्न-भिन्न स्थानीय बोलियों के रख लिए गए हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने आधुनिक प्रान्तीय आर्य-भाषाओं को केन्द्रस्थ, मध्यवर्ती और बाह्य-प्रदेशस्थ तीन वर्गों में विभाजित किया है।

भिन्न-भिन्न वर्ग, देश, सम्प्रदाय तथा धर्म के लोगों की बोलियों में कुछ-न-कुछ विशेषता रहती है। इनके लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु इन्हें 'भाषा' के स्थान पर 'बोली' या 'उपभाषा' ही कहा जाता है। एक ही नगर में रहते हुए भी जाटों की भाषा गूजरों की भाषा, कायस्थों की भाषा आदि शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि सभी एक-दूसरे की भाषा को समझ लेते हैं, किन्तु उनके उच्चारण, लहजे और शब्दावली में अन्तर होता है।

वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त भिन्न-भिन्न मनुष्यों की बोली को भाषा कहा जाता है। सामान्यतः समता होते हुए प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है, अतः उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा में भी अन्तर हो जाता है। साधारण लोगों का शब्द-भंडार जहाँ अत्यन्त सीमित होता है, वहाँ विद्वान् लोगों की अपेक्षा अशिक्षित और ग्रामीण लोगों की भाषा में अन्तर रहता है। शब्दों का अर्थ-भेद भी भाषा में अन्तर उपस्थित कर देता है। न्याय, तप, सन्तोष, धर्म, भक्ति आदि गूढ़ार्थक शब्दों का सभी प्रयोग करते हैं, किन्तु उनसे अभिप्राय में अन्तर होता है। एक ही बात को विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने ढङ्ग से अभिव्यक्त करते हैं। देश-काल और परिस्थिति के अन्तर्गत शरीरावयव की भिन्नता के कारण भी भाषा में अन्तर हो जाता है।

साहित्यिक भाषा या शिष्ट भाषा—विद्वान् लोग 'भाषा' शब्द का प्रयोग साहित्यिक-भाषा के लिए तथा साहित्य-शून्य असाहित्यिक भाषाओं के लिए 'बोली' का प्रयोग करते हैं, जैसे संस्कृत भाषा, अँगरेजी भाषा, आदि। ब्रज-मण्डल के घरों में बोली जाने वाली भाषा को 'बोली' कहेंगे। साहित्यिक-भाषा और सर्व-साधारण की भाषा में भेद होता है। साहित्यिक भाषा में एक कृत्रिमता आ जाती है, जो उसे सर्व-साधारण की भाषा से पृथक् करती है। सर्व-साधारण की भाषा एक प्रवाहमान सरिता के समान है, तो साहित्यिक भाषा एक कृत्रिम झील की तरह है। सर्व-साधारण की भाषा सदैव विकासशील रहती है। वैदिक संस्कृत में जब संस्कृत का रूप धारण कर लिया, तब जन-भाषा का प्राकृतों में विकास होने लगा। साहित्यिक भाषा को जीवित रखने के लिए और उसे समृद्ध बनाने के लिए सर्व-साधारण की भाषा से सम्बन्ध रखने की महती आवश्यकता रहती है। सर्व-साधारण की भाषा जहाँ बदलती रहती है, वहाँ साहित्यिक भाषा चिरकाल तक अपने स्थिर रूप में रहती है।

'भाषा' शब्द का औपचारिक प्रयोग—मानव परस्पर विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रायः वर्णात्मक भाषा का ही प्रयोग करता है। परस्पर के विचार-विनिमय में वह मुखाकृति, चेष्टा और संकेतों का भी आश्रय लेता है, उन्हें 'गूँगे बहिरों की 'भाषा' के नाम से पुकारा जाता है। अमेरिका के इण्डियन लोगों में इसी प्रकार की सांकेतिक भाषा का प्रयोग होता है। भाषा-विज्ञान का ऐसी भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

कृत्रिम भाषा—'भाषा' शब्द का प्रयोग कृत्रिम भाषा के लिए भी होता है। कृत्रिम भाषा उसे कहते हैं जिसे कुछ मनुष्य अपनी सुविधा या उद्देश्य के गढ़ लेते हैं। आज-कल इस प्रकार की भाषा का प्रमुख उदाहरण एस्पिरैन्तो (Esperanto) नाम की भाषा है। इसके प्रेमी इसको अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाने की बात कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन मे भाषा का व्यापक अर्थों में प्रयोग दिखाया गया है।

भाषा की परिभाषा—विभिन्न भाषाशास्त्रियों ने 'भाषा' के शास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसकी भाषा निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इनमें भारतीय और पाश्चात्य, प्राचीन और आधुनिक सभी वर्गों के विद्वान हैं। इनमें प्रमुख मत इस प्रकार है—

(6) **हरिशंकर जोशी**—"भाषा बहिर्ब्रह्माण्ड के उन अखिल चित्रों का वर्णन है जो क्षीरसागर या सबसे सूक्ष्मतम अणु या शब्दाणु से बने रहते हैं, वही शब्दाणु चित्र प्रतिभा में सजीवता या पश्यन्ती का रूप पाकर पुनः प्राणवायु का रूप धारण कर, जब सरस्वती (जिह्वा) से स्थानकरण के आघात-प्रघात से तैजस पाक द्वारा ध्वनि का रूप धारण करते हैं, तो पुनः अपने प्रथम स्वरूप बहिर्ब्रह्माण्ड के चित्र को स्फोट रूप में, अर्थ, प्रतिबिम्बित स्वरूप में अनुभूत करते हुए वाक्य या भाषा कहलाता है।" (प्रतिभा दर्शन)

(1) **डॉ० मंगलदेव शास्त्री** ने 'भाषा' की परिभाषा करते हुए लिखा है कि भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं। (तुलनात्मक भाषाशास्त्र)

(2) **डॉ० बाबूराम सक्सेना** ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है, "एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर कुछ व्यक्त कर देता है—यही विस्तृत अर्थ में भाषा है।" (सामान्य भाषा विज्ञान)

(3) **डॉ० श्याम सुन्दर दास** ने भाषा की परिभाषा पर विचार करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि, "मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।" (भाषाविज्ञान)

(4) **आचार्य किशोरीदास बाजपेयी**—"विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द-समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।" (भारतीय भाषा-विज्ञान)

(5) **डॉ० भोलानाथ तिवारी**—"भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित अध्ययन विश्लेषणीय याद्दच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।" (भाषा-विज्ञान)

(6) अँगरेजी भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने भी भाषा सम्बन्धी जो परिभाषाएँ की हैं उनका भी सारांश यही है कि भाषा विचाराभिव्यक्ति एक महत्वपूर्ण साधन है जिसमें ध्वनियों का व्यवहार किया जाता है। इन विद्वानों के मतानुसार भाषा व्यक्त ध्वनि संकेतों के द्वारा मानव विचारों की अभिव्यक्ति है; यथा—

(1) **ए० एच० गार्डिनर के मतानुसार**, "The common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought." (Speech Language)

(2) **हैनरी स्वीट के शब्दों में भाषा की परिभाषा यह है**, "Language may be defined as the expression of human thought by means of speech, sounds or articulate sounds." (The History of Language)

(3) मेरिओ ए० पेई तथा फ्रैंक ग्यानॉर—"A system of communication by sounds, i. e. through the organs of speech & hearing, among human beings of a certain group or community, using vocal symbols possessing arbitrary conventional meanings."

(Dictionary of Linguistics)

स्त्रुतेवाँ के शब्दों —"A langı age is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group cooperate & interact."

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है—"Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which human beings, as members of a social group & participants in culture interact & communicate."

ऑटो जेस्परसन के अनुसार—"मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपने विचार प्रकट करता है। मानव मस्तिष्क वस्तुतः विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दों का निरन्तर प्रयोग करता है। इस प्रकार के कार्य-कलाप को भाषा की संज्ञा दी जाती है।"

Porze Zinski Boehme की दृष्टि में "अपने व्यापकतम रूप में भाषा का अर्थ है, हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतों का कुल योग जो देखे या सुने जा सकें और जो इच्छानुसार उत्पन्न एवं दुहराए जा सकें।"

वेन्डी के शब्दों में—"भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से है, जिनसे मनुष्य अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता हैं।"

'सोफिस्ट' में भाषा और विचार के अन्तर को समझाते हुए प्लेटो ने लिखा है—"विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा कहते हैं।"

एडवर्ड सवीर की तो मान्यता है कि "भाषा ऐच्छिक रूप से उत्पादित प्रतीकों की एक व्यवस्था है, जो शुद्ध रूप से मानवीय है और सहज वृत्ति की विशेषताओं से रहित है और जिसका प्रयोग विचारों, संवेगों और इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिए होता है।"

ब्लॉख और ट्रेगर के विचार में "भाषा ऐच्छिक वाक् प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा मानव समुदाय परस्पर सहयोग करता है।"

हम्बोल्ट् की उक्ति यथार्थ है कि "उच्चरित ध्वनि को भावाभिव्यक्ति के उपयोगी बनाने की चिरन्तन चेष्टा का फल है भाषा। यह श्रवणेन्द्रिय के पथ से मानव-मन की अभिव्यक्ति है।"

वस्तुतः ब्लॉख और ट्रेगर की परिभाषा चिन्तन की अपेक्षा रखती है। प्रतीक कई प्रकार के होते हैं—नेत्रग्राह्य, श्रोतग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य। वाक्-प्रतीक ही भाषा की परिधि में आते हैं। भाव-प्रकाशन के पूर्व वक्ता के मस्तिष्क में भाषा का अमूर्त्त रूप ही होता है और अभिव्यक्ति के बाद ध्वनि-तरंगों के रूप में विचार वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार कहने वाले और सुनने वाले के मध्यम में जो वायु-तरंगें प्रसारित होती हैं वे ही 'भाषा' का मूर्त्त रूप प्रकट करती हैं।

'भाषा' का भाषा वैज्ञानिक अर्थ—भावाभिव्यक्ति के समस्त साधन भाषा के व्यापक अर्थ में सम्मिलित हो जाते हैं। भाषा, पशु-पक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत के टीकाकारों द्वारा 'इति भाषायाद्' द्वारा अभिप्रेत भाषा में सर्वत्र एक ही भाव छिपा हुआ है—वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या अपनी इच्छा प्रकट करता है।''

यह 'भाषा' शब्द का बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयोग है। हम मनुष्य या अन्य तीनों के भावों को कभी-कभी ध्वन्यात्मक भाषा न होने पर भी संकेतों द्वारा ही समझ लेते हैं। ऐसी दशा में भावाभिव्यक्ति के समस्त साधन भाषा के व्यापक अर्थ में सम्मिलित हो जाते हैं।

सारांश यह है कि भाषा के व्यापक अर्थ की सीमाएँ अत्यन्त विस्तृत हैं। व्यापक अर्थ उसकी सीमाओं को संकेतों से लेकर मूक भावाभिव्यक्तियों तक पहुँचा देता है, तथा जिसके अन्तर्गत केवल मानवीय भाषा ही नहीं, पशु-पक्षियों के निरर्थक समझे जाने वाले स्वर भी सम्मिलित हो जाते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान के विद्वान् भाषा के इस व्यापक अर्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो मनुष्य द्वारा उच्चारित समस्त 'ध्वनियाँ एवं संकेत भाषा' की परिधि के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पशुओं को हाँकते समय अथवा कठिन परिश्रम करते समय टट्टट, हेईसा, इत्यादि ध्वनियाँ करता है—जो निरर्थक हैं—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा नहीं कही जा सकती है। मनुष्य की वाणी जब ऐसी ध्वनियों का उच्चारण करती है, जो सार्थक होती है और विवेचन-विश्लेषण का विषय बन सकती है, उन्हीं ध्वनियों को भाषा कहा जा सकता है। जो ध्वनियाँ सार्थक शब्द-निर्माण में सहायक नहीं हो सकती हैं, वे 'भाषा' की सीमा में नहीं आ सकती हैं। भाषा-विज्ञान केवल सार्थक एवं शब्द निर्माण में सहायक ध्वनियों को ही 'भाषा' की परिधि के अन्तर्गत स्वीकार करता है। भाषा-विज्ञान भाषा शब्द को इसी संकुचित अर्थ में स्वीकार करता है।

'भाषा' के लक्षण—भाषा की उपर्युक्त विभिन्न परिभाषा के आधार पर 'भाषा' के मुख्य लक्षण इस प्रकार ठहराते हैं—

(i) **मानव-मुख से निसृत**—मानव-मुख से निकलने वाले ध्वनि-संकेतों की समष्टि अथवा व्यवस्था को 'भाषा' कहते हैं। पशु-पक्षियों की बोलियों, अंगादि द्वारा भाव-प्रकाशन तथा निरर्थक ध्वनि समूह को भाषा नहीं कहा जा सकता है।

(ii) **भाव-सम्प्रेषण का साधन**—भाषा के अभाव में मनुष्य संकेतों के द्वारा ही अपने विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति कर सकता है। हम स्वयं कह सकते हैं कि गूँगे व्यक्ति की चेष्टाओं के समान ये संकेत भाव-प्रकाशन में सर्वथा अपर्याप्त ही रहते हैं। भाषा के द्वारा ही एक व्यक्ति अपने भावों को अभिव्यक्त करके दूसरों तक पहुँचा सकता है।

(iii) **सार्थक एवं विश्लेषणीय ध्वनि**—वे ही ध्वनियाँ भाषा के अन्तर्गत आती हैं जो सार्थक होती हैं, सार्थक शब्द निर्माण करती हैं तथा जिनका विवेचन-विश्लेषण किया जा सकता है।

(iv) **निश्चित ध्वनि रूप**—भाषा की आवृत्ति होती है। इस कारण ध्वनि रूप में निश्चितता का होना अनिवार्य है। ऐसा न होने पर ध्वनियों के अर्थ बदलते रहते

हैं और वे एक निश्चित प्रयोजन की अभिव्यक्ति न कर सकने के कारण भाषा नहीं कही जा सकती है।

(v) पूर्व निर्धारित अर्थ—भाषा के अन्तर्गत आने वाली 'ध्वनि' का अर्थ परम्परागत होता है। उदाहरण के लिए 'काम' शब्द को ही लेते हैं। संस्कृत और हिन्दी में इस शब्द का अर्थ एक निश्चित रूप में स्वीकृत है—कार्य अथवा इच्छा। परन्तु अँग्रेजी में यही ध्वनि 'काम' एक भिन्न अर्थ Calm शांत की प्रतीति करती है। स्पष्ट है कि 'काम' शब्द का अर्थ व्यवहृत परम्परा के अनुसार ही गृहीत होगा।

(vi) सामाजिकता—भाषा का उद्भव और विकास मनुष्य की सामाजिकता के फलस्वरूप हुआ है। पारस्परिक सहयोग, सम्पर्क और विचार-विनिमय की आकांक्षा ने ही भाषा का विकास किया है। भाषा व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाली महत्त्व-पूर्ण कड़ी है। मनुष्य समाज में रहकर ही भाषा का अर्जन, सम्वर्धन एवं विकास करता है।

(vii) अर्जित सम्पत्ति—भाषा मनुष्य को पैतृक सम्पत्ति के रूप में जन्म से ही प्राप्त नहीं होती है। बच्चे को अनुकरण और अभ्यास के द्वारा भाषा सीखनी पड़ती है। यदि किसी अँगरेज़ बच्चे का लालन-पालन हिन्दी भाषी माता-पिता करें तो वह बच्चा हिन्दी भाषी होगा, क्योंकि वह जन्म से कोई भाषा नहीं जानता है। वस्तुतः भाषा-अर्जन का कार्य तो अनवरत रूप से जीवन-पर्यन्त चलता रहता है।

(viii) द्वैध संरचना—भाषा की रचना ध्वनियों और शब्दों (या पदों) द्वारा होती है। हम संसार की कोई भी भाषा ले लें, हमको उसमें यही प्रवृत्ति दिखाई देगी। यानी सभी भाषाओं में द्वैध संरचना मिलती है।—वाक्यात्मक तथा ध्वनि अक्रियात्मक। आधुनिक अँगरेज भाषा वैज्ञानिक के मतानुसार यह (द्वैध संरचना) मानव भाषाओं की विश्वव्यापी आधारभूत विशेषता है।"

(ix) चिरपरिवर्तनशील—भाषा सदैव बदलती रहती है। भाषा का कोई रूप स्थिर या अन्तिम रूप नहीं होता है। भाषा में यह परिवर्तन ध्वनि, शब्द, वाक्य अर्थ—सभी स्तरों पर होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत का 'हस्त' शब्द प्राकृत में 'हाथ' होकर हिन्दी में 'हाथ' हो गया है। संस्कृत का 'साहस' शब्द हत्या व्यभि-चार आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता था। हिन्दी में उसका अर्थ अब 'हिम्मत हो गया है। भाषा का शरीर प्रधानतः उन व्यक्त ध्वनियों से बनता है जिन्हें 'वर्ण' कहते हैं। 'वर्ण' के सहायक अंग हैं—आँख, हाथ के इशारे, मुख-विकृति, आवाज की अवस्था अर्थात् लहजा (Tone) इत्यादि।

अनेक बार वैयाकरणों ने भाषा को व्याकरण के नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु भाषा का नियन्त्रित रूप प्रयोग से दूर पड़ गया और व्यावहारिक भाषा आवश्यक परिवर्तन करती हुई गतिशील बनी रही। संस्कृत भाषा इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

निष्कर्ष—विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को 'भाषा' कहते हैं। भाषा विज्ञान सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि भाषा एक सामाजिक क्रिया है, वह किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं है। भाषा के मुख्यतः

चार स्कन्ध हैं—वक्ता, श्रोता, शब्द और अर्थ। इन चारों स्कन्धों को स्पष्ट करते हुए भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी कह सकता है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे 'भाषा' कहते हैं।

●

अध्याय | 7

भाषा की उत्पत्ति

प्रश्न 22—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न मतों का उल्लेख कर यह प्रतिपादित कीजिए कि उनमें कौन-सा मत समीचीन एवं सर्वमान्य कहा जा सकता है।

उत्तर—मनुष्य युगों से भाषा बोलता आया है किन्तु आज तक यह स्थिर नहीं हो पाया कि वास्तव में भाषा का प्रारम्भ कब हुआ ? वर्तमान पीढ़ी ने अपने पूर्वजों से भाषा सीखी और उन पूर्वजों ने अपने पूर्वजों से, भाषा सीखने का यह क्रम मानव समाज के आदिम काल से चला आ रहा है। सीखने की इस परम्परा का आरम्भ अथवा भाषा का आरम्भ कब हुआ इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते हैं। वास्तव में भाषा समाज की एक अनन्य निधि है। उसका प्रारम्भ भी तभी हुआ होगा जब समाज का। इसीलिए भाषा के आरम्भ के सम्बन्ध में भी उन्हीं सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है, जिनका समाज की उत्पत्ति के विषय में होता है।

भाषा वैज्ञानिकों ने इस प्रश्न के समाधान के अनेक प्रयास किए हैं और उन प्रयासों के परिणामस्वरूप अनेक मतों की स्थापना हुई है। उन समस्त मतों को दो वर्गों—प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं।

प्रत्यक्ष मार्ग

इसके अन्तर्गत निम्न सिद्धान्तों की उद्भावना हुई है—

(1) **दैवी या दिव्य उत्पत्तिवाद** (Divine Origin Theory)—इन सिद्धांत के अनुसार भाषा ईश्वरीय देन है, जो कि सृष्टि की भाँति एकाएक उत्पन्न हुई है। ईश्वर ने जिस प्रकार सृष्टि को उत्पन्न किया है उसी प्रकार उसने भाषा को उत्पन्न किया है। "सृष्टि का निर्माण करने वाला परमेश्वर है। मानव का निर्माण उसी ने किया। मानव मन में विचारों और भावों की सृष्टि भी उसी ने की और उन मानवीय विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम अर्थात् भाषा का निर्माण भी

उसी ने किया।" विभिन्न धर्माचार्य इस सिद्धान्त पर अपनी आस्था व्यक्त करते हुए अपनी-अपनी धर्म पुस्तक की भाषा को आदि भाषा सिद्ध करते हैं। इस प्रकार हिन्दू संस्कृत को, बौद्ध पालि को, कैथोलिक ईसाई Old Testament की भाषा को, मुसलमान कुरान की भाषा को आदि भाषा बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार 'ऋग्वेद' में कहा गया है—

"देवी वाचमजयन्त देवाः तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।"

—ऋग्वेद 8/100/11

अर्थात् देवों ने वाणी (=भाषा) को उत्पन्न किया तथा सब प्राणी उस (ही) को बोलते हैं।

किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। पहली बात तो यही है कि कौन-सी भाषा सर्वप्रथम उत्पन्न हुई थी, क्योंकि प्रत्येक धर्म अपनी भाषा और अपने धर्म ग्रंथ को प्राचीन सिद्ध करता है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक तर्क दिए जाते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि भाषा की उत्पत्ति के विषय में यह सिद्धान्त तर्कहीन है। भाषा के विषय में हुए अनेक परीक्षणों से यह सिद्ध है कि मानव जन्म से ही किसी एक भाषा का जानकार होकर उत्पन्न नहीं होता है अपितु इस संसार में वह भाषा का अर्जन करता है। यद्यपि भाषण-शक्ति मनुष्य की अपनी स्वाभाविक मूलवृत्ति है, वह इसका विकास करता है। इन परीक्षण में मिश्र के राजा सैमिटिकस (Psammitichos) ने दो बालकों पर परीक्षण किया था। दो तत्काल उत्पन्न विभिन्न भाषा भाषी बालकों को एक स्थान पर एकान्त में रखकर यह जानने की चेष्टा की गई कि वे किस भाषा में बोलेंगे। बालकों ने केवल एक 'रोटी' वाचक शब्द 'बेकोस' का उच्चारण किया। यह शब्द नौकरों के मुख से कभी निकल गया था, उसे सुनकर बच्चों ने उसी की पुनरावृत्ति की। इसी प्रकार का एक परीक्षण अकबर ने भी किया था, किन्तु वे बालक भी गूंगे ही रहे थे।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यह सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ है। ईश्वर प्रदत्त कोई भाषा नहीं है और ऐसा मानना अंध-विश्वास मात्र है। भाषा यदि ईश्वरकृत होती, तो विश्व की एक भाषा होती उसमें परिवर्तन और परिवर्धन भी न होता, वह पूर्ण और युक्तिसंगत होती।

(2) **सांकेतिक उत्पत्तिवाद या निर्णय-सिद्धान्त** (Agreement theory or Symbolical origin)—इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा एक सांकेतिक संस्था है। मनुष्यों ने जब देखा कि हाथ आदि के संकेतों से कार्य नहीं चल सकता, तो एकत्र होकर भाषा का निर्माण किया, शब्दों के अर्थों का निर्धारण किया। इस सिद्धान्त के कुछ अन्य नाम इस प्रकार हैं। **निर्णय सिद्धांत, प्रतीकवाद, स्वीकारवाद तथा संकेतवाद** यह सिद्धांत परीक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है क्योंकि यदि पहले संकेत निर्धारण के लिए कोई भाषा थी तो नवीन भाषा की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? उसी भाषा का विकास कर समस्या का समाधान किया जा सकता था। यदि कोई भाषा नहीं थी तो संकेतों और अर्थों का निर्धारण कैसे हुआ? अन्ततः यह सिद्धान्त तर्कहीन एवं उपहासास्पद ही सिद्ध होता है।

(3) **धातु सिद्धान्त** (Root theory) **या डिंग-डाँग वाद** (Ding-Dong-Theory) **या नोटिविस्टिक सिद्धांत** (Notivistic theroy)—इस सिद्धान्त की स्थापना मैक्समूलर ने की थी। किन्तु इसकी प्रेरणा उन्हें प्रोफेसर हेस (Heyse) से मिली थी। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की हर चीज की अपनी ध्वनि होती है। यदि हम एक डंडे से एक लकड़ी, एक लोहे, एक कपड़े, एक सोने और एक कागज पर मारें तो देखेंगे कि सबका डिंग-डाँग (मूल अर्थ घण्टे पर मारने का शब्द या टन-टन) या सबकी ध्वनि अलग-अलग होगी। इसी प्रकार आरम्भ में एक ऐसी सहजात शक्ति थी कि जिस किसी चीज के सम्पर्क में वह जाता, उसके लिए उसके मुंह से एक प्रकार की ध्वनि निकल जाती है—

"Human speech is the result of an instinct of primitive man which made him to give a vocal expression to every external impression."

विभिन्न वस्तुओं की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ 'धातु' थीं। आरम्भ में इस प्रकार की धातुओं की संख्या बहुत बड़ी थी, किन्तु उनमें बहुत सी धीरे-धीरे लुप्त हो गईं और केवल चार-पाँच सौ धातु शेष रहीं। उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई।

यह सिद्धान्त भी मान्यता प्राप्त नहीं है, क्योंकि धातुओं से भाषा के विकास की कल्पना केवल मैक्समूलर के मस्तिष्क की उपज है। दूसरी बात यह है कि वह विभाविका शक्ति प्रारम्भ में थी फिर नष्ट क्यों हो गई, जब कि शब्दों और धातुओं से आज भी भाषा का विकास हो रहा है। तीसरी बात यह है कि भाषा का विकास धातुओं से न होकर वाक्यों में हुआ है। यही नहीं विश्व की समस्त भाषाएँ धातुओं पर निर्भर नहीं हैं। चार या पाँच सौ धातुएँ भी कम ही हैं क्योंकि संस्कृत में ही 1970 धातुएँ हैं।

(4) **अनुकरण मूलकतावाद** (Bow-wow Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने पशु-पक्षियों के अनुकरण पर भाषा का निर्माण किया है। भाषा के प्रारम्भिक शब्द अनुकरणात्मक थे, मनुष्य ने पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण कर शब्दों का निर्माण किया था। उदाहरण के लिए कोयल को कुहू-कुहू करते सुनकर उससे कुहू, कुक्कू आदि कहने लगा। बिल्ली को म्याऊँ करते सुनकर उसे म्याऊँ (Miaou) [चीनी भाषा में बिल्ली] कहा। पेड़ से गिरते हुए पत्ते को ध्वनि के आधार पर उसे पत्, पत्र कहा। नदी के पानी की धारा नद्-नद् ध्वनि के आधार पर नदी कहा जाने लगा। डॉ० पी० डी० गुणे ने इस समस्या का सरलतम समाधान बताया है—

"Bow-wow (This) is the simplest explanation of the importance, which is and must be attributed to the Onomatopoea in the early stages of language making."

निःसन्देह भाषा में इस प्रकार के शब्द मिलते हैं, अतः यह सिद्धान्त आंशिक रूप में सत्य है। किन्तु मननशील मानव ने पशु-पक्षियों का अनुकरण करके शब्द रचना की होगी। यह विश्वसनीय नहीं है। इस प्रकार के शब्द भी विभिन्न भाषाओं में शतांश भी नहीं हैं, अतः इन स्वल्प शब्दों के आधार पर भाषा के सृजन और उत्पत्ति की कल्पना विचारणीय है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह सिद्धांत

भी भाषा की उत्पत्ति समस्या का समाधान करने में असमर्थ है। फिर भी कुछ शब्द अवश्य ही प्रत्येक भाषा में मिल जाते हैं जो इस सिद्धान्त के योगदान का समर्थन करते हैं।

(5) **मनोभावाभिव्यंजकतावाद (Pooh-pooh Theory) या आवेग सिद्धान्त (Interjectional Theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य विभिन्न अवसरों पर सुख-दुख, घृणा-क्रोध, प्रेम आदि के भावों को व्यक्त करता है। उस समय उसके मनोवेग विभिन्न ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अकस्मात् मुख से उत्पन्न ध्वनियों में हाय, आह, ओह, (Alas) 'ओ' आदि शब्द हैं।

इस मत को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहली तो यह है कि इस प्रकार के शब्द भाषा के प्रधान अंग नहीं हैं, इनकी संख्या भी अल्प है। ये शब्द स्वाभाविक न होकर सांकेतिक हैं। साथ ही यह शब्द सामान्य भावों पर आश्रित होने पर भी विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हैं।

(6) **श्रम परिहरण मूलकतावाद यो-हे-हो-वाद (Yo-he-he Theory)**—इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता नायर का मत है कि मनुष्य परिश्रम करने के बाद अपनी श्वास-प्रश्वास की क्रिया के द्वारा अपने परिश्रम और थकान को दूर करता है। उस समय उसके मुख से कुछ ध्वानियों का उच्चरण होता है। सड़क कूटने वाले मजदूर, कपड़े धोने वाले धोबी, मल्लाह आदि हियो-हियो, हूँ-हूँ छी-छी आदि विभिन्न ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं। ये ध्वनियाँ उसकी थकान को दूर करती हैं। इन ध्वनियों से भाषा का निर्माण तथा उत्पत्ति हुई है।

किन्तु इन शब्दों का एक भाषा के जीवन में विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। सार्वदेशिक भाषाओं में इन शब्दों का समान महत्त्व नहीं है। किसी-किसी भाषा में इन शब्दों की सत्ता भी नहीं है। ये शब्द किसी भाषा के प्रधान अङ्ग भी नहीं बन सकते हैं। फिर भी ये शब्द भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में आंशिक रूप से सहयोग तथा दिशा का निर्देश अवश्य करते हैं।

(7) **सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)**—इस सिद्धांत के प्रतिपादक प्रसिद्ध विचारक 'हाब्स', 'लाक' तथा 'रूसो' को बताया जाता है। इन विचारकों का मत है कि जब मनुष्य समुदाय का काम आरम्भिक संकेतों से नहीं चल पाया तो समुदाय ने मिल-जुलकर यह निश्चय किया कि अमुक वस्तु का नाम अमुक रखा जाए तथा अमुक वस्तु का अमुक। इस प्रकार मिल-जुलकर समझौते के द्वारा एक भाषा का निर्माण कर लिया और वह समाज के विचार-विनिमय में प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार भाषा का आरम्भ हो गया।

समीक्षा की कसौटी पर कसने पर यह सिद्धान्त भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यदि यह मान लिया जाए कि समझौते के पहले कोई भाषा नहीं थी, केवल संकेत मात्र थे तो प्रश्न यह उठता है कि मानव समुदाय ने समझौते तक पहुँचने के विचार-विमर्श में किस साधन का प्रयोग किया होगा ? संभव है उस समझौते के पूर्व समुदाय के सदस्यों में आपस में कुछ विवाद हुआ हो। उस विवाद में सदस्यों ने अपनी बात दूसरे के सामने कैसे प्रकट की होगी और दूसरे ने उसकी बात उसी अर्थ में कैसे ग्रहण की होगी ?

विज्ञान की कसौटी पर भी यह सिद्धांत खरा नहीं उतरता। किसी भी वस्तु के विषय में विचार उठते ही उसकी प्रतिमा अथवा विम्ब हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। इस प्रतिमा के अभाव में विचार सम्भव ही नहीं। समझौते के पहले जब यह निश्चय नहीं हुआ कि किस वस्तु का क्या नाम रखा जाए तो प्रतिमा बन ही न पाई होगी फलस्वरूप विचार भी न उत्पन्न हो पाए होंगे। अतः यह सिद्धान्त भी बुद्धिसंगत एवं वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता।

(8) **विकास का सिद्धांत**—आज का युग विकासवाद पर विश्वास करता है। मानव और उसकी सामाजिक संस्थाओं का आरम्भ विकासवाद के आधार पर माना जाता है। भाषा मनुष्य की एक सामाजिक निधि है और विकासवाद के अनुरूप उसका भी आरम्भ हुआ। विचार-विनिमय का साधन भाषा है। जब से मानव ने सोचना आरम्भ किया तभी से भाषा का भी आरम्भ हुआ। मनोविज्ञान अब तक यह निर्णय नहीं दे पाया है कि मनुष्य ने कब से सोचना आरम्भ किया। जब यह निर्णय हो जाएगा कि मानव-विचार का आरम्भ कब से हुआ तब यह भी निर्णय हो जाएगा कि भाषा का आरम्भ कब हुआ? अभी तो इतना ही कहा जा सकता है कि भाषा का आरम्भ मनुष्य समाज और उसके विचार करने के साथ-साथ हुआ। जैसे-जैसे मानव समाज की आवश्यकताओं का विकास होता गया भाषा का भी विकास होता गया। इस सिद्धान्त के मूल-प्रवर्त्तक डार्विन माने जाते हैं। उनका यह सिद्धांत मानव-जीवन, मानव-समाज और मानव-समाज की विविध संस्थाओं की उत्पत्ति की आधारशिला है। वास्तव में भाषा एक सामाजिक निधि है और उसका समाज के साथ होना स्वाभाविक है।

विकासवाद की वैज्ञानिकता—आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकासवाद का बोलबाला है। डार्विन के प्रतिस्थापित विकास के सिद्धान्त ने समाज की उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक समस्याओं का हल प्रस्तुत कर दिया है। भाषा के सम्बन्ध में भी यह सिद्धांत वैज्ञानिक दृष्टि से मान्य है। किन्तु भाषा के प्रारम्भिक स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब विकास की शृंखला की वह कड़ी जिसका अब तक पता नहीं चल पाया है, मिल जाए।

भाषा का विकास केवल आदिम काल में ही नहीं हुआ बल्कि अब भी हो रहा है। जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे उनको व्यक्त करने के लिए शब्दों की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। पहले से उपलब्ध शब्दों के आधार पर नये शब्द बना लिए जाते हैं। इस प्रकार आवश्यकतानुसार भाषा का विकास होता जा रहा है। पुराने शब्दों के आधार पर बनाये हुए नये शब्दों को 'औपचारिक' शब्द भी कहा जाता है। एक भाषा के जीवन में इस प्रकार के शब्दों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है।

आज सृष्टि के विकास में **विकासवाद** का सिद्धान्त पूर्णतः मान्यता प्राप्त है। आज के विद्वान ज्ञान विज्ञान की प्रत्येक विधा को, प्रत्येक तत्व को इस कसौटी पर कस कर देखना चाहते हैं। हैनरी स्वीट ने भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान इसी विकासवाद के आधार पर किया। भाषा क्रमशः विकसित होती हुई इस अवस्था में पहुँची है। उसके विकास में ऊपर संकेतिक सिद्धान्तों में दैवी उत्पत्तिवाद तथा

सांकेतिक उत्पत्ति के अतिरिक्त सभी सिद्धान्तों का योगदान है। जैसे कि डॉ० गुणे ने लिखा है कि—

Here the theory of evolution is our chief help. Civilised man of today, has developed from a very primitive mammal that could only utter a sound like an animal. In fact, our complete vocal organs are the result of very slow natural growth.

आशय यही है कि आज भाषा वैज्ञानिक, समन्वित विकासवाद के प्रति अपनी आस्था व्यक्त कर, विकासवाद को महत्व देते हैं।

(1) **समन्वयवाद** (Synthesis Theory)—प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी (Sweet) ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का समन्वय कुछ अन्य वादों से भी कर दिया है। उनका विचार है कि भाषा के आरम्भ के सम्बन्ध में, विकासवाद तो मान्य है हाँ साथ ही अनुकरण, अनुरणन, मूलकतावाद भावावेशाभिव्यक्तिवाद, प्रतीक वाद, आदि का भी योग है। उसके विचार से भाषा की शब्दावली तीन प्रकार की है—

(क) **अनुकरण एवं अनुरणनात्मक**—शब्दों में संस्कृत के 'काक,' 'कोकिल', 'कुक्कुट', अँगरेजी के कुक्कू(Cuckoo),काक (Cock),जाज (Jazz),थंडर(Thunder) तथा हिन्दी के कलकल, छलछल, निर्झर, हिनहिनाना, म्याऊँ भौं, पों पीं आदि शब्द आते हैं।

(ख) **भावावेशाभिव्यक्ति**—व्यंजक शब्द में भाववोशाभिव्यक्तिवाद के अन्तर्गत वर्णित शब्द आते हैं। भावावेश की अवस्था में व्यक्त विस्मयादिबोधक शब्द आदि इसी कोटि में आते हैं। 'हाय', 'वाहे', आह, 'हुश' आदि शब्द इस श्रेणी के हैं।

(ग) **प्रतीकात्मक शब्द**—स्वीट महोदय के विचार के अनुसार उपर्युक्त दो वर्गों के अतिरिक्त भाषा के शेष सभी शब्द, इस कोटि के अन्तर्गत आते हैं। जैसे-जैसे मानव-क्रियाओं का विकास होता गया वैसे-वैसे इन शब्दों का निर्माण होता गया। उदाहरणार्थ पीने की क्रिया के साथ होठों के हिलने से 'पी' का स्वर निकलता है और इसी से आगे चलकर संस्कृत शब्द 'पिबति' और हिन्दी 'पीना' का निर्माण हुआ। इसी प्रकार अन्य शब्दों का भी निर्माण हुआ, जैसे-जैसे मानव-क्रियाओं का विकास होता गया वैसे-वैसे भाषा का शब्द-कोश भी समृद्ध होता गया। व्याकरण के नियमों के अनुसार इनका सजाव-शृंगार किया और समाज ने उनको अपनाया।

स्वीट महोदय का मत विकासवाद के साथ-साथ भाषा के आरम्भ के विषय में अन्य वादों के योग को स्वीकार करता है। जिन वादों का योग उन्होंने स्वीकार किया है वे भाषा के आरम्भ के सम्बन्ध में सहायक अवश्य हैं। निस्संदेह यह मत तर्कसंगत है किन्तु प्रतीकात्मक शब्दों के विषय में अवश्य कुछ कठिनाई है। प्रतीकात्मक शब्द की प्रणाली स्पष्ट नहीं है और सभी शब्दों की इस कल्पना के आधार पर उत्पत्ति खोज निकालना भी कठिन है, नवीन खोज के आधार पर भाषा की उत्पत्ति के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि इस विषय में प्रतिपादित कुछ अन्य सिद्धान्तों को भी जोड़ लिया जाए। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न एक बड़ा व्यापक प्रश्न है और उसमें अनेक तत्त्वों और कारकों ने योगदान किया है। इन कारकों और तत्त्वों के आधार पर ही अनेक सिद्धान्त इस विषय में प्रतिपादित किए गए हैं। उनकी जानकारी भी अपेक्षित है।

परोक्ष माग

'भाषा की उत्पत्ति' का अध्ययन परोक्ष मार्ग से भी किया जाता है। जैस्पर्सन इस पद्धति को विशेष महत्त्व देते हैं। इसके अनुसार भाषा के मूल तक पहुँचने के लिए निम्न तीन तत्त्वों का अध्ययन विशेष लाभकारी है।

(1) बच्चों की भाषा से मूल भाषा की प्रकृति की खोज।
(2) प्राचीन आदिवासियों की भाषा का अनुसन्धान और अध्ययन।
(3) भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन।

(1) **बच्चों की भाषा**—बच्चे के पास भाषा की शक्ति नहीं होती। वह प्राकृतिक रीति द्वारा ही अपने उद्गारों को प्रकट करता है, इसलिए वह भाषा को जिस रूप से अपनाता है उसमें भाषा के मौलिक रूप की झलक होती है। किन्तु अध्ययन की इस विधि के साथ एक कठिन ई है। उसके सामने उसके परिवेश में प्रयोग होने वाली भाषा ही होती है। उसके माता-पिता, भाई-बहन आदि जिस भाषा को बोलते हैं उसी को वह सीखता है, अनुकरण द्वारा वह उसे ही अपनाता है इसलिए भाषा के स्वरूप के ज्ञान के विषय में कभी-कभी वह भ्रामक तथ्य भी दे सकता है। इसे पूर्णतः विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

(2) **असभ्य जातियों की भाषा का अध्ययन**—कुछ विद्वान् असभ्य जातियों का अध्ययन कर भाषा की आदि प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उन्होंने इस कार्य के लिए अफ्रीका तथा अमरीका की आदि जातियों की आज की शैली वही है जो अब से हजारों वर्ष पूर्व थी। किन्तु उनके अध्ययन के आधार पर भी भाषाओं पर भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनेक प्रभाव पड़ चुके हैं और इनमें परिवर्तन भी हो चुका है।

(3) **भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज**—इस विधि के द्वारा भाषा के आदि-स्वरूप के अध्ययन का प्रयास अपेक्षाकृत सफल माना जा सकता है। इस विधि से अध्ययन करने वाला भाषा के वर्तमान साहित्यिक रूप को लेकर उसके पिछले ऐतिहासिक स्वरूपों का अध्ययन करता जाता है और उसके प्राचीनतम स्वरूप तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार वह दूसरी भाषा लेता है और उसके भी विगत ऐतिहासिक स्वरूपों का अध्ययन करता जाता है। दोनों भाषाओं की तुलना करता है और उसके सहारे भाषा की मूल प्रकृति के जानने का प्रयास करता है। इस विधि की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि साहित्यक भाषा को आधार मान कर चलना होता है और साहित्यिक भाषा, भाषा विज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि इस विधि से भाषा के आदि स्वरूप की कल्पना के आस-पास अवश्य पहुँचा जा सकता है।

इस प्रकार समाज की वृद्धि और आवश्यकता के साथ-साथ भाषा में विकास एवं विस्तार होता रहा और भविष्य में होता रहेगा।

अध्याय | 8

भाषा के विविध रूप

प्रश्न 23—भाषा, मूलभाषा, बोली, विभाषा एवं राष्ट्रभाषा के स्वरूप एवं विभेद को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 24—राजभाषा, राज्यभाषा, राष्ट्रभाषा और मानक भाषा में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 25—टिप्पणी लिखिए—उपभाषा या प्रान्तीय भाषा, व्यक्ति भाषा, उपबोली, साहित्यिक भाषा, राजनयिक भाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा।

उत्तर—भाषा—भाषा विचाराभिव्यक्ति का वह साधन है जिसमें ध्वनियों का व्यवहार किया जाता है। विद्वानों के मतानुसार भाषा व्यक्त ध्वनि संकेतों के द्वारा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति है।

मानव के मुख से निस्सृत प्रत्येक ध्वनि भाषा नहीं कही जाती है। केवल सार्थक एवं शब्द-निमाण में समर्थ ध्वनियाँ ही 'भाषा' की परिधि में आती हैं।

व्यापक अर्थ में भावाभिव्यक्ति के समस्त साधन 'भाषा' में अन्तर्भूत हो जाते हैं। परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्यों के द्वारा उच्चरित ध्वनि समूह ही 'भाषा' कहा जाता है पशु-पक्षियों द्वारा उच्चरित 'ध्वनियाँ' नहीं। मूक भाषा, पशु-पक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत के टीकाकारों द्वारा 'इतिभाषायाद्' द्वारा अभिप्रेत भाषा में सर्वत्र एक ही भाव छिपा हैं—वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या अपनी इच्छा प्रकट करता है भाषा है।

परन्तु भाषा का शास्त्रीय अर्थ अथवा भाषा विज्ञान की दृष्टि से अर्थ, बहुत ही संकुचित अर्थ में किया जाता है। उसके अनुसार मनुष्य की वाणी जब ऐसी ध्वनियों का उच्चारण करती है, जो सार्थक होती हैं और विवेचन-विश्लेषण का विषय बन सकती है, उन्हीं ध्वनियों को भाषा कहा जा सकता है। सारांश यह है कि विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतो के व्यवहार को भाषा कहते हैं।

मूल भाषा—जिस प्रकार मानव-सृष्टि का मूल (आदि) पुरुष हम मनु को मानते हैं, उसी प्रकार आज विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं के मूल में भी कोई एक भाषा रही होगी। उदाहरणार्थ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की मूल भाषा है—मूल भारोपीय भाषा आज तक जितने भी भाषा-परिवार प्रकाश में आये हैं, उन सबकी आदि भाषा मूल भाषा कहलाती है। बिना किसी मूल भाषा के किसी भी भाषा-परिवार का अस्तित्व नहीं माना जा सकता है।

भाषा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में उन स्थानों पर हुई होगी जहाँ बहुत से लोग एक साथ रहते रहे होंगे। ऐसे स्थानों में से किसी एक स्थान की वह भाषा जो प्रारम्भ में उत्पन्न हुई होगी तथा आगे चलकर जिससे ऐतिहासिक तथा भौगोलिक आदि कारणों से अनेक भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ बनी होंगी, मूल भाषा कही जाएगी। मूल स्थान पर रहने के बाद जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग तो सम्भवतः वहीं रह गये और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े। थोड़ी दूर चलकर उन शाखाओं ने अपने अड्डे बनाये होंगे। उन नवीन अड्डों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में परिवर्तन आया और तदनुसार उनकी भाषा में भी विकास हुआ होगा।

बोली– 'बोली' भाषा का वह रूप है जिसका व्यवहार घर में अर्थात् बहुत ही सीमित क्षेत्र में होता है। यह बोली जरा भी साहित्यिक नहीं होती है और बोलने वाले के मुख में ही रहती है। डॉ० पी० डी० गुणे ने 'बोली' की परिभाषा इस प्रकार दी है—"Dialect is constituted by the speech of all those persons, in whose ulterances,variations are not sensitily perceived or attended to" (An Introduction to Comparative. Philology) अर्थात् बोली उन सभी लोगों की बोल-चाल की भाषा का यह मिश्रित रूप है, जिनकी भाषा में पारस्परिक भेद को अनुभव नहीं किया जाता है।

कभी-कभी कोई बड़ा साहित्यकार 'बोली' विशेष को 'विभाषा' का रूप प्रदान कर देता है। उदाहरण के लिये सूर और जायसी ने क्रमशः ब्रजभाषा और अवधी को विभाषा का स्तर प्रदान कराने में प्रमुख योगदान दिया।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई बोली पूर्णतया विकसित भाषा का रूप धारण कर लेती है। 'खड़ी बोली' इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है। 'खड़ी बोली' दिल्ली के आस-पास की बोली थी। शासन का आश्रय प्राप्त करके वह विस्तृत क्षेत्र में फैलती गई और क्रमशः परिमार्जित एवं विकसित होकर आज एक पूर्ण भाषा के रूप में गृहीत हो चुकी है।

कुछ बोलियाँ समय के फेर के साथ मर भी जाती हैं। भाषा और बोली के मध्य तीन उल्लेखनीय अन्तर हैं— (i) बोली का कोई परिनिष्ठित रूप नहीं होता है, भाषा का एक परिनिष्ठित रूप होता है। (ii) बोली में विविध रूपता कम होती है, विविध रूपता भाषा का प्राण है। तथा (iii) अनेक बोलियों के सामूहिक रूप का नाम ही वस्तुतः भाषा है। "चार कोस पै पानी बदले, आठ कोस पै बानी" वाली लोकोक्ति के अनुसार बोली का क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। भाषा की अपेक्षा 'बोली' का क्षेत्र, उसके बोलने वालों की संख्या तथा महत्त्व कम होता है। किसी भाषा के क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियाँ ही वस्तुतः उस भाषा को जीवन रस प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा, अवधी, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, बांगरू आदि अनेक बोलियों का क्षेत्र हिन्दी भाषा का क्षेत्र बनता है और उनका सामूहिक रूप ही हिन्दी भाषा के नाम से अभिहित होता है। किसी भाषा की एक बोली, दूसरी बोली से भिन्नता रखते हुए भी इतनी अधिक भिन्न नहीं होती कि दूसरी बोली उसे समझ ही न सकें।

विभाषा (Dialect)—जब कोई बोली अपना क्षेत्र विस्तृत करके परिमार्जित हो जाती है तथा परिनिष्ठित रूप में प्रयुक्त होने लगती है, तथा एक बड़े क्षेत्र के निवासियों द्वारा बोली जाने लगती है, तब वह विभाषा कही जाने लगती है। जैसे अवधी और व्रजभाषा।

अवधी और व्रजभाषा ने जायसी, तुलसी और सूर के कारण बोली से विभाषा का पद प्राप्त किया। बोली का यह विकसित रूप बोली और भाषा के बीच की कड़ी है। जहाँ तक लिपि का प्रश्न है, विभाषा की कोई भी 'लिपि' विशेष नहीं होती। एक विभाषा बोलने वाला व्यक्ति दूसरी विभाषा को समझ सकता है, किन्तु एक भाषा भाषी दूसरी भाषा तब तक नहीं समझ सकता जब तक उसने उसे लिपिज्ञान सहित सीखा न हो। एक भाषा के भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ बोली जा सकती हैं। इसी कारण एडवर्ड सपीर (Edward Sapier) ने भाषा और विभाषा में कोई अन्तर नहीं माना है। उसके विचार से—

"भाषा वैज्ञानिक के लिए 'भाषा' और 'विभाषा, में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। इसका नाता, अतिदूर ही क्यों न हो, किसी अन्य भाषा से दिखाया जा सकता है। इस शब्द का अर्थ एक ऐसी बोली का रूप है जो दूसरे रूप से बहुत भिन्न नहीं है।"

इसी प्रकार की बात, प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी मेरिया पेई (Maria Pei) ने भी कहा है—

"भाषा और विभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। भाषा भी स्वयं एक विभाषा होती है जो कतिपय विशेष कारण, स्थान, शासन की कृपा आदि से अन्य विभाषाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व अर्जित कर लेती है।"

और डॉ० ग्रियर्सन के शब्दों में

"भाषा और विभाषा में वही अन्तर है, जो पहाड़ और पहाड़ी में है।"

अन्त में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भाषा, विभाषा से भिन्न है, किन्तु शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों में मौलिक भेद नहीं है।

उपभाषा या प्रान्तीय भाषा—विभाषा का ही एक नाम उपभाषा है। उपभाषा और विभाषा के विकास की कहानी समान ही है। इन्हीं दोनों को कभी-कभी प्रान्तीय भाषा भी कह देते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० श्यामसुन्दर दास का कथन दृष्टव्य है; यथा—"एक प्रान्त या उपप्रान्त की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा 'विभाषा' कहलाती है। इसे अंगरेजी में डायलेक्ट (Dialect) कहते हैं। हिन्दी के कई लेखक विभाषा को उपभाषा अथवा प्रान्तीय भाषा भी कहते हैं।

व्यक्ति-बोली या व्यक्ति भाषा (Idiolect)—एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्ति बोली कहते हैं। मनुष्य हर क्षण बदलता रहता है। ऐसी स्थिति में उनकी व्यक्ति भाषा सर्वदा एक नहीं रहती है। किसी एक व्यक्ति की, किसी एक समय की भाषा ही सच्चे अर्थों में व्यक्ति-भाषा है। जन्म से मृत्यु तक उसमें कुछ विकास होता रहता है।

उपबोली (Sub-dialect) या स्थानीय बोली—किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी

व्यक्ति-भाषाओं का सामूहिक रूप, जिनमें आपस में कोई स्पष्ट अन्तर न हो, स्थानीय बोली या उपबोली कहलाता है। एक बोली के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं।

आदर्श, परिनिष्ठित, टकसाली या मानक भाषा (Standar Language)—किसी विस्तृत क्षेत्र में जब कोई विभाषा उसी क्षेत्र की हो, अथवा शहर की, शिष्ट समुदाय के व्यवहार की बन जाती है तो वह 'टकसाली भाषा' कहलाने लगती है। यह भाषा आदर्श रूप धारण कर लेती है और उस क्षेत्र के सभी कार्यों का साधन बन जाती है। साहित्य का माध्यम भी यही होती है। इसकी प्रभुता के कारण सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्य आदि होते हैं। हिन्दी इसका उदाहरण है। इस भाषा की कतिपय विशेषताएँ हैं।

(1) इस भाषा का स्वरूप व्याकरण के नियमों में बँधा होता है और उसके उच्चारण आदि निश्चित होते हैं।

(2) इसका मौखिक रूप भी चलता रहता है। बोलने में सर्वदा वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं। मौखिक रूप पर प्रादेशिकता की अधिक छाप रहती है।

(3) भाषा का आदर्श स्वरूप लिखित होता है। यह रूप सुसंस्कृत, व्याकरण बद्ध, अशुद्धिरहित होता है। पत्र-पत्रिकाओं, कृतियों में यह रूप मिलता है।

साहित्यिक भाषा—जिस भाषा में प्रचुर साहित्य की रचना होती है वह साहित्यक भाषा कही जाती है अथवा भाषा के उस विशिष्ट रूप को साहित्यिक भाषा कहते हैं जिसमें अलंकार तथा व्याकरण सम्बधी नियमों की प्रधानता रहती है और यह भाषा एक विशिष्ट समुदाय के लिए ही होती है। जन-साधारण के लिए यह भाषा नहीं होती है। यह टकसाली भाषा का ही विशिष्ट रूप होती है। यह स्थानीय प्रभावों से अछूती रहती है तथा विभिन्न क्षेत्रों या प्रान्तों के शिक्षित लोगों के पारस्परिक व्यवहार में भी प्रायः इसी का प्रयोग होता है। यह व्याकरण द्वारा नियमित होती है। अपने साहित्य के कारण यह भाषा बहुत समय तक अपनी स्थिरता तथा अस्तित्व को बनाए रखती है। सर्वसाधारण की भाषा तथा साहित्यिक भाषा में मौखिक रूप से निम्नलिखित अन्तर होता है—

(1) सर्वसाधारण की भाषा अकृत्रिम होती है, किन्तु साहित्यिक भाषा कृत्रिम होती है।

(2) सर्वसाधारण की भाषा गतिशील होती है, किन्तु साहित्यिक भाषा अपेक्षाकृत स्थिर रहती है।

(3) सर्व साधारण की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा का स्तर ऊँचा होता है।

राष्ट्रभाषा—जब किसी भाषा को समस्त राष्ट्र की भाषा मान लिया जाता है, तब वह राष्ट्र भाषा कहलाती है। जब कोई बोली विभाषा का रूप धारण कर लेती है और फिर क्रमशः साहित्यिक रचना का माध्यम बनकर भाषा का रूप धारण कर लेती है और फिर लोकप्रियता के फलस्वरूप समस्त राष्ट्र में विचार-विनिमय का माध्यम बन जाती है, तब वह राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों की राय है कि राष्ट्रभाषा वह भाषा है जिसे राजकीय क्षेत्र में समस्त राष्ट्र के कार्य-संचालन की स्वीकृत प्राप्त हो। हमारे विचार से भाषा राजकीय नहीं, सामाजिक

सम्पत्ति है। राजकीय क्षेत्र में प्रयुक्त भाषा राजभाषा कही जानी चाहिये, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि राजभाषा और राष्ट्र भाषा के पद को एक ही भाषा प्राप्त हो। उदाहरण के लिए हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, क्योंकि वह जन-जन का कण्ठहार है, परन्तु वह राजभाषा के आसन पर अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है।

हमारे देश के राजनीतिक नेतागण तो अभी तक यही तय नहीं कर पाए हैं कि राज-काज के संचालन के लिए किस भाषा को अंगीकार किया जाए। तब क्या यह समझा जाय कि भारत की कोई राष्ट्रभाषा ही नहीं है। राजनीतिज्ञ भले ही राजभाषा के पीछे लड़ते-झगड़ते रहें, हिन्दी राष्ट्रभाषा की धारा अनवरत रूप से वृद्धिगत है।

भाषा वस्तुतः जनता का समर्थन प्राप्त करके राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करती है—वह राजनीतिक ऊहा-पोह एवं राजकीय कूटनीति की अपेक्षा नहीं करती है। जिस प्रकार वनराज के रूप में सिंह का अभिषेक कभी नहीं किया जाता है, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा राजनीतिज्ञों के ऊहापोह की मोहरों की प्रतीक्षा नहीं करती है।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा वस्तुतः भाषा का वह व्यापक रूप है जिसका व्यवहार समस्त राष्ट्र में होता है। राष्ट्रभाषा वस्तुतः देश की संस्कृति एवं देश के आदर्शों तथा देशवासियों की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करती है। वही भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है जिसमें सामर्थ्य हो कि वह देश के विभिन्न भागों के निवासियों के मध्य सम्पर्क स्थापित कर सके तथा अन्य उपभाषाओं एवं विभाषाओं की प्रगति में सहायक बन सके।

किसी समय भारत में अनेक बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं, जिनका साहित्यिक रूप ऋग्वेद में सुरक्षित था। इन्हीं कथित विभाषाओं में से एक को परिमार्जित करके मध्य देश के विद्वानों ने संस्कृत को भाषा का रूप दे दिया और वही भाषा लोकप्रिय होकर वहुत समय तक राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन रही। बौद्धधर्म के उत्थान के फलस्वरूप वैदिक संस्कृति छिन्न-भिन्न हो गई और संस्कृत का प्रभाव कम हो गया। इसके बाद प्राकृत भाषाओं का युग आया। इनमें पहले महाराष्ट्री प्राकृत का और बाद में मागधी प्राकृत का बोलबाला रहा। मागधी प्राकृत कालान्तर में महाराष्ट्र के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुई। इसके बाद शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश राष्ट्रभाषा रहीं। इनके बाद प्रान्तीय भाषाओं का युग आता है। मेरठ और दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली एक विभाषा खड़ी बोली धीरे-धीरे साहित्यिक रूप को प्राप्त हुई और आज वह खड़ी बोली अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से राष्ट्रभाषा बन गई है।

इसी प्रकार फ्रेंच और अँगरेजी भाषाएं पेरिस और लन्दन के नगरों की विभाषाएँ ही हैं। राजधानियों की राजनीतिक महत्ता ने उन्हें इतना महत्वपूर्ण बना दिया है कि वे आज राष्ट्र भाषाएँ बन गई हैं।

हिन्दी के अन्तर्गत खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, बिहारी, राजस्थानी आदि कई विभाषाएँ अथवा उपभाषाएँ आ जाती हैं, क्योंकि इस विस्तृत क्षेत्र में चलती हुई टकसाली हिन्दी व्यवहृत होती है।

राज्य-भाषा—किसी राज्य द्वारा विचार विनिमय के साधन के रूप में

स्वीकृत भाषा को राज्य-भाषा कहते हैं। प्रायः राष्ट्र-भाषा और राज्य-भाषा को समानार्थी समझा जाता है। किन्तु कभी-कभी दोनों में वैभिन्य हो जाता है। आज सम्पूर्ण देश विभिन्न राज्यों में विभाजित है और प्रत्येक राज्य की, राज कार्य चलाने के लिए एक भाषा है। यह भाषा राज्य भाषा कहलाती है।

राजभाषा—यह देश के राजकीय कार्यों में प्रयुक्त होने वाली भाषा है। इसे अंग्रेजी में (Official Language) कहते हैं। राजकीय कार्यालयों, राजाज्ञाओं आदि में प्रयुक्त भाषा ही राजभाषा कहलाती है। प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्रभाषा ही प्रायः उसकी राजभाषा होती है, क्योंकि उसी के माध्यम से वहाँ का राजकार्य चलता है। राजकीय कार्यालयों, लेखों और पत्र-व्यवहार में उसी का प्रयोग होता है। राजाज्ञाएँ उसी में प्रसारित होती हैं।

राजनयिक भाषा—यह भाषा एक देश और दूसरे देश में मध्य राजनयिक पत्र-व्यवहार या बातचीत में प्रयुक्त होती है। यह भाषा अत्यंतशिष्ट यथा ,औपचारिक होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा—शासन या अन्य किसी प्रभाव से जब किसी भाषा का प्रयोग एक से अधिक राष्ट्रों में होने लगता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पद प्राप्त हो जाता है। जैसे—अंग्रेजी।

निष्कर्ष—भाषा मानवीय वाणी का वह रूप है जो भावों एवं विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम होता है। प्रारम्भ में वह एक बोली होती है। धीरे-धीरे विकसित होकर वह एक विभाषा या प्रान्तीय भाषा बन जाती है। प्रान्तीय भाषा यदि समृद्ध एवं सशक्त होती है, तो वह भाषा का रूप धारण कर लेती है। अधिक लोकप्रियता एवं जनता का समर्थन प्राप्त करके वह राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्थानी भाषा के लिए बोली, प्रान्तीय भाषा के लिए विभाषा और राष्ट्रीय तथा टकसाली भाषा के लिए भाषा का प्रयोग किया जाता है।

विभाषा की सीमा बहुत कुछ भूगोल स्थिर करता है और भाषा की सीमा सभ्यता, संस्कृति और जातीय भावों के ऊपर निर्भर होती है।

प्रश्न 26—कोई बोली कब भाषा बन जाती है ? भाषा तथा बोली के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—जब कभी हम सम्बन्धित-असम्बन्धित किसी भी भाषाई समस्या पर विचार करते हैं तो 'बोली' का प्रयोग करते हैं। साधारणतः भाषा के पर्याय के रूप में बोली का प्रयोग होता है। 'बोली' जहाँ एक ओर 'भाषा' की सीमा को स्पर्श करती है वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति बोली (Idiolect) तक जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा को एक स्वतन्त्र बोली मानना चाहिए क्योंकि उसकी अपनी अलग विशिष्टाताएँ होंगी जो दूसरे से भिन्न होंगी।

भाषाओं को भौगोलिक परिसीमाओं में बाँधकर बोलियों की संज्ञा दी जाती है। जिसमें भाषिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक इकाई के दर्शन होते हैं।

अनेक बोलियों में से एक बोली कई कारणों से प्रमुख और परिस्थितियों के कारणवश प्रमुखतर हो जाती है। इसके पीछे अग्रलिखित कारण हो सकते हैं—

(1) भौगोलिक स्थिति, (2) राजनीतिक प्रमुखता, (3) साहित्यिक श्रेष्ठता, (4) जनसंख्या की अधिकता, (5) शिक्षा, स्वभाव तथा धार्मिक आस्था, (6) सामाजिक मान्यता।

इन दोनों के परस्पर भेदक तत्त्वों पर जब हम दृष्टि-निक्षेप करते हैं तो हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है और बोली का सीमित अर्थात् भाषा का व्यवहार अधिक दूर तक होता है और बोली का अपेक्षाकृत कम दूर तक। एक भाषा के क्षेत्र में अनेक बोलियाँ होती हैं, किन्तु एक बोली के क्षेत्र में अनेक भाषाएं नहीं हो सकतीं।

दूसरी बात यह होती है कि एक भाषा की विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले परस्पर एक दूसरे को समझ लेते हैं, किन्तु विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले एक दूसरे को नहीं समझ सकते। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि किसी भाषा की विभिन्न बोलियों में परस्पर बोधगम्यता तो होती है, किन्तु विभिन्न भाषाओं में नहीं—उदाहरणार्थ खड़ी बोली में 'मैं जाता हूँ' बोलने वाला ब्रजभाषा का 'जात हो' अनायास समझ लेता, किन्तु अँगरेजी का 'आई गो' नहीं समझ सकता। इसलिए खड़ी बोली और ब्रजभाषा हिन्दी की बोलियाँ हुई, पर हिन्दी और अंगरेजी दो भाषाएँ हैं।

तीसरा मुख्य अन्तर यह होता है कि भाषा का प्रयोग शिक्षा, शासन, साहित्य रचना आदि के लिए होता है, किन्तु बोली का दैनिक व्यवहार के लिए। इसी के साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कभी-कभी प्रतिभावान व्यक्तियों द्वारा बोलियों में भी ऐसी रचनाएँ उपस्थित कर दी जाती हैं कि वे विस्मयकारी बन जाती हैं। उदाहरण के लिए मैथिल में रचे विद्यापति के पद, अथवा अवधी में रचे 'रामचरितमानस' को देखा जा सकता है।

भाषा और बोली में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं होता। बोली ही अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर भाषा बन जाती हैं। इस तथ्य की पुष्टि पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों ने भी की है, जिसमें से केवल तीन उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

(a) "To the Linguist there is no real difference between a 'Dialect' and a 'Language' which can be shown to be related, however remotely to another language. By preference the term is restricted to a form of speech which does not differ sufficiently from another form of speech to be unintelligble to the speakers of the latter." —Edward Sapir

(b) "It is impossible to draw exact lines of demarcation between either dialects or languages, though at their frontiers they merge imperceptibly one into another." —L. H. Gray

(c) "There is no intrinsic difference between language and dialect, the former being a dialect which, for some special reason, such as being speech form of the locality which is the seat of the

government, has acquired prominance over the other dialects of the country. Actually there is no clear cut to reply the question. Even a Linguist shrinks from answering it rightly." —Mario Pet.

अस्तु किसी भी भाषा के अध्ययन में बोली का महत्व बहुत बड़ा है। वस्तुतः उसी से भाषा का जीवित रूप हमें देखने को मिलता है। वह लिखित व्याकरणिक नियमों से युक्त होती है। उसमें स्थानीय प्रभावों की जीवन्त व्यंजना होती है।

प्रश्न 27—संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—(1) शिष्टेतर भाषा, (2) वृत्ति भाषा, (3) वर्ग भाषा, (4) अर्धसंकर भाषा, (5) संकर भाषा, (6) विजेता बोली या स्वामी भाषा, (7) डिगलेसिया, (8) भाषा।

उत्तर (1) **शिष्टेतर भाषा (Slang)**—किसी भी सीमित क्षेत्र में बोली जाने वाली वह स्थानीय बोली जो शिष्टों द्वारा प्रयुक्त बोली से भिन्न होती है, 'शिष्टेतर' कहलाती है 'शिष्टेतर' भाषा एक प्रकार से भाषा का वह उपमानक रूप है, जो किसी निश्चित भूभाग से समस्त जनता द्वारा अधिकांशतः समझ लिया जाता है, चाहे वे लोग उसका प्रयोग करते हों अथवा नहीं। शब्दों को इस प्रकार विगाड़ कर बोलने में हम आनन्द का अनुभव करते हैं, जैसे 'बाँह' को 'वँहियाँ', 'गाल' को 'गल्लू'। इसको 'क्रय-भाषा या विकृत बोली भी कहते हैं।

(2) **वृत्ति भाषा (Jargon)**—अबोधगम्य या निरर्थक शब्दावली के साथ जो भाषा किसी विशिष्ट समुदाय, समूह या व्यवसाय के लोगों में पनपती है उसे ही 'वृत्ति भाषा' (जार्गन) कहते हैं। इसको ही 'विशिष्ट भाषा' या 'व्यावसायिक भाषा' भी कहा गया है। बोली का यह रूप औद्योगिक वातावरण में ही पनपता है। किसी व्यवसाय में लगे हुए लोगों को वह बोधगम्य होती है जब कि सामान्य जनता उसे नहीं समझ पाती और सुनते हुए भी अनभिज्ञ रहती है। वस्तुतः यह 'मानक भाषा' का ही वह रूप है जो किसी व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों द्वारा कुछ भिन्न रूप में बोला जाता है। विभिन्न प्रकार के उद्योगों—किसान, लोहार, बढ़ई, जुलाहा, सुनार, दर्जी, कुम्हार, शिकारी, मल्लाह—से संबंधित शब्दावली तो भिन्न होती ही है : पर शिक्षा, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, आदि व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों की बोली भी अत्यधिक परिभाषिक शब्दावली के कारण अपनी निजी बोली हो जाती है, जिसको ये लोग आपस में बोलते हुए बड़ी आसानी से समझ लेते हैं, किन्तु अन्य व्यक्ति वहाँ बैठे हुए भी उसको नहीं समझ पाते।

(3) **वर्गभाषा (Cant)**—वृत्ति भाषा का ही वह रूप 'वर्गभाषा' है जो निम्न स्तरीय वर्ग के व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार से विकसित कर लिया जाए कि उसको वही लोग समझ सकें। वर्गीय सीमाबद्ध बोली को 'काण्ट' कह गया है। 'वर्ग बोली' की सीमा भी भौगोलिक नहीं होती है। एक ही सम्प्रदाय के लोग सुदूर स्थित होते हुए भी एक-सी बोली बोलते हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय बोली के मध्य इस प्रकार की अनेक वर्ग भाषाओं के द्वीप मिल सकते हैं।

(4) **अर्धसंकर भाषा (Pidgin)**—जब दो भाषा-भाषी आपस में मिलते हैं तो मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं। मिश्रित भाषा का स्वरूप जब इस प्रकार रहता है कि उसका मूलाधार एक भाषा बनी रहती है और अन्य भाषाओं के शब्द उसमें मिलते जाते हैं तो 'अर्धसंकर' (पिज़िन—Pidgin) भाषा विकसित होती है।

(5) **संकर भाषा** (Creole) जब दो भिन्न भाषा-समुदायों के व्यक्ति किसी कारणवश एक भाषा-समुदाय के मध्य किन्हीं निश्चित भौगोलिक सीमाओं में बँधकर मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं तो वह 'संकर' (क्रिओल — Creole) कहलाती हैं। दो भाषाओं के अत्यधिक मिश्रण के फलस्वरूप 'क्रिओल' का जन्म होता है जिसके फलस्वरूप एक वक्ता-समुदाय अपनी मातृभाषा को छोड़ बैठता है। विभिन्न भाषा-समुदाय के व्यक्तियों से बने समुदाय में जब किसी एक ही मिली-जुली भाषा का प्रयोग प्रारंभ हो जाता है तो वह 'संकर' भाषा बन जाती है। संकर भाषा का प्राय: लिखित साहित्य नहीं होता, क्योंकि उसका लिखित रूप कम मिलता है। संकर भाषाओं के समाज में प्रयोग की दृष्टि से भी भेद हो सकते हैं—व्यक्तिगत-अव्यक्तिगत तथा औपचारिक-अनौपचारिक। यह संभव हो सकता है कि औपचारिक रूप में जहाँ हम 'मानक' भाषा का प्रयोग करते हों, अनौपचारिक रूप में 'संकर' भाषा एकदम आ जाती हो। प्राय: मित्रों के मध्य हम इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं।

(6) **विजेता बोली** (Colonial dialect)—यही प्रवृत्ति जब साम्राज्यवादी देशों द्वारा साम्राज्य के विस्तार के साथ भाषा में भी फैलती है तो कोलोनियल नवप्रवर्तन कहलाती है। साम्राज्यवादी देशों का साम्राज्य जब सुदूर देशों में फैलता है तो उसके साथ-साथ स्वेच्छया या जबरदस्ती वहाँ की भाषा भी दूर-दूर तक फैल जाती हैं, साथ ही उस क्षेत्र में विकसित 'विजेता बोली' (Colonial dialect) भी मातृभाषा से पृथक् हो जाती है। वह भाषा अपनी स्वभावगत विलक्षणताओं को विकासित करती है जैसे इंग्लैंड की भाषा (मातृभाषा) तथा विभिन्न देशों की भाषाएँ कनाडा, आस्ट्रेलिया दक्षिणी अफ्रीका की विभिन्न भाषाएँ बन गई। इस दृष्टि से अँग्रेजी भी प्रसिद्ध है जिस पर डॉ० ब्रज ब० काचरू ने शोधकार्य किया है। अब तक अनेक देशों में विजेताओं ने अपनी भाषाएँ थोपी हैं, जैसे दक्षिणी अफ्रीका में डच तथा इंग्लिश. मैक्सिको में स्पेनिश, आयरलैंड में अँग्रेजी, ब्रिटैनी में फ्रान्सीसी, बास्क में फ्रान्सीसी तथा स्पेनिश तथा फिनलैंड में स्वोडिश और अब रूसी। इसको ही प्रकारान्तर से स्वामी भाषा भी कहा जाता है।

(7) **डिगलोसिया** (Diglossia)—'डिगलोसिया' फ्रेंच शब्द 'डिग्रलोसी' (Diglossie) से बना है। इसका व्यवहार बोली-विज्ञान में फर्गूसन महोदय ने किया। कुछ स्थानों पर किसी एक भाषा के दो या दो से अधिक उपरूप किसी एक जनजाति के कुछ व्यक्तियों के द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में उच्चरित होते हैं। इस प्रवृत्ति को ही सर्वप्रथम चार्ल्स फर्गूसन ने डिगलोसिया की संज्ञा दी है। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रीय राष्ट्रपति महामान्य राजेन्द्र प्रसाद भी भोजपुरी क्षेत्र से आए हुए व्यक्तियों से भोजपुरी में बात करते थे और उसी के मध्य अन्य बोलियों वालों से मानक हिन्दी में बातचीत करने लगते थे।

(8) **भाषा**—प्रात: काल के आगमन की सूचना पक्षी चहक कर देते हैं और मुर्गे बाँग देकर। भूख लगने पर बच्चे रोने लगते हैं और हर्ष के समय खिल-खिला उठते हैं। गाड़ी के चलने के समय की सूचना गार्ड ड्राइवर को झंडी दिखाकर देता है। सुना जाता है कि काशी में दलालों की एक अलग भाषा है और इसी प्रकार यहाँ के पुराने कँसेरे भी अपनी स्वतन्त्र भाषा का प्रयोग करते चले आ रहे हैं। इस प्रकार, न जाने, प्राणियों के कितने प्रकार से भावाभिव्यक्ति के व्यापार चलते हैं

और इन व्यापारों को सामान्य रूप से भाषा की संज्ञा दी जाती है। पशु-पक्षियों की भाषा, चोरों की भाषा, गूँगों की भाषा, जैसी संज्ञाएँ प्रायः सुनने को मिलती हैं। भाषा इस प्रकार, व्यापक, परिप्रेक्ष्य में, प्राणियों की भावाभिव्यक्ति का साधन-मात्र है।

भाषा-विज्ञान, परन्तु प्राणियों की भावाभिव्यक्ति की इस व्यापकता को स्वीकार नहीं करता। वह सर्वप्रथम उस विशाल जन-समुदाय की भावाभिव्यक्ति के साधन को भाषा कहता है जिसके ध्वनि-प्रतीक निश्चित होते हैं और उस विशिष्ट जन-समुदाय के लोग उन निश्चित ध्वनि-प्रतीकों के द्वारा आपस में विचार-विनिमय कर पाते हैं। लोग जब एकत्र होते हैं तो बोलकर ये अपने विचार एक दूसरे तक तो सम्प्रेषित कर लेते हैं, लेकिन सामूहिकता के अभाव में? ऐसे समय के लिए विशेषज्ञों का कहना है कि लोग चित्र या अन्य प्रतीकों द्वारा अपने भाव दूसरों तक भेजते थे। तिब्बती-चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्चा लाल कागज में लपेट कर भेजने का किसी जमाने में अर्थ था युद्ध के लिए तैयार होना। भारत में भी विवाह आदि के अवसर पर निमंत्रण-प्रेषण की आज भी कई प्राचीन रूढ़ियाँ विराजमान हैं। इनसे पता चलता है कि उस जमाने में लिपि का आविष्करण कदाचित् नहीं हुआ होगा। लेकिन आवश्यकता के अनुसार ध्वनियों के लिए निश्चित लेख्य वर्णों की व्यवस्था हुई और आज इन वर्णों के द्वारा हम अपने विचार दूसरों तक भेज पाते हैं। इस प्रकार भाषा, आज, निश्चित ध्वनि-प्रतीकों की उच्चरित और लिखित व्यवस्था का नाम है जिसका सम्बन्ध विशिष्ट जन-समुदाय से होता है।

प्रश्न 28—प्रयोग की दृष्टि से भाषा के कौन-कौन से रूप हैं? उन रूपों की विवेचना बतलाइए कि आप किस रूप को श्रेष्ठ समझते हैं और क्यों?

उत्तर—प्रयोग की दृष्टि से भाषा के दो रूप हैं—(1) उच्चरित या मौखिक भाषा, (2) लिखित भाषा।

सामान्य जनता इन दोनों में विशेष भेद नहीं करती पर भाषाविद् इन दोनों में स्पष्ट अन्तर करता है। सामान्यतः भाषा के लिखित रूप को महत्त्व प्रदान किया जाता है, जबकि भाषा-वैज्ञानिक भाषा के उच्चरित रूप को ही भाषा का वास्तविक रूप मानता है; लिखित को नहीं। भाषा में उच्चारण का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। लेखन-क्रिया भाषा नहीं वरन् यह तो केवल एक प्रकार है जिसके द्वारा भाषा के उच्चरित रूप को दृश्य संकेतों द्वारा अंकित किया जाता है। भाषा-विज्ञान में हम भाषा के उच्चरित रूप को अध्ययनार्थ स्वीकार करते हैं।

उच्चरित भाषा का इतिहास सृष्टि के आदि-काल से आरंभ हो जाता है जबकि लिखित रूप बहुत बाद का है और आज भी यह सर्वत्र नहीं। आज भी संसार में सहस्त्रों ऐसी भाषाएँ विद्यमान हैं जो केवल बोली जाती हैं।

भाषा का लिखित रूप तो केवल बोली जाने वाली भाषा का चित्रमात्र है, वह भी इतना यथार्थ नहीं जितना कैमरे द्वारा लिया गया किसी वस्तु विशेष का चित्र। जिस प्रकार ताजमहल के चित्र को हम 'ताजमहल' कह देते हैं, वस्तुतः वह तो चित्र मात्र है, पर 'चित्र-तुरंगन्याय' से हम उसको ही 'ताजमहल' की संज्ञा प्रदान

कर देते हैं। उसी प्रकार 'लिखना' भाषा नहीं, भाषा अर्थात् बोलने का अपूर्ण चित्र है, फिर भी हम उसको देखकर ही कह देते हैं कि यह 'भाषा' है।

भाषा के उच्चरित रूप को मानव ने विभिन्न लिपियों में स्थान-स्थान पर लिखने की चेष्टा की है, वह केवल प्रयास मात्र ही है। उसका यथार्थ रूप तो सामने कठिनता में ही आ पाता है। भाषा के उच्चरित रूप का मानव पर जितना प्रभाव पड़ता है, वह मानव के हृदय को जितना झकझोर सकता है; उसके द्वारा करूणा, क्रोध, सहृदयता, व्यंग्य आदि सूक्ष्य भावों की जितनी अभिव्यक्ति संभव है उसका शतांश भी लिखित रूप से संभव नहीं। नाटक को लिखित रूप में बहुत से लोग पढ़ते हैं पर सोचिए नाटक के लिखित तथा नाटक के वास्तविक स्टेज के श्रव्य एवं दृश्य रूप में कितना अन्तर है। यही भाषा के लिखित तथा उच्चरित स्वरूप के भेद को स्पष्ट करता है।

उच्चरित रूप तो प्रत्येक बार भिन्न-भिन्न होगा और प्रत्येक व्यक्ति के मुख से उसमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य आ जाएगा, जब कि लिखित रूप समान रूप से एक-सा रहता है। अँगरेजी कई देशों—इंग्लैंड, अमेरिका, भारत आदि—में बहुत कुछ समान रूप से लिखी जाती है, पर बोलने में पर्याप्त अन्तर है। भाषा का लिखित रूप तो उसके स्वरूप को केवल स्थाई रूप देने में महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न लिपियों के प्रचलन, मुद्रण यंत्रों के आविष्कार द्वारा लिखित रूप सुरक्षित रहता है; जबकि रेडियो, ग्रामाफोन, टेपरिकॉर्डर द्वारा उच्चरित रूप सुना जा सकता है।

भाषा का लिखित रूप हृदयस्थ भाव को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ नहीं उदाहरणार्थ 'अच्छा' लिखने में केवल 'अच्छा' ही प्रतीत होता है जबकि उसके उच्चरित रूप से चार पाँच भाव व्यक्त किए जा सकते हैं। मुख की भाव-भंगिमा, बलाघात, स्वराघात, मात्रा आदि अनेक तत्त्वों का उपयोग उच्चरित रूप में किया जाता है। लिखित रूप में प्राप्त अनेक विराम चिह्नों का प्रयोग भी उस वाक्य में वह भाव नहीं भर पाता जो वस्तुतः आना चाहिए। लिखते समय व्याकरण का अंकुश हमेशा सिर पर सवार रहता है जो भाषा के वास्तविक स्वरूप को नहीं आने देता। भाषा का लिखित रूप तो उस बद्ध सरोवर की भाँति है जिसका जल कालान्तर में सड़ भी सकता है और उच्चरित रूप उस कलकल निनाद करती हुई सरिता की भाँति है जो कितने ही गंदे नालों को अपने में मिलाती हुई भी प्रवाहयुक्त एवं गतिशील होने के कारण आनन्दमयी होती है।

अध्याय | 9

भाषा की प्रकृति, विशेषताएँ, प्रवृत्तियां एवं महत्त्व

प्रश्न 29—भाषा की प्रकृति सम्बन्धी विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 30—"भाषा परम्परागत सम्पत्ति है, साथ ही अर्जित सम्पत्ति भी" —इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए।

प्रश्न 31—भाषा की विशेषताओं और प्रवृत्तियों पर संक्षेप में उल्लख कीजिए।

भाषा की प्रकृति

उत्तर—जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य या पदार्थ की कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा की भी कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है। और जिस प्रकार स्थान, जलवायु, देश-काल आदि का मनुष्यों के वर्गों, जातियों आदि की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार बोलने वालों की बहुत-सी बातों का उनकी भाषा पर ही बहुत-कुछ प्रभाव पड़ता है। बल्कि हम कह सकते हैं कि किसी भाषा की प्रकृति पर उसके बोलने वालों की प्रकृति की बहुत-कुछ छाप या छाया रहती है।

प्रत्येक भाषा की प्रकृति उसके व्याकरण, भाव-व्यंजन की प्रणालियों, मुहावरों, क्रिया-प्रयोगों और तद्भव शब्दों के रूपों, बनावटों आदि में निहित रहती है। इस प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान उन्हीं लोगों को होता है, जो उस भाषा की उक्त सभी बातों का बहुत ही सावधानीपूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते और उसकी हर बात पर पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं।

भाषा की प्रकृति भी बहुत-कुछ मनुष्य की प्रकृति के समान होती है। मनुष्य वही चीज खा और पचा सकता है, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। यदि वह प्रकृति-विरुद्ध चीज खाने और पचाने का प्रयत्न करे, तो यह निश्चित है कि उसे या तो सफलता ही न होगी, या बीमार पड़ जाएगा। भाषा भी वही तत्त्व ग्रहण कर सकती है, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। उसकी प्रकृति के विरुद्ध जो तत्त्व होंगे, वे यदि जबरदस्ती उसके शरीर में प्रविष्ट किए जाएँगे तो उसका स्वरूप या शरीर विकृत हो जाएगा। जिस प्रकार मनुष्य को दूसरों से बहुत-कुछ सीखने-समझने और लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भाषा को भी आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है। हमें भाषा के क्षेत्र में दूसरों की सभी अच्छी बातें ग्रहण तो करनी चाहिए, परन्तु, आँखें बंद करके नहीं, बल्कि प्रकृति-सम्बन्धी इस तत्त्व को ध्यान में रखते हुए।

भाषा का यह प्रकृति-तत्त्व ही उसकी जान होता है। यह तत्त्व प्राकृतिक होता है, कृत्रिम नहीं होता। यही कारण है कि मेज कुरसियों की तरह भाषा कभी गढ़ी नहीं जा सकती। पाश्चात्य देशों में अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने समय-समय पर कई बार ऐसी भाषा गढ़ने का प्रयत्न किया जो सारे संसार में नहीं हो, कम-से-कम उसके बहुत बड़े भाग में बोली और लिखी-पढ़ी जा सके। ऐसी भाषाओं में एस्पिरेटो नामक भाषा बहुत प्रसिद्ध है, जिसके प्रचार के लिए भगीरथ प्रयत्न किए गए, फिर भी जो चल न सकी। एस्पिरेटो से भी पहले वोलयुक (Volapuk) नाम की एक भाषा गढ़ी गई थी, और इन दोनों के बाद रूस में इडियान न्यूट्रल (Idion Neutral) नाम की भाषा गढ़ने का प्रयत्न किया गया था। ये भाषाएँ इसीलिए नहीं चल सकीं कि ये प्राकृतिक नहीं थीं—इनमें जान नहीं थी।

जो लोग शब्दों की बनावट, भाव व्यक्त करने की प्रणालियों, क्रियाओं, मुहावरों आदि का सदा पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं, वही समझ सकते हैं कि कौन-सी बात हमारी भाषा प्रकृति के अनुकूल है और कौन-सी प्रतिकूल। ऐसे लोग कोई बिलकुल नया शब्द सुनते ही कह सकते हैं कि यह हमारी भाषा का शब्द नहीं है—अमुक भाषा का जान पड़ता है। उसके कान इतने परिष्कृत तथा अभ्यस्त होते हैं कि प्रकृति-विरुद्ध छोटी-सी-छोटी बात भी उन्हें खटक जाती है।

भाषा की विशेषताएँ एवं प्रवृत्तियाँ

भाषा के व्यापक स्वरूप, विस्तृत कार्य-क्षेत्र और प्रकृति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हमें उसमें अधोलिखित विशेषताएँ एवं प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं—

(1) **भाषा सामाजिक निधि है**—जैसे मनुष्य समाज में जन्म लेता है और उसी में विकास पाता है तथा समाज से बाहर जिसके जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती; उसी प्रकार भाषा भी समाज में ही उत्पन्न होती और विकास प्राप्त करती है। वस्तुतः भाषा विचार विनिमय का माध्यम है और विचार-विनिमय के लिए समाज की सत्ता अनिवार्य है। समाज को छोड़कर भाषा की कल्पना नहीं हो सकती। भाषा के जितने भी रूप हैं, सभी समाज सापेक्ष हैं। मनुष्य समाज में ही भाषा अर्जित करता है और उसका प्रथम सूत्र बनती है—माँ। इसीलिए भाषा के सम्बन्ध में हम कभी-कभी मातृ-भाषा का भी प्रयोग करते हैं। परन्तु माँ समाज की ही इकाई होती है, इसलिए वह जो सिखाती है वह समाज प्रदत्त भाषा ही होती है।

(2) **भाषा अर्जित वस्तु है**—भाषा जन्मजात वस्तु नहीं है, क्योंकि मनुष्य उसे अपने विभिन्न शरीरावयवों की भाँति लेकर इस संसार में नहीं आता है। हाँ, मनुष्य से भाषा-ग्रहण की नैसर्गिक शक्ति होती है। इसलिए वह जिस वातावरण और समाज में रहता है, उसी की भाषा सीख पाता है। भाषा-विशेष की क्षमता लेकर कोई उत्पन्न नहीं होती। भारतीय बच्चे भी अँगरेजी वातावरण में रहने पर उसी दक्षता से अँगरेजी बोलने लगते हैं, जिस दक्षता से अँगरेजों के बच्चे। मनुष्य समाज में रहकर भाषा को सीखता और वर्जित करता है। इसी अर्जन की प्रकृति के कारण भाषा का विकास और परिष्कार होता है। उदाहरणार्थ अँगरेजों ने भारतीय भाषाओं को सीखा और भारतीय लोगों ने अँगरेजी को। दोनों भाषाओं के केवल शब्दों का ही आदान-प्रदान नहीं हुआ वरन् रचना-विधि आदि का भी अर्जन हुआ। इससे स्पष्ट

है कि व्यक्ति अपने चारों ओर के वातावरण से भाषा सीखता है, उसे वह प्रकृति से नहीं प्राप्त करता है।

(3) **भाषा परम्परागत सम्पत्ति है**—भाषा एक परम्परागत वस्तु है। उसकी एक धारा बहती रहती है जो सतत् परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती हैं। उसमें भाषणकृत भेदों की लहरें नित्य उठा करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों से भाषा सीखता है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी नयी भाषा नहीं उत्पन्न करती। घटना और परिस्थिति के कारण भाष में कुछ विचार भले ही आ जाएँ, पर जान-बूझ कर वक्ता कभी परिवर्तन नहीं करता। भाषा एक परम्परागत सम्पत्ति है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बालक उसके सीखने में ज्ञान और तर्क का प्रयोग नहीं करता। जब उसे यह बता दिया जाता है कि अमुक वस्तु का नाम 'गाय' है तो वह उसे ज्यों का त्यों मान लेता है। वह तर्क नहीं करता कि उसका नाम 'गाय' क्यों है? वास्तव में भाषा को परम्परागत मानने से तात्पर्य यह है कि बालक जन्म से ही यह प्रतिभा लेकर उत्पन्न होता है कि बोल सके। समाज में आकर उस प्रतिभा का विकास भर हो जाता है। शिक्षा उसे और अधिक संस्कृत बना देती है।

(4) **भाषा विकासशील या परिवर्त्तशील है**—भाषा में भी अन्य सांसारिक वस्तुओं की भाँति विकास या परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक देश और युग की भाषा परिवर्तित हुई है। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के कारण परिवर्तन की मात्रा में भले ही अन्तर हो, परन्तु परिवर्तन का क्रम अनिवार्य है। परिवर्तन भाषा के सभी तत्वों में पाया जाता है। ध्वनि, शब्द, व्याकरण, अर्थ आदि सब परिवर्तित हो जाते हैं। 'बिन्दु' से 'बूंद', 'शाक' से 'साग' और 'मेघ' से 'मेह' ध्वनि परिवर्तन स्पष्ट है। इसी तरह व्यवहार में आने वाले शब्दों का प्रयोग एक दिन में समाप्त हो जाता है और नये शब्द, आविर्भूत हो, प्रयोग में आने लगते हैं। उदाहरणार्थ सत्याग्रह या आन्दोलन जैसे शब्द सन् 1921 में प्रयोग में आने लगे। अर्थ में कैसे परिवर्तन होता है, यह असुर शब्द को देखने से स्पष्ट हो जाता है। वैदिक भाषा में असुर शब्द का अर्थ देव होता था, जो बाद में राक्षस का वाचक बन गया। गार्भिणी से ही 'गभिन' शब्द बना है जो अब केवल पशुओं के ही प्रसंग में प्रयुक्त होता है। इसी तरह 'झा' के रूप में 'उपाध्याय' को कौन पहचानेगा। किसी दिन 'चतुर्वेदी' ने सोचा भी न होगा कि "चौबे" बन जायेंगे—परन्तु भाषा की अनवरत परिवर्तनशीलता किसकी मर्यादा शाश्वत रहने देती है। इस परिवर्त्तन का बहुत श्रेय सामाजिक वातावरण में परिवर्त्तन, जिसमें ज्ञान-वृद्धि और नये विचारों का समावेश भी शामिल है, बने है। भौतिक और मानसिक कारण तो इस परिवर्त्तन के उत्तरदायी हैं ही। समाज का नियन्त्रण जो व्याकरण के नियमों के रूप में प्रकट होता है, भाषा के विकास में बाधाएँ प्रस्तुत करता हैं, किन्तु इससे इसकी मर्यादा बनी रहती है।

(5) **भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न है, उसका कोई अन्तिम स्वरूप नहीं होता**—यह बात हर आदमी जानता है कि जो वस्तु बनकर पूर्ण हो जाती है उसका अन्तिम रूप निर्धारित हो जाता है, परन्तु भाषा के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप ही उसका अन्तिम स्वरूप है। परन्तु इस क्रम में हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि प्रस्तुत विशेषता जीवित भाषा की है, मृत भाषा की नहीं। मृत भाषा का तो अन्तिम स्वरूप होगा ही। मनुष्य

के समान ही भाषा का प्रवाह भी अविच्छिन्न है। जब से भाषा आरम्भ हुई आज तक चली आ रही है और जब तक मनुष्य समाज रहेगा वह चलती रहेगी। उसका प्रवाह कालजयी है।

(6) **भाषा व्यवहार एवं अनुकरण द्वारा अंकित की जाती है**—विश्व प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कहा है कि अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। बच्चा भाषा सीखने में भी इसी गुण का प्रयोग करता है। शैशव काल में उसे दूध की घुँटी दी जाती है उसी तरह भाषा की भी। छोटी-छोटी ध्वनियों से आरम्भ कर शब्दों में होते हुए वाक्यों तक की शिक्षा उसे उसी काल में मिल जाती है। आस-पास के बड़े लोगों को ध्वनियों का जैसा प्रयोग करते शिशु देखता है, वैसा ही स्वयं अनुकरण करने का प्रयास करता है। बा-बा, मा-मा, दा-दा जैसा सरल ध्वनियों से आरम्भ कर वह जटिल से जटिल ध्वनियों के उच्चारण से समर्थ बन जाता है। यह सब मनुष्य की अन्तर्निहित और सहज अनुकरण शक्ति के द्वारा ही सम्भव होता है। परन्तु यह अनुकरण शक्ति तभी कार्य करती है, जब अनुकरण का अवसर दिया जाय। अनुकरण की शक्ति रहने पर भी यदि शिशु को निर्जन, एकान्त स्थान में छोड़ दिया जाय तो वह वाणी-विहीन होकर रह जायेगा, भाषा नहीं सीख सकेगा। इसलिए व्यवहार और अनुकरण दोनों की आवश्यकता पड़ती है।

(7) **भाषा कठिनता से सरलता तथा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर चलती है**—मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी के फलस्वरूप वह राजेन्द्र को राजू या सतेन्द्र को सतेन अथवा इन्दिरा को इन्दू कहने लगता है। यह तो ध्वनि का उदाहरण है इसी प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में भी होता है इससे स्पष्ट है कि भाषा सरलता की ओर बढ़ती है। आजकल कुछ लोगों का कथन है कि हिन्दी दिन-प्रतिदिन कठिन होती जा रही है। वास्तव में बात कुछ और है जिस हिन्दी की ओर ये लोग संकेत करते हैं वह हिन्दी सामान्य हिन्दी नहीं है। वह तो विशिष्ट लोगों की हिन्दी है।

आरम्भ में भाषा का रूप स्थूल था। सूक्ष्म भावों या विचारों को व्यक्त करने के लिए वांछित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी। धीरे-धीरे भाषा का विकास होता गया और मनुष्य ने अपने सूक्ष्मतम भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के उपादानों की सृष्टि की। इससे यह विदित होता है कि भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ती है। हिन्दी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई व्यंजना-शक्ति उसकी समृद्धि की परिचायिका है।

(8) **भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है**—भाषा-विज्ञान के नवीन अनुसंधानों के आधार पर यह बात सत्य प्रमाणित हो चुकी है कि भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति जैसे 'रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति जैसे 'राम जाता है, संस्कृत में केवल 'गच्छति' (संयुक्त रूप) से काम चल जाता है, परन्तु हिन्दी में 'जाता है' (वियुक्त रूप) का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु आधुनिक युग में यह प्रकृति भी देखने को मिलती है कि भाषा वियोगावस्था या अयोगात्मक से पुनः संयोगात्मक की ओर विकस कर रही है। विकास की इस गति को कुछ लोगों ने 'भाषा-विकास-चक्र' कहा है। जिस प्रकार चक्र लौटकर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है उसी प्रकार

भाषा भी विकसित होकर पुनः अपनी मूल आकृति की ओर लौटने का प्रयास करती है।

(9) प्रत्येक भाषा का अपना स्वतंत्र ढाँचा होता है—बनावट के साथ ही साथ प्रत्येक भाषा का ढांचा भी स्वतन्त्र होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी में दो लिंग हैं, गुजराती में तीन। हिन्दी में भूतकाल के छह भेद हैं रूसी में केवल दो। संस्कृत में तीन वचन हैं, हिन्दी में दो। कुछ भाषाओं में कुछ ध्वनियों का संयोग सम्भव है, पर दूसरी भाषाओं में नहीं। उदाहरणार्थ अँगरेजी में स-ट-र का संयोग खूब प्रचलित है जैसे स्ट्रेब, स्ट्रीट आदि में। पर जापानी में यह बिलकुल संम्भव नहीं है। रूसी में ज-द-र का संयोग खूब चलता है पर अँगरेजी या फ्रांसीसी में नहीं। जापानी में कोई भी अक्षर या शब्द स्वरान्त ही होगा, व्यंजनान्त नहीं, जैसे हा-रा-की-री, ना-गा-सा-की। इसके प्रतिकूल संस्कृत में या हिन्दी में अनेक व्यंजनों का संयोग सुलभ है। उदाहरणार्थ कात्यायन में पाँच व्यंजनों का संयोग है। प्रत्येक भाषा की अपनी व्याकरणगत विशिष्टता होती है। इस ढाँचे की विशिष्टता को 'रचनागत विशिष्टता' का भी नाम दिया जाता है। भावों की सूक्ष्मता के अनुरूप इस ढांचे में भी परिवर्तन आता जाता है। इसी कारण एक भाषा के व्याकरण के नियमों को दूसरी भाषा पर लागू नहीं किया जा सकता है।

(10) द्वैध रचना—संसार की त्रिविध भाषाओं का अध्ययन करने पर हमें इनमें आधार-भूत-एकता के कुछ तत्त्व दिखाई देते हैं। द्वैध रचना इस आधारभूत एकता का नमूना है। द्वैध रचना से तात्पर्य यह है कि संसार की सभी भाषाओं की रचना दो तत्त्वों से (1) ध्वनि और (2) शब्दों अथवा पदों से हुई है। ये दोनों तत्त्व प्रत्येक भाषा में किसी-न-किसी रूप में देखने को अवश्य मिलते हैं। इनमें से वाक्यात्मक रचना अथवा पदों के आधार पर रचना को प्राथमिक एवं ध्वनि-प्रक्रिया के आधार पर संरचना को द्वितीयक की संज्ञा दी जाती है। प्रसिद्ध अंगरेजी भाषाविद् जॉन लायन्स के अनुसार "यह (संरचना) मानव भाषाओं की विश्वव्यापी आधारभूत विशेषता है।"

(11) सृजनात्मकता—भाषा की यह एक प्रमुख और मौलिक विशेषता है। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक नौम चोम्सकी ने सृजनात्मकता को भाषा की प्रमुख विशेषता बताया है। इसे भाषा की उन्मुक्तता का भी नाम दिया जाता है। सृजनात्मक का अर्थ यह होता है कि ज्ञात ध्वनियों अथवा पदों के वाक्यों का निर्माण करना अथवा भाषा की रचना करना तथा नवीन भावों और अर्थों को ग्रहण करना। नवीन वाक्यों की रचना और अर्थ-ग्रहण इसी सृजनात्मकता का रूप है अथवा सृजनात्मकता का परिणाम है।

(12) रूप रचनागत विशिष्टता—भाषा की रूप रचनागत विशिष्टता उसके स्वतन्त्र ढाँचे का एक अंग मात्र है। रूप रचनागत विशिष्टता का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक भाषा की रचना सम्बन्धी विशेषताएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। जहाँ संसार की विविध भाषाओं में कुछ मौलिक एकता होती है वहाँ यह भी सत्य है कि व्याकरण के नियमों की दृष्टि से उनमें भिन्नताएँ और अलगाव होता है। इसी रूप रचनागत विशिष्टता के कारण एक भाषा का पूर्णरूपेण अनुवाद विशेषकर—क्रिया, काल, लिंग आदि सम्भव नहीं होता। उदाहरणार्थ हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं, जैसे 'उठ बैठा'

अपनी विशेषता है। इसका एक विशेष अर्थ होता है। इस प्रकार की क्रियाओं का अनुवाद अँगरेजी अथवा अन्य भाषाओं में संभव नहीं है।

(13) ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सीमा—प्रत्येक भाषा का अपना एक इतिहास होता है और उसकी एक भौगोलिक सीमा होती है जिसमें वह बोली जाती है। ऐतिहासिक सीमा से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी-न-किसी काल से आरम्भ होकर किसी-न-किसी समय तक बोली जाती है। इतिहास की उस समय-रेखा के पूर्व न तो उसका अस्तित्व होता है और न उसके बाद उसका महत्त्व रह जाता है। इस समय रेखा के पूर्व की और बाद की भाषाओं से उसकी भिन्नता रहती है। उदाहरणार्थ, 'प्राकृत भाषा' 500 ई० तक बोली और समझी जाती है। इसके पहले 'पालि' का प्रचलन था और बाद में अपभ्रंश का बोलवाला हो गया। प्राकृत का पालि और अपभ्रंश दोनों से ही अन्तर है। इतिहास इनके अन्तर की विभाजक रेखा है।

इतिहास की भाँति भूगोल भी भाषाओं की भिन्नता को निर्धारित करता है। प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है। जिसमें उनका बोलबाला होता है उसके बाहर उसका रूप बदल जाता है और उसके बाहर उसे सहज रूप में समझा नहीं जाता।

प्रश्न 32—भाषा के महत्त्व को बताते हुए उसके अध्ययन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—पृथ्वी पर निवास करने वाले प्राणी अनेक प्रकार के हैं। मनुष्य भी उन्हीं में से एक है। परन्तु अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य ने ही उन्नति की है। मनुष्य की उन्नति का क्या कारण है ? सृष्टि के अन्य प्राणियों ने क्यों नहीं प्रगति की है ? इन प्रश्नों पर भी विचार कर लेना चाहिए। मनुष्य ने अपरिमित उन्नति की है; इसके पीछे कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। मनुष्य में कोई ऐसी अलौकिक शक्ति समाहित है जिसके कारण वह उन्नति कर रहा है। वह अलौकिक शक्ति क्या है ? वह अलौकिक शक्ति है—वाणी का वरदान। यद्यपि स्रष्टा की सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के पास अपनी भाषा है तथापि मनुष्य ने ही प्रगति की है क्योंकि वाणी का वरदान केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। इसी वाणी के वरदान से मानव-समाज उन्नति की ओर उन्मुख हुआ है। इसी वाणी के वरदान से मानव समाज अपने पूर्वजों के उच्च विचारों, उच्च आदर्शों, उच्च अनुभवों एवं उच्च भावनाओं को स्थायी रूप दे सका है। लिपि के वरदान से तो वे अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सके, क्योंकि उसके द्वारा वे भाषा को स्थायित्व की पराकाष्ठा पर पहुँचा सके। प्राचीन-काल में हुए महर्षियों, विचारकों, कवियों, लेखकों दार्शनिकों आदि के महान् विचारों एवं आदर्शों को इस लिपि के वरदान से मानव समाज स्थायी बना सका और उनसे अधिकाधिक लाभ उठा कर उन्हें सुरक्षित रूप में भावी नागरिकों के कल्याण के लिए छोड़ गया। यदि आज संसार में भाषा न होती तो चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य होता। काव्यादर्श का रचयिता इसी को इस प्रकार से कहता है—

'इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत् भुवन त्रयम्,
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते। काव्यादर्श १/४

अर्थात् "यदि शब्द रूपी ज्योति से संसार प्रदीप्त न होता तो इन तीनों लोकों का अंधकार व्याप्त हो जाता है।"

भाषा मनुष्य-जीवन का मेरुदण्ड है। मानव-जीवन, भाषा के अभाव में असम्भव है। भाषा के अभाव में न तो मानव अपने कुटुम्बियों से पारस्परिक व्यवहार में सफलता प्राप्त करता है, न वह सामाजिक जीवन में सफल हो पाता है और न ही वह राजनीतिक और धार्मिक जीवन व्यतीत करने के योग्य हो पाता है। भाषा मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक सम्वन्ध को समृद्ध समुन्नत और सुदृढ़ बनाती है। भाषा का मनुष्य जीवन से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। इस गहन एवं गुरुतम सम्वन्ध का अनुभव एवं ज्ञान शिशु युवक में परिणत होते-होते प्राप्त कर लेते हैं। मानव जब उत्पन्न होता है तो वह पूर्णरूपेण असहाय होता है। वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं होता। वह अबोध तथा अल्पज्ञ होता है। वह भाँति-भाँति के अस्पष्ट संकेतों से माता-पिता को अपनी आकांक्षा से पूर्णतया परिचित कराता है। परन्तु धीरे-धीरे माता-पिता के सम्पर्क से वह स्वयं बोलने के योग्य हो जाता है। वह अपनी मातृ-भाषा को धाराप्रवाह से बोलने में सक्षम हो जाता है और इस प्रकार से वही मातृ-भाषा उसके दैनिक व्यवहार का माध्यम वन जाती है। बिना भाषा का प्रयोग किए उसे अपना जीवन निराधार प्रतीत होने लगता है। बिना भाषा का प्रयोग किए न तो उसका वैयक्तिक-जीवन सुचारु रूप से चल सकता है और न ही वह सामाजिक-जीवन के क्षेत्र में सफल हो सकता है। अतएव भाषा के अभाव में मानव-जीवन निरर्थक हो जाता है, उसकी उपयोगिता पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती है और वह दूभर एवं असह्य हो जाता है।

भाषा जिस प्रकार से मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में उपयोगी सिद्ध होती है उसी प्रकार से वह सामाजिक जीवन में भी नितान्त आवश्यक होती है। मानव-समाज के सदस्यों को एक ऐसी भाषा की आवश्यकता अवश्य पड़ती है जिसके माध्यम से वे विचार-विनिमय करते हैं और अपनी आकांक्षाओं एवं उद्गारों को अन्य व्यक्तियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यदि कोई समाज भाषाहीन होगा तो वह सुचारु एवं सुगम जीवन व्यतीत न कर सकेगा। वह साधारण-सा जीवन तो यापन कर लेगा परन्तु राजनीतिक, आर्थिक धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक प्रगति के पथ पर अग्रसर न हो सकेगा। समाज को पतन के गर्त्त से निकालने का कार्य केवल भाषा ही करती है। भाषा ही मानव-समाज को उच्च नैतिकता की वाटिका में विहार कराती है, भाषा ही उसे धार्मिक जीवन के उन्नत शिखर पर अग्रसर कराती है, भाषा ही उसे सामाजिक जीवन के सागर में नौका बन पार उतारती है, भाषा ही किसी समाज के मानस में साहित्य की मधुर तथा सरल स्रोतास्विनी को प्रवाहित करके उसके जीवन-मरुस्थल को हरीतिमा से युक्त कर देती है और भाषा ही राजनीतिक जीवन की दलदल में फँसे मानव को मानवता के सुगम, निष्कंटक एवं सुन्दर पथ का अनुगामी बनाती है।

जिस प्रकार से भाषा मानव-जीवन के लिये आवश्यक है उसी प्रकार से यह शिक्षा का भी मेरुदण्ड है। भाषा के माध्यम से ही बालक शिक्षा ग्रहण करता है; उसे ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति होती है; वह शास्त्रीय तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। भाषा सभी प्रकार की शिक्षा के पाठ्यक्रम को निर्धारित करने में सहायक होती है और भाषा ही वह साधन है जिसके माध्यम से पाठ्यक्रम का अनुशीलन कर मानव

शैक्षिक उन्नति करता है। भाषा के अभाव में न कोई शिक्षा का माध्यम हो सकेगा, न कोई पाठ्यक्रम होगा और न बालकों को समुचित शिक्षा प्राप्त हो सकेगी अतः शिक्षा के क्षेत्र में भाषा का योगदान प्रशंसनीय है।

भाषा मानवीय संस्कृति का ध्रुवालम्बन होती है। मानव की क्रिया-कलापों, रहन-सहन, रीति-रिवाजों एवं संस्कारों का आधार संस्कृति होती है। अतः प्रत्येक समाज की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने में, यदि वहाँ की भाषा का ज्ञान होता है तो अत्यधिक सुगमता रहती है। प्रत्येक समाज की भाषा उसके साहित्य में सुरक्षित होती है और उस सुरक्षित साहित्य में उस समाज की संस्कृति पूर्णतया समाहित होती है। अतः यदि किसी समाज के पास भाषा न हो, तो उसके पास साहित्य न होगा और इस प्रकार से साहित्य के अभाव में वहाँ की संस्कृति सुरक्षित न होगी। भाषा के अभाव में समाज की संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकती और उसका अस्तित्व शीघ्र समाप्त हो जाता है। लेकिन जिस समाज के पास अपनी भिन्न परिष्कृत भाषा होती है वह साहित्य का अवलम्ब लेकर अपनी संस्कृत को चिरस्थायी बना लेता है। उस साहित्य में वहाँ की रीति-रिवाज, आध्यात्मिक धारणाएँ, भौतिक विचार आदि समुचित रूप में सुरक्षित रहते हैं जिससे आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी उसी पथ का अनुगमन करती हैं और सभी क्षेत्रों में प्रगति की ओर अग्रसर होती हैं।

भाषा साहित्य का भी एक अपरिहार्य अंग है। वस्तुतः भाषा ही भावाभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन होती है और भावाभिव्यक्ति साहित्य-सृजन के लिये अनिवार्य है। भाषा इस प्रकार से साहित्य-रचना में अत्याज्य है। प्रत्येक कवि अथवा लेखक अपने अन्तर में स्थित भावनाओं को अभिव्यक्त करने में भाषा का अवलम्ब लेता है। साहित्यकार भाषा के माध्यम से ही अपनी इच्छा, आकांक्षा, दुःख-दर्द, आशा-निराशा आदि को साकार रूप प्रदान करता है। यदि भाषा न होती तो आज विश्व में मानव-समाज ने इतनी प्रगति न की होती। आज हमारे पास तुलसी, सूर, बिहारी आदि महाकवियों के भाव-रत्न न होते और दार्शनिकों के अन्तस्थल का विचार-मणियाँ सकल संसार को प्रदीप्त न कर पाती। भाषा वह वाटिका है जिसमें साहित्य-सुमन का उद्भव और विकास होता है। भाषा में साहित्य की अविरल सरस स्रोतस्विनि प्रवाहित होती है। भाषा ही हमें दार्शनिकों की गहन और गुरुतम अनुभूतियों से परिचित कवियों की अजस्त्र विचारधारा से अवगत और लेखकों की मर्मस्पर्शिनी कला का ज्ञान प्राप्त करती है। साहित्य का सर्वस्व भाषा ही है। भाषा के अभाव में साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। भाषा ही साहित्य की शक्ति, प्राण-संचालिका और प्रेरणा है तथा संक्षेप में उसका सर्वस्व है।

भाषा विचार की पोषक होती है। भाषा के बिना विचार अस्तित्वहीन होता है। भाषा और विचार का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना व्यर्थ है। विचारों के अभाव में भाषा का कोई महत्त्व नहीं होता है और भाषा के अभाव में विचारों का किंचित् महत्त्व नहीं रह जाता है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भाषा के महत्त्व पर लिखते हैं—"जब भाषा का शरीर दुरुस्त, उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियाँ तैयार हो जाती हैं, नसों में रक्त का प्रवाह और हृदय में जीवन-स्पन्दन पैदा हो जाता है, तब वह जीवन-यौवन के पुष्प-पत्रसंकुल बसन्त में नवीन कल्पनाएँ करता हुआ, नयी-नयी सृष्टि करता है।"

एमर्सन ने भाषा के महत्त्व पर लिखा है।"

"Language is a city to the building of which every human being brought a stone." अर्थात् "भाषा एक नगर है जिसके निर्माण में प्रत्येक मानव एक पत्थर लाया है।"

इस प्रकार भाषा का महत्त्व स्पष्ट है।

अध्याय | 10

भाषा का विकास (परिवर्त्तन)

प्रश्न 33—भाषा परिवर्त्तनशील क्यों है ? भाषा में परिवर्त्तन के प्रमुख कारण क्या हैं ? उनका विस्तार से विवेचन कीजिए।

प्रश्न 34—भाषा के परिवर्त्तन तथा विकास के कारणों का स्पष्ट उल्लेख कीजिए।

उत्तर—संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्त्तनशील हैं। भाषा भी संसार की ही एक वस्तु है और इसलिए यदि वह बदलती है तो यह स्वाभाविक ही है। परिवर्त्तनशीलता वास्तव में भाषा का अनिवार्य गुण है। कुछ विद्वान इस परिवर्त्तन को अवनति और कुछ उन्नति मानते हैं। यह परिवर्त्तन उन्नति है या अवनति, इस विवाद में आए बिना हम परिवर्त्तन को विकास मानते हैं। निस्संदेह इस परिवर्त्तन के साथ-साथ भाषा का विकास होता है और विकास भाषा की अनिवार्य गति है। आदित्यवार का आगे चलकर 'इतवार' बन जाना इसी विकास का उदाहरण है।

विकास के कारण स्वयं भाषा में विद्यमान रहते हैं—भाषा के विकास अथवा परिवर्त्तन के कारण स्वयं भाषा में विद्यमान हैं। मनुष्य भाषा समाज अथवा संसर्ग द्वारा सीखता है। इस सांसारिक परिवेश में परिवर्त्तन के साथ ही भाषा में भी परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाता। संसर्ग अथवा परिवेश की भिन्नता के अतिरिक्त शारीरिक गठन और अभ्यास में अन्तर के कारण भी भाषा में परिवर्त्तन हो जाता है। विभिन्न व्यक्तियों के उच्चारणों में भिन्नता के कारण भी भाषा में विकास हो जाता है।

भाषा के बाहरी कलेवर के अतिरिक्त अर्थ में भी अन्तर अथवा परिवर्त्तन हो जाता है। प्रायः किन्हीं दो व्यक्तियों की भाषा समान नहीं होती। किन्तु व्यवहार में इसका अनुमान सरलता से नहीं लगाया जा सकता। यह भिन्नता वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही स्पष्ट होती है।

विकास में बाधा—प्रायः यह पूछा जाता है कि भाषा में परिवर्तन अथवा विकास द्रुतगति से क्यों नहीं होता ? वास्तव में जिस प्रकार विकास अथवा परिवर्तन के गुण स्वयं भाषा में विद्यमान हैं उसी प्रकार भाषा में विकास अथवा परिवर्तन के बाधक तत्त्व भी विद्यमान हैं। भाषा का मूल कार्य है—विचारों को व्यक्त करना और इस कार्य में उच्चारण परिवर्तन अथवा अर्थ-परिवर्तन की भी बाधाएँ आती हैं, समाज अथवा समुदाय उनके प्रति रोष प्रकट करता है और उसका विरोध करता है। सम्भव है किसी सामान्य कठिनाई को वह सहन कर ले किन्तु अर्थ-ग्रहण आदि में आने वाली कठिनाइयों को समाज निश्चित रूप से विरोध करता है। उदाहरण के लिए 'ले पाना प्रयोग ठीक और ग्राह्य है। किन्तु उसी के समान 'पा पाना' आपत्तिजनक समझा जाएगा। इसी प्रकार 'किया' के स्थान 'करा' समाज अथवा व्याकरण द्वारा शुद्ध नहीं माना जाएगा।

विकास के मूल कारण—भाषा का विकास दो प्रकार से होता है—एक तो उसके सहज अथवा स्वाभाविक रूप से और दूसरा किसी अन्य ऐसे कारण से जो उस पर बाहर से प्रभाव डालता है। भाषा के सहज विकास अथवा परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारणों को (क) आभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है और भाषा के परिवर्तन को बाहर से प्रभावित करने के कारणों को (ख) बाह्य वर्ग में रखते हैं।

आभ्यंतर कारण—इस वर्ग के अन्तर्गत भाषा परिवर्तन के वे सभी कारण आते हैं जो स्वयं भाषा में विद्यमान रहते हैं। इनकी चर्चा नीचे की गई है—

(1) प्रयोग से घिस जाना—प्रयोग के कारण शनैः-शनैः भाषा में अपने-आप परिवर्तन अथवा विकास हो जाता है। यह परिवर्तन 'स्वयंभू' कहलाता है।

(2) मानसिक अवस्था में अन्तर—लोगों का विचार है कि व्यक्तियों की मानसिक अवस्था में भी अन्तर होता है। कुछ लोग कुछ बातों को बड़ी सरलता से समझ लेते हैं और कुछ लोग उनको अत्यधिक कठिनाई से समझ पाते हैं अथवा समझ नहीं पाते। यही बात समुदाय अथवा समाज के लिए भी लागू होती है। किसी समाज के लिए कोई बात अत्यन्त सरल होती है और वही बात दूसरे समुदाय अथवा समाज के लिए अत्यधिक दुरूह होती है। इन सब बातों का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। जर्मनी के लोग अपनी भाषा की गरिमा का कारण अपने समाज की मानसिक स्थिति की गरिमा में देखते हैं। 'फांसीसी' अपने हृदय के लालित्य को अपनी भाषा के लालित्य के लिए उत्तरदायी मानते हैं।

(3) प्रयत्न लाघव—कम-से-कम प्रयत्न करके अधिक-से-अधिक फल पाने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। लोग किसी पहाड़ी पर चढ़ने में प्रायः चक्करदार रास्ते को न अपना कर सीधे रास्ते को अपनाते हैं भले ही उसमें कुछ चढ़ाई अधिक हो। आम रास्ता नहीं है, लिखा होने पर भी लोग कम प्रयत्न करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उसी रास्ते से चले जाते हैं। विद्यार्थी परीक्षा पास करने के लिए मोटी-मोटी पुस्तकों के स्थान पर नोट्स और सरल अध्ययन पढ़ते हैं। वास्तव में सुविधा प्राप्त करने की प्रवृत्ति ही प्रयत्न लाघव की जड़ है। भाषा में इसीलिए लोग लम्बे अथवा श्रमसाध्य शब्दों का उच्चारण अथवा प्रयोग के लिए सुगम बना लेते हैं। इसी क्रिया को प्रयत्न लाघव का नाम दिया जाता है। इसके फ़लस्वरूप प्रायः प्रयोग में आने वाले शब्दों का मूल अंश तो रह जाता है, किन्तु शेष अंश बेकार हो जाता है।

प्रयोग में वह नहीं आता। पाणिनि-व्याकरण में 'अच्', 'हल्' आदि प्रत्याहार प्रयत्न लाघव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त प्रयत्न लाघव जिन रूपों में प्रकट होता है, उसका विवेचन नीचे किया जा रहा है—

(i) शब्दों का अंशमात्र उच्चारण करना—सुविधा के लिए लोग शब्दों को पूरा न बोलकर उसका आरम्भिक अंश अथवा अन्तिम अंश बोल दिया करते हैं। जैसे—'इक्कागाड़ी के बजाय 'इक्का' 'मोटरकार' के बजाय 'मोटर' या 'कार'।

(ii) लघु रूप (Abbreviations)—प्रयत्न लाघव के फलस्वरूप शब्दों के स्थान पर कुछ अक्षरों मात्र का प्रयोग कर लेते हैं, जैसे शतपथ ब्राह्मण के स्थान पर शत० ब्रा० अथवा तैत्तिरीय संहिता के स्थान पर तै० स० का प्रयोग होता है।

प्रयत्न लाघव के कारण प्रायः उच्चारण में ध्यान अथवा मन आगे की ध्वनियों पर पहुँच जाता है। इसके फलस्वरूप भाषा में निम्नलिखित विपर्यय घटित हो जाते हैं।

(iii) परस्पर विनिमय—कुछ ध्वनियों अथवा अपूर्ण अक्षरों का स्थान परस्पर बदल जाता है। य, र, ल, व आदि अक्षरों में प्रायः होता है। जैसे—वैदिक 'वम्रीक' का 'वल्मीक'; 'लखनऊ' का 'नखलऊ', 'मतलब' का 'मतवल'।

(iv) ध्वनि लोप या अक्षर लोप—जब कुछ समान अक्षर अथवा ध्वनियाँ पास-पास होती हैं तो प्रयत्न लाघव के फलस्वरूप उनमें से एक आध का प्रायः लोप हो जाता है। जैसे—पश्चात् > पश्चा (शत० ब्रा०), युष्मान् > युष्मा (वाज० सं०)।

(v) समीकरण—जब दो भिन्न या असम ध्वनियों का प्रयोग पास-पास होता है, तो प्रयत्न लाघव के फलस्वरूप, वे दोनों सम अथवा एक श्रेणी की हो जाती हैं। यह दो रूप में होता है—

(अ) पुरोगामी समीकरण—मस्तिष्क जब एक ध्वनि विशेष पर केन्द्रित होता है और उसे आगे आने वाली ध्वनि का आभास हो जाता है तो पहली ध्वनि आगे आने वाली ध्वनि को अपने जैसा बना लेती है। इसे 'पुरोगामी समीकरण' कहते हैं। जैसे—संस्कृत स्तृ + नोति = स्तृणीति में पूर्ववर्ती 'ऋ' ने मूल दन्त्य 'न' को प्रभावित कर मूर्धन्य 'ण' में बदल दिया।

(ब) पश्चगामी समीकरण—जब मस्तिष्क किसी ध्वनि पर आधा ही ठहरा होता है और आगे आने वाली ध्वनि भी ध्यान में आ जाती है तो बाद में आने वाली ध्वनि अपनी पूर्ववर्ती ध्वनि को सम अथवा अपनी-सी कर लेती है। इसे 'पश्चगामी समीकरण' कहते हैं जैसे—

वैदिक स्वशुर > संस्कृत स्वशुर

(संस्कृत)	भक्त	>	प्राकृत भत्त
,,	सर्प	>	,, सप्प
,,	बल्कल	>	,, वक्कल

विशेष—उच्चारण क्रम में यदि बीच में कोई विषय ध्वनि आ जाती है तो प्रायः उसे सम कर लिया जाता है। जैसे तैंतालीस और पैंतालीस के बीच में आने वाले

चवालीस की विषय ध्वनि को बदलकर उच्चारण में कभी-कभी प्रयत्नलाघव के लिए 'चौवालीस' कर लिया जाता है।

(vi) **विषमीकरण**—उच्चारण में असुविधा न हो इसलिये प्रायः पास-पास आने वाली समध्वनियों को बदल कर 'असम' कर लिया जाता है अर्थात् दो समान ध्वनियाँ किसी एक से विस्थापन अथवा परिवर्तन के द्वारा साथ आने से बचाई जाती हैं। जैसे वैदिक व्रंध्र > सं० वध्र। संस्कृत में हमें संधि के कारण इसी प्रकार के समीकरण प्राप्त होते हैं, जैसे हरि + इच्छा = हरीच्छा अथवा जगत् + जीर्णता = जगज्जीर्णता।

(vii) **स्वर भक्ति**—'संयुक्त अक्षरों' के बोलने में अधिक सावधानी और श्रम की आवश्यकता होती है। इस असुविधा और श्रम को दूर करने के लिए मन अपने आप जुड़ने वाले दो अक्षरों के बीच में कोई अन्य ध्वनि लाकर रख लेता है। सामान्यतः संयुक्ताक्षर में दो व्यंजन मिलते हैं और सुविधा के लिए उनके बीच में किसी स्वर को लाकर रख लिया जाता है। तन्वः का तनुवः, स्वः का सुवः, स्वर्गः का सुवर्ग 'भक्त' का 'भगत' तथा 'प्रसाद' का 'परसाद' बन जाना इसी प्रक्रिया का फल है।

(viii) **अग्रागम या आदि निहित**—जब शब्द के आरम्भ में कोई संयुक्ताक्षर होता है अथवा कोई ऐसी ध्वनि होती है, जिसके उच्चारण में असुविधा होती है तो 'प्रयत्न लाघव' की प्रवृत्ति उसके पहले कोई स्वर अपने आप लगा लेती है। 'स्त्री', 'स्कूल', स्टेशन', 'स्टूल' आदि का 'इस्त्री' 'इस्कूल', 'इस्टेशन' तथा 'इस्टूल' उच्चारण किया जाना अग्रागम का ही परिणाम है।

(ix) **उभय सम्मिश्रण**—कभी-कभी बोलने वाले के मस्तिस्क में एक ही विचार को व्यक्त करने वाले दो शब्द एक साथ आ जाते तो उन दोनों शब्दों से मिल कर एक नया शब्द बन जाता है। इस विधि में प्रायः एक शब्द का अग्रांश और दूसरे का अन्तिमांश मिल जाता है और एक नया शब्द बन जाता है जैसे—

दिस्सई + पेक्खई = देक्खई
पुनि + फिर = फिन

(x) **स्थान विपर्यय**—कभी बोलने में प्रयत्न लाघव के फल स्वरूप ध्वनियों के स्थान में अदल-बदल हो जाती है। संस्कृत शब्द 'आश्चर्य' का प्राकृत में 'अच्छेद' हो जाना इसी का उदाहरण है।

(4) **बल**—जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों को या तो निर्बल बना देता है या नष्ट कर देता है। इससे वर्ण कभी-कभी लुप्त या शक्तिहीन हो जाता है। जैसे अभ्यन्तर में भ्य पर बल है अतः आरम्भ का 'अ' समाप्त होकर भीतर बन गया।

(5) **भावातिरेक**—क्रोध, प्रेम, शोक आदि भावों के अतिरेक (आधिक्य) से भी शब्दों का रूप बदल जाता है। उदाहरणार्थ—बाबू का बबुआ, बच्चा का बचवा राजा का राजू या रजवा, बेटी का बिटिया, बहिन का बहिनिया स्थानान्तरण भावातिरेक के ही परिणाम हैं।

(6) **अनुकरण की अपूर्णता**—यह एक सुविदित तथ्य है कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है जिसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। एक व्यक्ति

दूसरे व्यक्ति की ध्वनि को सुनकर तथा उनके उच्चारण-अवयवों के संचालन को यथा-सम्भव देखकर उसका अनुकरण करता है, परन्तु यह अनुकरण कभी एकदम पूर्ण नहीं हो पाता, अन्यथा मनुष्य के भाषा-अर्जन में कोई त्रुटि ही नहीं रहती। इस क्रम से मान्यता यह होती है कि अनुकरणकर्त्ता कुछ मानसिक तथ्यों को छोड़ देता है और कुछ अनजाने में ही अपनी ओर से जोड़ लेता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। एक पीढ़ी के दूसरी पीढ़ी से भाषा अनुकरण में ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ—भाषा के पाँचों क्षेत्रों में इस छोड़ने और जोड़ने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है।

(7) **सादृश्य या मिथ्या सादृश्य**—विद्यमान शब्दों के अनुरूप नये शब्दों का निर्माण करना सादृश्य है। इसी को 'मिथ्या सादृश्य' भी कहा गया है, क्योंकि इस सादृश्य का आधार मिथ्यात्व या भ्रन्ति है। संस्कृत 'करिन्' (नकारान्त) शब्द से, तृतीया विभक्ति, एक वचन में बने 'करिणा' शब्द के सादृश्य पर 'हरि' नकारान्त भिन्न इकारान्त) शब्द से भी तृतीया, एक वचन में 'हरिणा' बना लिया गया है। 'एकादश' का 'आ' द्वादश के 'आ' के सादृश्य पर है।

(8) **वैयक्तिक विभिन्नता या शारीरिक विभिन्नता**—भाषा मानव की अर्जित सम्पत्ति है। अर्जन के समय वह बहुत से तत्त्वों को ग्रहण करता है और प्राचीन तत्त्वों का परित्याग करता है। इस ग्राह्याग्राह्यात्व का मूल हेतु व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत क्षमता और विशेषता है। प्रत्येक व्यक्ति के ध्वनियंत्र निरन्तर परिवर्तनशील रहते हैं अतः व्यक्ति की भाषा में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

(9) **जान-बूझकर**—भाषा में, कभी-कभी जान-बूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक परिवर्तन कर देते हैं जैसे अरबी 'अफ़ियून' का संस्कृत 'अहिफेन' तथा तुर्की 'तर्क' का संस्कृत 'तुरुष्क'।

बाह्य कारण

(1) **भौतिक वातावरण या भौगोलिक विभिन्नता**—इसका प्रभाव भाषा-परिवर्तन पर सबसे अधिक पड़ता है। इसी आधार पर एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ बनती हैं। यह प्रभाव तीन प्रकार से पड़ता है; पहला गर्मी-सर्दी के आधिक्य अथवा न्यूनत्व से, दूसरा मानव सम्पर्क से और तीसरा भूमि उर्वरता से। गर्मी-सर्दी के अधिक या कम होने से मनुष्य के रहन-सहन, स्वभाव, जीविका, आचरण आदि पर गहरा असर पड़ता है। उसी के अनुसार भाष्य में शब्दों का गठन आदि होता है, अतः भाषा पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता है। मानव सम्पर्क जहाँ सम्भव होता है, वहाँ भाषा में एकरूपता बनी रहती है। परन्तु यदि कोई ऐसा क्षेत्र है जहाँ लोग एक दूसरे से मिल नहीं सकते या उनके मिलने में अत्यधिक कठिनाई होती है, वहाँ भाषा का विकास अलग-अलग ढङ्ग से होता है और अनेक बोलियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यही कारण है कि पहाड़ी क्षेत्रों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही भाषा की भी यही स्थिति-विविधता मिलती है। भूमि उर्वरता की भी यही स्थिति है। यदि भूमि उपजाऊ है तो खाद्य सामग्री का आधिक्य होगा, लोग सुखी होंगे और उन्हें उन्नति करने का अवसर मिलेगा। गूढ़ विषयों पर विचार करेंगे। फलतः उनकी अभिव्यक्ति अधिक सशक्त होगी। उनमें नये-नये शब्दों का समावेश होगा और भाषा सुदृढ़ व विकसित रूप ग्रहण करेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिक वातावरण का भाषा परिवर्तन पर दृढ़तर प्रभाव पड़ता है।

(2) **सांस्कृतिक प्रभाव**—अपने व्यापक परिवेश में यह भाषा में परिवर्तन लाता है। इस परिवर्तन को मुख्य रूप से तीन प्रकार से देख सकते हैं—(अ) सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा, (ब) व्यक्ति विशेष द्वारा और (स) सांस्कृतिक सम्मिलन द्वारा। सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार पुनः उपस्थित करती हैं, साथ ही विचारों में भी परिवर्तन कर देती हैं, जिससे अभिव्यंजना शैली आदि प्रभावित होती है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ की भाषा में आर्यसमाज के कारण असंख्य संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में प्रकट हो गए हैं।

व्यक्ति-विशेष का प्रभाव मुख्यतः उसके कृतित्व द्वारा पड़ता है। नये-नये शब्दों को गढ़ना और प्रचलित शब्दों को नये-नये अर्थों में प्रयुक्त करना उनके लिए साधारण बात होती है। मध्यकाल के कवियों यथा कबीर, सूर, तुलसी, जायसी प्रभृति की रचनाओं में ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं।

संस्कृतियों का सम्मिलन व्यापार, राजनीति तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण होता है। भारतवर्ष में यह सम्मिलन अनेक बार हुआ है, किन्तु ये विशेषकर पाँच रूप से उल्लेख्य हैं—(अ) आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का (ब) द्रविड़ों और आर्यों का, (अ) आर्यों और यवनों का, (द) भारतीयों, तुर्कों और मुसलमानों का, (य) भारतीयों और यूरोप वालों का। इस प्रकार के सम्मिलन से भाषा पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ते हैं—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष प्रभाव शब्दों के लेन-देन के रूप में पड़ता है। शब्दों के लेन-देन से भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। हिन्दी में आस्ट्रिकों के गंगा आदि; द्रविणों के नीर, आलि, मीन आदि; यवनों (ग्रीकों) के होड़ा दाम, सुरंग आदि; तुर्कों एवं मुसलमानों के पाजामा, बाजार, दुकान, कागज, कलम, सन्दूक, किताब, तकिया तथा रजाई आदि; यूरोपियनों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी हॉकी, टेनिस, कॉलर, टाई, पेंसिल, बटन, फ्रेम, डिग्री, साइकिल, मोटर, रेल स्टेशन, निब, कोट, पेन, कलक्टर आदि हजारों शब्द प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस प्रकार के शब्दों की संख्या 8-10 हज़ार से कम न होगी।

प्रत्यक्ष-प्रभाव ध्वनि-विनिमय में भी सहायक होता है। मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी, किन्तु भारत से आने के बाद द्रविणों की भाषा के प्रभाव से आर्य भाषा में यह ध्वनि आ गई। हिन्दी की क़,ज़, ग़, ख़, फ़, तथा ऑ ध्वनियाँ मुसल्मानों तथा अँगरेजों के सम्पर्क से ही आई है।

वाक्य-गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली पर भी विदेशी प्रभाव पड़ता है। हिन्दी का 'पानी पानी होना' मूलतः फ़ारसी के 'आब आब शुदन' का अनुवाद है, 'कार्य रूप में परिणत करना' (to translate in to action) का।

अप्रत्यक्ष प्रभाव विचार-विनियम के माध्यम से पड़ता है। विचारों के आदान-प्रदान से एक दूसरे के साहित्य आदि पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है, जो भाषा में परिवर्तन उपस्थित कर देता है।

(3) **समाज की व्यवस्था**—समाज की व्यवस्था मनुष्य की भाषा ही नहीं प्रत्युत उसके समग्र जीवन को प्रभावित करती है। समाज में शांति-अशांति की

जैसी स्थिति होती है, उसका प्रभाव जीवन पर पड़ता है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, युद्ध या शांति में भाषा में ध्वनिगत परिवर्तन विशेष रूप से होता है। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शांति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। फलतः संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। नवीन युग में समय की कमी को ध्यान में रखकर ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाये गए हैं यथा कृ० पृ० उ० (P. T. O.) लिखकर कृपया पृष्ठ उलटिए का काम चला लेते हैं। व्यक्तियों का पूरा नाम न कहकर शर्मा, वर्मा, मिश्रा, तिवारी पर्याप्त समझा जाता है। सी० आई० डी०, बी० सी०. डी० एम० आदि भी इसी प्रकार के संक्षिप्त रूप हैं।

(4) **सामाजिक वातावरण**—वातावरण के परिवर्तन से सभी भाषाओं में परिवर्तन आ आता है। यह वातावरण तीन क्षेत्रों में विशेष सक्रिय होता है—भूगोल, समाज और प्रथाओं में। अँगरेजी का कॉर्न (corn) जिसका अर्थ गल्ला है, वातावरण के प्रभाव से भौगोलिक आधार पर अमेरिका में 'मक्का' कहलाता है, क्योंकि वह वहाँ का प्रधान अन्न है; वेदों की ऋचाओं में 'उष्ट्र' शब्द का प्रयोग 'जंगली बैल' के लिए है। कन्तु कालान्तर से वही भिन्न वातावरण में आकर 'ऊँट' के लिए प्रयुक्त होने लगा। सामाजिक क्षेत्र में आप देखें अँगरेजी का शब्द सिस्टर (Sister) घर में, गिरजा घर में तथा अस्पतालों में अलग-अलग अर्थ रखता है। विद्यार्थी की 'कलम' और माली की 'कलम' एक ही चीज नहीं। प्रथाओं में यह उल्लेख्य है कि समयानुसार पुरानी प्रथाओं के शब्द लुप्त हो जाते हैं और कुछ शब्द नये अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं। यथा-वैदिक काल में 'यजमान' शब्द का ज्ञान करने वाले के लिए प्रयुक्त होता था और अब वही यज्ञों का लोप हो जाने से उनके लिए प्रयोग में आया है जो ब्राह्मणों को दान-दक्षिण आदि दिया करते हैं तथा उनकी सेवा ग्रहण करते रहते हैं। इस तरह वातावरण और समाज की व्यवस्था दोनों भाषा की परिवर्तनशीलता पर अपना निश्चित प्रभाव डालते हैं।

(5) **बोलने वालों की उन्नति**—जब वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में बोलने वालों की उन्नति होती है तब भाषा में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दो रूपों में हो सकता है। एक तो नई उन्नति के अनुरूप नई अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ विकास होता है, कभी-कभी पुराने शब्दों में नया अर्थ आ जाता है, और दूसरे यदि कुछ नई वस्तुएँ या विचार आ जाते या अविकृत हो जाते हैं, तो उनके लिए नये शब्द आ जाते हैं।

(6) **ऐतिहासिक प्रभाव**—इससे तात्पर्य विशेष रूप से राज्यसत्ता-परिवर्त्तन के प्रभाव से ही है, जिसे हम राजनीतिक प्रभाव भी कह सकते हैं। जब किसी देश पर विदेशी सत्ता का अधिकार होता है, तब उस देश की भाषा भी विदेशी भाषा से प्रभावित हो जाती है। परिणामस्वरूप उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं—ध्वनियों, शब्दों तथा वाक्य-विन्यास शैली में।

(7) **वैयक्तिक प्रभाव**—महान् व्यक्तियों के व्यक्तित्व का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है।

(8) **जाति विशेष का प्रभाव**—विभिन्न जातियों की रुझान विशेष विद्याओं और कलाओं की ओर होती है। उस विद्या या कला-विशेष से संबंधित विशिष्ट शब्दावली भी उन-उन भाषाओं में विकसित हो जाती है। जैसे भारत में अध्यात्म

और दर्शन का अधिक विकास हुआ है। अतः तत्सम्बन्धी विचारों को प्रकट करने की भारतीय भाषाओं में पर्याप्त क्षमता है। जब कोई अन्य जाति इस प्रकार की विद्याओं या कलाओं को ग्रहण करना चाहती है, तो उससे सम्बद्ध विशेष शब्दावली भी उस विद्या या कला को ग्रहण करने वाली जाति की भाषा में सम्मिलित हो जाती है। परिणामस्वरूप, उसकी भाषा के स्वरुप में परिवर्तन हो जाता है।

(9) **साहित्यिक प्रभाव**—साहित्य-धारा में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। उसमें कभी आभिजात्य वर्ग की भावनाओं को प्राधान्य मिलता है, तो कभी जन सामान्य की भावनाओं को। परिणामस्वरूप, भाषा में तत्तद् भावों की अभिव्यक्ति के लिए शेष समर्थ शब्दावली का विकास हो जाता है।

(10) **समय भेद का प्रभाव**—भाषा में थोड़ा-बहुत परिवर्तन सदा ही होता रहता है। भाषा की परम्परा एक रहने पर भी धीरे-धीरे अस्पष्ट रूप से बदलती जाती है। कालान्तर में वही भाषा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उसके रूप को जानने वाला उसके दूसरे रूप को आसानी से नहीं समझ सकता। व्याकरण, वाक्य-विन्यास, शब्दों का स्वरूप तथा अर्थ बहुत कुछ बदल जाता है। पिछले शब्द प्रयोग में आने बंद हो जाते हैं। नये शब्द या तो उसी भाषा के आधार पर बनाए जाकर या दूसरी भाषाओं से लिए जाकर प्रयोग में आने लगते हैं। लौकिक संस्कृत में जो शब्द नहीं मिलते ऐसे वैदिक शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं—अमूर=बुद्धिमान; दर्शत=दर्श-नीय, सुन्दर दृशीक=सुन्दर, दर्शनीय। ऐसे वैदिक शब्दों के उदाहरण जो लौकिक संस्कृत में दूसरे अर्थों में आते हैं—वध=कोई भयंकर हथियार (वै०), मार डालना (लौ०); न=जैसे (वै), नहीं; क्षिति=निवास-स्थान (वै०), पृथ्वी (लौ०) ,

भाषा के विकास का यह आशय नहीं कि भापा और अच्छी याऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुर्य तथा ओज की दृष्टि से ऊँची उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्रायः सरलता की ओर जाती है।

अध्याय | 11

भाषा-विज्ञान—एक अध्ययन

या

[संसार की भाषा और उनका वर्गीकरण]

प्रश्न 35—भाषाओं का वर्गीकरण किस आधार पर हो सकता है, उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

प्रश्न 36.—भाषाओं के आकृति मूलक या पारिवारिक वर्गीकरण से क्या तात्पर्य है। दोनों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए कि कौन-सा वर्गीकरण अधिक उपयोगी है।

प्रश्न 37—रूप-रचना की दृष्टि से भाषाओं का वर्गीकरण कीजिए। इस वर्गीकरण की वैधानिक उपयोगिता पर अपने विचार लिखिए।

उत्तर—आज के इस वैज्ञानिक युग में भाषाओं का सर्वाङ्गीण विवेचन करने के लिए, अध्ययन की सूक्ष्मता, गम्भीरता एवं पूर्णता के लिए भाषाओं का मूल, उसके उत्पति, देश और इतिहास आदि के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए विश्व की भाषाओं का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ है। इसीलिए आकृति, प्रकृति आदि के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है।

भाषाओं के वर्गीकरण के अनेक आधार हैं। —महाद्वीप, देश, धर्म, काल, भाषाओं की अकृति, परिवार, प्रभाव इन आधारों में देश, धर्म, आकृति और इतिहास महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु आकृति और इतिहास के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है, वही तर्कसंगत है। अन्य में अनेक असंगतियाँ मिलती हैं।

भाषा-विज्ञान के उदय के प्रारम्भिक चरण में देश के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण—भारत की भाषाएँ, आदि के रूप में हुआ था किन्तु यह वर्गीकरण असंगत था, क्योंकि प्रवास के कारण दूसरे देशों को आने वाले व्यक्ति अपने-अपने साथ अपनी भाषा ले जाते थे, अतः एक देश या प्रान्त में ही अनेक भाषा-भाषी व्यक्ति होते थे, दूसरे यह भी आवश्यक नहीं कि एक देश की भाषाएँ एक सी हों, एक परिवार की हों अथवा एक-दूसरे से नितान्त दूर हों। उदाहरणार्थ भारत में ही भारोपीय और द्राविड़ परिवार की भाषाओं को लिया जा सकता है, जो परस्पर नितान्त दूर। यही नहीं भारत में बोली जाने वाली संस्कृत, बंगाली और मराठी आदि सुदूरवर्ती जर्मन और अँगरेजी के अधिक निकट है।

धर्म के आधार पर भी भाषाओं का (आर्यभाषाएँ ईसाई भाषाएँ आदि के रूप में) वर्गीकरण किया गया था किन्तु यह वर्गीकरण भी नितान्त असंगत है। क्योंकि एक देश में अनेक धर्म वाले होते हैं। दूसरे जब एक देश के व्यक्ति ही एक प्रकार की भाषा नहीं बोल सकते तब दूर देशों में रहने वाले विश्वव्यापी धर्म के अनुयायी समान भाषा-भाषी कैसे हो सकते हैं ?

वर्गीकरण का तीसरा आधार आकृति है, इसके आधार पर किए जाने वाले वर्गीकरण का नाम आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण है। इस वर्गीकरण में भाषा के बाह्य स्वरूप की समानता उसके अध्ययन में बाधक सिद्ध हुई। फिर भी आकृति मूलक वर्गीकरण भाषाओं के विकास की प्रक्रिया के अध्ययन में सहायक है।

विश्व की भाषाओं का एक वर्गीकरण इतिहास के आधार पर पारिवारिक वर्गीकरण किया गया है। इसमें विश्व की भाषाओं को परिवार और कुल में विभक्त किया गया है। जिस प्रकार मनुष्य की वंश परम्परागत कुछ विशेषताएँ होती हैं, उन्हीं के आधार पर आदर्श आदि बनते हैं, उसी प्रकार भाषाओं का स्वरूप भी स्पष्ट किया जाता है। यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक सिद्ध हुआ है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण

(Morphological or Syntactical Classification)

आकृति अर्थात् शब्दों या पदों की रचना के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है, वह आकृतिमूलक वर्गीकरण कहा जाता है। इसी वर्गीकरण को रुपात्मक, परात्मक, वाक्यात्मक, वाक्यमूलक, व्याकरणिक या रचनात्मक भी कहा जाता है।

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण रूप-साम्य की दृष्टि से किया जाता है, एक वाक्य को अर्थतत्त्व तथा सम्बन्ध तत्त्व इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इस वर्गीकरण में वाक्य का महत्त्व होता है और वाक्य में शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, वे शब्द, किस धातु और प्रत्यय से निष्पन्न हैं, आदि का विशेष महत्त्व है।

इस वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं के विभाजन में मतभेद है फिर भी सामान्य रूप में आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं के दो वर्ग हैं —

(1) अयोगात्मक, (2) योगात्मक

(1) अयोगात्मक (Isolating)—अयोगात्मक, व्यास प्रधान, निरवयव आदि इस वर्ग के नाम हैं। इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व है। उसमें प्रकृति-प्रत्यय का योग नहीं होता है। स्वर के आधार पर अर्थ आदि का निर्णय किया जाता है। इस वर्ग की भाषाओं में चीन, तिब्बत, वर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों की भाषाएँ आती हैं।

वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि का सम्बन्ध स्थान, निपात अथवा स्वर के द्वारा प्रकट किया जाता है। ऐसी वाक्य-रचना में प्रकृति और प्रत्यय का भेद नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि वहाँ काल रचना और कारक रचना का सर्वथा अभाव रहता है। उदाहरण के लिये चीनी भाषा के 'न्गो त नि' का अर्थ है मैं मारता हूँ तुमको।'न्गो ता नि' का अर्थ क्रमशः मैं' या'मुझको, 'मारता' या 'मारते' और 'तुम'

या 'तुमको होता है। इन्हें बदलकर 'नि' 'त' 'न्गो' लिख दें तो वाक्य का अर्थ होगा—तुम मारते हो मुझको। यह शब्दों के रूपों के परिवर्तन से नहीं स्थान-भेद से अर्थ बदला है। कभी-कभी शब्दों के अर्थ में निपात भी भेद उत्पन्न करता है जैसे चीनी में—'वांग पाओ मिन' का अर्थ है—'राजा लोगों की रक्षा करता हैं।' परन्तु 'वांग पाओ ची मिन' का अर्थ होता है—राजा द्वारा रक्षित लोग। 'ची' सम्बन्ध वाचक निपात है, 'वांग पाओ का अर्थ होता है राजा की रक्षा'। इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ हुआ—राजा की रक्षा के लोग अर्थात् राजा द्वारा रक्षित लोग। यहाँ 'पाओ' का प्रयोग स्थान और प्रसंग के अनुसार क्रिया और संज्ञा दोनों के लिए हुआ है यथा रूप से कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ है। वांग भी कर्त्ता सम्बन्ध आदि सभी अर्थों में आ सकता है। एक ही अक्षर 'ब' का अर्थ स्वर ही विभिन्नता से कई प्रकार का हो सकता है। ब ब ब ब में प्रत्येक अक्षर में थोड़ा-थोड़ा स्वर होने से इसका तात्पर्य होना है—'तीन महिलाओं ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे।' इसमें 'शब्द-क्रम का महत्त्व प, किन्तु इसके साथ यहाँ तान का भी महत्त्व है।

चीनी ही अयोगात्मक वर्ग की प्रतिनिधि भाषा है। चीनी के अतिरिक्त तिब्बती, वर्मी स्यामी, अनामी तथा सूडानी (अफ्रीका के सूडान देश की भाषा) मलय आदि भाषाएँ इसी वर्ग मे आती हैं। इस वर्ग की भाषाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —

(अ) इनका व्याकरण नही होता।
(ब) इनमें पद-क्रम का बहुत महत्त्व होता है।
(स) स्वर के कारण अर्थ में परिवर्तन होता है, इसलिए स्वर-भेद से एक ही शब्द अनेक अर्थों का वाचक हो जाता है।

अयोगात्मक को निरवयता या एकाक्षर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि चीनी के शब्द एक अक्षर के होते हैं। निरवयव का अर्थ अवयवहीन स्पष्ट है, क्योंकि उन शब्दों का अवयवों में अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय में विभाजन नहीं हो सकता, जैसे संस्कृत या हिन्दी के शब्दों में होता है।

(2) **योगात्मक सावयव** (Agglutinating)—जहाँ अयोगात्मक भाषाओं का प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होता है, योगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय के योग से शब्द रचना होती है। विश्व में सर्वाधिक भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। योगात्मक भाषाओं को उनके प्रकृति-प्रत्यय के संयोग के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(1) अश्लिप्ट योगात्मक [प्रत्यय-प्रधान] (Agglutinative)
(2) प्रश्लिलष्ट योगात्मक [समास-प्रधान (Incorporating)
(3) श्लिप्ट योगात्मक [विभक्ति-प्रधान] (Inflecting)

(1) **अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ**—इसमें अर्थ-तत्त्व के साथ रचना-तत्त्व का याग होता है, किन्तु दोनों की स्थिति विल्कुल स्पष्ट दिखाई देती है। इस वर्ग की प्रतिनिधि भाषा तुर्की है। तुर्की शब्दों के निष्पादक अवयवों का योग बहुत स्पष्ट होगा है। उदाहरण देखिए—

एव=घर (एक वचन) एव-देन=घर से। एव-इम-देन=मेरे घर से। एव-लेर=कई घर (वहुवचन)। एव-लेर देन=घरों से। एव-लेर-इम= मेरे घर। एव-लेर-इम-बेन=मेरे घरों से।

अश्लिष्ट योगात्मक में रचना-तत्त्व अर्थ तत्त्व के कहीं पूर्व में जुटता है, कहीं मध्य में, कहीं अन्त में और कहीं पूर्वान्त में। अतः इस आधार पर स्थिति के अनुसार इसके छह भेद हो जाते हैं—

(क) पूर्व योगात्मक या पुरःप्रत्यय प्रधान (Prefixut Agglutinative)
(ख) मध्ययोगात्मक या अन्तः प्रत्यय प्रधान (Infix Agglutinative)
(ग) पूर्वान्त योगात्मक (Presuffix Agglutinative)
(घ) अन्त योगात्मक या पर प्रत्यय प्रधान (Suffi xAgglueinative)
(ङ) आंशिक योगात्मक या ईषत्प्रत्यय प्रधान (Partially Agglutinative)
(च) सर्वयोगात्मक या सर्व प्रत्यय प्रधान (Wholly (Agglutinative)

(क) पूर्व योगात्सक या पुरः प्रत्यय प्रधान—भाषाओं में प्रत्यय के स्थान पर उपसर्ग का प्रयोग होता है। शब्द, वाक्य के अन्तर्गत विलकुल अलग-अलग रहते हैं। शब्दों की रूप-रचना में 'सम्बन्ध' तत्त्व केवल आरम्भ में लगता है, इसी कारण ये पूर्व योगात्मक कहीं जाती हैं। अफ्रीका की बांट भाषाओं में यह विशेषता स्पष्ट रूप से पाई जाती है। यथा जुलू भाषा में—

उमु=एकवचन का चिह्न, अव=बहुवचन का चिह्न, न्तु=आदमी,
न्ग=से। इनके योग से शब्द बनते हैं—उमुन्तु=एक आदमी,
अवन्तु=कई आदमी, न्गउमुन्तु=आदमी से, न्गअबन्तु=आदमियों से।

(ख) मध्ययोगात्मक या अन्तः प्रत्यय प्रधान भाषाओं में शब्द प्रायः दो अक्षरों के होते हैं। सम्वन्ध-तत्त्व प्रायः दो अक्षरों के बीच में जोड़े या रखे जाते हैं। इसके उदाहरण भारत की तथा हिन्द महासागर के द्वीपों से लेकर अफ्रीका के समीप के मैडागास्कर आदि द्वीपों तक फैली भाषाओं में मिल जाते हैं। मुण्डा कुल की संथाली भाषा में मंझि=मुखिया और 'प' बहुवचन चिह्न के योग से—मपंझि=मुखिया लोग इसी प्रकार 'दल्'='मारना' से दपल=परस्पर मारना'।

(ग) पूर्वान्त योगात्मक श्रेणी की भाषाओं में सम्बन्धित-तत्त्व अर्थ-तत्त्व के पूर्व और, अन्त में लगाया जाता है। उदाहरण न्यगिनी की मफ़ोर भाषा में—म्नफ़्=सुनना ज=मैं, उ=तेरो के योग से—ज-म्नफ-उं=मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(घ) अन्त योगात्मक या पर प्रत्यय प्रधान श्रेणी की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व केवल अंत में जोड़ा जाता है। यूराल अल्टाइक तथा द्रविड़ परिवार की भाषाएँ ऐसी है। यथा हंगारी की भाषा में ज़ार=बन्द करना, ज़ारत्=बन्द करवाता है जंरत्गत् अधिकतर है। बन्द करवाता है।

(ङ) आंशिक योगात्मक या ईषत्प्रत्यय प्रधान भाषाओं में योग और अयोग दोनों के चिह्न मिलते हैं, परन्तु ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं से भी कुछ समानता रखती हैं। बास्क, हौसा, जापानी, न्यूजीलैण्ड तथा हवाई-द्वीप की भाषाएँ इसका

उदाहरण हैं। वास्क (Basque) का एक उदाहरण देखिए—जाल्दी=घोड़ा, जाल्दी अ=वह घोड़ा।

(च) सर्वयोगात्मक या सर्वप्रत्यय प्रधान भाषाओं में आदि, मध्य तथा अन्त तीनों प्रकार के होते हैं। मलायन भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। उदाहरण: मलयन परिवार की 'तगल, भाषा में सुलत्=लिखना, सुमुलत्=लिखना (तुमन्त रूप), सुंगमुलत्=लिखा।

(2) श्लिष्ट योगात्मक वर्ग की भाषाओं में वे भाषाएं आती हैं जिनमें रचना-तत्त्व के योग से अर्थ-तत्त्व वाले अंश में कुछ परिवर्तन हो जाता है। जैसे नीति, वेद, देह, देव, भूत, भूगोल आदि शब्दों से इक प्रत्यय करने पर क्रमशः नैतिक, वैदिक, दैविक,दै विक भौतिक, भौगोलिक आदि शब्द बनते हैं। यहाँ रचना-तत्त्व (इक) योग से अर्थ वाले अंश में परिवर्तन हो गया है, फिर भी अर्थतत्त्व और रचना-तत्त्व को पहचानने में कठिनाई नहीं होती है। इसी प्रकार अरबी के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं। अरबी में 'क्-त्-ब्' धातु का अर्थ है। लिखना। इस क्-त्-ब् से अनेक शब्द बनते हैं। जैसे—

कत्ब=अभिलेख, शिलालेख, अन्तलेख; कतीब=लिखा हुआ; कातिब=लिखने वाला? किताब=पुस्तक; कुतुब=पुस्तकें, किताब का बहुवचन; मक्तब=वह स्थान जहाँ लिखना सिखाना जाय, पाठशाला; मकातिब=पाठशालाएँ, मक्तब का बहुवचन; मक्तूब=लिखित, चिट्ठी; पत्र; मक्तूबात=चिट्ठियाँ, मक्तुब का बहुवचन; मक्तुबइलैह=जिसको पत्र लिखा जाए।

इसी प्रकार अरबी, क् त् ल् से भी अनेक शब्द बनते हैं—

कत्ल=वध, हत्या, जान से मार डालना; कतील=वधित, जिसे मार डाला गया हो; कत्ला=कत्ल होने वाले; कतील का बहुवचन; कत्ताल=माशूक, जल्लाद, बहुत अधिक कत्ल करने; कत्ताल माशूका, बहुत अधिक, कत्ल करने वाली; कातिल=वध करने वाला; कित्ल=शत्रु; किताल=युद्ध, लड़ाई, मार-काट; यकतुलु=वह मारता है; कत्लगाह=वध का स्थान: कत्लेअम्द=जानबूझ कर हत्या; कत्लेआम=सर्वसाधारण का वध।

इल्म से आलिम और इश्क से आशिक आदि शब्द भी श्लिष्ट योगात्मक के ही उदाहरण हैं। इनमें स्वरों में परिवर्तन हुआ है और व्यंजन वही हैं। भारत युरोपीय तथा सामी परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक वर्ग में आती हैं। संस्कृत के अतिरिक्त लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता, रूसी आदि की भी रचना-प्रणाली एक-सी है। ये सभी भाषाएँ संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाने की प्रवृत्ति रखती हैं। श्लिष्ट योगात्मक को भी दो उपवर्गों में बाँटा गया है—(क) बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान,—इनमें विभक्ति (प्रत्यय) प्रकृति के बाहर के जुड़ती है। यह प्रकृति के पूर्व में जुड़ सकती है तथा बाद में भी। भारोपीय परिवार की भाषाए

संस्कृत, ग्रीक लैटिन, अवेस्ता आदि इसी वर्ग की हैं। उदाहरणतः संस्कृत भाषा में 'भवति'। यहाँ 'भू' (भव्) प्रकृति (धातु) से 'अ' विकिरण तथा 'वि'प्रत्यय (विभक्ति) वाद में प्रकृति के बाहर लगी है। इसकी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं—(i) संयोगात्मक—जैसे संस्कृत (ii) वियोगात्मक—जैसे हिन्दी।

(ख) अन्तर्मुखी विभाक्ति प्रधान—इनमें विभक्ति प्रकृति के सुन्दर ही जुड़ती हैं। सामी परिवार' की प्रमुख भाषा अरबी तथा 'हामी' परिवार की किसी भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। अरवी भाषा के 'क्-त्-ल्' तथा 'क्-त्-ब्' के उदाहरण ऊपर प्रस्तुत किए ज चुके हैं। इसकी भी दो रवस्थाएँ हैं—(i) स:योगात्मक—जैसे अरबी' (ii) वियोगात्मक—जैसे 'हिब्रू'।

(3) प्रश्लिष्ट योगात्मक—वर्ग की भाषाओं में अर्थ-तत्त्व और रचना-तत्त्व का ऐसा मिश्रण हो जाता है कि उनका पृथक्करण सम्भव नहीं होता। इनमें अनेक अनेक अर्थतत्त्वों का थोड़-थोड़ा अंश कटकर एक शब्द बन जाता हैं। यह शब्द मात्र एक शब्द का अर्थ न बताकर पूरे वाक्य का अर्थ बताता है। न 'स्कृत किया का निम्न रूप इस तथ्य को स्पष्ट कर देगा। जैसे—

जिगमिषटि=वह जाना चाहता है।

इस एक शब्द में ही वह, जाना, चाहता, वर्तमान काल, अन्य पुरुष, एक वचन— उतने अर्थ दर्तमान हैं। इस प्रकार 'जिगमिषति' एक शब्द होते हुए भी पूरे वाक्य का काम करता है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं को समास प्रधान भाषाएँ भी कहा जाता है। इनमें उद्देश्य विधेय के वाचक शब्द एक होकर समास का रूप धारण कर लेते हैं। वाक्य में शब्द एक दूसरे से इतने श्लिष्ट हो जाते हैं कि वाक्य और शब्द में भेद करना कठिन हो जाता।

इनके भी दो भेद होते हैं :

(अ) पूर्णतः समास प्रधान (Completly Incorporative)

(ब) अंशतः समास प्रधान (Partly Incorporative)

(अ) पूर्णतः समास प्रधान भाषा में तो वाक्य एक शब्द के समान प्रयुक्त होता है। जैसे—उत्तरी अमेरिका की चेरी की भाषा में 'नाधोलिनिन' का अर्थ है — हमारे पास नाव लाओ। इसमें 'नातेन' (=लाना), अमोखोल (=नाव) और निन (=हम) तीन शब्द हैं, जो मिलकर एक वाक्य बनाते हैं। इसी प्रकार मेक्सिको की भाषा में 'नेवत्ल' 'नकत्ल' और 'क' का क्रमशः 'मैं' 'मांस और 'खाना अर्थ होता है। यदि इन तीनों को मिला दें तो नी-नक-क, एक वाक्य बन जाता है जिसका अर्थ होता है 'मैं मांस खाता हूँ। दोनों अमेरिका की भाषाएँ ऐसी ही पूर्णतः समास प्रधान हैं।

(ब) अंशतः समास प्रधान में स्वतन्त्र शब्द भी रहते हैं और वे पृथक् व्यवहृत
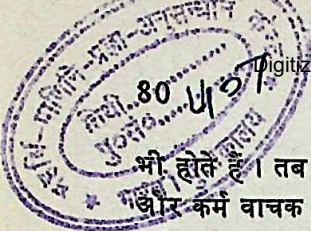
भी होते हैं। तब भी उसको समास प्रधान मानते हैं, क्योंकि उनकी क्रिया अपने में और कर्म वाचक सर्वनामों का कभी कभी अन्य शब्दों का भी समाहार कर लेती है। यूरोप की बास्क भाषा इसका सुन्दर उदाहरण हैं। उसकी एक क्रिया "दकारकिओत" का अर्थ होता है—मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ। इसी प्रकार 'नकारसु, का अर्थ होता है—तू मुझे ले जाता है।, यह आंशिक समास कभी-कभी प्रत्यय प्रधान और विभक्ति प्रधान भाषाओं में भी काम में आता है। पूर्ण प्रश्लिष्ट की भाँति आंशिक प्रश्लिष्ट में संज्ञा, विशेषण क्रिया और अव्यय आदि सभी का योग सम्भव नहीं होता। भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी इसके कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। यथा गुजराती में—'मे कह्यु जे, का मकुंजे' (मैने वह कहा)। मेरठ की बोली में= 'उसने कहा का 'उन्नेका'। बांटू परिवार में भी उदाहरण मिलते हैं।

समीक्षा

इस वर्गीकरण की सर्वप्रमुख उपयोगिता यह है कि इससे भाषाओं की रचना समझने में काफी मदद मिलती है। इससे यह भी समझ में आता है कि भाषाएँ संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर बढ़ती हैं और पूर्णतः वियोगात्मक हो जाने पर पुनः संहित या संयोगात्मक हो जाती है। इस प्रकार भाषा-चक्र चलता रहता हैं।

आकृतिमूलने वर्गीकरण रूप विश्लेषण पर आधारित है अतः इसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है। यह वर्गीकरण भाषा के विकास क्रम को स्पष्ट करता है। किन्तु इसके आधार पर विश्व की भाषाओं का समुचित विभाजन नहीं हो पाता है।

इस वर्गीकरण की निम्नलिखित न्यूनताएँ हैं—

(1) इसमें अनेक ऐसी भाषाओं को भी एक साथ रख दिया गया है, जो बहुत दूर-दूर की हैं तथा जिनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यथा अयोगात्मक वर्ग में चीनी तथा सूडानी और प्रत्यय प्रधान वर्ग में तुर्की, काफिर, मुण्डा तथा द्राविड़ बहुत दूर-दूर की हैं।

(2) इस वर्गीकरण की कोई भाषा अपने वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु उसमें अन्य वर्गों के लक्षण भी दिखलाई पड़ते हैं। एक ही भाषा जैसे संस्कृत में अश्लिष्ट (सुजनता), श्लिष्ट (भवति) तथा प्रश्लिष्ट (जिगनिषति) तीनों ही वर्गों की विशेषताएँ मिल जाती हैं। इसमें संकर दोष है।

(3) विश्व की समस्त भाषाओं का जब तक पूर्ण अध्ययन न हो जाए, तब तक उनकी आकृति को नहीं जाना जा सकता। अभी तक तो संसार की कई भाषाओं का पता भी नहीं चल सका है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं का वर्गीकृत चित्र है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण
भाषा
अयोगात्मक-निरवयव (व्यासप्रधान)
योगात्मक-सावयव. (समास प्रधान)
स्थान प्रधान
निपात प्रधान
स्वर या सुरप्रधान
सूडानी
तिब्बती
स्यामी
अश्लिष्ट योगात्मक या प्रत्यय प्रधान
श्लिष्ट योगात्मक या विभक्तिप्रधान
प्रश्लिष्ट योगात्मक या समास प्रधान
पुरः प्रत्ययप्रधान (बांटू जुलू)
मध्य प्रत्ययप्रधान (संथाली)
अन्त प्रत्ययप्रधान (तुर्की आदि)
सर्व प्रत्ययप्रधान (मलय, बत्तक)
पूर्णप्रश्लिष्ट (चेरोकी)
आंशिक प्रश्लिष्ट (बास्कभाषा)
पूर्वान्त प्रत्ययप्रधान (यूगिनी की मफोर)
ईषत्प्रत्यय प्रधान (पॉलिनेशियन आदि)
बहिर्मुखी
अन्तर्मुखी
संयोगात्मक (संस्कृत)
वियोगात्मक (हिन्दी)
संयोगात्मक (अरबी)
वियोगात्मक (हिब्रू)

पारिवारिक वर्गीकरण

[Geneological Classification]

प्रश्न 38—संसार की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण के आधारों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 39—भाषाओं का वंश-क्रम के अनुसार वर्गीकरण किन सिद्धान्त पर किया जाता है ?

उत्तर—रचना-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व के सम्मिलित आधार पर किया गया वर्गीकरण पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है। जिस प्रकार परिवारों के इतिहास में कोई आदि पुरुष होता है और उससे फिर शाखाएँ फूट निकलती हैं, उसी प्रकार ऐसा समझा जाता है कि आज जो भाषाएँ संसार में मौजूद हैं उनकी भी आदि भाषाएँ थीं। इसलिए इस वर्गीकरण को ऐतिहासिक उत्पत्ति मूलक या वंशानुक्रमिक भी कहा जाता है।

भाषाओं के लिए परिवार शब्द लाक्षिणक है। भाषाओं के माता-पिता या भाई-बहन नहीं होते। एक मूल भाषा से जब अनेक भाषाओं का विकास होता है, तो उस मूल भाषा को उनकी जननी मान लिया जाता है और जो भाषाएँ उससे विकसित होती हैं, वे लौकिक सम्बन्ध के आधार पर परस्पर बन जाती हैं। इसलिए लौकिक व्यवहार से गृहीत इन शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक या अलंकारिक दृष्टि से ही करना चाहिए।

भाषाओं के परिवारों का निर्णय करने के लिए विद्वानों ने कुछ आधार निश्चित किए हैं। जिनसे यह पता लगा लेते हैं कि कौन-सी भाषा किस परिवार की है। डॉ॰ देवेन्द्र नाथ शर्मा ने भाषाओं के परिवार-निर्धारण के लिए निम्नलिखित छह बातों पर विचार करना आवश्यक बताया है—(1) ध्वनि, (2) पद रचना, (3) वाक्य रचना, (4) अर्थ, (5) शब्द भण्डार और (6) स्थानीय निकटता।

डॉक्टर पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने केवल चार बातों पर बल दिया है—(1) स्थानिक निकटता (2) शब्दावली की समानता, (3) व्याकरण की समानता और (4) ध्वनि की समानता। हमारे विचार से डॉ॰ कमलेश के आधार पर्याप्त हैं। नीचे परस्पर सम्बन्द्ध भाषाओं का एक उदाहरण दिया जा रहा है। यह उदाहरण शब्दावली की समानता के आधार पर है—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	जर्मन	अँगरेजी	फारसी
(i) पितृ	पातेर	पाटीर	फातेर	फ़ादर	पिदर
(ii) मातृ	मातेर	मीटीर	मुत्तरे	मदर	मादर
(iii) भ्रातृ	फ्रेतर	फ्राटीर	ब्रूदर	ब्रदर	बिरादर

शब्दावली-साम्य—विद्वानो का विचार है कि यदि किन्हीं भाषाओं में सर्वनाम, माता-पिता भाई-बहन आदि सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त शब्द, 'एक दो' आदि संख्यावाचक शब्द, खाना, पीना, सोना उठना, बैठना आदि सामान्य क्रियाबोधक शब्द, सर्वसाधारण द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली चीजों के नाम जैसे पानी, आग, घर आदि समान है तो वे भाषाएँ किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बन्धित मानी जा सकती हैं। परन्तु हमें यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि सामान्य शब्दावली

की समानता का यह आधार कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण: लैटिन Nasus, इतालवी Naso, फ्रांसीसी Nez, रुमानियन Nas, पुरानी नॉर्स Nasar, स्वीडिश Nase, अँगरेज़ी Nose, लिथुएनियन Nosis, बोहेमियन या चैक Nos, संस्कृत Nas अवेस्ता Nah।

व्याकरण-साम्य—शब्दावली की समानता से अधिक महत्त्व की चीज व्याकरणात्मक समानता है। जब ऐतिहासिक सम्बन्ध न रखने वाली दो विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग एक दूसरे के निकट व्यापार, जय पराजय, यात्रा आदि कारणों से आते हैं तो प्रायः शब्दों का आदान-प्रदान होता है। शब्दों में भी संज्ञाएँ विशेष ली जाती हैं। दो वर्गों के चिराकाल तक साथ रहने से व्याकरण की एकाध बात या मुहावरे एक भाषा से दूसरी भाषा में आ जाते हैं। उर्दू में इजाफत (शाहे फारस, सुरूरे इल्म आदि में समाससूचक ए) अथवा हिन्दी में कि (उसने कहा कि) अथवा या का प्रयोग फारसी से और कई वाक्यों के समूह को मिलाकर बड़े-बड़े वाक्यों के प्रयोग अँगरेज़ी से लिए गए हैं। ऐसा नहीं होता कि पूरा-का-पूरा व्याकरण कोई भाषा दूसरी से उधार ले ले। अतः जिन भाषाओं के व्याकरण में समानता होती है, वे निश्चय ही एक परिवार की होती हैं। व्याकरणात्मक समानता के लिए ऐतिहासिकता का ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि संस्कृत से लैटिन, ग्रीक आदि की तुलना हो सकती है, पर संस्कृत के विकसित रूप हिन्दी से इन भाषाओं की तुलना नहीं हो सकती।

ध्वनि समूह साम्य—यह व्याकरण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है। जब दो भाषाएँ एक दूसरे के निकट आती हैं और एक भाषा के शब्द दूसरी में जाते हैं, तब अपरिचित ध्वनियों और संयुक्ताक्षरों के स्थान पर उसी प्रकार की देशी ध्वनियाँ और संयुक्ताक्षर आ जाते हैं। फ़ारस के ग़रीब काग़ज, सबूत, खसम, मजदूर वक़्त के हिन्दी रूप गरीब, कागद (कागज), सबूत, खसम, मजदूर, वखत, विदेशी ध्वनियों के स्थान पर स्वदेशी ध्वनियाँ ही बैठाकर बने हैं। अँगरेजी के सिग्नल, लैंटर्न, बॉक्स के हिन्दी रूप सिगनल लालटेन, बक्स अँगरेजी के संयुक्ताक्षरों की जगह हिन्दी के प्रचलित संयुक्ताक्षरों को रखकर बनाये गए हैं। कोई भी भाषा दूसरी भाषा के ध्वनि-समूह को ज्यों-का-त्यों नहीं लेती। यदि विजित वर्ग की भाषा के स्थान पर अधिकांश में विजयी वर्ग की भाषा आ बैठे, तब ऐसा हो सकता है कि विजयी वर्ग की भाषा में कोई-कोई ध्वनि का विकास जो विजित वर्ग की भाषा के अनुकूल हो, द्रुतगति से होने लगता है। द्रविड़ भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों को प्रधानता थी और है, वैदिक पूर्व आर्य भाषाओं में ध्वनियाँ बिलकुल नहीं थी। यह नतीजा संस्कृत, ईरानी लैटिन और ग्रीक की तुलना करने से निकलता है। पर वैदिक काल उपरांत भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों (टवर्ग और स) की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखायी देती हैं। ये नई ध्वनियाँ प्राचीन दन्त्य ध्वनियों से विकसित हुई हैं। ध्वनि-साम्य के लिए तद्रूपता या एकरूपता से काम नहीं चल सकता। पारिवारिक सम्बन्ध से लिए ध्वनि-नियमों के अनुसार ध्वनि-साम्य और ध्वनि-विभिन्नता को मिलाकर काम चलाना चाहिए। उदाहरण के लिये ग्रीक 'गोउस' संस्कृत ,गौ' जर्मन 'कु' अँगरेजी 'काउ' शब्दों से आदि आर्य शब्द 'गोउस' का अनुमान किया गया है। ग्रीक 'देक' लैटिन 'देकेम्' संस्कृत 'दश' गॉथिक तीहुन' अँगरेजी 'टेन' आदि के आधार पर आदि आर्य शब्द 'देकम्' की कल्पना हुई है। संस्कृत 'घृत' और जिप्सी 'खिल तथा संस्कृत 'मातृ

और जिप्सी 'फ़िल' भी दोनों भाषाओं के सम्बन्ध को स्थापित करते हैं, क्योंकि संस्कृत संघोष महाप्राण स्पर्श वर्ण जिप्सी में सर्वत्र अघोष मिलते हैं।

स्थानिक समीपता—ऐतिहासिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में स्थानिक समीपता पर विचार किया जाता है। शब्द, व्याकरण और ध्वनि के साथ यदि स्थानिक समीपता भी हो तो तद्विषयक निर्णय में पूर्णता आ जाती है।

उपर्युक्त आधारों को दृष्टिपथ में रखकर भाषाओं का जो प्रामाणिक वर्गीकरण किया गया है वह अपने-आप में सर्वांगपूर्ण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भाषाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री यथेष्ट मात्रा में नहीं उपलब्ध है, दूसरी बात ऐतिहासिक समकारिकता का भी अभाव है और अन्तिम बात यह है कि सभी भाषाओं का ठीक-ठीक ज्ञान न हो पाने के कारण अध्ययन ही अपूर्ण है। ऐसी दशा में वर्गीकरण कितना वैज्ञानिक हो सकता है, स्वयं विचारणीय है फिर भी उपर्युक्त आधार विन्दुओं के अनुसार विद्वानों का जो वर्ग चित्र प्रस्तुत किया है, उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा हम नीचे दे रहे हैं।

प्रश्न 40—विश्व की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण करते हुए उसकी सामान्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर—स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से भूगोल के आधार पर संसार की भाषाओं को चार खन्डों में विभाजित किया गया है। इन खन्डों में विभिन्न भाषा-परिवार सम्मिलित हैं, जिनका अलग-अलग परिचय हम देंगे। चारों खन्डों के नाम इस प्रकार है :—अफ्रीका खण्ड, यूरेशिया खण्ड, प्रशान्त महासागरीय खण्ड, अमेरिका खण्ड,

अफ्रीका खण्ड

इस खण्ड में चार परिवार हैं—

(1) बुशमैन, (2) वांटू, (3) सूडान वर्ग, (4) हैमिटिक या हामी।

(1) बुशमैन परिवार—दक्षिणी अफ्रीका में आरेंज नदी से नगामी झील तक बसने वाले मूल निवासी बुशमैन जाति के कहे जाते हैं। अलग-अलग वर्गों में रहने से इस जाति में बहुत सी भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित हो गई हैं। इस परिवार की मुख्य भाषाएँ स्वयं बुशमैन या होटेन्टोट हैं। इनके अतिरिक्त नामा, खीरा आदि छोटी-छोटी भाषाएँ इसके अन्तर्गत हैं,। डॉ० ब्लीक के अनुसार ये भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त्योगात्मक रही हैं; पर अब धीरे-धीरे अयोगात्मक हो रही हैं। इन भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ अधिक मिलती हैं। लिंग पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व पर आधारित न होकर सजीवत्व और निर्जीवत्व पर आधारित हैं। बहुवचन बनाने के कोई नियम नहीं हैं।

(2) बांटू परिवार—इस परिवार की भाषाए अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्यरेखा के दक्षिण में पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक, अर्थात् 10 पूर्वी देशान्तर से 40 पूर्वी देशान्तर तक बोली जाती हैं। वांटू परिवार में लगभग 150 भाषाएँ हैं, जिन्हें तीन समूहों में बाँटा जाता है—पूर्वी (प्रधान भाषाएँ-काफिर तथा जुलू); मध्यवर्ती-प्रधान भाषा सेसुतो, पश्चिमी-प्रधान भाषा काँगो। रुआण्डा, जुलू खोसा, गण्डा, स्वाहिली आदि इसी वर्ग की भाषाएँ हैं। ये भाषाएँ अश्लिष्ट पूर्व योगात्मक हैं। इनमें विभक्तियों का अभाव-सा है। पदों की रचना उपसर्ग जोड़कर होती है। कभी-कभी स्वरों

से ही अर्थ भिन्नता हो जाती है। जैसे होफिनेल्ला=बाँधना, होफिनाल्ला=खोलना। इसमें लिंग- विचार का अभाव है।

(3) सूडान परिवार—इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्य रेखा के उत्तर में और सेमिटिक भाषा-परिवारों के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक सूडानी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार में लगभग 435 भाषाएँ हैं, लेकिन पाँच-छह भाषाओं को छोड़कर अन्य कोई भी भाषा लिपिबद्ध नहीं है। सूडान परिवार में चार समूह हैं—सेगेनल भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ्रीका समूह और नील नदी के ऊपरी हिस्से की बोलियाँ। इनमें पहले समूह की बोलोफ़ दूसरे की ईव, तृतीय वर्ग की हौसा और चतुर्थ वर्ग की बारी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये अयोगात्मक हैं जिनमें चीनी भाषा की भाँति धातुएँ एकाक्षर हैं। इनका कोई व्याकरण नहीं मिलती। ये ध्वन्यात्मक तथा वर्णनात्मक भाषाएँ हैं। स्वर के परिवर्तन से ही अर्थ परिवर्तन हो जाता है। शब्द स्वयं लिंग भेद के आधार पर निर्मित नहीं हैं। लेकिन लिंग भेद दिखाने के लिए नर और मादा बोधक शब्दों को अलग से जोड़कर लिंग भेद सूचित किया जाता है। इन भाषाओं में क्रियाविशेषणों के अत्यन्त सूक्ष्म और चित्रात्मक प्रयोग हैं, जिनसे रूप, गति, भाव और अवस्था के सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तरों को सूचित किया जाता है। जैसे- जो क क=सीधे चलना, जो त्य त्य=जल्दी-जल्दी चलना, जो सिस=छोटे-छोटे कदम रखकर चलना; जो त्यो त्यो=लम्बे आदमी की चाल चलना; जो लुमो लुमो=चुहे आदि छोटे जानवरों की तरह चलना।

(4) हैमेटिक या हामी परिवार—इस परिवार का विस्तार उत्तरी अफ्रीका के सम्पूर्ण प्रदेश में है। इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार नूह के दूसरे पुत्र 'हेम' अफ्रीका के कुछ लोगों के आदि पुरुष माने जाते हैं। इन्हीं के नाम पर परिवार की भाषा का नाम हैमेटिक पड़ा। इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। पद बनाने के लिए इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों लगाये जाते हैं, पर ऐसा केवल क्रिया के ही सम्बन्ध में होता है। संज्ञा में प्रत्यय ही लगाये जाते हैं, इनमें भी स्वर परिवर्तन मात्र से अर्थ परिवर्तन हो जाता है। यथा—'गल' का अर्थ है–भीतर जाना, पर 'गलि' का अर्थ है 'भीतर रखना'। इनमें लिंग-भेद नर और मादा पर आधारित नहीं हैं, अपितु अव्यवस्थित नियम है। बल से वस्तुओं में पुँल्लिग और निर्बल से स्त्रीलिंग समझा जाता है। क्रिया रूपों में ठीक-ठीक काल का बोध नहीं होता। इस प्रकार इनके पूरे व्याकरण में कोई व्यवस्था नहीं है। जब कोई एकवचन संज्ञा बहुवचन में परिवर्तित होती है तो वह लिंग में भी परिवर्तित हो जाती है। पुँल्लिग एकवचन संज्ञा बहुवचन में स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग एकवचन संज्ञा बहुवचन में पुँल्लिग बन जाती है। उदाहरणतः सोमाली भाषा में 'लिबिहिह' =(शेर) पुँल्लिग है, लेकिन 'लिबिह-ह्योदि' (अनेक शेर) स्त्रीलिंग। इसे ध्रुवाभिमुख नियम (Law of Polarity) कहा जाता है। मिस्री काप्टी, सोमाली, लीबियन आदि भाषाएँ भी इसी परिवार की हैं।

यूरेशिया-खण्ड

इस खण्ड में आठ भाषा परिवार हैं, जिसके विवरण इस प्रकार हैं—

(1) सैमिटिक या सामी परिवार—ये मुख्यतः दक्षिण-पश्चिम एशिया की

भाषाएँ हैं । लेकिन इस परिवार की प्रधान भाषा 'अरबी' उत्तरी अफ्रीका में पश्चिम में मोरक्को से लेकर पूर्व में संयुक्त अरब गणराज्य तक बोली जाती है । इसको दो वर्गों में बाँट सकते हैं—उत्तरी और दक्षिणी । उत्तरी वर्ग में प्राचीन फोनेशियन, यहूदी या हिब्रू, आरमेइक और असीरियन भाषाएँ हैं । इजराइल के निर्माण के उपरान्त यहूदी भाषा का फिर से प्रचार-प्रसार हो रहा है । दक्षिण वर्ग की प्रधान भाषा 'अरबी' है । इनमें धातु का अर्थ बोधक तत्त्व तीन व्यंजनों का होता है । समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं ही में मिलता है । प्राचीन सेमेटिक भाषाओं में प्रत्यय लगाकर कर्त्ता, कर्म और सम्बन्ध कारक बनते थे । जैसे प्राचीन अरबी में अब्दू-अब्दा । पर अब ये भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं । लिंग-भेद सूचित करने के लिए सेमिटिक भाषाओं में स्त्रीप्रत्यय (-त्) या (-अत्) जोड़कर स्त्रीलिंग शब्द बनाया जाता है । समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है और वह भी केवल दो शब्दों का ।

(2) **काकेशस परिवार**—युरोप के पूर्व में केस्पीयन सागर तथा पश्चिम में काले सागर और लगभग 40 उत्तरी अक्षांश से 45 उत्तरी अक्षांश के मध्यवर्ती काकेशस पर्वत के भू-भाग की भाषाएँ इसी पर्वत के नाम पर काकेशस परिवार की भाषाएँ कहलाती हैं । इसके दो भेद हैं—उत्तरी और दक्षिणी । उत्तरी वर्ग में सिर-कैसियन, किस्तिअन, लेस्चियन तथा दक्षिण वर्ग में जार्जियन, सुकानिअन, मियोलियन आती हैं । कुछ समय तक इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक समझी जाती थीं, पर अब अश्लिष्ट वर्ग में परिगणित की जाती हैं । कभी-कभी प्रश्लिष्टता के भी लक्षण मिलते हैं । शब्द निष्पत्ति के लिये उपसर्ग और प्रत्यय दोनों का योग किया जाता है । लेकिन इनका योग इस प्रकार होता है कि कभी-कभी मूल शब्द या धातु को ढूढ़ पाना सरल नहीं होता । उदाहरण के लिए, खसीकुमुक बोली में 'अइ' (बनाना) धातु से उन्द, अन्द, आ, अइसर आदि रूप बनते हैं । लेकिन इन सभी में अई धातु को खोज पाना सरल नहीं है । पद रचना अत्यन्त जटिल है । अवर नामक बोली में तीस विभिक्तियाँ हैं और चेचेन बोली में छह लिंग । क्रिया रूपों में नियम अव्यवस्थित हैं । उत्तर काकेशी वर्ग की भाषाओं में व्यंजनों की अधिकता और स्वरों की कमी है ।

(3) **यूराल-अल्टाइक परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वतों के बीच टर्की, हंगरी और फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और दक्षिण पश्चिम में भूमध्यसागर से लेकर उत्तर तथा उत्तरपूर्व में उत्तरी सागर तक फैली हुई है । किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में यूराल तथा अल्टाई पर्वतों के नाम पर ही इनका नाम यूराल-अल्टाइक पड़ गया । ये वस्तुतः दो परिवार हैं—यूराल और अल्टाई । यूराल परिवार में दो भाषा-समूह (फिनो-उग्रिक और समो-एडिक) तथा अल्टाई में तीन (टुंगूज, मंगोलियन और तातारिक) माने जाते हैं । ध्वनि और धातु या शब्द-समूह की दृष्टि से तो ये भिन्न ही ठहरती हैं, केवल व्याकरणिक समानता दोनों परिवारों में है । दोनों की भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त्ययोगात्मक हैं । धातु में प्रत्यय जोड़कर पद बनाए जाते हैं । अब ये अश्लिष्ट से अश्लिष्ट की ओर बढ़ रही हैं । फिनिश भाषाएँ तो यहाँ तक आगे आ गई है कि भारोपीय परिवार की लगने लगी हैं । इस परिवार की सभी भाषाओं में धातु समान है, उनमें कभी विकार नहीं आता और बड़े-से-बड़े शब्दों में भी वे पहचानी जा सकती हैं । इन दोनों में ही

कभी-कभी सम्वन्धवाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में संज्ञाओं के साथ जोड़ दिए जाते हैं। स्वर अनुरूपता भी दोनों परिवारों में मिलती है।

(4) एकाक्षर परिवार—इसे चीनी परिवार भी कहते हैं, क्योंकि इस परिवार की प्रधान भाषा चीनी ही है। चीन, स्याम, तिब्वत और ब्रह्मा मे यह परिवार फैला हुआ है। भारोपीय परिवार के बाद बोलने वाले की संख्या की दृष्टि से यही परिवार विश्व में सबसे बड़ा है। इस परिवार की सब भाषाएँ अयोगात्मक है। प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है, उसका रूप परिवर्त्तन कभी नहीं होता। एकाक्षर शब्दों की संख्या लगभग एक हजार है। अभी तक साहित्य में उपलब्ध चार सौ शब्द ही हैं जो बयालिस हजार विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हं। इस परिवार की भाषाओं का कोई व्याकरण नहीं मिलता। एक शब्द ही स्थान के अनुसार क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि का काम कर देता है। अनुनासिक ध्वनियों का इन भाषाओं में बाहुल्य है। समस्त भाषाओं की संख्या लगभग तीस है, जिन्हें चार वर्गों में बाँटा गया है—चीनी, अनामी, स्यामी तथा तिब्वती बर्मी।

(5) द्राविड़ परिवार—यह परिवार दक्षिण भारत में नर्मदा गोदावरी से कुमारी अन्तरीप तक फैला है। इस परिवार को 'तमिल परिवार' भी कहते हैं। प्रधानतः इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट अन्तयोगात्मक हैं। मूल शब्द या धातु में प्रत्यय एक के बाद दूसरे जुटते चले जाते हैं। 'ट' का बाहुल्य है। यह वाक्य तथा स्वरानुरूपता में अल्टाई-यूराल परिवार से मिलती है। इसमें लिंग तीन होते हैं। संज्ञा और विशेषण को स्त्रीलिंग और पुँल्लिग वनाने के लिए अन्य पुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग और पुँल्लिग रूप जोड़ दिए जाते हैं। संज्ञा के दो वर्ग होते हैं—उच्च और निम्न। कुछ संज्ञाएँ क्रिया का भी कार्य करती हैं। इस परिवार के चार वर्ग हैं—(क) द्राविड़ वर्ग (तमिल, मलयालम, कन्नड़, तुलु, कुडागू, टुडा, कोटा); (ख) मध्य-वर्त्ती (गोंड, कोंड, कुरुख, माल्टो, कुड, कोलामी); (ग) तेलुगु, (घ) वाहरी (ब्राहुई)। इनका आर्य भाषाओं पर भी प्रभाव पड़ा है।

(6) आग्नेय परिवार—इसको आस्ट्रिक परिवार भी कहा गया है। इसके दो भाग हैं—आग्नेय दीपी, आग्नेय देशी। इनका विस्तार प्रशान्त महासागर के द्वीपों, श्याम, वर्मा के जंगलों, नीकोवार, असम की पहाड़ियों, वंगाल, विहार, मध्य, प्रदेश तथा मद्रास के कुछ भागों तक फैला हुआ है। इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। पर कुछ वियोगावस्था की ओर वढ़ रही हैं। धातु द्वयाक्षरात्मक हैं पद-रचना में योग आदि, मध्य और अन्त स्थानों पर होता है। इस परिवार की मुँडा भाषा अधिक प्रसिद्ध है। चीनी भाषा की तरह एक शब्द ही यथास्थान संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि रूप धारण कर लेता है। इसके तीन प्रमुख वर्ग हैं—(क) इंडोनेशियन (मलय, नीकोबारी), (ख) मानख्मेर (मान, ख्मेर, पलौग-वा, खामी), (ग) मुंडा (कनाव्री, खेरवारी, कुर्कू, खड़िया, जुआंग, शावर, जो, गदबा आदि)।

(7) अनिश्चित परिवार—इस परिवार की भाषाओं को दो भागों में रखा जा सकता है—'प्राचीन' जो मृत हो चुकी हैं और 'नवीन' जो प्रचलित हैं। प्राचीन के अन्तर्गत छह भाषाएँ आती हैं—(1) एत्रस्कन, (2) सुमेरी, (3) कोसी, (4) वन्नी, (5) एलामाइट, (6) मितानी। नवीन के अन्तर्गत नौ भाषाएँ आती हैं—

(1) कोरियाई, (2) एनू, (3) बास्क, (4) हाइपर बोरी, (5) जापानी, (6) अण्डमनी, (7) करेनी, (8) बुरूशास्की और (9) मानी। प्राचीन भाषाओं में सुमेरी तथा वर्तमान में बास्क और जापानी भाषाएँ मुख्य हैं।

(8) भारोपीय परिवार—यह बहुत बड़े भू-भाग में फैला हुआ है और संसार का सबसे अधिक प्रसिद्ध भाषा-परिवार है। सभ्यता, साहित्य और विकास की दृष्टि से यह सबसे आगे है। इस परिवार के अन्य नाम, आर्य या भारत-ईरानी वर्ग, भारत-जर्मन वर्ग आदि प्रसिद्ध हैं। इसकी विभक्तियाँ बहिर्मुखी हैं। धातुएँ एकाक्षर हैं। समास-रचना का बाहुल्य है। ये सभी भाषाएँ संहिता काल से व्यवहृत हो रही हैं। इसकी दस शाखाएँ हैं। केल्टिक, जर्मनिक, लैटिन, ग्रीक, तोखारी, इलीरियन, बाल्टिक, स्लावी, आर्मीनी तथा आर्य वर्ग। इन सबको दो प्रमुख वर्गों में बाँट दिया गया है। (1) सतम् वर्ग, (2) केन्तुम् वर्ग।

प्रशान्त-महासागरीय खण्ड

इस खण्ड में पाँच परिवार हैं—(1) इण्डोनेशियन या मलायन परिवार, (2) मलेनेशियन परिवार, (3) पॉलिनेशियन परिवार, (4) पापुआ परिवार, (5) आस्ट्रेलियन परिवार।

(1) इंडोनेशियन या मलायन परिवार—यह परिवार दोनों नामों से जाना जाता है। इसमें एक ही शब्द क्रिया, संज्ञा आदि सबका काम करता है। बहुवचन के लिए पुनरुक्ति से काम लिया जाता है। इस परिवार में कुल 13 भाषाएँ (मलय, बत्तक, आकीनीज, लंपोंग, क्रोमो, न्गोको, सुन्दीअन, दयक, बुधी, तगाल, फारमोसन, लदोनी, होवा) हैं, जिनमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। कुछ शब्द अरबी, फारसी और पुर्तगाली के भी मिलते हैं।

(2) मलेनेशियन परिवार—यह परिवार फीजी द्वीप समूह में फैला हुआ है। इसकी मुख्य पाँच भाषाएँ हैं—फिजीयन, केलीडोनी, ल्वायल्ती, हेब्रिडी और सीलोमोनी। इनमें चार वचन होते हैं—एक वचन, द्विवचन, त्रिवचन और बहुवचन। शब्दों में प्रधानतः उपसर्ग और प्रत्यय लगते हैं तथा एक ही शब्द आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया आदि बन जाता है।

(3) पॉलिनेशियन परिवार—यह परिवार पूर्णतः वियोगात्मक है। इसमें छह भाषाएँ हैं—मओरी, टोंगो, समोई, हवाई, ताहिती, मारक्वीसन। इसमें संयुक्त स्वर और संयुक्त व्यंजन बिलकुल नहीं हैं। गिनती केवल दस तक है। द्विवचन इसमें भी है पर त्रिवचन नहीं। इसमें कभी-कभी वाक्य में सम्बन्ध दिखाने के लिए स्वतन्त्र निपात (Particle) का प्रयोग होता है। इसमें भी पुनरुक्ति के सहारे अर्थ की विशेषता प्रकट की जाती है। मओरी भाषा में हैरे=चलाना, और हैरे-हैरे=ऊपर-नीचे चलना। हवाई भाषा में हुलि=खोजना, हुलि-हुलि=अच्छी तरह खोजना।

(4) पापुआ परिवार न्यूगिनी के समीप के छोटे-छोटे द्वीपों में इस परिवार की भाषाओं को बोला जाता है। इसकी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक है। पदों के बनाने में प्रत्यय और उपसर्ग दोनों का प्रयोग होता है। इस परिवार की मफोर भाषा सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

(5) आस्ट्रेलियन परिवार—यह भी अश्लिष्ट योगात्मक परिवार है। आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया क्षेत्रों के लोग इसे बोलते हैं। इसमें प्रत्यय जोड़ कर शब्द बनाये जाते हैं। इस परिवार की प्रधान भाषा 'मैक्वारी' है।

अमेरिका खण्ड

इस खंड में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या बहुत अधिक है। इनका अभी ठीक से अध्ययन नहीं हो सका है, इसीलिये इनका वर्गीकरण भी उचित रीति से नहीं हो सकता। अमेरिकी नाम शुद्ध भौगोलिक है, इससे भाषाओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। भौगोलिक दृष्टि से अमेरिकी भाषाओं को तीन प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं—

(1) **उत्तरी अमेरिका वर्ग**—इस वर्ग में निम्नलिखित २५ भाषा परिवार हैं—अलगोन्किन, वेओशुक, चिमाकुम, होक, इरोकोइस, कड्डो,करेसन्, किओव,-बलमाथ, कुटेनै, मुस्खोगी, ना-डेने, पेनुटिअन, शहप्टिन, सलिश, सिओक्स, टनो, टिमकुआ, टुनिका, उटो-अज्टेक, वईलट्पू, वकश, युकी, यूची, जनी।

(2) **केन्द्रीय या मध्य अमेरिका या मेक्सिको वर्ग**—इसके अन्तर्गत २० भाषा-परिवार हैं—अमुसगो, चिननूटेक, कुइकटेक, लेन्का, मया, मिस्किटो-सुमो-मटगल्पा, मिक्से-जोके, मिक्सटेक, ओलिव, ओटोमि, पया, सुबटिअब, टरस्क, टोटोनक, वइकुरी, बसनअ्ग्रे, क्सिकके किस्नुका जपोटेक।

(3) **दक्षिणी अमेरिका वर्ग**—इसमें ७७ भाषा-परिवार हैं—अलकलुफ, अलेन्-टिअक, अमुएशा, अराउकन, अरवक, अरड, अटकम, अटलन, औअके, अयमर, बोरोरो, चपकुरा, चरूँआ, चिबचा, चिकिटो, चिरिनो, चोको, चीलोना, चोन, डिअगिट, एनिमग, ऐस्मेरल्डा, गुअहिवो, गुअरउनो, गुअटो, गुअयकुरु, हेट, हुअरी, इटोनम, कनरी, कलिअना, कहुअपन, कनिचन, करज, करिब, करिरि, कटुकिन, कयुवव, किचुअ, कोचे, कोफने माकू, लेको, मस्कोइ, मशुकी, मुर, मोबिम, मोसेटेन, मटको-मटगुअयो नम्बिकुअरा, पनो, ओटोमक, पुएलचे, पुइनावे, पुरुहा, सलिब, समुकु, सनविरोन, सेक, शवनूटे, शिरिअना, टिमोटे, ट्रमइ, टुकनो, विटोटो, विलेल-चुलुपी, टुपी-गुअरनी, टुयुनेइरी, क्सिन्नरो, क्सिरक्सरा, यहगन, यरुरो, युन्का, यूरकरे, यूरी, जापरो और जे।

इस खण्ड की भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य बनाने के लिए प्रत्येक शब्द की एक-एक प्रधान ध्वनि या अक्षर को लेकर एक साथ मिला दिया जाता है। दक्षिण अमेरिका की चेरोकी भाषा के—

नतेन्=लाअ, अमोखोल्=नाव, निन्=हमको;

नधोलिनिन्=हमारे लिए नाव लाओ।

इन भाषाओं को वहाँ के आदिवासी बोलते हैं। कई भाषाओं को बोलने वाले कुछ सौ तक ही सीमित हैं। इसीलिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर भाषाएँ बदल जाती हैं। इसी कारण संख्या में इतनी वृद्धि भी हो गई है। भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण निम्न-चार्ट द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है—

पारिवारिक वर्गीकरण

भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण

प्रश्न 41—भारतवर्ष की आधुनिक आर्य भाषाओं का विभाजन किन-किन आधारों पर किया गया है और कौन-सा आधार आपको समीचीन प्रतीत होता है, समझाकर लिखिए।

प्रश्न 42—आचार्य ग्रियर्सन द्वारा उद्‌भावित भारतीय भाषाओं के अंतरंग और बहिरंग भेद, संगत हैं अथवा नहीं ? जो पक्ष आपको मान्य हो उसकी स्थापना प्रमाण देकर कीजिए।

प्रश्न 43—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के दो मुख्य वर्गीकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय दीजिए तथा इन दोनों के अनुसार आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण भी कीजिए। आप इन दो वर्गीकरणों में से किसे अधिक वैज्ञानिक समझते हैं और क्यों ?

प्रश्न 44—ग्रियर्सन और डॉ० चटर्जी द्वारा किए गए भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण का वर्णन करते हुए उनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—आर्यभाषा की नवीनतम या आधुनिक काल की भाषा को 'आधुनिक आर्य भाषा' या 'आधुनिक नव्य भारतीय भाषा' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जो अपभ्रंश के विविध रूपों से निकली हैं। इनका काल 1000 ई० से लेकर अद्यतन है।

इसका वर्गीकरण स्वयं में एक समस्या थी। हार्नले वेबर, ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा आदि द्वारा विभिन्न रूपों में इसके वर्गीकरण पर विचार किया गया है।

सर्वप्रथम हार्नली ने आर्यों के आगमन के आधार पर भाषा का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भारत में आर्यों की दो शाखाएँ आईं। पहली शाखा ईरान और काबूल से होती हुई सिन्धु पार करके पंजाब में जा बसी। कुछ दिन बाद दूसरी शाखा ने हमला किया फलस्वरूप पूर्वागत शाखा अपना पूर्व स्थान छोड़कर पश्चिमी पंजाब, सिन्धु बिहार, उड़ीसा, बंगाल और असम तक फैल गई। नवागत शाखा पूर्वी पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान नेपाल आदि में बस गई। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत आर्य बाहरी। डॉ० हार्नली ने मध्यदेश या भीतरी आर्य प्रदेश की भाषाओं को एक वर्ग में तथा उसके आसपास की भाषाओं को दूसरे वर्ग में रखते हुए आधुनिक आर्य भाषाओं की अपनी पुस्तक (Comparative Grammar of Gaudian Languages) में चार वर्गों में रखा है—

(क) पूर्वी गौड़ियन—पूर्वी हिन्दी (बिहारी भी), बंगला, असमी, उड़िया।

(ख) पश्चिमी गौड़ियन—पश्चिमी हिन्दी (राजस्थानी भी), गुजराती, सिन्धी, पंजाबी।

(ग) उत्तरी गौड़ियन—गढ़वाली, नेपाली आदि पहाड़ी भाषाएँ।

(घ) दक्षिणी गौड़ियन—मराठी।

डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ने उपर्युक्त मत के समर्थन में अनेक तर्क एवं प्रमाण देते हुए भीतरी (अन्तरंग) और बाहरी (बहिरंग) भाषा वर्गों के अतिरिक्त एक मध्यवर्ती वर्ग को स्वीकार किया एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषा को तीन उपशाखाओं, छह

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (गियर्सन)
बहिरंग शाख
मध्यवर्ती शाखा
अन्तरंग शाखा
पूर्वी हिन्दी
८
केन्द्रीय समुदाय
उत्तरी समुदाय
भीली
९
पंजाबी
१०
गुजराती
११
खानदेशी
१२
राजस्थानी
१३
पश्चिमी हिन्दी
१४
पूर्वी पहाड़ी या नेपाली
१५
मध्य पहाड़ी
१६
पश्चिमी पहाड़ी
१७
पश्चिमोत्तरी समुदाय
दक्षिणी समुदाय
पूर्वी समुदाय
लहँदा
१
सिन्धी
२
मराठी
३
उड़िया
४
बंगाली
५
असमी
६
बिहारी
७
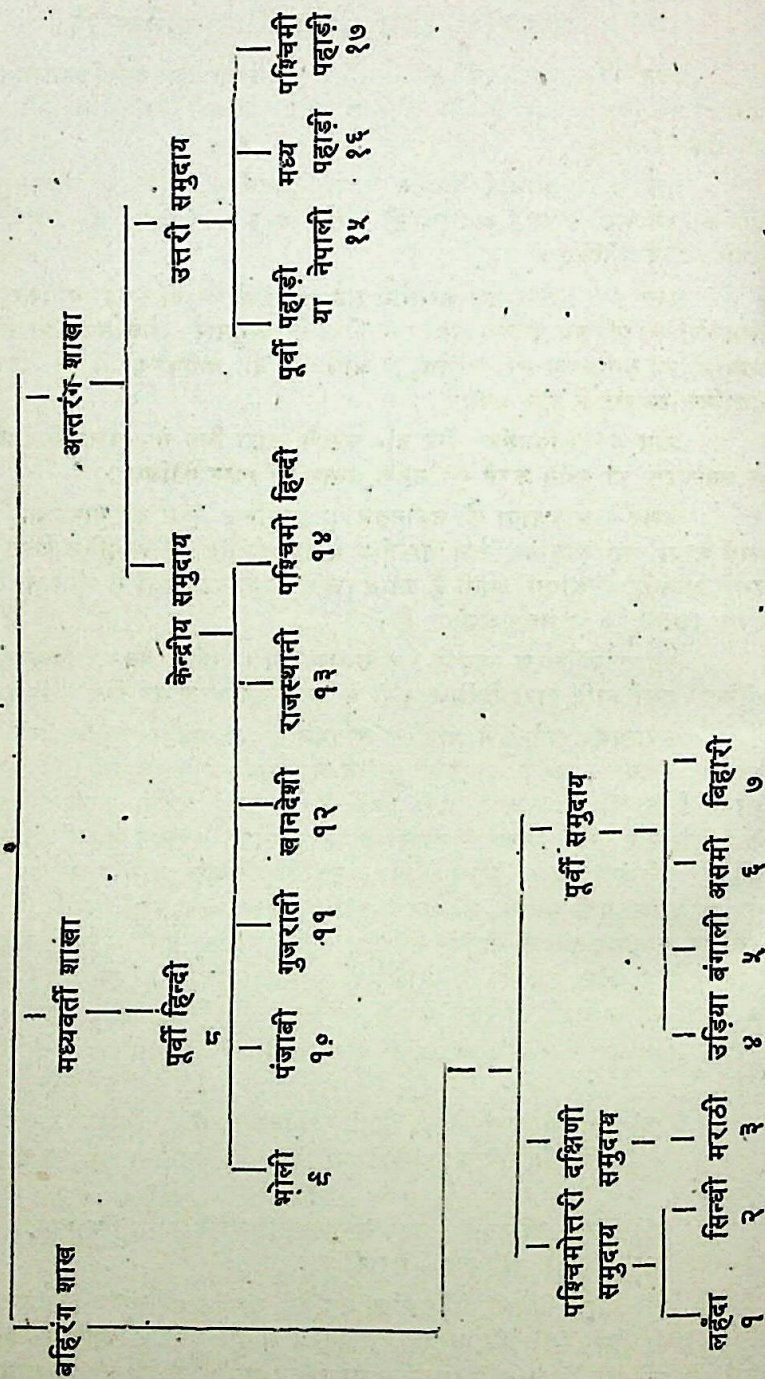
समुदायों तथा सत्रह भाषाओं में विभक्त किया है जिसे अग्रांकित तालिका से समझा जा सकता है। उन्होंने अपना यह पहला वर्गीकरण Lingulstic Survey of India भाग एक तथा Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institution; Volume, I, Part III, 1920 A. D. में प्रस्तुत किया है।

इस वर्गीकरण को मान्यता देते हुए डॉ० ग्रियर्सन ने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

(1) प्रत्येक उपशाखा के उच्चारण दूसरे से भिन्न हैं—जैसे अन्तरंग शाखाओं के दन्त्य 'स' का उच्चारण बहिरंग में 'श' हो जाता है। पश्चिमोत्तरी वर्ग की सिन्धी भाषा में 'स' : 'ह' बन जाता है जैसे 'कोस' का कोह'।

(2) अन्तरंग भाषाएँ वियोगावस्था में हैं जबकि बहिरंग की भाषाओं ने संयोगावस्था प्राप्त कर ली है। उदाहरणार्थ हिन्दी का सम्बन्ध कारक 'का' 'के' 'की' लगाकर बनाया जाता है जिन्हें संज्ञा से पृथक् ही समझा जाता है—जैसे 'घोड़े का' में 'का'प्रत्यय अलग है। यही कारक बंगाली में जो बहिरंग उपशाखा की भाषा है, संज्ञा में 'र' लगाकर बनता है और यह चिह्न संज्ञा का एक भाग हो जाता है—जैसे 'घोड़ार में 'र' साथ मिला है।

(3) बहिरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही अनेक कर्त्ताओं का पुरुष और वचन माना जा सकता है, क्योंकि भूतकालिक क्रिया का रूप कर्त्ता पुरुष के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जैसे मराठी में 'मेलों' [मैं गया] और मेला [वह गया] बंगाल का 'भरिलाय' शब्द भी उसके कर्त्ता के उत्तम पुरुष होने की सूचना देता है किन्तु अन्तरंग भाषाओं में भूतकालिक कियाएँ सभी पुरुषों में एक रहती हैं। जैसे हिन्दी में 'मैं गया' 'वह गया', 'तू गया'—सभी में 'गया' समान है।

(4) बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी उनकी क्रियाओं में ही अन्तर्भूत रहता है, जबकि अन्तरंग भाषाओं में सर्वनाम अपना रूप बनाये रखता है।

(5) बहिरंग शाखा की भाषाओं के शब्दों तथा धातुओं में भी साम्य है, किन्तु अन्तरंग में ऐसा नहीं है।

डॉ० ग्रियसन के मत का खंडन

एशिया के लब्धप्रतिष्ठित भाषा विज्ञानीक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, ग्रियसन साहब के वर्गीकरण से सहमत नहीं हो सके। उन्होंने उनके वर्गीकरण का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया और ग्रियसन साहब के तर्कों को बड़े युक्तियुक्त ढंग से खण्डित किया है, जिनमें से कुछ प्रमुख तर्कों को हम नीचे दे रहे हैं—

(1) परिवर्तन का नियम सर्वमान्य नहीं हो सकता—'स' सम्बन्धी परिवर्तन सभी भाषाओं में नहीं होता। सिंधी तथा लहंदा में 'स' का 'ह' मराठी, बँगला आदि में 'श' हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'स' का 'ह' और 'श' का होना अन्तरंग में भी पाया जाता है, जैसे—कोस > कोह, पश्चिमी हिन्दी में 'केशरी' > केसरी, तस्य > तस्स > ताह, एकादश > ग्यारह, द्वादश > बारह इत्यादि।

(2) महाप्राण-अल्पप्राण का अभेद होना—गुजराती, राजस्थानी, पश्चिम हिन्दी आदि अन्तरंग भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे—'भगिनी' से 'बहिन', 'वेष' से 'भेस', 'विभूति' से 'भभूति', 'वाष्प' से 'भाप' इत्यादि।

(3) 'इव' का 'म' तथा 'व' हो जाना अन्तरंग में पाया जाता है, जैसे पश्चिमी हिन्दी में 'जम्वु' का 'जामुन', 'निम्व' का 'नीम', 'अम्वी' का 'अमिया' 'निम्वू' का 'नीवू' इत्यादि। इसी प्रकार 'इ' तथा 'उ' का खुलना 'विन्दु' का 'वूँद' इत्यादि।

(4) विभक्ति प्रधान शव्द वहिरंग में ही, नहीं अन्तरंग में भी पाए जाते हैं, जैसे—व्रज में 'मैं' (मैंने), 'तैं' (तूने), 'भूखों' (भूख से) इत्यादि।

(5) कर्त्ता में पुरुष तथा वचन का वोध वहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में नहीं होता, केवल अकर्मक क्रियाओं के भूतकाल से होता है। सकर्मक क्रियाओं में दोनों में वहुत अन्तर है। सभी पूर्वी कर्तृ प्रधान और पश्चिमी कर्माणि प्रधान है। अतः सकर्मक भूतकालिक क्रियाओं से कर्त्ताओं के पुरुष और वचन का वोध केवल पूर्वी वहिरंग भाषाओं में हो सकता है, पश्चिमी में नहीं। उधर पूर्वी हिन्दी में भी ऐसा ही होता है।

(6) भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अन्तर्भुक्त होना सव वहिरंग भाषाओं तथा क्रियाओं में नहीं पाया जाता है।

(7) सभी धातु शव्द अन्तरंग और वहिरंग के समान नहीं है।

(8) आर्यों का भारत में दोवारा आना भी मान्य नहीं रहा, पर यह कहा जा सकता है, क्योंकि इसके विपरीत आर्यों का सप्त सिन्धु में पहले से ही निवास करना प्रमाणित हो चला है। ऐसी अवस्था में आर्यों का न तो पूर्वागमन माना जा सकता है और न परागमन ही। फिर उस आधार पर उनकी भाषाओं का अन्तरंग और वहिरंग विभाजन भी उचित नहीं कहा जा सकता।

(9) मध्यदेश की भाषा सदैव से राष्ट्रभाषा अथवा सर्वप्रमुख भाषा रही है। अतएव इस दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी को अन्य भाषाओं के साथ रखना अनुचित है। यदि वर्गीकरण किया ही जाए तो पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रीय भाषा मानकर किया जाना चाहिए।

अतः डॉ० चटर्जी को केन्द्रीय भाषा मानकर अपना एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है।

(1) उदीच्य—सिन्धी, लहंदा, पंजाबी।
(2) प्रतीच्य—गुजराती, राज़स्थानी।
(3) मध्यदेशीय—पश्चिमी हिन्दी।
(4) प्राच्य—पूर्वी हिन्दी, विहारी, उड़िया, असमी, वंगाली।
(5) दाक्षिणात्य—मराठी।

यहाँ एक वात का और उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ कि डॉ० चटर्जी ने कश्मीरी तथा पहाड़ी भाषाओं को आर्य भाषाओं से पृथक् वर्ग में रखा है। चटर्जी महोदय के वर्गीकरण के आधार पर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

(1) उदीच्य—सिंधी, लहंदा, पंजाबी।
(2) प्रतीच्य—गुजराती।
(3) मध्यदेशीय—राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, विहारी।
(4) प्राच्य—उड़िया, असमी, वंगाली।

डॉ० ग्रियर्सन का संशोधित वर्गीकरण
आर्यभाषाएँ
अन्तर्वर्ती भाषाएँ
मध्यदेशीय भाषाएँ
बहिरंग भाषाएँ
मध्यदेशीय भाषाओं से सम्बन्धित
बहिरंग भाषाओं से सम्बन्धित
पंजाबी 1
राजस्थानी 2
गुजराती 3
पहाड़ी 4
पूर्व
मध्य
पश्चिम
पूर्वी हिन्दी 5
पश्चिमी हिन्दी 6
पश्चिमोत्तरीय
दक्षिणी
पूर्वी वर्ग
लहंदा 7
सिन्धी 8
मराठी 9
बिहारी 10
उड़िया 11
बंगाली 12
असमी 13
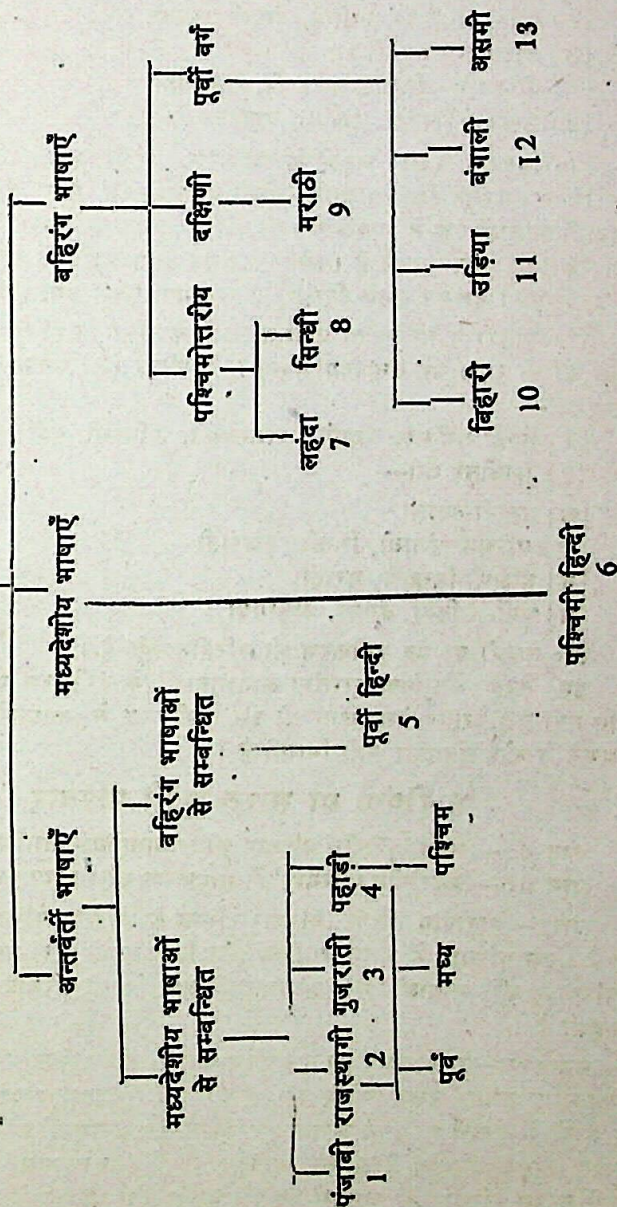
(5) दाक्षिणात्य—मराठी।

डॉ० भोलानथ तिवारी ने अपना एक वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(1) मध्यवर्ती—पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी।

(2) पूर्वी—विहारी, उड़ीसा, वंगाली, असमी।

(3) दक्षिणी—मराठी।

(4) पश्चिमी—सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी।

(5) उत्तरी—लहंदा, पंजावी, पहाड़ी।

डॉ० ग्रियसन ने डॉ० चटर्जी के वर्गीकरण को देखने के उपरांत अपना संशोधित वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसमें भीली गुजराती में, खान देशी राजस्थानी में तथा पहाड़ी भाषाएँ एक में एकत्र कर दी गयी हैं, यह वर्गीकरण पहले की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और सरल है। अगले ग्रियर्सन द्वारा संशोधित वर्गीकरण का चार्ट प्रस्तुत है, जिसको देखकर उनके विचारों को सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है—

डॉ० वाहरी ने मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का दो स्थूल वर्ग बना दिया है—(1) हिन्दीतर (2) उनका विस्तृत वर्गीकरण इस प्रकार है—

(1) हिन्दी वर्ग-मध्य पहाड़ी, राजस्थानी, पश्चिमी, पूर्वी हिन्दी, विहारी।

(2) हिन्दीतर वर्ग—

[क] उत्तरी-नेपाली

[ख] पश्चिमी-पंजावी, सिन्धी, गुजराती

[ग] दक्षिणी-सिन्हली, मराठी

[घ] पूर्वी- उड़िया, बंगला, असमिया

डॉ० वाहरी का यह वर्गीकरण भी त्रुटिहीन नहीं है।

इस तरह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण का कोई भी प्रयत्न दोषहीन नहीं है। वस्तुतः देखा जाए तो इस वर्गीकरण से भाषाओं की विशेषताओं को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती है।

भारोपीय या भारत-हित्ती परिवार

प्रश्न 45—भारत-यूरोपीय परिवार की सामान्य विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 46—'भारोपीय परिवार' के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भारोपीय भाषा परिवार विश्व के भाषा परिवारों से सर्वाधिक सम्पन्न है। इस परिवार में भाषा, साहित्य और लिपि सभी कुछ अपने वैभव पर हैं। इस परिवार की भाषाओं का अध्ययन भी अन्य भाषा-परिवार की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ है।

नामकरण—इस परिवार का नामकरण सदा ही विवादास्पद रहा है। मैक्समूलर ने इसका नाम 'आर्यन' रखा, क्योंकि इस परिवार की समृद्धतम भाषा संस्कृत और ग्रंथ ऋग्वेद आर्यों के महत्त्व का ज्ञान कराता था, किन्तु इस नाम को अधिक महत्त्व नहीं मिल सका। इसके अनन्तर मैक्समूलर महोदय ने ही इसका नाम 'इण्डो जर्मनिक' रखा क्योंकि इस परिवार की भाषाएँ पूर्व में भारत और पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाने वाली अँग्रेजी, डच, संस्कृत, हिन्दी जर्मन आदि भाषाएँ विशेष रूप से भारत

एवं जर्मनी से सम्बद्ध हैं । किन्तु इस नाम को स्वीकार नहीं किया जा सका क्योंकि केल्टिक शाखा की भाषाएँ जर्मन भाषाएँ न थी । इस परिवार का एक नाम 'इण्डो-केल्टिक' रखा गया, किन्तु यह नाम कुछ समय पश्चात् स्वयं समाप्त हो गया । यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से यह नाम सार्थक था, किन्तु केवल भौगोलिक सीमाओं का सूचक होने के कारण चल न सका । इसकी प्रमुख भाषा संस्कृत के आधार पर इसका एक नाम 'संस्कृत' भी रखा गया, किन्तु यह एकाङ्गी था, अव्याप्ति दोषग्रस्त था, क्योंकि इसमें केवल एक भाषा संस्कृत ही थी । इसी प्रकार कभी जफ़ेटिक काकेशियन, इण्डो यूरोपियन आदि नाम रखे गए । अन्ततः भाषा विज्ञानियों ने ,इण्डो यूरोपियन' नाम को सार्थक मान स्वीकार कर लिया और इसी का रूपान्तर 'भारोपिय' है । भारत-यूरोपीय भाषा परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से है जो उस प्राचीन भारत-यूरोपीय मूल-भाषा से निकली हैं । भारत-यूरोपीय (या भारत जर्मनीय) शब्द के प्रयोग से यही अभिप्राय है कि इस भाषा परिवार के भारत से लेकर युरोप तक के भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिलाया जा सके । डॉ० भोलानाथ तिवारी ने मूल भारोपीय भाषा-भाषी लोग, जो विशेष कहलाते थे, के आधार पर इसका नाम 'विशेस्, परिवार' रखा जो प्रचलित न हो सका । नवीन खोजों के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि 'हित्ती' भाषा भारोपीय की पुत्री नहीं बहन है, अतएव इन दोनों के मातृत्व को वहन करने वाली भाषा का मिला-जुला नाम 'भारत-हित्ती' दिया गया, यद्यपि यह नाम अभी तक पूर्णरूपेण प्रचलित न हो सका है ।

भाषा विज्ञानियो ने सर्वाधिक इसी परिवार की भाषाओं का अध्ययन किया है । डॉ० राजकिशोर सिंह ने इस भाषा परिवार की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए ('संस्कृत भाषाविज्ञान' पृ० 110 पर) लिखा है "भाषा-वैज्ञानिक निर्विवाद रूप से इस परिवार को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं क्योंकि भाषा-विज्ञान की नींव इसी परिवार के आधार पर रखी गयी है । अद्यावधि जितनी खोज इस परिवार की भाषाओं आदि के सम्बन्ध में हुई है उतनी अन्य भाषा-परिवारों के सम्बन्ध में नहीं हो सकी है । वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन-अध्यापन के लिए इस परिवार में पर्याप्त स्पष्टता, निश्चयात्मकता और विस्तार तीनों ही गुण प्राप्त होते हैं । इस परिवार की अपने विकास की कहानी भी चिर-प्राचीन है । ऋग्वेद के रूप में जितना ऐतिहासिक साक्ष्य इस परिवार की भाषाओं में मिलता है, उतना अन्य में नहीं । संसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य —संस्कृत, ग्रीक, लैटिन भाषाओं का इसी परिवार के अन्तर्गत आता है । देश की दृष्टि से भी इसका विस्तार व क्षेत्रफल अधिक है । "यही नहीं भाषा के विकास की सूचक अधिकतम सामग्री इस परिवार की भाषाओं में मिलती है । संस्कृत तो विश्व की श्रेष्ठतम साहित्य सम्पन्न भाषा है । ऋग्वेद भी इसी भाषा परिवार की अनुपम निधि है । इस परिवार की कुछ भाषाओं में उच्चारण सम्बन्धी महान् परिवर्तन हो चुके हैं, कुछ भाषाएँ परिवर्तित होते होते शुद्ध संश्लेषणात्मक अवस्था से लगभग शुद्ध विश्लेषणात्मक अवस्था में आ गई हैं । परिणामस्वरूप इस परिवार की भाषाओं में अन्य सामान्य विशेषताएँ निम्न है— (1) भारोपीय भाषा परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति प्रधान हैं, (2) विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी हैं । जो प्रकृति के अन्त में प्रत्यय से जुड़ती हैं, (3) इस परिवार की भाषाएँ संयोगावस्था से निरन्तर वियोगावस्था की ओर अग्रसर हैं, (4) धातुएँ एकाक्षर हैं, (5) धातुओं में कृत एवं तद्धित

आदि प्रत्ययों के संयोग से अनेक शब्द बनते हैं, (6) समास की ओर इस परिवार की भाषाओं का विशेष आग्रह है, (7) विभक्तियों की इस परिवार की भाषाओं में अधिकता है (8) अक्षरा वस्थान इस परिवार की अपनी विशेषता है, (9) स्वर परिवर्तन से सम्वन्ध तत्त्व का परिवर्तन होता है ।

प्रश्न 47—'भारत-हित्ती परिवार' का वर्गीकरण करते हुए मूल एनाटोलियम तथा एनाटोलियन व हित्ती की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर—भारत-हित्त परिवार का वंश-वृक्ष मोटे रूप में कुछ इस प्रकार है—
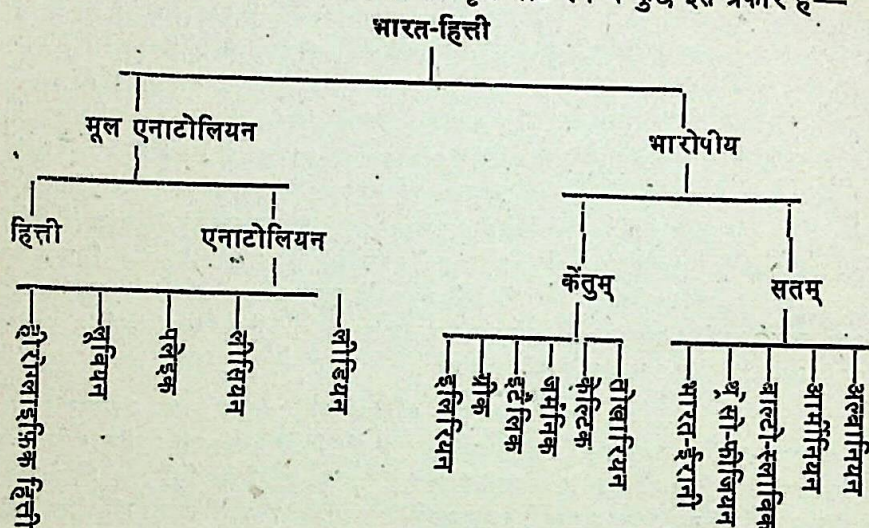
केंतुम्-सतम् की दृष्टि से हित्ती में भी केंतुम की विशेषताएँ मिलती हैं ।

भारत-हित्ती (Indo-Hittite) मूल भाषा का काल 2400 ई० पू० के पहले माना जाता है। कुछ लोग इसे 500 वर्षों का मानते हैं अर्थात् 2900 ई० पू० से 2400 ई० पू० तक। वस्तुतः इसका काल, मेरे विचार में, इससे कहीं अधिक लम्बा रहा होगा—

भारत-हित्ती में निम्नांकित ध्वनियाँ थीं :—

5 स्वर—एँ, दीर्घ ए, ओँ, दीर्घ ओ, ए का एक अत्यन्त संक्षिप्त रूप ।

19 व्यंजन—क्, त्, प्, ग्, द्, घ्, म्, ब्, न्, म् र्, ल्, य्, व्, स्, ख्, ग्, ह्., ? (स्वर यन्त्र मुखी स्पर्श) ।

इनमें य्, व्, र्, ल्, न्, म्, कभी आक्षरिक रूप में काम करते थे, और कभी अनाक्षरिक रूप में । ?, ह्., ख्, ग् स्वरयंत्रमुखी (Iaryngeal) कहे जाते हैं, यद्यपि सभी के स्थान के सम्बन्ध सनिश्चय कुछ कहना कठिन है । सामान्य ध्वनियाँ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ नहीं थीं । 2400 ई० पू० के लगभग इसकी दो शाखाएँ हो गई मूल एनाटोलियन तथा भारोपीय ।

मूल एनाटोलियन (Proto Anatolian)

इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ ये थीं—

1. स्वरों में दीर्घता-ह्रस्वता ध्वनिग्रामिक नहीं थी। 2. प्राणत्व की दृष्टि से ध्वनियाँ अलग-अलग नहीं थीं। 3. भारत-हित्ती की तीन स्वरयन्त्रमुखी ध्वनियों में, हित्ती आदि कुछ भाषाओं में दो, तथा कुछ में एक ही ध्वनि शेष थी। (4) इसमें स्त्रीलिंग नहीं था। (5) क्रियार्थ (Mood) दो थे—निश्चयार्थ, आज्ञार्थ। (6) काल तीन थे किन्तु भविष्य के स्पष्ट द्योतन के लिए सहायक शब्द अपेक्षित थे। मूल एनाटोलियन की आगे चलकर दो शाखाएँ हो गईं—एनाटोलियन तथा हित्ती।

(क) एनाटोलियन (Anatolian)—इसके बारे में भी विशेष कार्य अभी तक नहीं हुआ है। 2000 ई० पू० के लगभग एनाटोलियन से कई भाषाएँ निकलीं, जिनमें पाँच प्रमुख हैं—

(1) **लीडियन** (Lydian)—इस मृत भाषा का क्षेत्र पश्चिमी एशियामाइनर था। इसके 54 अभिलेख मिले हैं। इसकी लिपि ग्रीक लिपि पर आधारित है। इसका काल 1500 ई० पू० से कुछ पूर्व से लेकर बाद तक है।

(2) **लीसियन** (Lycian)—यह एशिया माइनर के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में पूर्व बोली जाती थी। इसके 150 अभिलेख तथा कुछ सिक्के मिले हैं। प्राप्त सामग्री प्रायः 4-5वीं सदी ई० पू० की है। लिपि ग्रीक पर आधारित है, किन्तु कई वर्ण अतिरिक्त भी हैं।

(3) **पलेइक** (Palaic)—इसका क्षेत्र एशिया माइनर का पला (Pala) नामक स्थान था। यह लुवियन एवं हित्ती के निकट है। यों लुवियन से नैकट्य अपेक्षाकृत अधिक है।

(4) **लुवियन** (Luwian Luian)—एशिया माइनर की इस भाषा के केवल कुछ कर्मकांडीय पाठ ही मिले हैं। यह हित्ती के बहुत निकट है, किन्तु कर्त्ता तथा कर्म की बहुवचन विभक्तियों, सम्बन्ध कारक के स्थान पर स्वामित्वबोधक विशेषण (Possessive Adjective) का प्रयोग होता है तथा वर्तमान एवं भूत की कुछ विभक्तियों में उससे भिन्न है।

(5) **हीरोग्लाइफ़िक हित्ती या चित्राक्षर हित्ती** (Hieroglyphic Hittite)—उत्तरी सीरिया में प्रयुक्त इस भाषा की सामग्री भी अधिक नहीं मिली है। यह भाषा लुवियन के निकट है। इसकी सामग्री प्रायः चित्रलिपि में है, इसी कारण इसका यह नाम है। इसका क्षेत्र बोगाजकुई के पास है।

(ख) हित्ती या हिट्टाइट (Hittite)—

इस भाषा को हित्ताइत, खत्ती, हिट्टाइट, कप्पदोसी, हत्ती, कनेसिअन, नेसीरी, नेसियन तथा नासिली आदि भी कहते हैं। हत्ती भाषा की सामग्री बोगाजकुई के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थानों (जैसे मिस्र आदि) से भी मिली है, तथा भविष्य में और भी सामग्री मिलने की आशा है। इनकी लिपि प्रमुखतः बेबिलोनियन क्यूनिफार्म है तथा कहीं-कहीं मिस्री हीरोग्लाइफ़िक का भी प्रयोग है। प्राप्त सामग्री 1900 ई० पू० से 1200 ई० पूर्व तक की है। हित्ती की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित थीं—(1) हित्ती में 3 स्वर—अ, इ, उ, 16 व्यंजन—क्, त्, प्, ग्, द्, ब्, न्, म्, य्, व्, र्, ल्, स्, (ज्), श्, ह्, हँ। स्वरों में ह्रस्वता-दीर्घता मिलती है, किन्तु उसका ध्वनिग्रामिक मूल्य नहीं है। 'स' ज़—रूप में भी उच्चरित होता है। पहला ह घोष

है तथा दूसरा अघोष। ये दोनों स्वरयंत्रमुखी ध्वनियाँ हित्ती की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। (2) लिंग का प्रयोग संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम में मिलता है। इसमें लिंग केवल दो थे : पुल्लिग, नपुंसक लिंग। स्त्रीलिंग नहीं था। (3) वचन तीन थे : एक०, द्वि०, बहु०। द्विवचन का प्रयोग बहुत कम होता था। सभी शब्दों के स्पष्ट बहुवचन नहीं थे, क्रिया में केवल दो वचन थे : एक०, बहु०। (4) कारक छह थे— कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध। अधिकरण नहीं था। (5) मूल काल केवल दो थे—वर्तमान एवं भूत। भविष्यकाल वर्तमान एवं सहायक शब्दों की सहायता से व्यक्त होता था। (6) कृदंती प्रत्यय एक था :—न्त–। (7) क्रियार्थ (mood) दो थे : निश्चयार्थ, आज्ञार्थ। (8) द्विरुक्ति (reduplication) का प्रयोग संज्ञा एवं क्रिया में पर्याप्त मात्रा में होता था : लु-उ-लु-लु-लु-उ=संपन्नता; गल्-गल्-तु-उ-रि=एक बाजा; ह्-अश्-ह्-अश्-श-अन्=खोला। द्विरुक्ति पूर्ण एवं अपूर्ण दोनों प्रकार की होती थी। (9) इस परिवार की अन्य पुरानी भाषाओं की तुलना में हित्ती अधिक विकसित थी, इसी कारण इसमें संयोगात्मक के साथ-साथ अयोगात्मक रूप भी मिलते हैं। हित्ती में अनेक शब्द संस्कृत शब्दों के अत्यंत समीप हैं। हित्ती maryanm सं० मर्य (मनुष्य), हित्ती indara सं० इन्द्र, हित्ती miittara सं० मित्र।

जैसा कि प्रारम्भ में संकेत किया जा चुका है, हित्ती में केंतुम की प्रवृत्ति 'क' रहनेकी—कित (लेटता है), सं० शेते हैं। इससे, तथा इस पर बहुत अधिक प्रभावों से ऐसा अनुमान लगता है कि ये लोग पहले और पश्चिम में कहीं थे, और बाद में अपने उस स्थान पर आए, जहाँ उनकी सामग्री मिली है।

प्रश्न 48—भारोपीय कुल की भाषाओं का परिचय देते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—इसका काल 2400 ई० पूर्व से 1900 ई० पू० तक माना जाता है। वस्तुतः भारोपीय भाषा में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है। इस परिवार की विभिन्न भाषाओं संस्कृत, फार्सी, ग्रीक, लैटिन आदि से तुलना करके भारोपीय भाषा को पुनः निर्मित किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

ध्वनि

(1) स्वर—मूल अति ह्रस्व स्वर—ꜫ (ə)
मूल ह्रस्व स्वर—अ, एँ, ओँ
मूल दीर्घ स्वर—आ, ए, ओ

अति ह्रस्व 'ꜫ' का उच्चारण अस्पष्ट था। इसे ह्रस्वार्ध या उदासीन स्वर (neutral vowel) भी कहते हैं। युरोपीय भाषाओं में इसे 'श्वा' (Shwa) कहते हैं और ə लिखते हैं।

अर्धस्वर—अपने स्वभावानुसार ये ध्वनियाँ कभी स्वर रूप में और कभी व्यंजन रूप में उच्चरित होती थीं। आगे इन्हें स्वर रूप में दिया गया है लेकिन कोष्टक में इनका व्यंजन रूप भी दिखाया गया है—

इ (य्), उ (व्), ऋ (र्), लृ (ल्), ऩ (न्), म़ (म्) ये अर्धस्वर अपने ह्रस्व रूप में हैं, इनके दीर्घ रूप इस प्रकार हैं—

ई, ऊ, ॠ, ॡ, न्, म्

कोष्ठकान्तर्गत व्यंजन वस्तुतः अन्तःस्थ व्यंजन हैं।

संयुक्त स्वर—इनकी कुल संख्या 36 थी—

अइ	अउ	अऋ	अऌ	अन्	अम्
आइ	आउ	आऋ	आऌ	आन्	आम्
ऍइ	ऍउ	ऍऋ	ऍऌ	ऍन्	ऍम्
एइ	एउ	एऋ	एऌ	एन्	एम्
ओॅइ	ओॅउ	ओॅऋ	ओॅऌ	ओॅन्	ओम्
ओइ	ओउ	ओऋ	ओऌ	ओन्	ओम्

(2) व्यंजन—(अ) स्पर्श व्यंजन—

क वर्ग—(i) क्, ख्, ग्, घ्

(ii) क़्, ख़्, ग़्, घ़्

(iii) क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्

कवर्ग (i) को अधिकांश लोग तालु की गौण सहायता से उच्चरित किए जाने वाला क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य् मानते हैं। डॉ० चटर्जी इन्हें तालव्य न मानकर पुरः कण्ठय मानते हैं। कवर्ग (ii) को अरबी 'क़' के समान कह सकते हैं। युरोपीय विद्वान् इन्हें कण्ठय् कहते हैं, किन्तु डॉ० चटर्जी इन्हें पश्च कण्ठय् या अलिजिह्वीय मानते हैं। कवर्ग (iii) के उच्चारण में होंठों की भी सहायता ली जाती है।

तवर्ग—त्, थ्, द्, ध्—इस वर्ग को कुछ लोग दन्त्य दन्तमूलीय या वर्त्स्य मानते हैं।

पवर्ग—ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्

(ब) संघर्षी—स् (ज़्) इनको ऊष्म, दन्त्य, दन्तमूलीय या वर्त्स्य कहा गया है। वस्तुतः ऊष्म 'स' ही सघोषों के पूर्व या दो स्वरों के बीच 'ज़' भी उच्चरित होता है।

संदिग्ध ध्वनियाँ—ख़्, ग़्, ज़्, फ़्, थ़्, द़्, ह्, ह़्।

(3) ध्वनि संयोग—भारोपीय भाषा में मूल स्वरों का संयोग नहीं होता था, लेकिन व्यंजन-संयोग होता था और दो या दो सें अधिक व्यंजनों का संयोग संभव था।

(4) ध्वनि-गुण—मात्रा का प्रयोग निश्चित रूप से होता था और उसकी ध्वनिग्रामिक सत्ता भी थी। लेकिन इस सम्बन्ध में विवाद है कि बलाघात या सुराघात का प्रयोग होता था या नहीं। अनुमान है कि बलाघात और सुराघात से ही भारोपीय भाषा में क्रमशः मात्रिक तथा गुणीय अपश्रुति (Ablaut) की प्रवृत्ति विकसित हुई।

व्याकरण

(1) मूल भारोपीय भाषा का व्याकरण अत्यन्त जटिल था। रूप बहुत अधिक थे। एकरूपता जो भाषा-व्यवस्था का आधार है प्रायः बहुत कम थी। उत्तरावस्था में यह धीरे-धीरे विकसित हुई। अपवादों की संख्या बहुत अधिक थी।

(2) कारक आठ थे। कारकीय रूप प्रत्ययों एवं अपश्रुति की सहायता से

बनते थे। एक ही कारक, वचन, एवं लिंग में, प्रातिपदिकांत के अनुसार, ये प्रत्यय अलग-अलग होते थे। संज्ञा की कारकीय विभक्तियों से अलग सर्वनाम की कुछ कारकीय विभक्तियाँ थीं।

(3) **लिंग** तीन थे: पुल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। उस समय तक प्रत्यय पूर्णतः लिंगानुसार अलग-अलग न थे। एक ही प्रत्ययांत शब्द विभिन्न लिंगों में आते थे।

(4) **वचन** तीन थे। एक, द्वि, बहु। प्रारम्भ में द्विवचन का प्रयोग युगलवाची शब्दों तक ही सीमित था। बाद में उसका परवर्ती प्रयोग विकसित हुआ।

(5) सर्वनाम दो प्रकार के थे: लिंगी, अलिंगी। लिंगी में संकेतवाचक (Demonstrative), सम्बन्धवाचक (relative) तथा प्रश्नवाचक, एवं अलिंगी में पुरुषवाचक (उत्तम, मध्यम)।

(6) दस उँगलियों से गणना आरम्भ करने के कारण **संख्याओं** की दाशमलविक प्रणाली थी। आरम्भ में 10 तक, फिर 100 तक और फिर 1000 तक की गणना का विकास हुआ। संख्यावाची शब्द 3 प्रकार थे: (1) मूल—जैसे 1 से 10 तक और 100 (*oinos, *oiwos, *oiqos=एक; *dwou=दो; *treyes=तीन; *dekm=दस। (2) संयुक्त—जैसे बारह* (duo-dekm=बारह)। (3) कई शब्दों से बने जैसे *treies qe uikmti qe=तेइस (अर्थात् तीन और बीस और। मूल भारोपीय भाषा के *oinos (एक), *dwou (दो, *treyes (तीन) शब्दों के अर्थ क्रमशः 'वह एक', 'विभिन्नता' एवं 'जो और आगे चला गया' है। kmtom (=सौ) का अर्थ है 'दस का समूह'। अन्य मूल शब्दों का अर्थ नहीं लग सका है।

(7) **क्रिया** में तीन वचन (एक, द्वि, बहु) तीन पुरुष, दो पद (आत्मने, परस्मै) थे। पदों का अर्थभेद आरम्भ में धुँधला था, किन्तु आगे विकसित हो गया। प्रारम्भिक काल में, क्रिया के होने एवं उसकी पूर्णता-अपूर्णता की ही धारणा थी। काल एवं क्रियार्थ (mood) का बोध नहीं था। अविकसित मस्तिष्क के लिए इसकी आवश्यकता भी नहीं थीं। वाच्य केवल एक था—कर्तृवाच्य। शुद्ध काल की दृष्टि से भारोपीय में केवल वर्तमान एवं भूत ही थे। भविष्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी। उसके लिए सम्भावनार्थ (subjunctive) का ही प्रयोग होता था।

(8) क्रिया की विशेषता दर्शित करने के लिए स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग होता था। ये ही आगे चलकर उपसर्ग हो गए। संस्कृत के प्र परा आदि 21 उपसर्ग इन्हीं के वंशज हैं। कहना न होगा कि इन शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता वैदिक काल तक मिलती है। वे क्रिया के पूर्व या बाद में आ सकते हैं या कोई दूसरा शब्द भी उनके एवं क्रिया के बीच आ सकता है। बहुत बाद में ये नियमतः धातु के पूर्व जोड़े जाने लगे।

(9) आज अव्यय कहे जाने वाले शब्द भी, मूल भारोपीय में थे, यद्यपि उनमें अव्ययता नहीं थी, अर्थात् उनके रूप में परिवर्तन होते थे। बाद में ये अपरिवर्तनशील या अव्यय बन गए।

(10) समासों के आधार पर भी शब्द-रचना होती थी, अनेक संख्यावाचक शब्द, नाम एवं अन्य शब्द समासों के आधार बनते थे।

शब्द-समूह

जैसा कि स्वाभाविक है अपनी मूलावस्था में मूल भारोपीय भाषा में स्थूल

एवं प्रत्यक्ष के लिए ही शब्द रहे होंगे, सूक्ष्म के लिए शब्द बाद में विकसित हुए होंगे। मूल भारोपीय लोग कई अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आए और उनसे शब्दों की लेन-देन भी की। अब सभी का पता लगाना तो सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ के बारे में निष्कर्ष निकाले गए हैं। उदाहरणार्थ मूल भारोपीय भाषा में सुमेरी से 'गुद्' (जो सं० गो, हि० गाय, अं० cow आदि का जनक शब्द है) एवं उरुदु (>*रउध>*रोध >लौह >लोहा) तथा अक्कादी से पिलक्कु (>सं० परशु, हि० फरसा) शब्द आए।

वर्गीकरण

शाखाएँ-प्रशाखाएँ—मूल भारोपीय भाषा चाहे जिस स्थान पर भी बोली जाती रही हो, ज्ञात भाषाओं के आधार पर उसका जो पुनर्निर्माण किया गया है, उससे यह पता चलता है कि अपने पुनर्निर्मित रूप तक वह कोई ऐसी भाषा नहीं थी, जिसमें सभी दृष्टियों से एकरूपता हो। अर्थात् जिस रूप का पुनर्निर्माण हुआ है, उसमें कई बोलियों के होने के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। उदाहरण के लिए संख्यावाचक शब्द 'एक लें। उस समय कुछ लोग *Cinos कहते थे, तो कुछ लोग *Oiwos तथा कुछ लोग *Oiqos। क्रिया, सर्वनाम आदि के अनेक रूपों से भी इसी प्रकार की अनेकरूपता के प्रमाण मिलते हैं। वस्तुतः उसी समय, आगे दी गई शाखाओं—केंतुम, सतम्—एवं प्रशाखाओं—बाल्टो-स्लाविक, भारत-ईरानी आदि—के बीज बोलियों के रूप में पड़ चुके थे। विभिन्न शाखों में समानताओं एवं असमानताओं के आधार पर इस बात का बहुत कुछ निर्णय किया जा सकता है कि इन बोलियों की पारस्परिक स्थिति क्या थी। सभी दृष्टियों से विचार करने पर ऐसे संकेत मिलते हैं कि सतम् शाखा का एक केन्द्रीय वर्ग था और केंतुम शाखा उसके चारों ओर फैली थी। इस बाहरी पेटी में पश्चिम की ओर इटैलिक, जर्मन एवं केल्टिक आदि थीं, दक्षिण में ग्रीक तथा पूर्व में तोखारियन आदि। केन्द्रीय पेटी में अल्बानियन एवं भारत-ईरानी दक्षिणी ओर थीं, तथा बाल्टो-स्लाविक उत्तरी ओर। आर्मिनियन कदाचित् बीच में थी।

भारोपीय परिवार की भाषाओं को सतम् एवं केंतुम दो वर्गों में रखते हैं। पहले-पहल अस्कोली ने 1870 ई० में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि मूल भरोपीय भाषा के कण्ठ-तालव्य 'क्' (अथवा 'क्य्') का परवर्ती भाषाओं में विकास दो दिशाओं में हुआ। कुछ में तो यह 'क्' हो गया और कुछ में ऊष्म (श, स् आदि)। इसी आधार पर वॉन ब्रैडके ने इस परिवार के सतम् (जिनमें 'स' 'श' आदि हैं) तथा केंतुम् (जिनमें क है) दो वर्ग बनाए। यह अन्तर 'सौ' के लिए प्रयुक्त शब्दों में बहुत स्पष्ट है, अतः लैटिन से 'सौ' का वाचक 'केंतुम्' एवं अवेस्ता से सौ का वाचक 'सतम्' लेकर इन दोनों का नामकरण किया गया। भारोपीय क्दम्तोम् (kmtom) का विकास इन भाषाओं में—

सतम् वर्ग	केंतुम् वर्ग
अवेस्ता सतम्	लैटिन केंतुम्
संस्कृत शतम्	ग्रीक हे-कतोन
फ़ारसी सद	पुरानी आयरिश केत्
लिथुआनियन शितस्	
रूसी स्तो	तोखारियन कन्ध
बल्गेरियन सुतो	इतालवी केंतो

इस प्रकार हुआ है। इस तरह सतम् में जहाँ स् या श् है, केंतुम में 'क्'। कंठ-तालव्य ग, घ में भी कुछ इस प्रकार की प्रवृत्ति है। इन दो के अतिरिक्त एक और भी अन्तर है। मूल भारोपीय का कंठोष्ठ्य क वर्ग (क्वम् ग्व् आदि) केंतुम में कई भाषाओं में प्रायः सुरक्षित है किन्तु सतम् में उसका ओष्ठ्यत्व समाप्त हो गया है। जैसे मूल भारोपीय *KWO का लैटिन qeuo, गोथिक ख्वस् हित्ती क्विश्, किन्तु सं० कः, रूसी क्तो, लिथु० कस् इत्यादि।

सतम् वर्ग

इस वर्गीकरण में ध्वनि-नियमों की दृढ़ता पर विशेष बल दिया गया है। नीचे हम दोनों वर्गों की प्रमुख शाखाओं का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं—

इस वर्ग में अल्बानियन, बाल्टिक, स्लावी, आर्मीनियन तथा भारत-ईरानी शाखाएँ आती हैं। प्रत्येक शाखा का विवरण इस प्रकार है—

(1) **अल्बानियन**—सतम् वर्गीय इस भाषा का क्षेत्र अल्बानिया, यूनान, इटली तथा सिसली है। इस भाषा के गेग (Geg) तथा तॉस्क (Tosk) दो रूप हैं, जिनके अन्तर्गत अनेक बोलियाँ हैं। इस भाषा में ध्वन्यात्मक, रूपात्मक एवं शाब्दिक तीनों ही दृष्टियों से अन्य भारोपीय भाषाओं की तुलना में बहुत अधिक परिवर्तन हुए। यह भाषा पहले कदाचित् पूर्व में बोली जाती थी। बाद में इसके बोलने वाले पश्चिम की ओर बढ़ गए।

(2) **बाल्टिक**—इसमें तीन भाषाएँ आती हैं—(क) प्राचीन प्रशन—इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विश्चुला और नीमेन नदियों के बीच था। इस भाषा की 15वीं सदी के आरम्भ की तथा 16 वीं सदी की लिखी कुछ पुस्तकें मिली हैं। यह भाषा सत्रहवीं में ही समाप्त हो गई। (ख) लिथुआनियन—इसका क्षेत्र अब रूस के अन्तर्गत है। इस भाषा की 1750 ई० के लगभग की महाकवि दोनेलेटिस कृत 'सीजन्स' पुस्तक उपलब्ध होती है। इसमें 'एस्टि' (संस्कृत अस्ति) एवं जीवा:' जैसा रूप अब भी हैं। वैदिक संस्कृत की भाँति संगीततात्मकता एवं द्विवचन भी अभी इसमें हैं। इस भाषा के निम्न और उच्च दो रूप हैं। (ग) लेटिश या लैट्रिवियन—यह रूस के पश्चिमी भाग में लेटविया राज्य की भाषा है। इसमें साहित्य का आरम्भ 16 वीं सदी से हुआ है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है। उच्च, मध्य और निम्न इसके तीन रूप हैं।

(3) **स्लावी**—इसका क्षेत्र रूस, पौलैंड, गलसिआ, आस्ट्रिया, बोहेमिया मोराविया बलगेरिया, सर्विया, स्लावोनिया आदि है। इसमें नवीं सदी के लेख मिलते हैं। इसके अन्तर्गत महारूसी, श्वेतरूसी, लघु रूसी या अक्रेनियम, सोर्बोवेन्दिक, जेकोस्लोवाकियन सौबिअन या सारोवियन या लुसेशन या वेंड्कि, पोलिश या पोलाबिश बलगेरिअन, क्रोटिअन स्लोवीन या स्लोवेनिअन आदि भाषाएँ हैं।

(4) **आर्मीनियन**—बाल्टो-स्लाविक और आर्य शाखाओं की संयोजन कड़ी के रूप में है। इसमें ईरानी शब्दों का बाहूल्य है। ईरानी के अनेक उपसर्ग और प्रत्यय इसमें प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि भाषा का ढ़ाँचा ईरानी से भिन्न है। अरबी और काकेशी का भी प्रभाव है। प्राचीन आर्मीनी साहित्य मुख्यतः ईसाई धर्म से सम्बद्ध था। आधुनिक आर्मीनी कुस्तुनतुनिया और कृष्ण सागर के किनारे पर बोली जाती है। इसकी प्रधान भाषाएँ 'अराराट' 'स्तंबुल हैं। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह

है कि इसमें व्याकरणिक लिंग नहीं है। इसमें भारोपीय 'द्' 'त्' हो जाता है—सं० दशद् > आर्मी० तस्न। इसी प्रकार कुछ अन्य व्यंजनों में भी परिवर्तन की प्रवृत्ति है।

(5) आर्य या भारत-ईरानी शाखा—यह शाखा इस वर्ग की सर्वाधिक महत्व-पूर्ण शाखा है। इसी शाखा में प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य मिलता है। ऋग्वेद इसी शाखा की देन है। इससे पुराना और उत्कृष्ट साहित्य अन्य किसी भाषा में उपलब्ध नहीं। इसकी प्रमुख दो शाखाएं हैं—(i) भारतीय और (ii) ईरानी (iii) तीसरी शाखा 'दरद' का भी उल्लेख किया जाता है।

भारतीय शाखा प्रमुख रूप से भारतवर्ष में ही है। आरम्भ में वैदिक संस्कृत से लेकर उत्तरापथ की सभी देशी भाषाएँ इसमें आ जाती हैं। वैदिक संस्कृत में ही ऋग्वेद मिलता है। भारतीय आर्य शाखा की परवर्ती भाषाओं का क्रम लौकिक संस्कृत पालि प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक आर्य भाषाओं तक का है। समग्र आर्य भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है—

(1) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल (1500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक)।

(2) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल(500 ई० पू० से 1000 ई० तक)

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा काल (1000 ई० पू० से 20 वीं सदी तक) प्रत्येक काल की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

ईरानी शाखा का प्रयोग ईरान क्षेत्र में होता है। ईरान शब्द आर्याणाम् का ही अपभ्रंश है जो इस बात का सूचक है कि ईरान में किसी दिन आर्यों का निवास था। ऋग्वेद की भाषा और पारसियों के धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता की भाषा की तुलना करने से दोनों की निकटता स्पष्ट हो जाती है। ईरान के भी तीन वर्ग हैं—प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक। प्राचीन ईरान की दो प्रमुख भाषाएँ थीं जिनमें एक पश्चिम में बोली जाती थी और दूसरी पूर्व में। पश्चिमी ईरानी को ही प्राचीन फ़र्सी कहते हैं। पूर्वी ईरानी में पारसियों का धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' है। प्राचीन फ़र्सी का साहित्य समृद्ध था, किन्तु सिकंदर तथा इस्लाम के आक्रमणों से नष्ट हो गया। पूर्वी ईरानी अवेस्ता में सुरक्षित है।

मध्यकालीन ईरानी की सबसे प्रमुख भाषा 'पहलवीं' है। पहलवी में सभी शब्दों का अधिक मिश्रण पाया जाता है और वाक्य-रचना भी सामी से प्रभावित है। पूर्वी ईरानी (अवेस्ता) का मध्य कालीन रूप अनुपलब्ध है।

आधुनिक ईरानी में फ़ार्सी या ईरानी नाम की प्रमुख भाषा है, जो ईरान की राष्ट्रभाषा है। आधुनिक ईरानी पूर्णतः अयोगात्मक हो गई है और उसका साहित्य बहुत समृद्ध है। इसमें 70०/० अरबी शब्द पाए जाते हैं। ईरानी की अनेक बोलियाँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाती हैं यथा कुरदिश, वरगिस्ता, माजन्दरानी, समनानी दारी, काशानी तथा नियानी आदि। पूर्वी ईरानी से विकसित भाषाओं में तीन उल्लेखनीय हैं—(क) पश्तो (अफगानी), (ख) बलोची (ग) पामीरी। पश्तो अफ़गानिस्तान में बोली जाती है, बलोची बलूचिस्तान में और पामीरी हिन्दुकुश पर्वत के आस-पास।

दरदी—का क्षेत्र पंजाब के पश्चिम उत्तर में पड़ता है। इस पर भारतीय और ईरानी दोनों भाषाओं का प्रभाव है। दरद जाति का उल्लेख पुराणों में आया है। दरदी भाषाओं के कई वर्ग हैं जिनमें काफीरी और खोवारी उल्लेख्य हैं।

केतुम् वर्ग

इस वर्ग की छह शाखाएं हैं—

(1) केल्टिक, (2) जर्मनिकया, ट्यूटानिक, (3) इटैलिक, (4) हेलेनिक (5) तोखारियन्, (6) तोखारी।

(1) केल्टिक शाखाकी प्रधान भाषाएँ गॉलिश, ब्रीटन तथा गोइडेलिक हैं। इसका क्षेत्र आयरलैंड, वेल्श, स्काटलैंड, मानद्वीप तथा ब्रिटेनी के कुछ भाग तक है। ब्रिटानिक के अन्तर्गत वेल्स, कार्निश, तथा ब्रीटन और गोइडेलिक के अन्तर्गत आयरिश, स्कॉच, तथा मैक्स बोलियाँ आती हैं। वेल्स का प्रधान क्षेत्र वेल्स है। कार्निश कार्नवाल की बोली थी। ब्रीटन फ्रांस के ब्रिटेनी प्रदेश में बोली जाती हैं। स्कॉच स्काटलैंड के उत्तरी और पश्चिमी भाग की बोली है तथा मैंक्स इंगलैंड के समीप मान-द्वीप की भाषा थी।

(2) ट्यूटानिकको जर्मनी शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा की अंगरेजी भाषा सर्वाधिक प्रसिद्ध भाषा है। जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, इंग्लैंड आदि में इस शाखा की भाषाओं का व्यवहार होता है। इसकी तीन उपशाखाएँ हैं। (1) पूर्वी जर्मन (2) उत्तरी जर्मन, (3) पश्चिमी जर्मन। पश्चिमी जर्मनी की ही जर्मन तथा अंगरेजी भाषाओं ने अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की हैं। ग्रिम नियम' का वर्ण परिवर्तन पश्चिमी जर्मनी की उच्च तथा निम्न जर्मन भाषा पर आधृत है। ये भाषाएँ संहित से व्यवहित की ओर वढ़ रही हैं।

(3) लैटिन या इटैलिक शाखा—की सर्वप्रधान भाषा स्वयं लैटिन है। यह रोमन कैथोलिक समुदाय की धार्मिक भाषा है। केल्टिक के समान इसके भी दो वर्ग 'थ'और 'क' हैं। पहले को लैटिन और दूसरे को एम्ब्रो सेमेनिटिक कहते हैं। इसी से फ्रेंच, स्पैनिश, पुर्तगाली, इतालवी, तथा रूमानियन भाषाओं का विकास हुआ।

(4) हेलेनिक (ग्रीक) शाखाकी भाषाओं का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ग्रीक भाषा में होमर की 'इलियद' तथा 'ओडेसी' महाकाव्य है। इसक क्षेत्र ईजियन द्वीप समूह, दक्षिणी अल्बानिया और यूगोस्लाविया दक्षिणी, पश्चिमी बुलगारिया, तुर्की का कुछ भाग तथा साइप्रस और क्रीट द्वीप हैं। ग्रीक में अनेक बोलियाँ थीं जिनमें आत्तिक, दोरिक, इयोनी और आयंओली प्रमुख थीं। इनमे परस्पर भेद था। सामान रूप से जो भाषा प्रचलित थीं, उसे 'कोइने' कहते थे। प्रत्येक भाषा की निजी विशेषताएँ हैं। संस्कृत और ग्रीक की समानता विशेष दर्शनीय है।

(5) तोखारीका पता भी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही चला है। महाभारत के तुषार' शब्द से तोखारी का उल्लेख मिलता है। तोखारी का राज्य मध्य एशिया में दूसरी शताब्दी ई० पू० से सातवीं शताब्दी ई० पू० तक था जिसे ण ने नष्ट कर दिया था। तोखारी का क्षेत्र मध्य एशिया (तुर्फान) है। इसमें कारकों की संख्या ८ है। क्रिया रूपों की जटिलता पाई जाती है। संधि-नियम और शब्द-भंडार संस्कृत के समीप हैं। यूराल-अल्टाई परिवार का भी इस पर पर्याप्त

प्रभाव पड़ा है। कारशर (Karshar) के पास बोली जाने वाली भाषा को तुरफ़ानियन या कारशरियन तथा कूचा के पास बोली जाने वाली भाषा को कूचियन कहते हैं।

(6) एलीरियन — कँतुम् वर्ग की यह भाषा इटली में बोली जाने वाली बोलियों में वेनेटिक एवं मेसपिक से सम्बद्ध मानी जाती है। इएटिक भी इसी से सम्बद्ध माना जाती है। अभी इस भाषा के सम्बद्ध में खोज हो रही है।

प्रश्न 49 — आर्यशाखा अथवा हिन्द-ईरानी शाखा का सामान्य परिचय दीजिए।

प्रश्न 50—इण्डो-ईरानी तथा इण्डो-आर्य भाषाओं का स्थान निर्धारित कीजिए तथा उनकी समान तथा विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—आर्य शाखा या हिन्द-ईरानी शाखा भारोपीय परिवार की श्रेष्ठतम तथा महत्त्वपूर्ण शाखा है। साहित्य, भाषा और प्राचीनता की दृष्टि से यह विशिष्ट है। विश्व के भाषा परिवारों में इसका साहित्य प्राचीनतम है। ऋग्वेद इसी शाखा का एक महान् ग्रन्थ है, जो विश्व साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन (ई० पू० 3000) है। जेन्द-अवेस्ता (ई० पू० 700) भी प्राचीन ग्रन्थ है, वह भी इसी शाखा की अमूल्य निधि है। भाषा के गठन, सौष्ठव और वैज्ञानिकता की दृष्टि से तथा भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी यह अपरिमित सामग्री प्रदान करता है।

आर्य जब निरन्तर बढ़ते हुए भारत की ओर आ रहे थे, तब कुछ थोड़े से आर्य ईरानी में बस गए और कुछ भारत में। इन्हीं के कारण आर्य शाखा दो उपवर्गों—भारतीय तथा ईरानी शाखा में विभक्त हो गई है। इसीलिए इसे 'भारत-ईरानी भाषा कुल' भी कहते हैं। इन दोनों शाखाओं की भाषाओं के स्वर, व्यंजन तथा शब्द आदि अनेक रूपों में समान हैं।

उदाहरण के लिए स्वरगत साम्य:—

भारोपीय	नेभास	ओस्थ	याग.
संस्कृत	नभस्	अस्थि	यज्ञ
अवेस्ता	नवह्	अस्ति	यज

दोनों वर्गों की भाषाओं में तीन मूल ह्रस्व स्वर अ, ए, ओ तथा तीन दीर्घ स्वर आ, ऐ, ओ के स्थान पर केवल एक ह्रस्व स्वर 'अ' तथा एक दीर्घ स्वर 'आ' ही शेष है।

दोनों में भारोपीय उदासीन स्वर के स्थान पर 'इ' मिलता है। जैसे — 'पँते' के स्थान पर संस्कृत और अवेस्ता दोनों में 'पिता' मिलता है।

इ, उ, र और क के बाद आने वाला स इस शाखा में श् या ष् हो गया है, जैसे—

भारोपीय:	स्थिस्थामि	जेउस्तर
संस्कृत :	तिष्ठामि	जोष्ट्र
अवेस्ता :	हिश्तैति	ज़ओशो.

अवेस्ता एवं संस्कृत में शब्द-साम्य भी मिलता है—

संस्कृत — असुर, असि, ओजस्, पुत्र, वसिष्ठ, विश्व, सप्त।

अवेस्ता— अहुर, अहि, ओज:, पुथ, वहिश्त, विस्प, हप्त।

यहाँ इन शब्दों में केवल उच्चारण मात्र का अन्तर है।

भारत तथा ईरानी कुल की कुछ असमानताएं निम्न हैं—

(1) ईरानी कुल में स्वरों की संख्या अधिक है। यह संख्या आठ है। भारतीय शाखा में इन स्वरों का कार्य 'अ' या 'आ' से ले लिया जाता है।

(2) संस्कृत भाषा का 'ऋ' अवेस्ता में अर, र या अ हो जाता है।

(3) अवेस्ता में आदिस्वरागम (सं० रिणक्ति अवे० इरनरिक्ति) और बाद के अक्षर के स्वर का पूर्व के अक्षर पर प्रभाव (सं० भरति, वरहति) अधिक रहता है।

(4) व्यंजनों की दृष्टि से ईरानी कुल में टवर्ग का तथा पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राणों का भी अभाव है।

(5) ईरानी भाषा कुल या शाखा में चवर्ग के दो, व्यंजन च, ज ही हैं, जब कि भारतीय भाषा वर्ग में पाँच व्यंजन हैं।

(6) प्राचीन इरानी में 'ल' के स्थान पर 'र्' का ही प्रयोग मिलता है।

(7) ईरानी में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्, ख्, थ्, फ्, में रूपान्तरित हो जाते हैं। इसी प्रकार घोष महाप्राण घ्, ध्, भ् ईरानी में अल्पप्राण ग्, द्, व् हो जाते हैं।

(8) भारतीय प्रारम्भिक अक्षरों का 'स' अक्षर ईरानी में 'ह' हो जाता है, जैसे सिन्धु=हिन्दु, सप्ताह+हप्ताह।

इस आर्यशाखा के तीन उपकुल हैं—

(1) ईरानी, (2) दरद तथा (3) भारतीय।

ईरानी—इस शाखा में प्राचीन काल से साहित्य सृजन हो रहा है। किन्तु आज इसका साहित्य प्राप्त नहीं है। केवल अवेस्ता धर्म ग्रन्थ तथा राजाओं के कुछ लेख ही प्राप्त हैं। इसकी उपभाषा अवेस्ता तथा फ़ारसी है।

दरद—दरद उपकुल का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब है। दरद भाषा का कुल भारतीय भाषाओं के अधिक निकट है। इसका प्रभाव लहँदा, सिन्धी, पंजाबी, सुदूर कोकणी, मराठी पर परिलक्षित होता है। आज भी भारत में दरद भाषा-भाषी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। दरद शाखा की तीन भाषाएँ—दरद, काफिर और खोवार-चित्राली हैं। दरद की उपभाषा कश्मीरी एक साहित्य सम्पन्न भाषा है; इसकी लिपि शारदा है।

भारतीय—इसकी आगे खण्ड 2 में चर्चा है।

प्रश्न 51—भारतवर्ष की भाषाओं का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—भारत एक महाद्वीप के समान है। इसमें इतनी भाषाएँ और बोलियाँ हैं कि यदि इसे भाषा-खण्ड ही कहा जाय तो अनुचित न होगा। भारत में पाँच से अधिक आर्य तथा अनार्य परिवारों की भाषाएँ हैं। कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु आदि में द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। शेष भारत में आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं। बहुत-सी अप्रधान और अपरिष्कृत बोलियाँ भी हिमालय और विन्ध्य-मेखला में बोली जाती हैं। इनका सामान्य वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार—भारत में आग्नेय परिवार की सबसे प्रधान भाषा मुण्डा है। मुण्डा की बोलियाँ भारत में पश्चिमी बंगाल से लेकर बिहार,

मध्यप्रान्त, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मद्रास प्रान्त के गंजाम जिले तक बोली जाती हैं। इनके बीच-बीच में द्राविड़ बोलिया पाई जाती हैं। मुण्डा की कनावरी बोली हिमालय की तराई से शिमला की पहाड़ियों तक फैली हुई हैं। मुण्डा बोलियों का मुख्य केन्द्र विन्ध्य-मेखला और उसके आस-पास का क्षेत्र है। छोटा नागपुर और संथाल परगने की खेरवारी बोली प्रमुख हैं, जिसके संथाली, मुण्डारी, ने, भूमिज, गदवा आदि उपभेद हैं। मुण्डा शाखा की बोलियों मे कूर्कू या कोई प्रमुख है। यह मालवा मध्य प्रान्त के पश्चिमी भाग में मेवाड़ में बोली जाती है।

अग्निदेशीय स्कन्ध की मोन-ख्मेर शाखा की भाषाएँ पूर्वी भारत के जंगली भागों में पाई जाती हैं। मोन भाषा वर्मा के तट पर पेगू-वतोन तथा मर्तवान की खाड़ी के चारों ओर बोली जाती है। ख्मेर भाषा ब्रह्मा तथा श्याम के सीमा प्रान्तीय प्रदेश की भाषा है। पलौंक और वा उत्तरी वर्मा की जंगली बोलियाँ हैं। निकोबारी निकोबार द्वीप की बोली है। खासी बोली असाम का खासी पहाड़ियों पर बोली जाती है।

(2) एकाक्षर अथवा तिब्बती चीनी परिवार—इस प्रकार की भाषाओं में से चीनी भारत में कहीं-कहीं बोली जाती है। श्यामी शाखा की बोलियाँ उत्तरी पूर्वी आसाम में बोली जाती है। आसाम के पूर्वी छोर पर खातमी तथा शान प्रदेश में अहोम बोली जाती है। एकाक्षर परिवार के तिब्बती-वर्मा स्कन्ध की भाषाओं का भारत के उत्तरी और पश्चिमी भाग से विशेष सम्बन्ध हैं। इस शाखा की मुख्य भाषाएँ और बोलियाँ हिमालय के उत्तरी आंचल में बोली जाती हैं। तिब्बती हिमालय शाखा की भोंट मँजी हुई साहित्यिक भाषा है। तिब्बती भाषा की कई गौण बोलियाँ भारत की सीमा पर बोली जाती हैं। इनमें दो वर्ग किए जा सकते हैं। पश्चिमी वर्ग में वाल्ती पुरिक और लद्दाखी बोलियाँ है। पूर्व वर्ग में भूटान की ल्होखा, सिक्किम की दांओकां, नेपाल की शर्पा और कागते तथा कुमायूं-गढ़वाल की भोटिया बोलियाँ प्रमुख हैं। नेपाल में नेवारी बोली प्रमुख है। आसामी-वर्मी शाखा की बोड़ो-बोली का हिमालयी शाखा से निकट सम्बन्ध है। बोड़ो बोलियाँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। नागा बोलियाँ निविड़ जंगल में रहने के कारण अब भी सजीव हैं। इनमें असंख्यों उप-बोलियाँ हैं। नागा वर्ग में लगभग 300 बोलियाँ हैं, उनका क्षेत्र नागा पहाड़ है। उनमें कोई साहित्य नहीं है। आसाम के 1432 ई० तक के मनीपुर राज्य के इतिवृत्त मेइथेइ भाषा में मिलते हैं।

(3) द्राविण परिवार—भारत में आर्य भाषाओं के उपरान्त द्राविड़ भाषाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं। द्राविड़ भाषाओं को द्राविड़, आंध्र, मध्यवर्ती और बहिरंग वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। इसका क्षेत्र प्रमुखतः दक्षिणी भारत है, किन्तु मध्य तथा उत्तरी भारत में भी इनकी कुछ बोलियाँ या भाषाएँ है जिनमें मध्य प्रदेश की गोंडी, बिहार की लोरांव तथा उड़ीसा की कंधी आदि उल्लेखनीय हैं—

(क) द्राविड़ वर्ग—द्राविड़ वर्ग की भाषाओं में तमिल सबसे अधिक उन्नत और साहित्यिक भाषा है। तमिल की चलती भाषा के शेन और कोडुन दो भेद हैं। शेन काव्य की भाषा है और कोडुन बोलचाल में प्रयुक्त होती है। मलयालम तमिल की बड़ी बेटी कही जाती है। यह भारत के दक्षिणी पश्चिमी समुद्र तट पर बोली जाती है। ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण यह संस्कृत प्रधान हो गई। मोपले अधिक

शुद्ध मलयालम बोलते हैं। कन्नड मैसूर की भाषा है। विभाषाओं में 'तुलु' एक छोटे से क्षेत्र की भाषा है। कोडगु, कन्नड़ और तुलु के बीच की भाषा है। होड और काट नीलिगिरि के जंगलियों की बोलियाँ हैं।

(ख) मध्यवर्ती वर्ग—मध्यवर्ती वर्ग की सबसे प्रसिद्ध बोली गौड़ी है। इसके बोलने वाले आंध्र, उड़ीसा, बरार, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़ और मालवा के सीमान्त पर रहते हैं। गौड़ी के पड़ोस में ही इसी वर्ग की 'कुइ' नाम की बोली पाई जाती है। कुरुख और ओरॉव बोलियाँ छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर के क्षेत्र में बोली जाती हैं। राँची के समीप कुछ कुरुख लोग मुडारी का प्रयोग करते हैं। राजमहल की पहाड़ियों में रहने वालों की मल्तो बोली भी कुरुख की एक शाखा है। इसी वर्ग की कोलामो बोली पश्चिमी बरार में बोली जाती है। यह भारत की आर्य बोलियों से बहुत प्रभावित है। सुदूर कलात के क्षेत्र में बहुई भाषा बोली जाती है।

(ग) आंध्र वर्ग—आंध्र वर्ग में आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है, तथा अन्य बोलियाँ हैं। दक्षिण पूर्व के विशाल क्षेत्र में तेलगू बोली जाती है। दक्षिण में तेलुगु का व्यवहार तमिल से भी अधिक होता है। उत्तर में चाँदा तक, पूरब में बंगाल की खाड़ी पर स्थिति चिकाकोल तक और पश्चिम में निजाम राज्य तक इसका प्रसार है। इसमें संस्कृत का प्रचुर प्रयोग होता है।

(4) आर्य-परिवार—आर्य-परिवार की ईरानी, दरद, और भारतीय तीन शाखाएँ हैं। ईरानी पंजाब के सीमाप्रान्त में बोली जाती है। बिलोचिस्तान में देवारी नामक फारसी विभाषा का व्यवहार होता है। बिल्लोची पश्चिमी सिन्ध में बोली जाती है। उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त में अफ़गान की पहाड़ी बोली पश्तो बोली जाती है। यह बड़ी शक्ति-शालिनी, स्पष्ट तथा साथ में कर्कश भी है। पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच का क्षेत्र दरदिस्तान कहलाता है। यहाँ की भाषा दरद कहलाती है। दरद-भाषा को कुछ लोग पैशाची भाषा भी कहते हैं। कभी इसका क्षेत्र भारत में बहुत दूर तक था। आज भी लहँदा, सिन्धी, पंजाबी और कोकणी मराठी पर इसका प्रभाव है। दरद भाषा के शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी तीन विभेद हैं। भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय आगे दिया जायगा।

(5) अनिश्चित भाषा परिवार—दो भाषाएँ ऐसी हैं जो उपर्युक्त चार परिवारों के बाहर हैं। इनमें प्रथम हैं—ब्रुशास्की या खजुना। इसका क्षेत्र कश्मीर में है दूसरी भाषा 'अंडमानी' जो अंडमन द्वीप में बोली जाती है।

भारत की भाषाओं के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में 'इतनी अधिक भाषाएँ हैं, जिनको कई भाषा वर्गों और परिवारों में विभाजित किया जा सकता है। वे स्पष्टतः रूप से पाँच परिवारों में विभाजित की जा सकती हैं।

अध्याय | 12

ध्वनि-विज्ञान

प्रश्न 52—ध्वनि-विज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी उपयोगिता बतलाइए।

प्रश्न 53—क्या फोनेटिक्स और फोनोलॉजि में अन्तर है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—ध्वनि के अध्ययन से सम्बन्धित शास्त्र या विज्ञान ध्वनि विज्ञान कहलाता है। अँगरेजों में ध्वनि विज्ञान के लिए फोनेटिक्स और फोनोलॉजि शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनमें 'Phone' का अर्थ ध्वनि है 'तथा 'टिक्स' और 'लॉजि' का अर्थ शास्त्र या विज्ञान है। फोनेटिक्स में भाषा, ध्वनि, ध्वनियों को उत्पन्न करने वाले अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और उसके स्वरूप का सैद्धान्तिक अध्ययन रहता है। इस प्रकार फोनेटिक्स ध्वनि के अध्ययन का सामान्य विज्ञान है। यह अपने अध्ययन के लिए संसार की समस्त भाषाओं से सामग्री लेता है। फोलोलॉजि का सम्बन्ध भाषा विशेष से होता है। इसमें किसी भाषा या बोली विशेष की ध्वनियों पर विचार करते हैं।

इस प्रकार 'फोनेटिक्स' जहाँ सैद्धान्तिक और सार्वभाषिक है, वहाँ 'फोनोलॉजि' उसका व्यावहारिक रूप है। अतः ध्वनि के अध्ययन के लिए फोनेटिक्स और फोनोलॉजि दो नामों का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग ध्वनि के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों के लिए फोनेटिक्स का ही प्रयोग करते हैं। कुछ लोग ध्वनि-अध्ययन के सैद्धान्तिक तथा वर्णात्मक रूप को फोनेटिक्स कहते हैं किन्तु उसके ऐतिहासिक रूप को 'हिस्टोरिकल फोनेटिक्स' कहते हैं। कुछ आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक फोनेटिक्स के लिए भी फोनोलॉजि का प्रयोग करते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि-विज्ञान के लिए इन दोनों से अधिक भेद नहीं है।

संस्कृत में ध्वनि-विज्ञान को पहले ध्वनि-शिक्षा कहा जाता था। हिन्दी में फौनेटिक्स के लिए ध्वनि-तत्त्व, ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विचार, ध्वनि-शास्त्र, वर्ण-विज्ञान ध्वनि-विज्ञान तथा फोनोलॉजि के लिए ध्वनि-विकार, वर्ण-विचार, ध्वनि-विचार आदि नाम दिए जाते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि फौनेटिक्स और फोनोलॉजि के अर्थ में अधिकांश विद्वान विशेष अन्तर नहीं मानते। अतः दोनों के लिए ध्वनि-विज्ञान ही एक रूपता की दृष्टि से नाम देना उचित होगा।

ध्वनि-विज्ञान भाषा विज्ञान का महत्वपूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध भाषा के भौतिक आधार ध्वनि से है। इसमें मानव मुख से निकलने वाली ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। है, जिनका सम्बन्ध भाषा से होता है, जो सार्थक होती हैं। इसलिए

भाषा विज्ञान में ध्वनि को सामान्य ध्वनियों से विभिन्न बतलाने के लिए भाषा-ध्वनि (Speech Sound) कहा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने ध्वनि की परिभाषायें इस प्रकार की हैं—

(1) "ध्वनि मनुष्य के विकल्प परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द लहरी है।"

(2) मानव के ध्वनि यंत्र द्वारा उत्पादित और निश्चित श्रावक (प्रो० डेनियाज जोंस) गुणों से युक्त ध्वनि को भाषा-ध्वनि या भाषण-ध्वनि कहा जाता है—A Speech sound is a sound of definite acoustic quality produced by the organs of speech. A given speech sound is in-capable of Variations.

(डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी)

(3) भाषा-ध्वनि वह ध्वनि है जिसे मनुष्य अपने मुँह के नियत स्थान से निश्चित प्रयत्न द्वारा किसी ध्येय को स्पष्ट करने के लिए उच्चरित करे और श्रोता जिसे उसी अर्थ में ग्रहण करे। (भोला नाथ तिवारी)

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भाषा विज्ञान में मानव मुख से उत्पन्न किन्तु सार्थक ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है—इस ध्वनि में वर्ण, शब्द और भाषा आदि का समावेश हो जाता है।

ध्वनि-विज्ञान का क्षेत्र— भाषा-विज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह ध्वनि विज्ञान में ध्वनि का वर्णात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन होता है। अतः "भाषा-ध्वनि के सर्वाङ्गीण अध्ययन को ध्वनि-विज्ञान कहते हैं।

ध्वनि-विज्ञान में—शारीरिक ध्वनि-विज्ञान; ध्वनि और भाषा ध्वनि, ध्वनियों का वर्गीकरण, ध्वनि-गुण संगम, अक्षर, श्रवणात्मक ध्वनि-विज्ञान प्रायोगिक ध्वनि-विज्ञान, ऐतिहासिक ध्वनि-विज्ञान ध्वनि-ग्राम-विज्ञान तथा ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन आदि विषयों का विवेचन होता है।

ध्वनि-विज्ञान की उपयोगिता—Van Riper ने ध्वनि-विज्ञान की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए कहा है :

"Without phonetics any Person in the field of general Speech is considered illiterate."

ध्वनि-विज्ञान के प्रमुख उपयोग निम्नलिखित हैं—

विदेशी भाषा की शिक्षा—विदेशी भाषा को सीखते समय उसकी ध्वनियों को भली-भाँति सिखाना ध्वनि-विज्ञान का प्रधान लक्ष्य है। ध्वनि-विज्ञान के द्वारा भाषा को सहज, शीघ्र तथा शुद्ध रूप में सीखा जा सकता है। किसी भी भाषा के उत्तम उच्चारण की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसका ध्वन्यात्मक विश्लेषण करना परम आवश्यक है। ध्वनियों के विश्लेषण के लिए ध्वन्यात्मक प्रशिक्षण आवश्यक होता है। इस प्रशिक्षण में ध्वनियों को बार-बार सुनकर जिस प्रकार श्रवण-शक्ति को तीव्र बनाना पड़ता है, उसी प्रकार भाषाणावयवों की हर मांस-पेशी को नवीन ध्वनि के उच्चारण के लिए अभ्यस्त करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ध्वन्यात्मक प्रशिक्षण के लिए ध्वनिलिपि की भी सहायता लेनी पड़ती है।

मातृभाषा का विश्लेषण—अपनी मातृभाषा के सही उच्चारण के लिए ध्वनि-विज्ञान सहायक होता है। कुछ ध्वनिविदों के अनुसार प्रत्येक भाषा का एक न एक आदर्श रूप होता है। आदर्श भाषा की बोली को बोलने वाला व्यक्ति चाहे तो ध्वनि-विज्ञान की सहायता से अपनी बोली में सुधार करके भाषा के आदर्श रूप को बोल सकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई बांगरू या कन्नौजी भाषा हिन्दी के आदर्श रूप खड़ी बोली को अच्छे ढंग से बोलना चाहता है तो वह ध्वनि-विज्ञान की सहायता लेकर शीघ्रता से सफलता प्राप्त कर सकता है अतः कहा जा सकता है कि एक उच्चारण-पद्धति के स्थान पर दूसरी को अपनाने में सबसे अधिक सहायक ध्वनि-विज्ञान है।

दोष-युक्त भाषा का संशोधन—व्यक्ति के भाषणावयवों के गठन के किसी दोष के कारण भाषा विकृत हो सकती है और दूसरे व्यक्ति के त्रुटिपूर्ण अभ्यास के कारण उसकी भाषा में दोष हो सकता है। अधिकांशतः व्यक्ति विशेष की भाषा में दोष आलस्य अथवा त्रुटिपूर्ण अभ्यास के कारण हुआ करता है। साधारणतः वक्ता स्वरों और व्यंजनों के वास्तविक रूप पर विशेष ध्यान नहीं दिया करता। विदेशी भाषा के क्षेत्र में जो पद्धति अपनाई जाती है, उसी का उपयोग यहाँ भी करके उच्चरण-पद्धति को सही बनाया जा सकता है। जहाँ पर भाषाणावयवों के गठन-दोष होने के कारण भाषण में अवश्यम्भावी दोष होते हैं, वहाँ ध्वनि-विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग का आश्रय लेना पड़ता है, जिसे स्पीच थेरापी या ऑर्थोफोनीक कहते हैं। इंगलैण्ड में इस स्पीच थेरोपी के प्रशिक्षण के लिए कम से कम तीन वर्ष लगते हैं, परन्तु अमेरिका में इसके लिए कोई विशेष समय निर्धारित नहीं है। परन्तु दोनों देशों में थियेटर, सिनेमा, टेलीविजन आदि के माध्यम से भाषण प्रस्तुत करने के लिए ध्वनि-विज्ञान में प्रशिक्षण अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि उच्चारण में विशेष सावधानी से काम लेना पड़ता है।

विभिन्न लेख-पद्धतियों का अध्ययन—ध्वनि-विज्ञान आज उच्चारण सम्बन्धी परिष्कार के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता है, बल्कि वह लिपि के निर्माण और सुधार में भी योग देता है। सैकड़ों अफ्रीकी व अमरीकन इण्डियन भाषाओं का वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक विश्लेषण करके उनके लिए उत्तम लिपिमालायें सृजित की गई हैं। अँग्रेजी जैसी उन्नत भाषा की लिपि और उच्चारण में जो विषमता है, उसके सुधार में भी ध्वनि-विज्ञान का ही उपयोग किया जाता है। साधारण ही नहीं, असाधारण लिपियों की सृष्टि में भी ध्वनि-विज्ञान अपूर्व सहायक सिद्ध हुआ है। शार्टहैंड, टेलीग्राम-कोड तथा अन्धों के लिए लिपि बनाने में ध्वनि-विज्ञान की सहायता ली गई है—अन्धों के लिए मेरिक साहब ने एक अन्तर्राष्ट्रीय लिपि की सृष्टि की है।

भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन—भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में ध्वनि-विज्ञान बहुत सहायक है। एक भाषा की किसी अन्य सम्बद्ध भाषा के साथ अथवा एक भाषा को उसकी बोलियों के साथ तुलना करने में ध्वनि-लिपि से काम लिया जाता है, क्योंकि किसी एक भाषा में व्यवहृत लिपि द्वारा दूसरी प्रामाणिक भाषा तथा उसकी बोलियों में पाई जाने वाली विशेषताओं को प्रदर्शित करना कठिन है। इसलिए भाषाओं को ध्वनियों के बीच पाए जाने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को प्रदर्शित करने के लिए ध्वनि-लिपियों का व्यवहार अनिवार्य होता है।

भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन—किसी भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए भी ध्वनि-विज्ञान से काम लेना पड़ता है। भाषा के पूर्वकालिक रूप में ध्वनियों का क्या स्वरूप था तथा आज उनका क्या स्वरूप है, इसकी तुलना करने के लिए ध्वनि-विज्ञान से परिचित होना आवश्यक है। किसी भी भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण देखने से यह बात सहज ही ज्ञात हो जाएगी। एक भाषा के विभिन्न कालों में पाए जाने वाले परिवर्तन तथा एक भाषा का भी अन्य भाषा से ऐतिहासिक सम्बन्ध स्थापित करने में भी ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध होता है।

बोली विशेष का अध्ययन—ध्वनि-विज्ञान का उपयोग बोली विज्ञान में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। आधुनिक भाषाविद् एक पग और बढ़कर फोनीम प्रिंसिपिल (ध्वनि ग्रामीय नियम) का भी बोली-विज्ञान में उपयोग कर रहे हैं। अतः बोली-विज्ञान के किसी भी भेद के अध्ययन में ध्वनि-विज्ञान की सहायता आवश्यक रूप से लेनी पड़ती है। सर ग्रियसेन ने भारतवर्ष में जो वृहद् भाषा-सर्वेक्षण किया था, उसका मूल्य चाहे अन्य दृष्टियों से कितना ही हो, किन्तु आधुनिक बोली-विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत कम है। इसका कारण यह है कि उन्होंने सर्वेक्षण के काम के लिए जिन लोगों को नियुक्त किया था, वे ध्वनि-विज्ञान से बिल्कुल अनभिज्ञ थे।

प्रयोगात्मक विश्लेषण—आधुनिक युग में प्रयोगात्मक विश्लेषण ध्वनि-विज्ञान के एक अनिवार्य अंग में परिणत हो चुका है। ध्वनिविद् अपने कानों से जो ध्वनियाँ सुन पाते हैं तथा जो ठीक प्रकार से नहीं सुन पाते हैं, इन दोनों के लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अब श्रौत-ध्वनि विज्ञान ध्वनि-विज्ञान का एक स्वतन्त्र विभाग ही बन गया है। न केवल ध्वनिविद्, बल्कि इंजीनियर भी सुदूर राज्यों को शीघ्रातिशीघ्र सम्वाद भेजने के उपायों को खोजने में संलग्न हैं। टेलीफोन द्वारा सम्वाद भेजने की गति तीव्र करने के लिए अमेरिका की बेल टेलीफोन लेबोरेट्री में ध्वनि-संचारण के विषय में करोड़ों रुपये का व्यय किया जा रहा है।

ध्वनि-विज्ञान का सबसे बड़ा उपयोग यह भी है कि वह हृदय का विस्तार करके अन्य भाषाओं के प्रति उदार दृष्टिकोण प्रदान करता है। उदाहरण के लिए एक स्थान के लोग दूसरे स्थान की भाषा को निरादर की दृष्टि से देखते हैं। हिन्दी के 'कैलाश' शब्द के 'a' कुछ लोग e के साथ और कुछ लोग ai के साथ बोलते हैं। ध्वनिविद् इसका यह अर्थ भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न रूपों का विकास मानते हैं। उनकी दृष्टि में भाषाओं में अच्छा-बुरा तथा शुद्ध-अशुद्ध कुछ नहीं होता।

प्रश्न 55—ध्वनि-नियम की परिभाषा दीजिए।

प्रश्न 56—ध्वनि-नियम का क्या तात्पर्य है? क्या ध्वनि-नियम अन्य प्राकृतिक नियमों की तरह दृढ़ होते हैं?

प्रश्न 57—ध्वनि-नियम से आप क्या समझते हैं? क्या ध्वनि-नियम भी अन्य वैज्ञानिक नियमों की भाँति प्रकाट्य है?

उत्तर—भाषा-विज्ञान में ध्वनि, ध्वनि-यंत्र, उसके विकार-विकास और परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। परिवर्तन एक आवश्यक एवं अपरिहार्य प्रक्रिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। भाषा के

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी इसका प्रभाव पड़ता है। भाषा विषयक परिवर्तन को विद्वान 'विकार' और 'विकास' कहते हैं। भाषा के विभिन्न अंगों के समान ही ध्वनियों में भी 'परिवर्तन' होता रहता है। यह परिवर्तन आभ्यन्तर और बाह्य कारणों से होता है। आभ्यान्तर कारणों में वक्ता एवं श्रोता प्रमुख होते हैं जबकि बाह्य कारणों में मानव-सुख, अनुकरण की अपूर्णता, भ्रामक व्युत्पत्ति, भावुकता, वाग्यन्त्र की विभिन्नता सादृश्य, विदेशी ध्वनियों का प्रभाव आदि अनेक कारण हैं। इन विभिन्न कारणों और उनकी दिशाओं का अध्ययन कर भाषा विज्ञानियों ने ध्वनि-नियमों का निर्माण किया है। ध्वनि-नियम की परिभाषा और स्वरूप को स्पष्ट करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(1) ध्वनि-नियम किसी भाषा विशेष का होता है। एक भाषा के ध्वनि नियम दूसरी भाषा पर लागू नहीं हो सकते।

(2) एक भाषा की समस्त ध्वनियों पर नियम विशेष लागू न होकर कुछ विशिष्ट ध्वनियों पर ही लागू होता है।

(3) ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध एक विशेष काल से होता है। साथ ही विशिष्ट दशा या परिस्थिति में ही किसी विशिष्ट काल की किसी विशिष्ट ध्वनि में परिवर्तन होता है।

ध्वनि-नियम—सामान्य रूप में नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, "यदि विशेष परिस्थितियों में पड़कर कोई एक क्रिया समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण कर सर्वथा एक ही रूप घटित हुआ करती है, तो उसे नियम की संज्ञा दी जाती है। जिस प्रकार प्रकृति के अनेक कार्यों को देखकर कुछ सामान्य और कुछ विशेष नियमों का निर्माण कर लिया जाता है, उसी प्रकार ध्वनियों में विकार के कार्यों को देखकर ध्वनि-नियम निर्धारित कर लिए जाते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक ही काल में और एक ही भाषा में विभिन्न कालों में होने वाले इन ध्वनि-विकारों का यथाविधि तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि ध्वनियों में यह विकार कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं और यदि वही परिस्थितियाँ, उसी भाषा में वैसे ही अवसर पर पुनः उत्पन्न हों तो उसका परिणाम पूर्वानुसार ही होगा।'

ध्वनियों का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने ध्वनि-नियम की परिभाषा इस प्रकार की है। टकर (Tucker) के अनुसार ध्वनि नियम की परिभाषा इस प्रकार है—"किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन को उस भाषा का ध्वनि नियम कहते हैं।" A phonetic law of a language is a statement of the regular practice of the language at a particular time in regard to the treatment of a particular sound or group of sounds in a particular setting.

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर ध्वनि-नियम की निम्न विशेषताएँ हैं:— (1) एक ध्वनि नियम विश्व की भाषाओं की अपेक्षा किसी भाषा-विशेष या एक भाषा परिवार तक सीमित रहता है। ( ) एक भाषा या भाषा परिवार की सम्पूर्ण ध्वनियों की अपेक्षा वह कुछ विशिष्ट ध्वनियों तक सीमित रहता है। (3) एक ध्वनि नियम का एक विशिष्ट जीवन होता है, उसकी अपनी एक सीमा होती है, वह उसी सीमा

के अन्तर्गत कार्य करता है। सीमा के बाद वह अव्यावहारिक सिद्ध होता है। (4) ध्वनि नियम न तो सार्वदेशिक होते हैं और न सार्वकालिक, अपितु वे सापवाद भी होते हैं। (5) ध्वनि विकार परिस्थितियों के अनुसार होते हैं अतः ध्वनि-नियमों के लिए विशिष्ट दशा और विशिष्ट परिस्थितियों की आवश्यकता होती है।

एक ही भाषा में भिन्न-भिन्न कालों में होने वाले ध्वनि विकारों की तुलना करने पर यह परिणाम निकलता है कि ध्वनियों में विकार कुछ नियमों के अन्तर्गत होते हैं। इन परिवर्तनों के घटित होने की परिस्थितियों में बहुधा एकरूपता होती है।

प्राकृतिक नियम और भाषा-सम्बन्धी ध्वनि-नियम में अन्तर—नियम का प्रयोग प्रायः प्राकृतिक नियमों के लिए होता है। प्राकृतिक नियम समान परिस्थिति में एक से कारण उपस्थित होने पर समान परिणाम देते हैं। यह बात ध्वनि परिवर्तन के नियम में नहीं है। इनके बहुत अपवाद हैं। दोनों में अन्तर निम्नलिखित हैं—

(1) प्राकृतिक नियम सर्वदेशीय और सर्वकालिक होते हैं। वे किसी देश-विशेष या काल-विशेष की अपेक्षा नहीं रखते। दो और दो जोड़ने पर चार प्रत्येक देश और काल में बनेंगे। इसी प्रकार दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन मिलाने से प्रत्येक स्थान और काल में जल बन जाएगा। भाषा के नियम इस प्रकार दृढ़ और स्थिर नहीं होते। भारतीय आर्यभाषा में प्राचीन काल से मध्य काल तक आते-आते जो परिवर्तन हुए, वे मध्यकाल से आधुनिक काल तक आने में नहीं हुए। भविष्य के लिए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि वे परिवर्तन घटित ही होंगे।

(2) प्राकृतिक नियमों में अपवाद नहीं होते हैं। जबकि ध्वनि-नियम में अपवाद है। संस्कृत 'नृत्य' का 'नाच' जिस नियम के अन्तर्गत हुआ, उसी के अन्तर्गत 'भृत्य' का 'भाच' होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं होता। यह नियम का अपवाद था।

(3) ध्वनि-नियम देश-काल की सीमा में बँधे होते हैं। इन सीमाओं को वे लाँघ नहीं सकते, किन्तु प्राकृतिक नियम देश-काल की सीमा से परे होते हैं। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम प्रायः सर्वत्र समान रूप से लागू होगा।

ध्वनि-नियम प्राकृतिक नियमों की तरह खरे तथा अपवाद रहित नहीं है। अतः कुछ विद्वान् इनको नियम न कहकर प्रवृत्ति कहते हैं। दूसरे लोग ध्वनि और प्रवृत्ति में अन्तर मानते हैं। जो ध्वनि-परिवर्तन आरम्भ होने के कुछ दिनों तक ही चलकर समाप्त हो जाएँ, उनके ध्वनि-प्रवृत्ति और ध्वनि-परिवर्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जाते हैं, उन्हें ध्वनि-नियम कहना चाहिए।

ध्वनि-नियम में अपवाद निम्न कारणों से होते हैं—

(1) कभी-कभी भाषा उस काल के शब्दों को ग्रहण कर लेती है जबकि नियम विशेष लागू नहीं हुआ था।

(2) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अन्य भाषा का अपनी भाषा से मिलता-जुलता शब्द आ जाता है और भ्रमवश इसे अपनी पुरानी भाषा का ही रूप समझकर अपवाद मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए 'कोतवाल' शब्द को लिया जा सकता है। मुसलमानों के साथ, फारसी का कोतवाल, हिन्दी में आया। संस्कृत में इसका रूप 'कोट्पाल' है, इसको 'कोट्टपाल' और फिर 'कोटाल' ध्वनि नियम के

अनुसार होना चाहिए था, परन्तु 'कोट्टपाल' का विकार 'कोट्टाल' और कोतवाल लगता है।

(3) सादृश्य के कारण भी नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाला शब्द कुछ और हो जाता है।

(4) दूसरी भाषा से शब्द उधार लेने पर भी शब्दों में ध्वनि नियम लागू नहीं होते।

(5) काव्य में तुकान्त एवं अनुप्रास आदि के लिए तोड़े-मरोड़े शब्द भी अपवाद के कारण हैं।

आशय यह है कि ध्वनि-नियम सापवाद और शिथिल होते हैं। अतः विशिष्ट भाषा, विशिष्ट ध्वनि तथा विशिष्ट दशा की ये अपेक्षा करते हैं।

प्रश्न 58—ग्रिम कृत ध्वनिमूलक सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 59—ग्रासमैन तथा वर्नर का नियम लिखिए।

प्रश्न 60—ग्रिम के ध्वनि-नियम का प्रतिपादन करते हुए उसके संशोधनों का स्पष्टीकरण कीजिए।

प्रश्न 61—ध्वनि-नियम के सन्दर्भ में ग्रिम नियम की सम्यक् व्याख्या कीजिए।

उत्तर—जर्मन भाषा के विद्वान् ग्रिम ने संस्कृत, लेटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की ध्वनियों का अध्ययन कर ध्वनि-विकार सम्बन्धी इस नियम का निर्देश किया था, अतः यह नियम ग्रिम-नियम के नाम से प्रसिद्ध है। इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है, जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन भी कहते हैं। किन्तु एक बात यहाँ विशेष ज्ञातव्य है कि इस नियम का चिन्तन और निर्माण केवल ग्रिम के अध्ययन का परिणाम नहीं है। ग्रिम से पहले डेनिस विद्वान् रैज्मस रैस्क ((Rasmus Rask) इन नियमों की दिशाओं का संकेत कर चुका था। इसलिए जैस्पर्सन इसे ग्रिम की अपेक्षा रैस्क का, नियम मानना अधिक उचित समझते हैं—If any one man is to give his name to this law, better name would be Rask's haw.

रैस्क के अतिरिक्त इह्रे (Ihre) का भी इस दिशा में महत्वपूर्ण अध्ययन और योगदान रहा है। किन्तु इस नियम की विस्तृत व्याख्या ग्रिम ने की थी, अतः यह नियम उन्हीं के नाम से विशेष लोकप्रिय हुआ। इस नियम का सम्बन्ध नौ स्पर्श ध्वनियों से है। यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ है—"प्रथम वर्ण-परिवर्तन (First Sound Shifting) प्रागैतिहासिक काल में तथा द्वितीय वर्ण-परिवर्तन सप्तम तक में हुआ है। इन परिवर्तनों के मूल में जातीय मिश्रण है। प्रथम-वर्ण-परिवर्तन का सम्बन्ध मूल भाषा संस्कृत, ग्रीक और लेटिन से प्राचीन जर्मन अर्थात् गाथिक में हुआ है। द्वितीय वर्ण-परिवर्तन निम्न जर्मन से उच्च जर्मन में हुआ है। इसे आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने क्रमशः सदोष नियम और निर्दोष नियम कहा है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में भारोपीय मूल भाषा [संस्कृत, लेटिन, ग्रीक] की ध्वनियाँ जर्मन भाषा में क्रमशः इस प्रकार हो जाती हैं—

घोष महाप्राण	घोष अल्पप्राण
सघोष अल्पप्राण	अघोष अल्पप्राण
अघोष महाप्राण	अघोष अल्पप्राण

इसे क्रमशः इसमें देखा जा सकता है—

प्रथम वर्ग—मूल भारोपीय अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन क् त् प् गॉथिक भाषा में महाप्राण अघोष संघर्षी ख्, (ह्) थ्, फ़ हो जाते हैं।

द्वितीय वर्ग—इसी प्रकार मूल भारोपीय भाषा के अल्पप्राण सघोष स्पर्श ग् द् ब् गॉथिक भाषा में क्रमशः अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन क् त् म् में परिवर्तित हो जाते हैं।

तृतीय वर्ग—मूल भारोपीय भाषा के महाप्राण सघोष स्पर्श व्यंजन म् (ह), ध्, भ, गॉथिक भाषा में क्रमशः अल्पप्राण सघोष स्पर्श व्यंजनों ग, द्, ब् में परिवर्तित हो जाते हैं।

स्मरण की सुविधा के लिए इस परिवर्तन क्रम को इस प्रकार देख सकते हैं—

मूल भारोपीय भाषा	अघोष अल्पप्राण	घोष अल्पप्राण	घोष महाप्राण
	क्, त्, प्,	ग्, द्, ब्,	घ्, ध्, भ्,
जर्मन गॉथिक	अघोष महाप्राण	अघोष अल्पप्राण	घोप अल्पप्राण
	ख्, (ह), थ्, फ्, (घ्), (ध्), (भ्),	क्, त्, प,	ग्, द्, ब्,

परिवर्त्तन का यह चक्र निरन्तर इस प्रकार चलता रहता है—
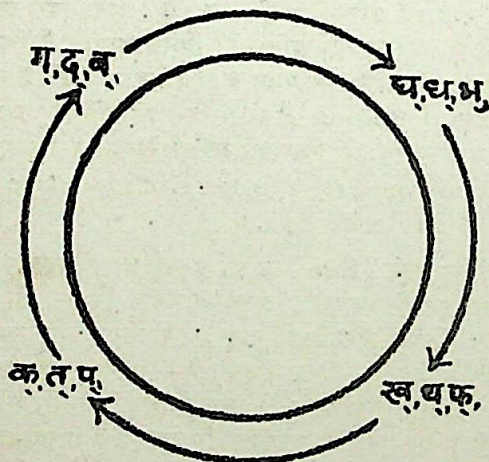
द्वितीय वर्ण परिवर्तन—प्रथम वर्ण परिवर्तन मूल भारोपीय भाषा से जर्मन में हुआ था किन्तु द्वितीय वर्ण परिवर्त्तन जर्मन भाषा में ही हुआ और जर्मन भाषा दो रूपों—उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में विभक्त हो गई। मूलतः यह वर्ण परिवर्त्तन जर्मन भाषाओं का ही है।

द्वितीय वर्ण परिवर्त्तन में निम्न जर्मन भाषा के

घोष अल्प प्राण	अघोष अल्प प्राण	तथा अघोष महाप्राण
ग्, द्, ब्,	क्, त् प्	घ्, ध्, भ्

क्रमशः— +

अघोष अल्प प्राण	अघोष महाप्राण	घोष महाप्राण
क्, त्, प्	ख् (ह्) थ्, फ्	ग्, द्, ब्

में परिवर्तित हो जाते हैं।

इस वर्ण परिवर्त्तन को तीन वर्गों में बाँट कर इस प्रकार भी देखा जा सकता हैं। प्रथम वर्ग में गाथिक (निम्न जर्मन) के अल्पप्राण अघोष स्पर्श क्, त्, प् उच्च जर्मन में महाप्राण अघोष संघर्षी ख् (ह) थ्, फ् में परिवर्तित हो जाते हैं।

द्वितीय वर्ग में गॉथिक के अघोष संघर्षी महाप्राण ख्, थ्, फ् उच्च जर्मन में क्रमशः सघोष अल्प प्राण स्पर्श ग्, द्, ब् हो जाते हैं।

तृतीय वर्ग में गाथिक के सघोष अल्प प्राण स्पर्श ग्, द्, ब् उच्च जर्मन में अघोष अल्पप्राण स्पर्श क्, त्, प् में परिवर्तित होते हैं।

उपर्युक्त दोनों ही वर्णन परिवर्त्तनों के नियमों का समन्वित रूप यह है—

प्रथम वर्ण परिवर्त्तन

मूल भाषा +	आदिम जर्मन (गाथिक) +	उच्च जर्मन
घ्, ध्, भ्	ग्, द्, ब्	क्, त्, प्
ग्, द्, ब्	क्, त्, प्	ख् (ह) थ्, फ्,
फ्, त्, प्	ख् (ह) थ् फ्	ग्, द्, ब्

द्वितीय वर्ण परिवर्त्तन

ध्वनि नियम के इस वर्ण परिवर्त्तन का संक्षिप्त सूत्र अघोष, महाप्राण और सघोष के क्रमिक परिवर्त्तन के अनुसार प्रारम्भिक अक्षर लेकर इस प्रकार बन जाता है—

'अमसमसा साम'

अर्थात्
अघोष → महाप्राण → सघोष → महाप्राण →
सघोष → अघोष → सघोष ÷ अघोष→महाप्राण

इस परिवर्त्तन चक्र के प्रारम्भिक अक्षर क्रमशः इस प्रकार हैं—अ, म, स, म, स + अ = (सा), स + अ = (सा), म = अमसम सा साम।

समीक्षा—ग्रिम महोदय का यह नियम सदोष है। इसमें अपवाद मिलते हैं। यह तो कालों में होने वाले विकारों को लेकर बना है। प्रथम वर्ण परिवर्त्तन तो नियमानुसार है किन्तु द्वितीय वर्ण परिवर्तन में नियमानुसार क्रमबद्धता नहीं है। अनेक

अपवाद और असंगतियों को देखकर टकर महोदय ने इसका परिष्कार कर संशोधित नियम इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

मूल भाषा	आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
क्, त्, प्	ख् (ह), थ्, फ्	×, द, स्ट, ×
घ्, ध्, भ्	ग, द्, ब्,	× त ×
ग्, द्, ब्	क्, त्, प्	× ज (z), स्स (ss)
		स्ज sz, फ्

क्योंकि ग्रिम नियम के अनुसार साधारणतया क्, त्, प् के स्थान पर ख् (ह) थ्, फ् मिलना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं यह परिवर्त्तन नहीं मिलता है। उदाहरण के लिए यदि क्, त्, प् से पूर्व 'स्' आ जाता है, तो परिवर्त्तन ग्रिम नियम के अनुसार नहीं होता है। 'प' का 'फ्' तो हो जाता है किन्तु K = Ch तथा Ch का क् नहीं होता है। जैसे—

लेटिन	गाथिक	उच्च जर्मन
Pescis	Feskis	Fisch
Hostis	Gosts	—
Sipis	—	Spihon

इसी 'त्' के पूर्व क अर्थात् Kt या Pt होने पर परिवर्त्तन नहीं होता है, जैसे—

संस्कृत	लें०	गा०	उच्च जर्मन
अष्टौ	Okto	Ahtan	Acht
नप्ता	Neptis	—	Nift
अस्ति	प्रस्त	इस्त	इज्

इन उदाहरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ वर्ण-परिवर्त्तन ग्रिम नियम के अनुसार नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि स्त्, स्क्, प्त्, क्त संयुक्त ध्वनियाँ हैं। संयुक्त ध्वनियों में ग्रिक नियम कार्य नहीं करता है। इसी प्रकार अन्य अनेक अपवाद भी मिलते हैं जिनका अध्ययन कर ग्रासमैन ने उनकी व्याख्या एवं संशोधन का संकेत किया है, वे संशोधन ग्रासमैन के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रासमैन का नियम—ग्रिक नियम के अनुसार साधारणतया क, त, प को ख, (ह), थ, फ होना चाहिये, किन्तु मिलता ग, द, ब। उदाहरण के लिए—

मूल भाषा	अँगरेजी
Kigkho	Go
Tuplus	Dumb
Pithos	Body

ग्रिम के नियमानुसार यह परिवर्तन नहीं होना चाहिये था अपितु K के स्थान पर ख Kh, Kho या Ho होना चाहिये था किन्तु परिवर्त्तन Go के रूप में होता है। इसी प्रकार त् को थ् न होकर Dumb होता है। प् को फ् न होकर body (o) होता है। इस प्रकार के अपवादों को लेकर ग्रासमैन ने उनका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि "यदि भारोपीय मूल भाषा में शब्द या धातु के आदि और

अन्त में भी महाप्राण ध्वनियाँ हों तो परिवर्त्तन होकर एक अल्पप्राण हो जाता है। जैसा कि उपर्युक्त ग्रीक के किग्स्बो, तुसास और पिथास से क्रमशः Go, Dumb और Body बने हैं न कि Ho, Thumb और Fody। इसी प्रकार संस्कृत की धा धातु से धमाधामि न बनकर दधामि, भृ धातु से भभार न बनकर बभार, हृ धातु से हहार न बनकर जहार, हु धातु से हुहोति न बनकर जुहोति क्रियाएं बनती हैं। संस्कृत में इसका रहस्य 'अभ्यासे चर्च' सूत्र में निहित है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथम अवस्था में तो महाप्राण रहे होंगे द्वितीय अवस्था में नहीं। अतः अपवादस्वरूप क्, त्, प्, के स्थान पर ग्, द्, ब मिलते हैं। प्राचीन आदिम भाषा के काल में इसी स्थान पर ख् (ह), थ्, फ् रहा होगा, जो कि परिवर्तित अवस्था में ग्, द्, ब्, हो गया है और ख, थ, फ का पुनः ग, द, ब हो जाना नियमानुकूल है।" अन्ततः यही कहा जा सकता है कि ग्रासमैन के संशोधन के अनुसार "भारतीय मूल भाषा में यदि एक वर्ण या धातु आदि और अन्त दोनों में अल्पप्राण ध्वनि अन्यत्र महाप्राण स्पर्श हो तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।"

वर्नर का संशोधन—ग्रासमैन के संशोधन के बाद भी कुछ अपवाद ग्रिम नियम में पुनः मिले। उनका अध्ययन वर्नर महोदय ने किया। वर्नर ने यह सिद्ध किया कि ग्रिम नियम स्वराघात पर आधारित था। उसके अनुसार भारोपीय आदिम भाषा के क्, त्, प्, से पूर्व उदात्त स्वर हो तो परिवर्तन ग्रिम नियम के अनुसार ही होता है और यदि उदात्त स्वर क्, त्, प् के बाद हो तो यह परिवर्तन ग्रासमैन के नियमानुसार ख्, थ्, फ् की अपेक्षा ग्, द्, ब्, होगा। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	लैटिन	गॉथिक	अँगरेज़ी
युवशस्	Juvencus	Juggs	Young
शतम्	Centum	Hundra	hundred
लिम्पामि	Lippus	Bileiba	Belife
सप्तन्	Septem	Sibum	Seven

ग्रिम के अनुसार स् के स्थान पर स् ही मिलता है किन्तु कहीं-कहीं 'र' भी पाया जाता है। वर्नर के अनुसार इसका कारण स्वराघात है। वर्नर के अनुसार यदि स्वराघात 'स' से पूर्व हो तो 'स' ही मिलेगा और यदि बाद में होगा तो वह 'र' में परिवर्तित होगा।

वर्नर ने एक तथ्य और भी स्पष्ट किया कि "यदि मूल भारोपीय भाषा के क्, त्, प् के साथ पहले 'स्' संयुक्त हो जैसे स्क्, स्त्, स्प् (Sk, St, Sp,) तो जर्मेनिक में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है। जैसे लैटिन में (Piskis) का गाथिक में Fiskis तथा लैटिन Aster अँगरेज़ी में Star मिलता है।

प्रश्न 62—ध्वनि परिवर्त्तन और उसके कारणों पर विचार कीजिए।

उत्तर—परिवर्त्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। इस नियम से कोई भी तत्त्व बचा नहीं है, इस परिवर्त्तन को विकास भी कहते हैं। बच्चा निरन्तर परिवर्तन होते-होते पूर्ण मानव बन जाता है। इसी प्रकार ध्वनियों के जीवन में परिवर्तन होता रहता है और वह भाषा की प्राणवत्ता, पूर्णता एवं प्रगतिशीलता का प्रमाण है।

ध्वनियों में परिवर्तन दो प्रकार से होता है, एक वक्ता के कारण तथा दूसरा श्रोता के कारण। अतः वक्ता की ध्वनियों पर पड़ने वाला यह प्रभाव आभ्यन्तर और बाह्य, दो प्रकार का होता है। आभ्यान्तर कारणों का सम्बन्ध वक्ता के उच्चारण तथा श्रोता के सुनने से है। बाह्य कारण मानव जीवन की विभिन्न बाह्य परिस्थितियों (राजनीतिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक) आदि से सम्बद्ध होते हैं।

ध्वनि परिवर्तन का कोई एक विशिष्ट कारण नहीं है अपितु अनेक कारण समन्वित रूप में परिवर्तन कराते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में प्रसिद्ध-काम, करम, काज शब्दों को लिया जा सकता है। शब्दों के पूर्वज शब्द कर्म (स०) काम (प्रा०) है। इस परिवर्तन में देश और काल दोनों का योगदान है। इन्हीं परिवर्तनों को ध्यान में रखकर पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि' एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः" अर्थात् एक ही शब्द की अनेक अपभ्रंश ध्वनियाँ होती हैं।

आभ्यान्तर कारण

आभ्यान्तर कारणों के अन्तर्गत विशेषतः मुख-सुख या प्रयत्नलाघव, अनुकरण की अपूर्णता और अशिक्षा है। इनके कारण भाषा में प्रायः ध्वनि-परिवर्तन प्रभावित होता रहता है।

(1) **प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख**—बोलने वाला व्यक्ति सदा सुविधा का ध्यान रख कर ही बोलता है। वह अल्प प्रयत्न से ही अपनी बात कहना चाहता है, क्योंकि भाषा साध्य न होकर साधन मात्र है। इसी के कारण कठिन ध्वनियाँ, या जिनके उच्चारण में मुख को असुविधा होती है, ऐसी ध्वनियों का या तो उच्चारण नहीं होता है या अपूर्ण उच्चारण होता है। उदाहरण के लिए अँगरेजी के निम्न शब्दों को देखा सकता है Night, talk, walk, Psychology, knight आदि शब्दों में क्रमशः gh, l, l, p, तथा k का उच्चारण नहीं होता है। भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनकी ध्वनियों का उच्चारण नहीं होता है।

(2) **अनुकरण की अपूर्णता**—भाषा अनुकरण से सीखी जाती है। स्वर यंत्र अपूर्णता, विभिन्नता आदि के कारण अनुकरण कभी पूर्ण नहीं हो पाता, एक-एक ध्वनि के विभिन्न प्रकार के उच्चारण होने लगते हैं किन्तु यह भिन्नता इतनी सूक्ष्म होती है कि उच्चारण की इस भिन्नता का पता नहीं चलता है।

(3) **अज्ञान**—के कारण भी उच्चारण पूर्ण नहीं हो पाता है। डॉ० सिंह ने लिखा है कि "निश्चित ज्ञान के अभाव में अनेक शब्द अशुद्ध उच्चारित होने लगते हैं तथा इसी उच्चारण के कारण ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है, जैसे—वन्द्योपाध्याय शब्द का बनर्जी, उपाध्याय का 'झा' इसी मुख-सुख और प्रयत्न-लाघव के परिणाम-स्वरूप बन गए हैं।" वास्तव में मुख-सुख या प्रयत्न लाघव के साथ-साथ अज्ञान आदि अनेक कारण कार्य करते रहते हैं तथापि प्रधान कारण मुख-सुख ही है।

(4) **भावुकता**—भावुकता, प्रेम तथा आवेश के कारण भी कभी-कभी व्यक्ति शब्दों के विभिन्न प्रकार से उच्चारण करता है। यही शब्द कभी-कभी अधिक प्रयोग के कारण भाषा में ध्वनि परिवर्तन तथा उसकी प्रेरणा देते हैं।

(5) **भ्रामक व्युत्पत्ति**—भ्रामक व्युत्पत्ति में भी अज्ञान ही प्रधान कारण होता है। किन्तु भ्रामक व्युत्पत्ति जान-बूझ कर भी करता है। नवीन शब्द जब परिचय में

आता है, मनुष्य उससे मिलते-जुलते पूर्व परिचित शब्द से उसको मिलाकर देखता है और अनायास ही ध्वनि परिवर्तन कर देता है। जैसे-अरबी के 'इन्तकाल' को हिन्दी में 'अन्तकाल' अँगरेजी के "लाइब्रेरी" को हिन्दी में 'रायबरेली' कहते हैं।

(6) **वाग्यन्त्र की भिन्नता का दोष**—ध्वनि-उत्पत्ति के अवयवों की अपूर्णता के कारण भी ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ व्यक्ति श्, ष्, स् का उच्चारण अलग-अलग नहीं कर पाते हैं, अतः ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अनेक व्यक्ति संघर्षी दन्त्योष्ठ 'फ़' ध्वनि का उच्चारण नहीं कर पाते हैं, फलतः अँगरेजी शब्द काफी शब्द हिन्दी में काफी, संस्कृत का सप्त, फारसी में हफ़्त, फारसी शब्द बाज हिन्दी में बाज हो गए हैं।

बाह्य कारण

(7) **भौगोलिक भिन्नता**—भौगोलिक विशेषता के कारण अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। इसके कारण ध्वनियों के उच्चारण पर भी प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप अनेक परिवर्तन होते हैं। ऊष्ण और शीत प्रधान स्थानों के व्यक्तियों के उच्चारण में प्रायः अन्तर रहता है। समृद्ध स्थान के व्यक्तियों और असमृद्ध भूभाग तथा ध्रुव देहात में रहने वाले व्यक्तियों की ध्वनियों के उच्चारण में अन्तर रहता है। उदाहरण के लिए ऊष्ण प्रदेश में रहने वाले व्यक्ति का मुख अधिक खुलता है जब कि शीत प्रधान का व्यक्ति ठंड के कारण कम मुख खोल पाता है। फलतः दोनों के उच्चारण में अन्तर रहता है।

(8) **काल का प्रभाव या ऐतिहासिक परिस्थितियाँ**—स्थान, देश और जलवायु आदि का ध्वनि-परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है, इसी प्रकार काल का प्रभाव भी ध्वनि-परिवर्तन पर पड़ता है। प्राचीन वैदिक ध्वनियों के उच्चारण में अन्तर है।

(9) **सामाजिक प्रभाव**—सामाजिक परिस्थितियाँ भी ध्वनियों के परिवर्तन में सहायक होती हैं। भाषा समाज की सम्पत्ति है अतः समाज की गतिविधियों के साथ भाषा भी प्रभावित होती है। ध्वनि परिवर्तन में समाज की परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव रहता है।

(10) **सादृश्य (Analogy)**—सादृश्य भी ध्वनि-परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इस ध्वनि के साम्य के कारण दूसरी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए द्वादश के साम्य पर एकदश एकादश हो जाता है। 'नरक' शब्द 'नर्क' हो जाता है। फोनोलॉजि Phonology के साम्य पर मार्फोलॉजि morphology बन गया है, जब कि इसका शुद्ध रूप मार्फलॉजि morphology होना चाहिये क्योंकि phono शब्द एक स्वतन्त्र शब्द है और morpho शब्द न होकर morph शब्द है।

(11) **लेखन**—भाषा के लिखित रूप के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। उर्दू के लिपि दोष के कारण अनेक ध्वनियों का स्वरूप बदल गया है। गुरुमुखी में संयुक्ताक्षरों के अभाव के कारण स्टेशन, स्कूल, प्रधान, शब्द क्रमशः सटेशन, सकूल, परधान रूप में उच्चरित किए जाते हैं। अंगरेजी में हिन्दी शब्द जिस रूप में लिखे जाते हैं उसको पढ़ने पर ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है, जैसे Rama, Gupta, Misra, राम, गुप्त, मिश्र हैं किन्तु ये आज रामा, गुप्ता, मिश्रा बन गए हैं।

(12) **विदेशी ध्वनियाँ**—विदेशी ध्वनियाँ भी भाषा परिवर्तन की कारण

बनती हैं। क्योंकि दूसरी भाषा में वे ध्वनियाँ उसी रूप में स्वीकार नहीं की जाती हैं। अतः ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणस्वरूप अरबी, फारसी ध्वनियों फ़, ज़, क़, ख़, ग़ आदि में नीचे नक्शे का प्रयोग होता है किन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता है, परिणामस्वरूप अरबी-फ़ारसी से आए हुए शब्दों को हिन्दी में जब प्रयोग करते हैं तो प्रायः नुक्ते का अभाव रहता है। इसी प्रकार अँगरेज़ी की अनेक ध्वनियों का हिन्दी-करण कर लिया गया है जैसे रिपोर्ट से रपट, आगस्ट से अगस्त, डेसम्बर से दिसम्बर।

उपर्युक्त ध्वनि-परिवर्तन के प्रधान कारणों के अतिरिक्त अनेक गौण कारण भी हैं जिनसे ध्वनि-परिवर्तन होता है। अवान्तर या सहायक कारणों में निम्न हैं—

(i) **यदृच्छा शब्द**—ये वे शब्द हैं जिन्हें व्यक्ति स्वेच्छा से गढ़ लेते हैं, जो व्याकरण सम्मत नहीं होता तथा कभी-कभी युग्म शब्दों में दूसरा निरर्थक होता है। इन यदृच्छा शब्दों से भी ध्वनियाँ प्रभावित होती हैं।

(ii) **आत्म प्रदर्शनार्थ**—व्यक्ति अपने को विशिष्ट सिद्ध करने के लिए बनकर बोलता है, इसलिए भी ध्वनि और भाषा प्रभावित होती है। फलतः उपरोक्त, सृजन, एकत्रित आदि (जो कि व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं) भाषा में स्थान पा जाते हैं और अखबारों में भी धड़ल्ले से प्रयुक्त ही नहीं होते शब्द कोशों में भी स्थान पा जाते हैं।

आशय यह है कि ध्वनि-परिवर्तन के अनेक कारण हैं, जो कभी एकाकी रूप में और कभी अनेक सहयोगी कारणों के साथ भाषा और ध्वनि में परिवर्तन कर देते हैं। इस सम्वन्ध में मेरियो पाई (Mario Pei) ने ठीक ही लिखा है "भौतिक और मानसिक क्रिया प्रतिक्रिया, जलवायु, जातीय सम्मिलन, एवं भाषिक सम्मिक्षण ध्वनि विकारों के कारण रूप में तथा अन्य जातियों के सम्पर्क से दूर एकान्त जीवन भाषिक स्थिरता के कारण रूप में सुझाये गये हैं। सम्भव है, इनमें से किसी एक बात या सभी बातों का प्रभाव पड़ता हो किन्तु उस प्रभाव को निश्चित रूप से सिद्ध करना कठिन है, साथ ही उसको असिद्ध करना भी उतना ही दुष्कर है।" इसी बात को डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इन शब्दों में लिखा है—"एक ध्वनि के परिवर्तन में अधिकतर एक से अधिक कारण कार्य करते हैं और इसीलिए स्पष्ट रूप से कारणों की ओर संकेत करना सम्भव नहीं होता। इन कारणों के आधार पर भविष्य के विषय में निश्चितता के साथ हम कुछ नहीं कह सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ध्वनि कल अमुक रूप धारण करेगी या अमुक ध्वनि में परिवर्तित हो जाएगी। यह तो अतीत की सामग्री के आधार पर अतीत का विश्लेषण मात्र है। यह आवश्यक नहीं कि आने वाले परिवर्तन भी इसी पथ पर चलें। साथ ही भूत के सम्वन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ अमुक कारण उपस्थित होगा, वहाँ-वहाँ अमुक परिवर्तन अवश्य होगा। इसका कारण यह है कि ध्वनियों के पथ में अनेक व्याघात आते रहते हैं और उन सभी का ध्वनि के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है।"

ध्वनि-परिवर्तन के रूप या उसकी दिशाएं

प्रश्न 63—ध्वनि-परिवर्तन के स्वरूप व उसकी दिशाएँ बतलाइए।

प्रश्न 64—ध्वनि-विकार से आप क्या समझते हैं ? ध्वनि-विकारों के सामान्य भेदों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 65—ध्वनि-परिवर्तन के रूप की उदाहरण सहित विवेचना कीजिए :

प्रश्न 66—ध्वनि-परिवर्तन के नियम क्या हैं ? क्या ये नियम शाश्वत हैं ? इनमें से कतिपय नियमों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।

प्रश्न 67—टिप्पणियाँ लिखिए—लोप, समाक्षर लोप, आगम, वर्ण-विपर्यय समीकरण, विषमीकरण, अपश्रुति, अभिश्रुति, स्वर-भक्ति, अपिनिहिति ।

उत्तर—ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं । प्रथम को स्वयंभू कहते हैं और दूसरे को परोद्भूत । स्वयंभू परिवर्तन स्वाभाविक अर्थात् अपने आप हो जाने वाला परिवर्तन है जो भाषा के प्रवाह में ही हो जाता है । इसके लिए किसी विशेष अवस्था अथवा परिस्थिति की आवश्यकता नहीं होती । अनुनासिकता आ जाना इसी के अन्तर्गत है ।

परोद्भूत परिवर्तन अन्य वाह्य प्रभावों के परिणाम स्वरूप होता है । इसका कोई-न-कोई कारण होता है और उसके लिए विशेष अवस्था एवं परिस्थिति की आवश्यकता होती है । कारणों के अन्तर्गत जिस प्रकार के ध्वनि परिवर्तनों की चर्चा की गई है, वे सब परोद्भूत ध्वनि-परिवर्तन की उदाहरण सीमा में ही आते हैं । इन्हीं के आधार पर बहुत कुछ दिशाओं का भी निर्धारण किया गया है ।

इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

(1) **लोप (Elision)**—ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी बोलने में मुख-सुख, शीघ्रता स्वराघात आदि के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है । यह लोप प्रायः तीन प्रकार का होता है—(i) स्वर लोप (ii) व्यंजन लोप (iii) अक्षर लोप ।

(i) **स्वर लोप (Syncope)**—यह भी तीन प्रकार का होता है—आदि, मध्य और अन्त्य स्वर लोप ।

(अ) आदि स्वर लोप—अनाज >नाज, अगर >गर, अहाता >हाता, अतिसी >तीसी, असवार >सवार, अफसाना >फसाना ।

(ब) मध्य स्वर लोप—

अरथी	=	अर्थी
नरक	=	नर्क
उलटा	=	उल्टा
गलती	=	गल्ती
उलटा	=	उल्टा
बरतन	=	बर्तन
donot	=	don't
Can not	=	Can't

(ग) अन्त्य स्वर लोप—इसके प्रभाव से शब्दों का रूप अधिकतर व्यंजनांत होता जा रहा है । यों लिखने में अभी इसका शून्यवत् प्रयोग होता है । हाँ, संस्कृत से गृहीत शब्दों के लिए अवश्य लिखा जाने लगा है—

आम्र >आम, दूर्वा >दूब, बाहु >बाँह, वार्ता >बात, टंकशाला >टकसाल, शिला >सिल, भगिनी >बहिन ।

(ii) व्यंजन-लोप---यह भी तीन प्रकार का होता है---

(अ) आदि व्यंजन लोप, (ब) मध्य व्यंजन लोप, (स) अंत्य व्यंजन लोप।

(आ) आदि व्यंजन लोप---अँगरेजी भाषा में बोलने की कठिनाई के कारण अनेक आदि व्यंजनों का लोप हो गया है, यथा : Knife > nife

इसी प्रकार संस्कृत के अनेक शब्द हिन्दी में अपने आदि व्यंजन खो चुके हैं---स्थाली > थाली, श्मसान > मसान, स्कंध > कंधा, स्नेह > नेह।

(ब) मध्य व्यंजन लोप---संस्कृत शब्दों के मध्य आने वाले क ग च ज त द न प फ य र ल व ष तथा विसर्ग (:) हिन्दी में प्रायः लुप्त हो जाते हैं :

चिक्कण > चिकना, कुक्कुर > कूकर, कोकिल > कोइल, दुग्ध > दूध, सूची > सूई, लज्जा > लाज, उत्पत्ति > उपज, अर्द्ध > आध, ननान्दा > नन्द, पिप्पल > पीपल, शय्या > सेज, कार्तिक > कातिक, फाल्गुन > फागुन, निष्ठुर > निठुर, दुःख > दुख।

प्राकृतों की तो यह एक अपनी विशेषता ही थी, अतः उनमें इनके अनेक उदाहरण सहज ही मिल जाते हैं---

वचन > वअण
सागर > साअरो
नगर > णअर
प्रिय > पिय

हिन्दी की कुछ वोलियों में भी अनेक शब्द देखे जा सकते हैं---

बुद्ध > बुध
भूमिहार > भूंइहार
ज्वार > जर
डाकिन > डाइन।

(स) अन्त्य व्यंजन लोप---इसके उदाहरण वहुत कम भाषाओं में मिलते हैं जैसे अंग्रेजी के---Water = वाटर, father = फादर, bomle = बॉम्। संस्कृत के पश्चात्, यावत्, सम्यक् प्रकृति में---पश्चा, जाव, सम्म हो गए।

(iii) अक्षर लोप---इसके चार भेद हैं---(अ) आदि अक्षर लोप, (ब) मध्य अक्षर लोप, (स) अन्त अक्षर लोप; (द) समाक्षर लोप।

(अ) आदि अक्षर लोप---व्याकुल > आकुल, त्रिशूल > शूल।

(ब) मध्य अक्षर लोप---मंडागार > भंडार, दस्तखत > दसखत, गेहूँ जव > गोजई।

(स) अन्त्य अक्षर लोप---माता > माँ, मौक्तिक > मोती, निम्बुक > नीबू, जीव > जी, कुंचिका > कुँजी।

(द) समाक्षर लोप (Haplologro)---किसी शब्द में एक ही ध्वनि, अक्षर या अक्षर-समूह आए तो बोलने में एक लोप हो जाता है---बोलने वाला प्रायः अपनी सुविधा के लिए ऐसा कर लेता है। जब दो अक्षर या अक्षर-समूह साथ-साथ दो बार आएँ तब उच्चारण की सुविधा के कारण उनमें से जब एक का लोप हो जाता है तब उसे समाक्षर लोप कहते हैं। समाक्षर लोप के लिए यह आवश्यक है कि एक

साथ आने वाले दो अक्षरों में एक ध्वनि समान हो। इस शब्द का प्रयोग ब्लूमफ़ील्ड ने किया है। उदाहरणत:

नाककटा > नकटा
खरीददार > खरीदार
शष्पपिंजर > शष्पिंजर
जहीहि > जहि।

कभी-कभी ध्वनि या अक्षर पूर्णतः एक ही न होकर उच्चारण में मिलते-जुलते हैं तब भी एक का लोप हो जाता है। जैसे कृष्ण नगर=कृष्णगर, आदत्त=अत्त इसके तीन उपभेद भी होते हैं—

(1) सम व्यंजन लोप, (2) सम स्वर लोप, (3) समाक्षर लोप।

(2) आगम—लोप का उलटा आगम होता है, अर्थात् इसमें कोई नई ध्वनि आ जाती है। ऐसा प्रायः उच्चारण की सुविधा के कारण होता है। स्वर और व्यंजन दोनों में आगम होता है। आदि, मध्य और अन्त के आधार पर इसके भी भेद किए हैं।

(i) स्वरागम

(क) आदि स्वरागम (Prothesis)—इसमें शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है जो प्रायः ह्रस्व होता है। फ़ारसी और फ्रेंच के वे शब्द जिनके आदि में ऊष्म (श, ष, स) ध्वनियाँ होती हैं, प्रायः इस स्वरागम से युक्त हो जाते हैं। हिन्दी और अँगरेजी में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, जैसे—स्कूल > इस्कूल, स्पोर्ट > इस्पोर्ट, स्टेशन > इस्टेशन, स्तुति > अस्तुति, स्नान > अस्नान, स्तबल > अस्तबल।

ऊष्म से पूर्व आने वाले स्वरों से भिन्न उदाहरण मिलते हैं। जैसे—
लोप > अलोप, कलंक > अकलंक, प्रबल > अपरबल।

(ख) मध्य स्वरागम—अज्ञान, आलस्य अथवा बोलने के सुभीते के लिए कभी-कभी बीच में स्वर आ जाते हैं। जैसे—प्रकार > परकार, पूर्व > पूरब, प्रसाद > परसाद।

संस्कृत शब्दों में हिन्दी रूपों में प्रायः अ, इ, ऊ का आगम जाता है, जैसे कर्म > काम, मिश्र > मिसिर, स्मरण > सुमिरिन, वक > बगुला।

(ग) अन्त स्वरागम—संस्कृत शब्दों में हिन्दी रूपों के अन्त में प्रायः 'आ' तथा 'उ' का आगम हो जाता है; जैसे—गुरु > गुरुआ, गल > गला, जी > जीउ।

(ii) व्यंजनागम

(क) आदि व्यंजनागम—इसके बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—ओष्ठ > ओठ, अस्थि > हड्डी, आरंज > नारंज।

(ख) मध्य व्यंजनागम—इसके यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं—जेल > जेहल, वानर > बन्दर, समन > सम्मन, पण > प्रण, टालटूल > टालमटोल।

(ग) अंत व्यंजनागम—इसके उदाहरणों की भी कमी नहीं है—

चील > चील्ह
भौं > भौंह

परवा > परवाह
अंक > आँकड़ा
रंग > रंगत (अरबी)
देह > देहात (फारसी)

(iii) अक्षरागम

(क) आदि अक्षरागम—गुंजा > घुँघुची
(ख) मध्य अक्षरागम—खल > खरल; आलस > आलकस
(ग) अन्त अक्षरागम—आँख > आँखड़ी; वधू > वधूटी
डफ > डफली; तावे > तावेदार।

(iv) अनुनासिकता

(अ) वक्ताजन्य—सं० अश्रु > अप०, अंसु > हि० आँसू
(आ) ध्वनि-परिवेशजन्य—राम > राँम, पान > पाँन।

(3) **विपर्यय** (Metathesis)—इसमें किसी शब्द के स्वर, व्यंजन या अक्षर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और दूसरे स्थान में पहले स्थान पर आ जाते हैं। यथा–स्वर-विपर्यय में–उल्का > लूका, जानवर > जनावर, अँगुली > उंगली, इक्ष > ऊख।

इसी प्रकार व्यंजन-विपर्यय में—चिह्न > चिन्ह, ब्राह्मण > ब्राम्हन, सिग्नल > सिगल, ब्रह्म > ब्रम्ह, अमरुद > अरमूद, तमगा > तगमा, मुकलचा > मुचलका, मुकाबिला > मुकालिबा।

अक्षर-विपर्यय के उदाहरण इस प्रकार हैं—वफर > बरफ, मतलव > मतबल, लखनऊ > नखलऊ, पहुँचना > चहुँपना, मतलव > मतवल।

(4) **समीकरण** (Assimilation)—समीकरण में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर उसे अपना रूप दे देती है। इसके प्रायः दो भेद होते हैं—पुरोगामी और पश्चगामी। इनमें से प्रत्येक के पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती दो भेद होते हैं। दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण में ध्वनियाँ पार्श्व में न रहकर दूर-दूर रहती हैं। और पहली ध्वनि दूसरी को प्रभावित करती है। संस्कृत का शब्द 'भ्रष्ट' कुछ ग्रामीण बोलियों में 'भरभट्ट' हो गया है। इसके उदाहरण भाषाओं में बहुत कम मिलते हैं। पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण में ध्वनि एक दूसरे के बहुत निकट पाई जाती है, यथा-चक्र > चक्क, लग्न > लग्ग, तक > तक्क और वक्र से वक्क, आदि पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण के द्योतक हैं।

दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण में दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है और उसे अपनी सजातीय बना लेती है। उदाहरणार्थ—

खरकट > करकट
नील > लील

पार्श्ववर्त्ती पश्चगामी समीकरण में कर्म > कम्म, धर्म > धम्म और दुग्ध > दुध्ध हो जाता है।

(5) **विषमीकरण** (Dissimilation)—समीकरण के विपरीत कार्य करने

वाला निर्मम विषमीकरण कहलाता है। जब एक ही शब्द में दो समान ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। तब एक लुप्त अथवा परिवर्तित हो जाती है। जब प्रथम वर्ण ज्यों का त्यों रहता है दूसरा परिवर्तित हो जाता है। तब पुरोगामी विषमीकरण होता है। 'कंकण' > 'कंगन', 'काक' > 'काग' रूप इसके प्रमाण हैं। परन्तु जब द्वितीय वर्ण अपने वास्तविक रूप में रहता है और प्रथम वर्ण में परिवर्तन हो जाता है तब पश्चगामी विषमीकरण होता है। यथा 'मुकुट' का 'मउर' और 'नूपुर' का 'नेउर' रूप पश्चगामी समीकरण के उदाहरण हैं।

(6) **अनुनासिकता (Nazalogation)**—कुछ ध्वनियाँ अनुनासिकता के कारण परिवर्तित हो जाती हैं। ध्वनि में यह विकार मुख-सुख के कारण होता है। यथा—

सर्प > साँप, उष्ट्र > ऊँट, सत्य > साँच, कूप > कूआँ, अश्रु > आँसू, श्वास > साँस, भ्रू > भौं।

(7) **संधि**—संस्कृत में इसके नियमों पर विस्तार में प्रकाश डाला गया है। जो स्वर और व्यंजन दोनों के लिए बने हैं। हिन्दी में भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। यथा—प व म य आदि कतिपय व्यंजन. उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर अपने से पहले के व्यंजन में मिल जाते हैं। कभी-कभी इससे ध्वनियों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि साधारणतया उनके समझने में कठिनाई होती है यथा :

सपत्नी	>	सवत	>	सउत	>	सौत
शत	>	सअ	>	सव	>	सौ
नयन	>	नइन	>	नैन	>	
चामर	>	चँवर	>	चँउर	>	चौर
समर्पयति	>	सअँप्पेइ	>	सवँप्पेइ	>	सौपे

(8) **ऊष्मीकरण**—कभी-कभी ध्वनियाँ ऊष्म में बदल जाती हैं। उदाहरणार्थ केन्टुम वर्ग की भाषाओं की 'क' ध्वनि शतम् वर्ग में इसी दशा को प्राप्त हो गई है।

(9) **मात्रा-भेद**—मात्रा-भेद में कभी स्वर दीर्घ से ह्रस्व और कभी ह्रस्व से दीर्घ हो जाते हैं। इस पर स्वराघात का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि यह स्वयं ही होना संभव नहीं।

दीर्घ से ह्रस्व—नारंगी > नरंगी, आलाप > अलाप
आषाढ़ > असाढ़, वानर > बन्दर, आंवा > अँवा

ह्रस्व से दीर्घ—अक्षत > आखत, अंकुश > आँकुस
लज्जा > लाज, स्कंध > कंधा, कंटक > काँटा, पुत्र > पूत।

(10) **घोषीकरण (Vocalization)**—उच्चारण की सुविधा के कारण कुछ अघोष्ठ ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं, जैसे—सकल = सगल, प्रकट = परगट, मकर = मगर, कंकण = कंगन, काक = काग, शती = सदी।

(11) **अघोषीकरण**—इसमें घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं। साधारणतः इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं—

अदद = अदत, वारिद = वारित, मेघ = मेख, खर्ज = खर्च, मदद = मदत्त।

9

(12) **महाप्राणीकरण (Aspixation)**—अल्पप्राण ध्वनियाँ जब महाप्राण हो जाती हैं, तब वही महाप्राणीकरण कहलाता है। जैसे—पृष्ठ=पीठ, गृह=घर, हस्त =हाथ, वेष=भेष।

(13) **अल्पप्राणीकरण (Despiration)**—कुछ शब्दों के महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है, वही अल्पप्राणीकरण कहलाता है। यथा—भूख=भूक, सूखना =सूकना।

(14) **अपश्रुति (Ablaut)**—व्यंजनों की अपरिवर्तित दशा में केवल स्वर में अन्तर होने से अर्थ-परिवर्तन हो जाने को अपश्रुति कहते हैं। यह अरबी के लगभग सभी शब्दों में पाई जाती है। अरबी की धातु प्रायः तीन व्यंजनों की होती है, उनमें विभिन्न स्वरों को जोड़कर अर्थ-वैविध्य उत्पन्न किया जाता है उदाहरणार्थ क् त् ब् से किताब, कुतुब, कातब आदि बनते हैं।

हिन्दी, संस्कृत और अँगरेजी में भी इसके यथेष्ठ उदाहरण मिलते हैं। हिन्दी में लिख, लिखा, लिखो, लिखी, लिखे आदि, संस्कृत में भूतः भरति आदि और अँगरेजी में Ring, Rang, Rung आदि शब्द लिए जा सकते हैं। अपश्रुति का प्रधान कारण स्वराघात होता है। संगीतात्मक तथा कलात्मक स्वराघात अपने प्रभाव से शब्दों के स्वरों में परिवर्तन लाकर अपश्रुति उत्पन्न कर देता है। यह स्वर परिवर्तन दो प्रकार का होता है—गुणीय परिवर्तन और परिमाणीय परिवर्तन। पहले में स्वर पूर्णतः बदल कर दूसरा हो जाता है और दूसरे में केवल दीर्घ से ह्रस्व या ह्रस्व से दीर्घ हो जाता है और अर्थ परिवर्तन कर देता है।

(15) **अपश्रुति**—किसी स्वर, अर्द्ध स्वर या शब्द में जब अपिनिहिति के कारण आया हुआ स्वर परिवर्तन हो जाता है, तो उसे अभिश्रुति कहते हैं। इसका उदाहरण सबसे पहले जर्मनिक भाषा में मिला था। Main का Maini हुआ और फिर Men हो गया। यहाँ maini में प्रथम (i) अपिनिहिति के कारण है, जिसका परिवर्तन men की 'e' में हो गया है।

(16) **अपनिहित (Epenthesis or Paraptysis)**—किसी शब्द में यदि कोई ऐसा स्वर जाए जिसकी प्रकृति का स्वर या अर्द्धस्वर पहले से वर्त्तमान हो तो उस स्वरागम को अपिनिहित कहेंगे। इस प्रकार का स्वर प्रायः आदि या मध्य में उच्चारण की सुविधा के लिये आता है। इस आधार पर इसके दो भेद किए जा सकते हैं—

(क) आदि-अपिनिहित—स्त्री, 7 इस्त्री, स्टेशन, 7 इस्टेशन।
(ख) मध्य-अपनिहिति—वेल 7 बेइल, बेला 7 बेइला।

(17) **स्वर-भक्ति (Anaptyxis)**—संयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई का अनुभव होने के कारण उच्चारण-सौकर्य्य के लिए उनके बीच में स्वरागम होता है। इसी को स्वरभक्ति कहते हैं। जैसे—'राजेन्द्र' का राजिन्दर,' 'हुक्म' का 'हुकुम'।

प्रश्न 68—ध्वनियों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए उनका आधार बतलाइये।

प्रश्न 69—स्वर और व्यंजन में क्या मुख्य अन्तर माना जाता है? आभ्यान्तर

प्रयत्न (Degree of openness) की दृष्टि से स्वरों तथा व्यंजनों का आधुनिक वर्गीकरण उदाहरणों सहित प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 70—स्वर एवं व्यंजन के वर्गीकरण के क्या आधार हैं? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 71—संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—(1) अन्तः स्फोटात्मक व्यंजन, (2) उद्गाणात्मक व्यंजन, (3) क्लिक व्यंजन।

उत्तर—ध्वनि, भाषा की कृत्रिम लघुतम इकाई है। इसका वर्गीकरण प्राचीन काल से आर्य भाषाओं में स्वर और व्यंजन के रूप में किया गया है। यूरोप में इस प्रसंग में प्रथम नाम, प्रसिद्ध और एक प्रकार से सच्चे अर्थों में प्रथम यूनानी वैयाकरण डायोनिशस थ्रैक्स का लिया जाता है। उन्होंने 'व्यंजन' (Consonant) उन ध्वनियों को कहा जिनका उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता' और 'स्वर' (Vowel) उन ध्वनियों को कहा जिनका उच्चारण बिना किसी अन्य ध्वनि की सहाएता से किया जा सकता है। थ्रैक्स का समय ईसा पूर्व दूसरी सदी है। 'स्वर' शब्द का प्रथम प्रयोग यों तो ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ इसका अर्थ 'ध्वनि' है। आगे चलकर इसका अर्थ 'बलाघात' या 'सुर' हो गया। (Vowel) के अर्थ में जो ध्वनि का ही एक भेद है इसका सर्वप्रथम ऐतरेय आरण्यक में मिलता है। पहले इसे 'घोष' भी कहा जाता था (तस्य यानि व्यंजनानि तच्छीरम्' यो घोषः स आत्मा)। व्यंजन का सम्बन्ध 'अंज' (प्रकट करना) धातु से है और इसका अर्थ है 'जो प्रकट हो'। ध्वनि के विशेष रूप (Consonant) के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भी ऐतरेय आरंण्य से पहले शायद कहीं नहीं मिलता।

स्वर और व्यंजन का भेद मुख्यतः हवा के प्रवाह की अनवरता के आधार पर किया गया। प्रसिद्ध भाषा शास्त्रियों से स्वीट, पालपासी, जोन्स आदि बहुतों ने स्वीकार किया है। इन लोगों के अनुसार—

'स्वर वह घोष (कभी-कभी अघोष भी) ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुख विवर से निकल जाती है।

व्यंजन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से नहीं निकलने पाती। या तो इसे पूर्ण अवरुद्ध फिर आगे बढ़ना पड़ता है या संकीर्ण मार्ग से घर्षण खाते हुए निकलना पड़ता है, या मध्य रेखा से हट कर एक या दोनों पार्श्वों से निकलना पड़ता है, या किसी भाग को कंपित करते हुए निकलना पड़ता है। इस प्रकार वायु-मार्ग में पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित होता है।'

लगभग यही परिभाषा आर्मफील्ड, वेस्टरमैन, वार्ड, ग्रे, ब्लॉक और ट्रैगर आदि ने भी दी है।

थोड़ी भिन्न रीति से कुछ और सरल शब्दों में उसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि स्वर उन ध्वनियों को कहते हैं, जिसके उच्चारण में उच्चारण स्थानों का स्पर्श नहीं होता, हवा मुख के खोलने के बीच से ही निकल जाती है। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं जिसके उच्चारण में वायु उच्चारण स्थानों को स्पर्श या घर्ष करती है। इन स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण में प्रयत्न और उच्चारण स्थान दोनों ही आवश्यक है। इसीलिए ध्वनियों के वर्गीकरण के दो प्रधान आधार हैं,—प्रयत्न तथा उच्चारण स्थान।

प्रयत्न भी दो प्रकार के होते हैं—बाह्य प्रयत्न तथा आभ्यन्तर प्रयत्न। जो प्रयत्न मुख विवर से बाहर होता है उसे तो बाह्य प्रयत्न और जो उसके अन्दर होता है उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। मुख विवर का आरम्भ कंठ पिटक से होता है। इसके पूर्व स्वर-तन्त्री होती है। स्वर-तंत्री ध्वनियों के उच्चारण में काम करती है, अतः इसी प्रयत्न के अनुसार ध्वनियाँ प्रभावित होती हैं। **बाह्य प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों के दो भेद होते हैं—घोष और अघोष।** घोष ध्वनियाँ वे हैं जिनमें स्वर तन्त्री हिला करती हैं। घोष ध्वनियाँ ये हैं— समस्त स्वर स्वर तथा वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण, य र ल व और हैं। शेष ध्वनियाँ अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण, श ष और स अघोष हैं।

आभ्यान्तर प्रयत्न के अनुसार स्वरों के चार भेद हैं—संवृत, अर्ध संवृत, अर्ध विवृत, और विवृत और अग्र मध्य, पश्च तथा व्यंजनों के 8 भेद हैं—स्पर्श, संघर्षी, स्पर्श संघर्षी, अनुनासिक, पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त और अर्धस्वर।

स्वरों के भेद

(1) **संवृत्त स्वर**—जब मुखद्वार बहुत संकरा हो जाता है और जिह्वा बिना किसी प्रकार के स्पर्श अथवा घर्षण के यथा संभव ऊँची उठ जाती है। जैसे इ ई उ ऊ।

(2) **विवृत्त**—जब मुख द्वार पूरा खुला रहता है और जिह्वा यथासंभव नीची रहती है। जैसे अ आ।

(3) **अर्ध संवृत्त स्वर**—जब मुखद्वार अर्ध संकरा होता है-ए और ओं।

(4) **अर्ध विवृत्त स्वर**—जब मुखद्वार अधखुला होता है, जैसे एँ ओं।

स्वरों के उच्चारण में जीभ का कभी अग्र भाग उठता है, कभी मध्य और कभी पश्च। इसके अनुसार अग्र स्वर ई ए एँ, मध्य स्वर अ और पश्च स्वर आ ऊ और ओ हैं।

व्यंजनों के भेद

व्यंजनों के उच्चारण में मुखद्वार, जिह्वा आदि भाषणावयवों के पूर्ण अपूर्ण स्पर्श द्वारा एक बार पूर्णतया बन्द होकर वायु का निरोध करता है और स्पर्श दूर होने पर वायु स्फोट, घर्षण आदि के साथ बाहर निकलती है। इस वायु निरोध तथा वहिर्निस्सरण की रीति के अनुसार अथवा प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों को निम्न वर्गों में विभाजित किया गया है—

(1) **स्पर्श व्यंजन**—भाषणावयवों के पूर्ण स्पर्श से मुखद्वार-पूर्णतः बन्द हो जाता है और इस प्रकार श्वास का पूर्ण निरोध करता है। स्पर्श दूर होने पर श्वांस स्फोट द्वारा बाहर निकलता है जैसे—क् ख् ग् घ् ट् ठ् ड् ढ् त् थ् द् ध्, प् फ् ब् भ्। अतः इन्हें स्पर्श या स्पर्शी कहते हैं संस्कृत व्याकरणों में 'क' से 'म' तक 25 ध्वनियों को स्पर्श कहा गया हैं (कादयो मावसानाः स्पर्शाः)। अब 'चवर्ग' तथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् स्पर्श नहीं माने जाते।

(2) **संघर्षी**—संघर्षी व्यंजनों के उच्चारण में मुखद्वार इतना सँकरा हो जाता है कि श्वांस को घर्षण के साथ निकलना पड़ता है; जैसे फ्, व्, स्, ज् श् ख़् ग़् ह्।

(3) स्पर्श संघर्षी—जब मुखद्वार को बन्द करके इस प्रकार बोलते हैं कि हवा स्थानों को कुछ रगड़ती चलती है जैसे च्, छ्, ज्, झ् ।

(4) अनुनासिक—जब मुखद्वार बन्द करके खोला जाता है, किन्तु साथ ही नासिका विवर भी खुला रहता है—ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ।

(5) पार्श्विक—जब मुखद्वार बीच में बन्द हो जाता है और हवा दोनों ओर से निकल जाती है । यथा—ल ।

(6) लुंठित—इस ध्वनि में जीभ की नोक मसूड़े पर जाती है, पर वहाँ दो-तीन बार जल्दी-जल्दी श्वांस को रोककर छोड़ देती है । जैसे—र् ।

(7) उत्क्षिप्त—जिह्वा-नोक उलटकर झटके के साथ तालु को छूकर जब हट जाती है, तब इस ध्वनि की उत्पत्ति होती है । जैसे ड़, ढ़ के उच्चारण में ।

(8) अर्द्ध स्वर—इस ध्वनि के उच्चारण में मुख द्वार सँकरा करते हैं । परन्तु इतना अधिक नहीं कि श्वांस के निकलने में घर्षण हो जैसे 'य' तथा 'व' के उच्चारणों में । ये ध्वनियाँ व्यंजन तथा स्वर के बीच में पड़ती हैं, इसीलिए इन्हें अर्द्ध स्वर कहते हैं ।

(9) कम्पनयुक्त, कम्पनजात या जिह्वोत्कम्पी (Trilled)—इसमें जीभ की नोक तालु के अत्यन्त निकट चली जाती है और हवा के प्रवाह से इसमें स्पष्ट कम्पन होता है । विभिन्न भाषाओं का 'र' इसका उदाहरण है ।

(10) कम्पनजात संघर्षी (Trilled Fricative)—कतिपय ध्वनियों में कंपन के साथ-साथ संघर्षण भी होता है । जेक भाषा का विशेष प्रकार का 'र' इसी श्रेणी का है ।

उच्चारण स्थान की दृष्टि से व्यंजनों के निम्न भेद किए जाते हैं—

(1) काकल्य—काकल स्थान में उत्पन्न होने वाली ध्वनि को काकल्य ध्वनि कहते हैं । जैसे 'ह्' तथा विसर्ग (:) । इसका दूसरा नाम स्वरयंत्रमुखी भी है ।

(2) कण्ठ्य या कोमल तालव्य—यह ध्वनि कंठ से उत्पन्न होती है । यह तालु का अन्तिम कोमल भाग होता है । जब जिह्वा मध्य कोमल तालु का स्पर्श करती है, तब कंठ ध्वनि उत्पन्न होती है । इसके अतिरिक्त शुद्ध कंठ्य-ध्वनि भी है । जैसे अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ ।

(3) मूर्धन्य—कठोर तालु के पिछले भाग मूर्धा और जिह्वाग्र से उच्चरित ध्वनि को मूर्धन्य कहते हैं । जैसे र, ष, । ·

(4) तालव्य—कठोर तालु तथा जिह्वोपाग्र से उच्चरित ध्वनि को तालव्य कहते हैं, जैसे इ, ई ।

(5) वर्त्स्य—तालु के अन्तिम भाग अर्थात् वर्त्स दंतमूल तथा जिह्वानोक के संयोग से उच्चरित ध्वनि को वर्त्स्य कहते हैं, जैसे 'न' ल, र, स, ज, च, छ, ज, झ ।

(6) दन्त्य—दाँतों की ऊपर की पंक्ति तथा जिह्वानोक से उच्चरित ध्वनि को ही दन्त कहते हैं, जैसे त् थ् द् ध् ।

(7) ओष्ठ्य—दोनों ओठों के स्पर्श से उत्पन्न ध्वनि को ओष्ठ्य कहेंगे जैसे प् फ् ब् भ् म् ।

(8) दत्योष्ठ्य—नीचे के ओठों और ऊपर के दाँतों की सहायता से उत्पन्न ध्वनि दन्त्योष्ठ्य ध्वनि कहलाती है, जैसे व और फ़।

(9) अलिजिह्वीय (Uvular) या जिह्वामूलीय—जिसके उच्चारण में जिह्वा के मूल का स्पर्श होता है, उसे जिह्वामूलीय ध्वनि कहते हैं, जैसे क़, ख़, ग़।

स्वर-तंत्रियों के आधार पर व्यंजन के प्रमुखत: दो भेद हो सकते हैं—घोष, अघोष। 'घोष' के ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में स्वर तंत्रियों के निकट आ जाने से उनके बीच निकलती वायु से उनमें कंपन होता है। हिन्दी में कवर्ग आदि पाँचों वर्गों की अन्तिम तीन ध्वनियाँ तथा य, र, ल, व, ग़, ज़ ह, ड़, ढ़ आदि घोष हैं। जिनके उच्चारण में स्वर तंत्रियों में कंपन नहीं होता उन्हें अघोष कहते हैं। हिन्दी में पाँच वर्गों की प्रथम दो ध्वनियाँ तथा क़, ख़, फ़, स, श आदि अघोष हैं।

उच्चारण शक्ति के आधार पर व्यंजनों के तीन भेद किए जा सकते हैं—

(क) सशक्त (Fortis)—जिसमें मुँह की माँसपेशियाँ दृढ़ हों, जैसे स्, ट्।

(ख) मध्यम—जिसमे मुँह की मांसपेशियाँ न तो दृढ़ ही रहती हैं और न शिथिल ही, जैसे च्, श्।

(ग) अशक्त (Lenis)—इसमें मुँह की माँसपेशियाँ शिथिल होती हैं, जैसे र्, ल्।

अनुनासिकता के आधार पर व्यंजनों के तीन भेद हो सकने हैं—

(1) मौखिक—जैसे क्, ट्।

(2) मौखिक नासिक्य—इसमें उच्चारण के समय हवा मुँह के साथ नाक से भी निकलती है। जैसे कँ, टँ।

(3) नासिक्य—जिसमें हवा नाक से निकले। जैसे—ङ, भ, ण्, न्, म्।

संयुक्तता-असंयुक्तता के आधार पर व्यंजनों के तीन भेद हो सकते हैं—

(1) संयुक्त—यह दो विभिन्न व्यंजनों का संयुक्त रूप होता है। जैसे—क्त, ल्य, न्य।

(2) असंयुक्त—जैसे क्, ट्।

(3) द्वित्व—यह एक ही व्यंजन का संयुक्त रूप होता है। जैसे क्क, प्प, त्त।

ऊपर जिन व्यंजनों और उनके भेदों का उल्लेख किया गया है, वे सामान्य और बहुप्रचलित हैं। इसके विरुद्ध कुछ व्यंजन असामान्य और अल्प-प्रचलित हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तः स्फोटात्मक (Implosive)—ये स्पर्श व्यंजन हैं। सामान्य स्पर्शों की भाँति मुँह के किसी भाग में स्पर्श या अवरोध होता है और साथ ही स्वर-यंत्र काफी नीचे कर दिया जाता है। स्पर्श-स्थान और स्वर-यंत्र के बीच के स्थान के विस्तृत हो जाने के कारण हवा फैलकर हल्की हो जाती है और ज्यों ही अवरोध का उन्मोचन होता है वाहर से हवा, भीतर की हवा के हल्की होने के कारण बड़ी तेजी से अन्दर प्रवेश करती है और यह ध्वनि उच्चरित होती है। वेस्टरमैन के अनुसार इसके तुरन्त बाद एक प्रकार का सामान्य स्वर सुनाई पड़ता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ ह्वयोष्ठय, दन्त्य, तालव्य और कोमल तालव्य होती हैं। अफ्रीका के एफिक, इनो, हौसा, जुलू, फुल आदि, भारत की सिंधी, राजस्थानी की कुछ भाषाओं में इस प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं।

(2) उद्‌गार (Ejective या Glottalinged Stop)—इसमें मुँह में स्पर्श के अवरोध के साथ-साथ स्वरयंत्रमुख भी स्वर तंत्रियों के समीप आने से बंद हो जाता हैं। पहले मुँह में स्फोट होता है फिर स्वरयंत्र में लगभग आधा कंपन होता है और फिर ध्वनि निकलती है। इस समय स्वर-यंत्र कुछ ऊपर उठ आता है। दोहरे अवरोध तथ्य दोहरे उन्मोचन के कारण यह ध्वनि एक विशेष प्रकार की (तेज सी सोडावाटर के बोतल के ढक्कन के खुलने जैसी) सुनाई देती है। इसके उच्चारण मे मुँह की माँस-पेशियों में संकोचन मे हवा संकुचित रहती है और उन्मोचन होते ही जोर से बाहर निकलती है। यह स्पर्श, द्वयोष्ठ्य, तालव्य, कोमल तालव्य आदि कई प्रकार का होता है। यह ध्वनियाँ प्रमुखतः अफ्रीकी भाषाओं में, किन्तु अपवाद स्वरूप फ्रांसीसी आदि भाषाओं में मिलती हैं।

(3) क्लिक् (Click)—इसके उच्चारण में पहले बाहर के स्पर्श का उन्मोचन होता है। भीतर की माँसपेशियों के कड़ापन एवं खिचाव से भीतर की हवा संकुचित सी रहती है। अतः उन्मोचन होते ही बाहर से हवा घुसती है, तुरन्त ही क स्थानीय स्पर्श भी उन्मोचित होता हैं। यह परवर्ती उन्मोचन अत्यन्त धीमा होने से सुनाई नहीं पड़ता। इस ध्वनि के बाद तुरन्त किसी सामान्य स्वर का उच्चारण होता है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ दो हैं—(क) मुँह में दो स्थानों पर स्पर्श या अवरोध, (ख) हवा का बाहर से भीतर जाना। पूर्ववर्ती स्पर्शों के आधार पर क्लिक व्यंजनों के छह भेद किए गए हैं—द्वयोष्ठ्य, दन्त्य, वर्त्स्य तालव्य, वर्त्स्य, प्रतिवेष्ठित कठोर तालव्य, वर्त्स्य पार्श्विक। हिन्दी का च् च् तथा टिक् टिक् क्लिक् रूप में प्रयोग होता है। यह ध्वनियाँ प्रमुखतः सुतो (अफ्रीका), बुशमैन, जुलू, बांटू, होंटेंटोट आदि भाषाओं में मिलती है।

प्राचीन भाषा के वैज्ञानिकों ने प्राणात्व के आधार पर स्पर्श व्यंजनों के दो भेद और माने हैं—अल्पप्राण और महाप्राण। प्राण अन्दर से आने वाली श्वांस को ही कहते हैं। क ग आदि में साधारण प्राण के साथ उच्चारण माना जाता था और ख, घ आदि का विशेष प्राण के साथ। क से ख बनने में श्वांस अवश्य कुछ भारी हो जाती है। वास्तव में ख, क और ह का संयुक्त रूप नहीं है।

अल्प प्राण—क ग ङ च ज, ञ ट ड, ण त द, न, प, ब, म, र, ल, ड़।
महाप्राण—ख घ छ झ ठ ढ ढ़ थ, ध, न्ह फ, भ, म्ह, रह ल्ह।

स्वर और व्यंजन के वर्गीकरण के आधार

डॉ० भोलानाथ तिवारी—के अनुसार स्वरों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नांकित हैं :

(1) जीभ का कौन सा भाग करण (articulatox)—उच्चारण करने में प्रमुख सहायक अंग का कार्य करता है?

स्वरों के उच्चारण के भीतर से आती हवा के रास्ते में कोई खास रुकावट प्रायः नहीं होती है जो ध्वनि सुनाई पड़ती है उसका वह स्वरूप प्रमुखतः निर्भर करता है मुँह में हवा के गूँजने पर। विभिन्न स्वरों के गूँजने के लिए मुख विवर विभिन्न रूप धारण करता है। इस काम में जीभ का अग्र मध्य या पश्च भाग ऊपर उठकर मुख की सहायता करता है। इस प्रकार स्वर के उच्चारण में जीभ का जो भाग अग्र,

मध्य, पश्च) व्यवहृत होता है। उसके आधार पर उसे अग्र स्वर, पश्च स्वर या मध्य स्वर नाम देते हैं। आशय यह कि इस आधार पर स्वरों के प्रमुखतः अग्र, पश्च, मध्य ये तीन वर्ग बनते हैं। यों और सूक्ष्मता से विचार करके और भी वर्ग बनाए जा सकते हैं। हिन्दी स्वरों में इ ई ए अग्र है, उ ऊ ओ आ पश्च है और अ मध्य।

(2) **जीभ का व्यवहृत भाग कितना उठता है ?**—स्वर का स्वरूप मुख विवर के उस स्वरूप पर निर्भर करता है जिसमें हवा बाहर निकलते समय गूंजती है। यह स्वरूप जीभ के अग्र, पश्च या मध्य भाग उठने पर निर्भर करता है। अर्थात् यदि जीभ का विभिष्ट भाग बहुत उठा हो तो मुख-विवर अत्यन्त संकरा अर्थात् 'संवृत' होगा और यदि वह नहीं के बराबर उठा हो तो मुख-विवर बहुत खुला या 'विवृत' होगा। इन दोनों के बीच में यों तो अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं, किन्तु प्रमुख रूप से 'अर्द्ध विवृत' और अर्ध संवृत दो मानी जाती हैं। अर्थात् इस आधार पर स्वर के चार वर्ग बने। हिन्दी में आ विवृत, औ अर्द्ध संवृत, और ऊ संवृत है।

(3) **ओष्ठों की स्थिति**—स्वरों का स्वरूप ओठों की स्थिति पर भी निर्भर करता है। यों तो ओठों की स्थितियाँ भी अनेक प्रकार की होनी हैं, किन्तु प्रमुख दो हैं—वृत्तमुखी या वृत्ताकार जैसे ऊ उ आदि में और अवृत्तमुखी या अवृत्ताकार जैसे आ, ए आदि में। कुछ स्वरों में ओष्ठ-विस्तृत (ई) पूर्ण विस्तृत (ए) उदासीन (अ) स्वरूप वृत्ताकार (औ) पूर्ण वृत्ताकार (ऊ) आदि भी होते हैं।

(4) **मात्रा**—स्वरों का स्वरूप मात्रा पर भी निर्भर करता है। इस आधार पर यों तो सूक्ष्म दृष्टि से स्वरों के अनेक भेद या वर्ग हो सकते है। किन्तु प्रमुख ह्रस्वार्द्ध (उदासीन स्वर) (अ), ह्रस्व (अ), दीर्घ (आ) और प्लुत (ओइम) में चार हैं।

(5) **कोमल तालु और कौवे (अलि जिह्व) की स्थिति**—ये दोनों कभी तो नासिका मार्ग को रोककर हवा को केवल मुँह से निकलने को वाध्य करते हैं और कभी बीच में रहते हैं, अर्थात् हवा का कुछ अंश मुँह से निकलता है और कुछ नाक से पहली स्थिति में मौखिक स्वर (अ, आ, ए आदि) उच्चरित होते है और दूसरी स्थिति में नासिक्य या अनुनासिक स्वर (अ, आ ई)।

सभी स्वरों के ये दोनों रूप सम्भव है। अनुनासिक स्वरों के दो भेद हैं—(1) पूर्ण अनुनासिक—जैसे हाँ का आँ। (2) अपूर्ण अनुनासिक—जैसे राम आ 'आ'।

(6) **स्वर तंत्रियों की स्थिति**—स्वर तन्त्रियों की स्थिति विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में एक सी नहीं रहती। घोष और अघोष ध्वनियों में निस्सरण में स्वर तन्त्री की ही प्रधान भूमिका होती है। घोष उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण के लिए स्वर तन्त्रियों के बीच से आती हवा, उसके एक दूसरे के समीप आ जाने के कारण घर्षण करती हुई निकलती है, जिससे स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है। प्रायः स्वर घोष होते हैं, अर्थात् उनका उच्चारण स्वर तन्त्रियों की उपर्युक्त स्थिति में होता है। अघोष उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण के समय स्वर तन्त्रियाँ एक दूसरी से इतनी दूर रहती हैं कि उनके बीच आने वाली हवा सरलता से विना घर्षण किये निकल आती है, अर्थात् स्वर तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। केवल कुछ ही भाषाओं में कुछ स्वर अघोष होते हैं। हिन्दी की बोलियों में उ ए इ के अघोष रूप मिलते हैं।

(7) मुंह की माँस पेशियों तथा अंग आदि के आधार पर शिथिल (Lax) तथा दृढ़ (tense) भेद भी स्वर के किए जाते हैं। जैसे इ उ अ (शिथिल) ई ऊ दृढ़ हैं। ए की स्थिति दोनों के मध्य की है।

(8) कुछ स्वर मूल (Monophthong) होते हैं अर्थात् उनके उच्चारण में जीभ एक स्थान पर रहती है जैसे अ, ई और कुछ संयुक्त स्वर (dipthong) होते हैं अर्थात् उनके उच्चारण में जीभ एक स्वर के उच्चारण से दूसरे स्वर के उच्चारण की ओर चलती है। इन्हें श्रुति (glide) कहा जा सकता है। अवधी तथा भोजपुरी क्षेत्र में ऐ (अए) औ (अओ) का उच्चारण ऐसा ही होता है। मूल और संयुक्त का वर्गीकरण स्वर की प्रवृत्ति पर आधारित हो।

व्यंजनों के वर्गीकरण के आधार अधोलिखित हैं :—

(1) प्रयत्न का आधार,
(2) उच्चारण स्थान का आधार,
(3) स्वर तन्त्रियों का आधार,
(4) प्राणत्व का आधार,
(5) उच्चारण-शक्ति का आधार,
(6) अनुनासिकता का आधार,
(7) संयुक्तता असंयुक्तता का आधार।

इन सबकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं।

प्रश्न 72—स्वर और व्यंजन में क्या भेद है ?

स्वर और व्यंजन में भेद

उत्तर—प्राचीन काल से अब तक स्वर व्यंजन के भेद के बारे में विश्व में कहीं भी जो बातें कही गई हैं, वे पूर्णतः सत्य तो नहीं हैं, किन्तु अंशतः सत्य अवश्य है। अतः उनमें किसी को भी बिलकुल व्यर्थ मान बैठना बहुत ठीक नहीं है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है—

(1) स्वरों का उच्चारण अकेले भी सरलता से किया जा सकता है, किन्तु व्यंजनों का अकेले उच्चारण करने में स, ज, श् आदि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः विशेष सावधानी अपेक्षित है। अस्फोटित स्पर्श भाषा में या तो शब्दांत (आप्) में आते हैं या अन्य स्थानों पर किसी व्यंजन के पूर्व संयुक्त रूप में (प्लेग) ऐसी स्थितियों में इनका स्वरविहीन उच्चारण होता है, किन्तु स्वतन्त्र उच्चारण में या स्फोटित स्पर्श के उच्चारण में, चाहे जितनी भी सावधानी बरती जाय, थोड़ी-सी स्वर ध्वनि सुनाई पड़ ही जाती है (क्, प्)।

(2) प्रायः सभी स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है। व्यंजनों में केवल संघर्षी ही ऐसे हैं, शेष का उच्चारण देर तक नहीं हो सकता।

(3) एक-दो (ई, ऊ) अपवादों को छोड़कर अधिकांश स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर में हवा गूँजती हुई बिना विशेष अवरोध के निकल जाती है। अधिकांश व्यंजन इसके विरोधी हैं, और उनमें पूर्ण या अपूर्ण अवरोध हवा के मार्ग में व्यवधान उपस्थित करता है।

(4) सभी स्वर आक्षरिक (syllabic) हैं। संध्यक्षरों (diphthong) में अवश्य कुछ स्वरों का अनाक्षरिक स्वरूप दिखाई पड़ता है, किन्तु वह अपवाद-जैसा है। दूसरी ओर प्रायः सभी व्यंजन सामान्यतः अनाक्षारिक (non-syllabic हैं। अपवा-स्वरूप न्, र्, ल् आदि चार-पाँच व्यंजन ही, कभी-कभी कुछ भाषाओं में आक्षारिक रूप में दृष्टिगत होते हैं। यह आधार प्रायोगिक है।

(5) मुखरता (sonority) की दृष्टि से भी स्वर-व्यंजन में भेद हैं। स्वर अपेक्षाकृत अधिक मुखर होते हैं और व्यंजन कम मुखर। कुछ अपवाद भी हैं, किन्तु वे अपवाद ही हैं। यों जैसा कि इसी अध्याय में अन्यत्र दिखाया जायेगा इस दृष्टि से स्वरों और व्यंजनों के अलग-अगल स्तर वनाये जा सकते हैं। यह आधार श्रवणीयता का है।

(6) ऑसिलोग्राफ़ आदि यंत्रों में स्वर और प्रमुख व्यंजनों की लहरों में भी अन्तर मिलता है। हाँ यह अवश्य है कि र्, म् आदि कुछ व्यंजनों की लहरें प्रकृति की दृष्टि से स्वर और व्यंजन के बीच में आती हैं।

इस प्रकार सभी स्वरों और व्यंजनों में (क) स्पष्ट, दो टूक भेद नहीं है; (ख) कुछ धुँधला-सा भेद अवश्य है, जिसका आधार श्रवणीयता, प्रायोगिकता और उच्चारण आदि है; (ग) यदि इन दृष्टियों से स्पष्ट भेद वाले कुछ स्वरों को एक वर्ग में रखकर उन्हें 'स्वर'; स्पष्ट भेद वाले कुछ व्यंजनों को एक वर्ग में रखकर उन्हें 'व्यंजन,; और स्पष्ट भेद न रखने वाले स्वरों और व्यंजनों को 'मिश्र' या 'अन्तस्थ' शीर्षक के अन्तर्गत तीन वर्गों में रख दिया जाय तो विशेष कठिनाई न होगी। यों स्पष्ट भेद न रहने पर भी शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से परम्परागत रूप में कुछ ध्वनियों को स्वर और कुछ को व्यंजन कहना और उसी रूप में उन पर विचार करना कई दृष्टियों से बहुत उपयोगी है।

प्रश्न 73—ध्वनि-यन्त्र का वर्णन कीजिए और बतलाइए कि ध्वनि मुख से निकल कर दूसरे के कान तक कैसे पहुँचती है।

उत्तर—जिन अंगों या अवयवों से भाषा-ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें ध्वनि-यंत्र, उच्चारण अवयव या वाग्यंत्र कहते हैं।

ओठ—वाग्यंत्र में ओठ वहिर्स्थित दृश्यमान विभाग हैं। ध्वनि-उत्पादन में ओठों का प्रयोग निम्न प्रकार होता है—

(1) दोनों ओठ पूर्ण रूप से खोल कर हिन्दी 'आ' का उच्चारण होता है।
(2) 'प' का उच्चारण करते हुए दोनों ओठ वन्द हो जाते हैं।
(3) दोनों ओठ अर्द्ध उन्मुक्त रह कर 'उ' का उच्चारण करते हैं।
(4) 'फौरन' शब्द में 'फौ' के उच्चारण के लिए ऊपर के दाँत और होठ समीपवर्ती हो जाते हैं।

ध्वनियों के उच्चारण में ओठों की स्थिति सामान्यतः तीन प्रकार की हो जाती —(1) उदासीन स्थिति में दोनों ओठ स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं। (2) पूर्ण गोलाकार स्थिति में ओठ एकचित्र हो जाते हैं और (3) पूर्ण विस्तृत स्थिति में ओठ तने हुए रहते हैं।

दाँत—ध्वनि की सृष्टि में ऊपर की पंक्ति के सामने वाले दाँत विशेष रूप से

व्यवहार में लाये जाते हैं। ये दाँत नीचे के ओठ और जिह्वा की नोंक के साथ मिल कर ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

वर्त्स—ऊपर के दाँतों के मूल से कठोर तालु के प्रारम्भ तक का विस्तृत उभरा हुआ भाग वर्त्स कहलाता है। जिह्वा के विभिन्न भाग इसका स्पर्श करके ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

कठोर तालु—वर्त्स से लेकर कोमल तालु के प्रारम्भ तक का विस्तृत मुखरंध्र के ऊपर के भाग को कठोर तालु कहते हैं। वाग्यन्त्र का यह एक स्थिर अंग विशेष है, जितनी ध्वनियाँ तालव्य कहलाती हैं, वे सब इसी प्रदेश में उत्पन्न होती हैं।

कोमलतालु—जहाँ कठोर तालु का अन्त है, वहीं कोमल तालु प्रारंम्भ है। वह भाग एक कोमल मांसखण्ड-सा प्रतीत होता है। यह कोमलतालु ऊपर नीचे हो सकता है। कोमलतालु वाग्यन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विभाग है। यह मुखरन्ध्र और नासारन्ध्र के बीच में किवाड़ का सा काम करता है। क, ग, आ, इ, आदि ध्वनियों के उच्चारण में यह कोमलतालु ऊपर उठकर नासारन्ध्र मार्ग को बन्द कर देता है। परिणामतः समस्त हवा मुखरन्ध्र से प्रवाहित होती है। परन्तु जब म, न, ण, आदि का उच्चारण किया जाता है, तब कोमलतालु के नीचे झुक जाने के कारण हवा पूर्णतया नासारन्ध्र-मार्ग से निकलती है।

अलिजिह्वा या कौआ—अलिजिह्वा या कौआ कोमलतालु का अन्तिम भाग है। यह एक छोटा-सा गोलाकार लटकता हुआ मांसपिण्ड होता है। साधारण भाषा में इसे कौआ कहते हैं। कोमलतालु से संग्लन यह ऊपर नीचे होता है और ध्वनि-उत्पादन में विभिन्न रूपों में सहायक होता है।

जिह्वा—ध्वनिनिर्माण में जिह्वा का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषण क्रिया में इसकी प्रधानता होने के कारण इसे भाषण-यन्त्र का प्रमुख अंग माना जाता है। भाषा तत्व के क्षेत्र में जिह्वा का इतना प्राधान्य है कि इससे सम्बन्धित 'Language' और 'Linguistics' शब्द जीभ के फ्रांसीसी नाम 'Langue' और लैटिन नाम 'Lingua' से सम्बन्धित है। जिह्वा ओठों से लेकर कठोर तालु के अन्त के प्रत्येक स्थान को स्पर्श कर सकती है। कोमल और लचकार होने के कारण यह सहज रूप में आगे-पीछे ऊपर-नीचे तथा इधर-इधर हो सकती है।

जिह्वा की नोंक—जिह्वा के अग्रविन्दु को जिह्वानोक कहा जाता है। ध्वनि सृष्टि में इसका व्यवहार इस प्रकार किया जाता है।

(1) अनेक प्रकार की ध्वनियों विशेषतः आ, इ, उ आदि स्वरों के उच्चारण में जिह्वानोक उदासीन सी रहती है।

(2) ऊपर की पंक्ति के सामने वाले दाँतों को स्पर्श करती हुई त, थ, आदि ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होती है।

(3) सामने के दाँत या वर्त्स के समीपवर्ती होकर यह संघर्षी ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होती है।

(4) फेफड़ों से निकलने वाली हवा द्वारा विताड़ित होकर यह एकाधिक बार जोर से हिल कर उच्चारण में सहायक होती है।

(5) दाँत अथवा वर्त्स के मध्य बिन्दु का स्पर्श करते हुए यदि जिह्वा के एक या उभय पार्श्व खुले रहते हैं, तो एक प्रकार की पार्श्विक ध्वनि निकलती है।

(6) जिह्वा की नोक पीछे की ओर ऊपर को मुड़ती हुई रहकर मूर्द्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में सहायता करती है। यह हिन्दी ट, ठ में पाई जाती है।

जिह्‍वा फलक—जिह्‍वा के अग्रबिन्दु से लगा हुआ जो भाग स्वाभाविक रूप में बाहर निकाला जा सकता है उसे जिह्‍वा-फलक कहा जाता है। यह वर्त्स और सामने के दाँतों के संयोग से ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होता है।

जिह्वाअग्र—मुखरन्ध्र में निष्क्रिय अवस्था में रहते समय जिह्‍वा का जो भाग कठोर तालु के विपरीत रहता है, उसको जिह्‍वा कहा जाता है। यह भाग जिह्‍वा फलक के अन्त से लेकर लगभग डेड़ इंच तक लम्बा होता है। ध्वनि-उत्पादन में यह विशेषता कठोरतालु के प्रदेश में व्यवहृत होता है। इस विभाग की सहायता से उत्पादन होने वाली ध्वनियों को मुख्तयः तालव्य कहा जाता है

जिह्‍ वापश्च—जिह्‍ वाग्र के उक्त डेड़ इंच के बाद जो शेष भाग हैं उसे जिह्‍-वापश्च कहा जाता है। ध्वनि-उत्पादन में इसका व्यवहार निम्न प्रकार किया जा सकता है :

(1) फेफड़ों से निकलने वाली हवा को मुखरन्ध्र में विभिन्न रूपों में प्रभावित करके उ, ओ आदि ध्वनियों के उत्पादन मे यह विभाग सहायक होता है।

(2) जिह्वापश्च कोमलतालु और कौआ के साथ मिलकर विभिन्न ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होता है। हिन्दी 'क' और उर्दू काफ ध्वनियाँ क्रमशः इसी प्रकार की हैं।

उपालिजिह्‍ वा या गलविल—नासारन्ध्र और स्वरयन्त्रावरण के बीच और जिह्वामूल के पीछे जो खाली स्थान है उसे उपालिजिह्वा या गलबिल कहा जाता है। जिह्वा के पिछले भाग को पीछे हटाकर गलविल को विभिन्न रूपों में संकीर्ण करके विशेष प्रकार की ध्वनियाँ बनाई जा सकती है।

स्वर यन्त्रावरण (अभिकाकल)—जिह्वामूल के नीचे पेड़ के पत्ते के समान उठा हुआ मांसल भाग है। इसको स्वरयन्त्रावरण कहा जाता है। वस्तुतः यद्यपि यह विभाग ध्वनि-उत्पादन में प्रत्यक्ष सहायता नहीं देता, तो भी स्वरयंत्र की रक्षा करने के कारण परोक्ष रूप में ध्वनि प्रक्रिया को अक्षुण्ण रखता है। कुछ ध्वनिविदों के मत में यह भाग गाना गाते समय ध्वनियों में कुछ प्रभाव डालता है।

स्वर-तन्त्रियाँ—स्वरयंत्र भाषण-अवयवों में एक प्रमुख विभाग है। यह मानवीय ध्वनि-प्रसारण केन्द्र है। प्रत्येक प्रकार की ध्वनि की उत्पत्ति इस केन्द्र में निहित है। वयस्क तथा कमजोर व्यक्तियों को देखने से ज्ञात होगा कि उनकी गर्दन के आगे गोलाकार आकृति की एक उभरी हुई वस्तु दिखाई देती है। साधारण भाषा में इसे कण्ड कहते हैं। भीतर से देखने से मालूम पड़ता है कि यह श्वासनली के अन्त में स्थित है। यह एक छोटे बक्स के समान है। इसमें आगे से पीछे को विस्तृत दो तन्त्रियाँ श्वासनलिका के ढक्कन का काम करती हैं। ये स्वरतन्त्रियाँ विस्तृत होकर श्वास-मार्ग को रोक देती हैं और संकुचित होकर उसे उन्मुक्त कर देती हैं। ये तन्त्रियाँ स्वरतन्त्रियाँ कहलाती हैं।

स्वरतन्त्रियों के बीच के अवकाश की प्राचीन ध्वनिविदा ने कण्ठ की आख्या दी है। प्राचीन शास्त्रों में 'कण्ठबिल' कण्ठगह्‍वर, वह आदि नामों का उल्लेख भी

है। हिन्दी में हम इसे 'काकल' आदि नामों से पुकारते हैं। यह कण्ठद्वार विभिन्न मात्रा में खुला और बन्द रह सकता है। हम आवश्यकतानुसार स्वरतंत्रियों से इसे विभिन्न मात्रा में खुला या बन्द रख सकते हैं

स्वर-तन्त्रियों कार्य :

(1) **घोष**—बात करते समय या गाना गाते समय स्वरतन्त्रियाँ कुछ ध्वनियों के उत्पादन के लिए परस्पर समीपवर्ती हो जाती हैं। परन्तु वायु-मार्ग सपूर्णत. बन्द नहीं होता और स्वरतन्त्रियों के किनारे ढीले रहते हैं। फेफड़ों से निकलने वाली हवा इस अवस्था में स्वरतन्त्रियों के बीच में संकीर्ण मार्ग से निःसृत होती है और इनके (स्वरतन्त्रियों) किनारों में कम्पन होता है। इस कम्पन से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे घोष कहा जाता है। आ, इ, उ आदि स्वर तथा ग द ब, आदि व्यंजनों के उच्चारण में घोषत्व होने के कारण इन्हें सघोष ध्वनियाँ कहा जाता है।

(2) **अघोष**—ऐसी बहुत-सी ध्वनियों के उत्पान में कण्ठद्वार की सपूर्णतया बन्द न करके आंशिक रूप में बन्द किया जाता है। प, त आदि ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ वायुमार्ग को इसी प्रकार अंशतः बन्द कर देती हैं और उनमें कम्पन की सृष्टि नहीं हो पाती। इस प्रकार की ध्वनियों को अघोष कहा जाता है।

(3) **काकल्य-स्पर्श**—जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर टकराकर एक झटके के साथ अलग हो जाती हैं तब काकल्य स्पर्श ध्वनि उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार की छोटी खाँसी के समान है। यह ध्वनि मुण्डारी जर्मन, डच और लन्दन की ककनी मे सुनाई पड़ती है।

श्वास-नलिका—यह फेफड़ों से कण्ठ पर्यन्त लम्बी एक नली है। इससे फेफड़ों से निर्गत होने वाली हवा मुखविवर में पहुँच जाती है। यह मार्ग एक के ऊपर एक रखे हुए उपास्थि के वृत्ताकार छल्लों के समान वस्तुओं से निर्मित है। बाहर से फेफड़ों तक वायु के आने-जाने का यह एक मात्र मार्ग है।

नासा-विवर—साधारण स्थित में जब हम मुँह बन्द करके श्वास-प्रश्वास लेते और छोड़ते हैं तो हवा मुखरंध्र से न जाकर नासारंध्र मार्ग से आती जाती है। बात-चीत के समय कोमल तालु आवश्यकतानुसार कभी ऊपर कभी नीचे होकर क्रमशः नासा-विवर मार्ग को पूर्णत बन्द कर देता है या खोल देता है। कभी-कभी यह इस प्रकार की स्थिति में रहता है कि अन्तः निसृत वायु विभाजित होकर नासारंध्र तथा मुखरंध्र से निकलती है। म, न आदि नासिक ध्वनियों के उच्चारण में मुखरंध्र सम्पूर्ण बन्द रहता है और नासारंध्र से हवा निकलती है। आ, इ, उ इत्यादि अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में हवा दोनों मार्गों में होकर निकलती है। अमेरिकन अंग्रेजी में नासिक व्यंजनों से समीपवर्ती स्वरों के उच्चारण में नासारन्ध्र कुछ अंश में खुला रहने के कारण वे ध्वनियाँ कुछ अनुनासिकता लिये रहती हैं।

ध्वनि का उत्पन्न होकर कान तक पहुँचना—वायु की सहायता से ध्वनि-यंत्र से ध्वनि उत्पन्न होती है। फेफड़ों की सफाई करने के पश्चात् प्रश्वास-श्वास नलिका के भाग से बाहर चलता है। स्वर-तन्त्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप दिया जाता है। आगे चलकर वायु आवश्यकतानुसार नासिका, विवर, मुख-विवर या दोनों से थोड़ी-थोड़ी करके निकलती है। ऐसा करने में कौवा भी सहायक

होता है। यहाँ से वायु जिह्वा, कंठ, ताल दांत, ओष्ठ आदि से बाहर निकलकर ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करती है।

ध्वनि-यंत्र से निकली हुई हवा अपन आन्दोलन के अनुसार एक विशेष प्रकार के कम्पन से लहरें उत्पन्न करती है। ये लहरें सुनने वाले के कान तक पहुँच कर श्रवणेन्द्रिय में कम्पन उत्पन्न कर देती हैं। कान के बाह्य कर्ण मध्यवर्ती कर्ण और आभ्यन्तर कर्ण तीन भाग होते हैं। बाह्य कर्ण के भी दो भाग होते हैं। ऊपर का भाग टेढ़ा-मेढ़ा होता है, सुनने की क्रिया में इसका कोई योग नहीं होता। दूसरा भाग कर्ण-नलिका के बाहरी भाग से प्रारम्भ होकर भीतर तक जाता है, नलिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली लगी होती है। वह बाह्य कर्ण का सम्बन्ध मध्यवर्ती कर्ण से जोड़ती है। मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी सी कोठरी होती है। इसमें छोटी-छोटी तीन हड्डियाँ होती हैं। एक ओर इन हड्डियों का सम्बन्ध भीतरी कर्ण से होता है और दूसरी ओर इनका सिरा बाह्य कर्ण से जुड़ा रहता है। इसके पीछे शंख के आकार का आभ्यन्तर कर्ण होता है। इसमें उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के श्रावणी शिरा के तन्तु प्रारम्भ होते हैं, जिनका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है।

ध्वनि की लहरें बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली पर कम्पन उत्पन्न करती हैं। इस कम्पन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठने लगती हैं, जिनकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं से मस्तिष्क में जाती हैं और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि-ग्राम या स्वनिम (Phoneme)

प्रश्न 74—स्वनिम किसे कहते हैं? इस दृष्टि से संयुक्त स्वर, महाप्राणता, अनुनासिक स्वर, नासिक्य व्यंजन और उसके विस्तार, अक्षर तथा संहिता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

प्रश्न 75—स्वनिम के विषय में अपनी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। अक्षर-कटाव तथा अक्षर ढांचा के विषय में आप क्या जानते हैं, बतलाइए।

प्रश्न 76—संहिता क्या है? विभिन्न प्रकार की संहिताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

स्वनिम की अवधारणा

स्वनिम भाषा के द्वितीयक चाक्षुष प्रतीक (अर्थात् लिखित भाषा) की लघुतम इकाई है। बोलने के समय भाषा ध्वनियों के समूहों में व्यक्त होती है। साँस वायु-प्रवाह और उच्चारण अवयवों की बहुल स्थतियों के कारण जब भी हम किसी ध्वनि को उच्चारण करते हैं तो उसमें उसके अन्य उच्चरणों से सूक्ष्म भिन्नता दिखाई पड़ती है। इस तरह अगर हम 'अ' ध्वनि का पचास बार उच्चारण करें तो प्रत्येक बार का उच्चारण दूसरे सभी उच्चारणों से कुछ जुदा-सा होगा। यद्यपि इस अलगाव को हमारे कान पकड़ नहीं पाते परंतु अत्यधिक संवेदनशील यंत्र इसे पकड़ सकता है। लेकिन हर ध्वनि के हर उच्चारण को अलग-अलग मान लेने से बात नहीं बनती, इसलिए अपने कानों पर भरोसा करके हम उन ध्वनियों को अलग-अलग कर लेते हैं जिन्हें हमारे कान अलग कर सकते हैं। उससे सूक्ष्मतर अलगाव को विश्लेषण

के लिए आवश्यक नहीं मानते । इस तरह मोटे तौर पर ध्वनि हम उसे मानते हैं जो उच्चारण की प्रक्रिया और श्रवणिकता में दूसरी अन्य ध्वनियों से कुछ-न-कुछ भिन्नता स्पप्ट करती है । इसी ध्वनि का लिखित प्रतीक 'स्वनिम' है । स्वनिम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह भाषा के अन्य सभी स्वनिमों से व्यवच्छेदन में होती है । अर्थात् समान वातावरण में दो भिन्न स्वनिमों के आने के कारण अर्थ में भेदकता उत्पन्न हो जाती है । समान वातावरण से मेरा आशय यह है कि किन्हीं दो शब्दों में उन दो स्वनिमों को छोड़कर शेष सभी स्वनिम समान होते हैं । उदाहरण के लिए पल (प्अल) और फल (फ्अल) में आखिरी दो स्वनिम अ, ल समान हैं । भिन्नता प और फ में है और दो भिन्न स्वनिमों की वजह से यहाँ अर्थ में अलगाव पैदा हो गया है ।

ध्वनि और स्वनिम पर विचार करते हुए एक बीच की कड़ी और दिखलाई पड़ती है । कभी-कभी ऐसा होता है कि उच्चारण के समय वो लगभग समान स्वानिमों में थोड़ी भेदकता सुनाई पड़ती है और यह भेदकता आपस में गड्डमड्ड हो हो जाती है अर्थात् ऐसी दो ध्वनियों के बीच कोई रेखा नहीं खींची जा सकती । कभी एक की तरह दूसरी और कभी दूसरी की तरह पहली सुनाई पड़ती है । कभी-कभी ऐसा होता है कि दोनों (या अधिक) में से एक शब्द के आरंभ में हमेशा सुनाई पड़ती है दूसरी शब्द के मध्य या अंत में । इस तरह इनका शब्द में आना प्रतिबंधित हो जाता है । अर्थात् इनके आगमन में शर्तें जुड़ जाती हैं । दूसरी ओर लिखित प्रतीक में इनका प्रतिनिधित्व एक ही स्वनिम द्वारा होता है । ऐसी स्थितियां भाषा में अनेक वार दिखलाई पड़ती हैं । भिन्न सुनाई पड़ने वाली ध्वनियों को समान वातावरण में रखकर देखने पर यदि दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भिन्नता दिखलाई न पड़े तो यह मानना चाहिये कि वे दो भिन्न स्वनिम नहीं हैं । उदाहरण के लिए चन्चल और चञ्चल में न और ञ की भिन्नता की वजह से अर्थ में कोई भेद उत्पन्न नहीं हुआ । यहाँ अँगरेजी का बहु उद्धृत उदाहरण. प, फ, क, ख आदि भी दिए जा सकते हैं ।

इसी तरह समान वातावरण में यदि दो ध्वनियों के अलग-अलग आने से अर्थ में कोई भेदकता उत्पन्न नहीं होती, तो वे दो ध्वनियाँ मुक्त रूपांतरण में कहीं जाएँगी अर्थात् उनका आपसी परिवर्तन मुक्त रूप से हो सकता है । यदि दो ऐसी ध्वनियों में से एक शब्द के आदि में आती है और दूसरी शब्द के मध्य और (या) अंक में तो ऐसी ध्वनियों को पूरक वितरण में कहा जाएगा । जैसे अँगरेजी में फ प का वितरण है । फ शब्द के आदि में आती है और प मध्य तथा अन्त में । परन्तु आदि क्रम बदल दिया जाए तो भी अर्थ में कोई भेद उत्पन्न नहीं होगा । लिखित प्रतीक में इन दोनों का प्रतिनिधित्व प द्वारा होता है । ध्वनि (अथवा स्वन) और स्वनिम के बीच की इस कड़ी को 'संस्वन' कहते हैं । एक स्वनिम के दो या दो से अधिक संस्वत हो सकते हैं जैसे हिंदी 'न' स्वनिम के दो संस्वन माने जा सकते हैं और दूसरा ञ, च, छ, ज, झ के साथ आने पर सामान्यतया ञ-का उच्चारण होता हैं जो न के पीछे से है, शेष स्थानों पर न का उच्चारण सुनाई पड़ता है । स्वनिग का चिह्न तथा संस्वन का [ ] है ।

समान वातावरण में जिन दो भिन्न ध्वनियों के आने से अर्थ में अलगाव उत्पन्न हो जाता है जैसे पल, फल में प और फ उन्हें व्यतिरेक की स्थिति में मानते

हैं। एक ध्वनि को दूसरी ध्वनि से अलग करने में व्यतिरेक सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है। हिन्दी स्वरों और व्यंजनों के आपसी व्यतिरेक को यहाँ दिया जा रहा है—सीर, सेर, सैर, सुर, सूर, सोक, सौर, सर, सार। पर, फर, बर, भर, तर, थर, दर, धर, टर, टर्रा, डर, ढर्रा, चर, छर, जर, झर, कर, खर, गर, घर, कश, मर, नर, लर, रर, सर, शर, हर, फर, खर, गर, जर, यार, वर,। म्ह, न्ह, ण, ङ, ल्ह, ड़, ढ़ शब्द के शुरू में नहीं आते।

वहाँ हम इस बात की ओर संकेत करना चाहेंगे कि किसी भाषा के स्वनिमों में से कुछ स्वनिम भी हो सकते हैं जो स्वनिम की कसौटी पर खरे नहीं उतर पाते, फिर भी उन्हें स्वनिम के रूप में मान्यता देनी पड़ती है। इसके पीछे अधिकतर व्यावहारिक कारण होते हैं। जैसे कोई ऐसा स्वनिम है जिसे विश्लेषक तर्कों का सहारा लेकर भाषा के बाहर निकाल देता है परन्तु भाषा सीखने और बोलने वाले उसको सीखे और बोले बगैर काम नहीं चला पाते। हिन्दी के ड़, ढ़, आदि इसी तरह के स्वनिम हैं। पर पुनः वे अपनी जगह आ जाते हैं।

संयुक्त स्वर—संयुक्त स्वर दो स्वरों का ऐसा योग है जो एक ही साथ उच्चरित होते हैं। दोनों स्वर मिलकर एक ही केंद्रक बनाते हैं। दोनों स्वर आपस में इस तरह जुड़ जाते हैं कि भाषा में साधारणतया इन्हें अलग करके देखा नहीं जा सकता। हिन्दी के ऐ तथा औ को सामान्यतया संयुक्त स्वर माना जाता हैं।

महाप्राणता—महाप्राणता को लेकर अनेक बार उलझन सी हो जाती है कि इसे व्यंजन से अलग करके देखें अथवा उससे जोड़ कर। अगर इसे हम व्यंजन से अलग करके देखें तो व्यंजन और महाप्राणता मिलकर एक गुच्छ माने जाएँगे। और अगर इसे व्यंजन के साथ जोड़कर देखें तो व्यंजन और महाप्राणता एक इकाई के रूप में माने जायेंगे। हम समझते हैं, दूसरी स्थिति ज्यादा तर्कसंगत और सुविधाजनक है। उच्चारणात्मकता के ख़याल से व्यंजन और महाप्राणता एक ही उच्चारण अवयवीय प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनकी ध्वन्यात्मकता समकालिक होती है। उच्चारण के समय व्यंजन और महाप्राणता मिलकर एक ही कालमात्रा को व्यक्त करते हैं।

अनुनासिक स्वर तथा नासिक्य व्यंजन—उच्चारण के सामने अनुनासिक स्वर और नासिक्य व्यंजन लगभग समकालिक उच्चरित होते हैं।

नासिक्य व्यंजनों में म, न, ण, ङ के बारे में एक आम धारणा यह है कि ये अपने समूह के व्यंजनों के साथ आते हैं जैसे म-प, फ, ब, भ के साथ, न—त, थ, द, ध के साथ ण—ट, ठ, ड, ढ, के साथ तथा ङ—क, ख, ग, घ के साथ।

उदाहरण—सम्पत्ति, अम्बार, अन्त अन्दर : अन्धा, अण्टी, कण्ठ, अण्डा, अंक (अङ्क), पंख (पङ्ख), अंग (अङ्ग)। परन्तु म, न का प्रयोग अन्य अनेक व्यंजनों के साथ भी गुच्छ के रूप में होता है। जैसे—अंश (अन्श), (संस्कृत) इन्कार, उपन्यास, उन्मुख, संलाप (सन्लाप) संरचना (सन्रचना), लमहा (लम्हा), फम्ल, अम्लान, आम्र, उम्र, आम्नात्, सम्यक् आदि।

व्यंजन-विस्तार—कुछ व्यंजनों के उच्चारण के समय उनकी समय-मात्रा लगभग दुगुनी बढ़ायी जा सकती हैं। समय-मात्रा की यह बढ़ोत्तरी अर्थ में भेदकता उत्पन्न करती है। अर्थात् समय-मात्रा का बढ़ना स्वनिमिक महत्त्व का है। इसके कुछ लघुतम युग्म यहाँ दिए जा रहे हैं—

पता-पत्ता, पटा-पट्टा, पका-पक्का, तला-तल्ला, गला-गल्ला, पला-पल्ला, सुन-सुन्न, गद्दा-गद्दा, मल-मल्ल ।

इन उदाहरणों के लेखन से ऐसा लगता है जैसे ये दूसरे शब्द में दहले के गुच्छे हों । परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । असलियत यह है कि एक ही ध्वनि के उच्चारण की स्थिति में समय को वढ़ा दियो जाता है । जिससे दूसरी ध्वनि पहली से भिन्न हो जाती हैं । इस तरह त और त्त की भिन्नता उच्चारण-स्थिति में नहीं है, उच्चारण समय में है ।

अक्षर—अक्षर भाषा की एक मूल-भूत उच्चारणात्मक तथा प्रसरणिक इकाई है। वोलने के समय भाषा अक्षरों के छोटे-छोटे समूहों के रूप में व्यवहृत होती है । दो अक्षरों के वीच एक अत्यन्त छोटा मौन या विराम रहता है । शब्द के मध्य ऐसे मौनों की संख्या अक्षरों की संख्या पर निर्भर करती है । दो शब्दों के मध्य का मौन दो अक्षरों के वीच के मौन से वड़ा होता है । इसी तरह दो वाक्यों के वीच का मौन दो शब्दों के वीच के मौन से वड़ा होता है और दो माणिक पैराग्राफ के बीच मौन वाक्यों के वीच के मौन से भी वड़ा होता है । इस तरह भाषा का अधिक्रम(हायरार्की) बनता है । अक्षर भाषा की मूलभूत उच्चारणात्मक और प्रसराणिक इकाई इसलिए है क्योंकि यह एक ही श्वासोच्छलक्ष से उच्चरित होता है । इस एक श्वास-उच्छलन में एक या अनेक स्वनिम रह सकते हैं । अक्षर श्वास उच्छलन की एक पूर्ण बनावट (रचना) है, जिसमें एक शीर्ष का होना लाजिमी है ।

अक्षर एक हाइपर स्वनिम है, अर्थात् यह स्वनिम से उच्चतर इकाई है । अक्षर के अधिक-से-अधिक तीन भाग हो सकते हैं—आरोह केंद्रक और अवरोह । परंतु अक्षर केवल केंद्रक से बन सकता है, जैसे आ (इधर आ), या केवल आरोह और केन्द्रक से बन सकता है जैसे तो (तो क्या हुआ !) या फिर केवल केन्द्रक और अवरोह के योग से बन सकता है, जैसे कि ओर (पूरव की ओर) ।

अक्षर कटाव—किसी शब्द में जितने अक्षर हैं उनकी आपसी सीमाएँ कहाँ-कहाँ हैं, अर्थात् अक्षरों के वीच का मौन कहाँ पर हो, यह जानकारी भाषा वैज्ञानिक को देनी अपेक्षित नहीं है । शब्द के मध्य यदि तीन अक्षर हैं तो तीनों की अपनी सीमाएँ या उनके वीच के मौन साँस-उछाल के हिसाब से स्वतः निर्धारित होते हैं । भाषा-व्यवहार करने वाला भाषा-आदतों में इसे भी अपने-आप ग्रहण कर लेता है । यदि कोई व्यक्ति गलत जगह पर कटाव को व्यक्त करता है तो यह मानना चाहिए कि वह व्यक्ति उस भाषा को अभी पूरी तौर पर नहीं पहचानता । उसकी भाषा-आदतें अभी अधूरी है । दुर्वल में दो अक्षर हैं । कटाव र और व के मध्य है अर्थात् दुर+वल । यदि यह कटाव व और अ के बीच हो (दुर्व्+अल) तो सुनने वाला (यदि वह भाषा को अच्छी तरह जानता हो) उसे तुरंत ही गलत क़रार दे देगा । ऐसा इसलिए है क्योंकि हिंदी भाषा की हमारी आदतों में एक सांस-उछाल में दुर और दूसरे में वल कहने सुनने की आदत है, जिसके व्यवधान को हम तुरंत पकड़ लेते हैं । दूसरी भाषा के रूप में भी जव कोई हिन्दी सीखता है तो उसे कटावों को सहज रूप में ही सीखना पड़ता है । सायास सीखने पर या इसके प्रति अधिक सचेत रहने पर भूलों की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं । ऐसा नहीं है कि सहज रूप में सीखने पर वह

ऐंसी भूलें नहीं करेगा। ऐसी भूलें उससे जरूर होंगी क्योंकि भाषा आदतें भी अन्य आदतों की तरह काफी बाद में बनती हैं और उम्र के बढ़ने के साथ उनकी मुश्किलें भी बढ़ती जाती हैं परन्तु सीखने वाला सहज रूप में ही उन गलतियों को सुधार लेता है। यदि इन कटावों का कोई सिद्धांत बना कर उसे सिखाने की कोशिश की गई तो अनावश्यक रूप से एक अतिरिक्त भार उसके ऊपर आ पड़ता है, जो वांछनीय नहीं है।

अक्षर-ढाँचा—अक्षर-ढाँचा से तात्पर्य अक्षर में व्यवहृत होने वाला केन्द्रक और आरोह तथा अवरोह का समूह है। अक्षर-ढाँचे में केंद्रक अकेला रह सकता है या एक अथवा अधिक आरोह या अवरोह से जुड़कर ढाँचा बना सकता है। ढाँचे में केन्द्रक का होना आवश्यक है। इस तरह अक्षर-ढाँचा किसी अक्षर के ढाँचे को बताता है।

हिंदी के एकल अक्षर का ढाँचा इस प्रकार का है—

(१) केवल केन्द्रक से बनने वाला—

स[1]=आ (तू इधर आ)।

(२) आरोह और केन्द्रक के योग से बनने वाला—

व स=जो (जो लोग शिमला से आये हैं—)

व व स=ज्यों, त्यों (ज्यों ही वह कमरे में दाखिल हुआ...)

व व व स=स्त्री (स् त् र् ई)

(३) केन्द्रक और अवरोह के योग से बनने वाला—

स व=ओर (वे लोग पूरव की ओर चले गए)

स व व=अम्ल, उग्र, अर्थ, अंग

स व व व=आर्द्र (आ र् द् र)

(४) आरोह, केन्द्रक और अवरोह के योग से बनने वाला=

व स व=हार, जीत, होड़

व व स व=द्वार(ज्वार, क्वार (क् व् आ र)

व स व व=पत्र (प् अ त् र)

व स व व व=मन्त्र, तन्त्र (त् अ न् त् र)

व स व व व व=वर्त्स्य (व अ र् त् स् य)

व व स व व=व्याप्त, भ्रान्त, कृत्य, व्यर्थ (व् य् अ र् थ)

व व स व व व=स्वास्थ्य (स् व् आ स् थ् य)

व व व स व=स्त्रैण (स् त् र् ए ण)

व व व स व व=स्पृश्य (स् प् र् इ श य)

1. स=स्वर, व=व्यंजन।

अक्षर के अंत को निगाह में रखकर उसके दो भेद किए जाते हैं। मुक्त तथा प्रतिबंधित । केद्रक और आरोह तथा केद्रंक से बनने वाले अक्षर (१, २) मुक्त कहे जा सकते हैं। केद्रंक और अवरोह तथा अरोह केन्द्रक और अवरोह से बनने वाले (३,४) प्रतिबंधित है।

संहिता—उच्चार केवल व्यंजनों स्वरों और स्वराघातों का सम्मिलन मात्र नहीं है उसके प्रत्यक्षण के लिए सीमाओं का स्पष्ट होना आवश्यक होता है। सीमाओं की स्पष्टता के अभाव में भाषाई अव्यवस्था की संभावना बढ़ जाती है। स्वन प्रक्रियात्मक व्यवस्था में सीमाओं को संकेतिक करने वाले तत्वों को सीमा संकेत कह सकते हैं। ये सीमा संकेत संहिता हैं।

उच्चार के अंत में आने वाली संहिता को अंत्य संहिता कह सकते हैं और इसके तीन भेद हो सकते हैं। (१) उपरिमुखी-जो उच्चार के अंत्य के स्वराघात के ऊँचे उठने से संबंधित है, जैसा कि प्रश्न-कथन में सुनाई पड़ता है। जैसे तू कल आयी हैं, क्या ? (2) अधोमुखी-जो वक्तव्य उच्चारों में मिलता है। जैसे, वे रोज मिनिस्टर से मिल आते हैं। (3) सम-जो उच्चार के अधूरे छोड़ दिये जाने पर दिखाई पड़ता है। जैसे, जल-सा स्थिर...। इन अंत्य संहिताओं के लिए आम तौर पर क्रमशः /॥/,/_ /तथा/।/ चिह्नों का प्रयोग किया जाता है।

इन तीनों प्रकारों के अतिरिक्त संहिता का एक और प्रकार है जिसका प्रयोग उच्चार के मध्य में होता है। इसे आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता या अवग्रह कह सकते हैं। इसी आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता को स्वनिम के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके घोतन के लिए /+/ चिह्न का प्रयोग होता है।

संहिता और अक्षर विभाजन—ऊपर से देखने पर ऐसा भी लग सकता है कि संहिता के अल्पतम युग्मों के अंतर का रहस्य अक्षर- विभाजन में निहित है। अर्थात् कुछ स्वन युग्म के एक भाग में जिस अक्षर के साथ होते हैं, दूसरे भाग में दूसरे अक्षर के साथ जुड़ जाते हैं और इस तरह दोनों भागों में अंतर दिखाई पड़ता है। यह व्याख्या अपने ढंग से सही होने पर भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि युग्म के एक भाग से दूसरे भाग स्वरों के स्थानांतरण में स्वनों की समय-वृद्धि को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इसी से संहिता विवेचित होती है।

अल्पतम युग्म—हिन्दी में आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता की स्थिति स्वनिमीय है। आभ्यंतर विप्रकृष्ट संहिता और उसकी अनुपस्थिति का व्यतिरेक निम्नलिखित है :—

व्यंजन और स्वर के मध्य मिलने वाली-संहिता—

(क) पार्श्विक+स्वर/ल+आ/

(1) वे रोज मिनिस्टर से मिल+आते हैं।
वे लेफ्ट राईट करते कदम से कदम मिलाते चल रहे थे।

(2) अब तू दौड़ कर बाहर निकलन+आ।
दौड़ कर बाहर निकला तो देखता हूँ कि बेशुमार लोगों की प्रभातफेरी निकली है।

(ख) उत्क्षिप्त+स्वर/ ड़+आ/

(3) तू किससे लड़+आया ?
तूने किसे लड़ाया ?

तथा/ढ़+आ/

(4) सेना जान बूझ कर वढ़+आई है।
सेना जान बूझ कर बढ़ाई गयी है।

(ग) लुंठित+स्वर/र+आ/

(5) शिकार+आ पड़ा है ।
टूटा शिकारा पड़ा है।

(घ) संघर्षी+स्वर/स+आ/

(6) तुम खूब हँस+आया करो।
तुम खूब हँसाया करो।

(ङ) नासिक्य+स्वर/म+आ/

(7) हम+आरा लिए हैं।
हमारा घर आपने लिया है।

(च) स्पर्श+स्वर/क+आ/

(8) परदा अपने आप सरक+आया।
उसने धीरे से परदा सरकाया।
तथा/ग+आ/

(9) घास फिर से उग+आई है।
घास फिर से उगाई है।
तथा/झ+आ/

(10) पहले तुम स्वयं समझ+आया करो।
उसे तुम स्वयं समझाया करो।

(छ) व्यंजन और व्यंजन के मध्य मिलने वाली संहिता—
पार्श्विक+संघर्षी/ल+स/

(11) जल+सा स्थिर लग रहा है।
जलसा स्थिर लग रहा है।

(ज) पार्श्विक+स्पर्श/ल+क/

(12) हल+की मूठ ठीक है।
हल की चोट ठीक है।

(झ) नासिक्य+स्पर्श/न+क/

(13) उन+का मतलब लोगों से कुछ न कहो।
उनका मतलब क्या था/कुछ न कहो।
तथा/म+व/

(14) सम+बल वालों की लड़ाई ही अच्छी होती है।
सबल देने वालों की उन्हें तलाश है।

(ञ) स्पर्श+स्पर्श/ख+त/

(15) देख+ताऊ तू नाहक बीच में मत पड़।
ठहर ! तुझे मैं अभी देखता हूँ।

(ट) स्वर और अर्धस्वर के मध्य मिलने वाली संहिता—
स्वर+अर्धस्वर/ई+य/

(16) उसे पुस्तक दी + या नहीं ?
यह दीया नहीं है ?

(ठ) स्वर और व्यंजन के मध्य मिलने वाली संहिता—
स्वर + लुंठित /आ + र/

(17) इसी का + रण में कौशल देखने लायक होता है।
इसी कारण बेटों के जुल्म से क्षुब्ध होकर बापों ने बाप सिडीकेट की स्थापना की है।

(18) इसका + रण नीति पर बुरा असर पड़ेगा।
इस कारण नीति पर बुरा असर पड़ेगा।

प्रश्न 77—ध्वनि-ग्राम के स्वरूप और उपयोगिता की सम्यक् समीक्षा कीजिए।

उत्तर—'ध्वनि-ग्राम-विज्ञान' ध्वनि-विज्ञान पर आधारित है। इसके सिद्धान्तों के आधार पर किसी भाषा के ध्वनि-ग्राम तथा उनकी संध्वनियों का रूप ज्ञात होता है। ध्वनि-विज्ञान की सामग्री के आधार पर 'ध्वनि-ग्राम-विज्ञान विश्लेषण करके निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। एक भाषण ध्वनि एक ध्वन्यात्मक इकाई है जिसमें कोई परिवर्तन संभव नहीं है; परन्तु ध्वनि-ग्राम एक वंश है, जिसमें कई ध्वनियाँ समाविष्ट होती हैं। यह यथार्थ है कि ध्वनि विज्ञान और ध्वनि-ग्राम-विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। ध्वनि ग्राम-विज्ञान के विवेचन में यदि ध्वनि-विज्ञान द्वारा संग्रहीत सामग्री अशुद्ध हो तो ध्वनि-ग्राम-विज्ञान द्वारा निकाले गये परिणाम भी अशुद्ध ही होंगे।

विश्लेषण विधि—किसी भाषा के स्वर और व्यंजन को पृथक् छाँटते हैं। फिर यह देखते हैं कि कोई स्वर ध्वनि है तो वह अघोष, ह्रस्व या दीर्घ, संवृत्त, अग्र, पश्च या मध्य अनुनासिक, मर्मर, विशेष सुर या बलाघात से युक्त अनाक्षरिक आदि तो नहीं है, यदि है तो कितनी। इसी प्रकार व्यंजन ध्वनि है तो स्थान या, प्रयत्न, अपने प्रकृत रूप से भिन्न या आक्षरिक आदि तो नहीं है। स्पर्श व्यंजन है, तो अस्फोटित हैं या नहीं या पूर्ण स्पर्श है या अपूर्ण। इतनी सूक्ष्मता से अंकन कर लेने के पश्चात् सारी ध्वनियों का चार्ट बनाया जायगा। स्वरों का चार्ट अग्र, पश्च, मध्य, वृत्तमुखी, अवृत्तमुखी, विकृत; संवृत्त, ह्रस्व, दीर्घ के आधार पर बनेगा और व्यंजन का चार्ट स्थान और प्रयत्न के आधार पर बनेगा। इस प्रकार किसी भाषा में प्रयुक्त समस्त भाषाओं का चार्ट बन जायगा। इस प्रकार समस्त सध्वनियाँ ज्ञात हो जायँगी। अब यह जानना पड़ेगा कि इसमें कितनी संध्वनियाँ हैं और कितने ध्वनिग्राम हैं। जिनमें स्थान या प्रयत्न आदि की दृष्टि से कुछ समानताएँ होंगी, उनके विषय में यह सन्देह होगा कि कहीं ये ध्वनि ग्राम के अन्तर्गत आने वाली संध्वनियाँ तो नहीं हैं। जिन दो ध्वनियों के विषय में सन्देह होता है; उन्हें सन्देहात्मक ग्राम कहा जाता है। इनमें अर्थ भिन्न वाली ध्वनियाँ दो अलग-अलग ध्वनि ग्राम होती हैं। इसी आधार पर कहा जाता है कि ध्वनि-ग्राम अर्थ भेदक होते हैं। इस प्रकार समस्त संभावनाओं की परीक्षा करने पर सबसे अधिक स्थानों पर आने वाली ध्वनि को ध्वनिग्राम मानेंगे। ध्वनि-ग्राम के अन्तर्गत आने वाली ध्वनियाँ संध्वनि कहलाती हैं।

ध्वनिग्राम विज्ञान की उपयोगिता—'ध्वनिग्राम विज्ञान' किसी भाषा ध्वनि के

ग्रामों और संध्वनियों को प्रथक् करता है। ध्वनिग्राम की उपयोगिता और भाषा के लिए आवश्यकताएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) ध्वनिग्राम भाषा की सबसे छोटी इकाई होती है। इसके खण्ड नहीं हो सकते। जैसे अ, क आदि।

(२) संध्वनियाँ अर्थ नहीं वदल सकतीं, जबकि ध्वनिग्राम में अर्थ वदलने की शक्ति होती है।

(३) आस-पास की ध्वनियाँ ध्वनिग्राम को प्रभावित करती हैं। संध्वनियाँ प्राय: इस प्रभाव के कारण ही आपस में भिन्न होती हैं।

(४) कभी-कभी दो ध्वनियाँ एक दूसरे के स्थान पर विना अर्थ-परिवर्तन किये आती रहती हैं। उदाहरण के लिए लोक वोलियों वे क, या ग, ग आदि'कहना' और 'कहना' कहने से या 'कानून,' कानून' कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसे स्वच्छन्द परि- वर्तन कहते हैं।

(५) ध्वनिग्राम केवल स्वर और व्यंजन न होकर आंनुनासिक, (सँवार, सवार, आँधी, आधी) सुर, वलाघात मात्रा तथा संगम भी होते हैं।

(६) प्राय: ध्वनिग्रामों में एक व्यवस्था या भाषा में ध्वन्यात्मक सन्तुलन होता है।

निष्कर्ष—उर्युपक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि किसी भाषा में किसी भी ध्वनि के विभिन्न रूप संध्वनि ग्राम कहलाते हैं और उनको सामूहिक रूप से सबको ढँक लेने वाला एक नाम ध्वनिग्राम कहलाता है। जैसे—जंगल में आग लगी' में 'ग' को तीन संध्वनियाँ हैं। किन्तु इन संध्वनियों का सामूहिक रूप से एक ध्वनि-ग्राम है। ध्वनिग्राम और संध्वनि किसी भाषा विशेष के होते हैं, सर्व सामान्य के नहीं। भाषा में प्रयोग संध्वनि का होता है। अत: 'मिलती-जुलती संध्वनियों के समूह या परिवार को ध्वनिग्राम कहा जा सकता है।'

अन्य भाषा-शिक्षण और ध्वनि-विज्ञान

प्रश्न ७८—अन्य भाषा-शिक्षण में ध्वनि विज्ञान किस प्रकार सहायक सिद्ध वातों का होता है ? इस पद्धति में ध्वनि-विज्ञान का उपयोग किस सीमा तक किया जा सकता है।

प्रश्न ७९—ध्वनि-व्यवस्था की दृष्टि से अन्य भाषा शिक्षण में हमें किन-किन ध्यान रखना चाहिए। भाषा-सामग्री तथा भाषा-विश्लेषण के आधार को भी स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—सबसे पहले हमें अन्य भाषा की उन विशिष्ट ध्वनियों को, जो प्रशि-क्षणार्थी की मातृभाषा में नहीं हैं, सिखाना चाहिए। वस्तुत: यदि हम विद्यार्थी को अन्य भाषा की ध्वनियों का ज्ञान नहीं कराएँगे तो वह प्रयत्न-लाघव एवं मुख-सुख की दृष्टि से अन्य भाषा की ध्वनियों को अपनी मातृभाषा की ध्वनियों के अनुरूप बोलने लगेगा तथा बाद में उन ध्वनियों का मानक उच्चारण नहीं सीख सकेगा। भारत में अँगरेजी को परम्परागत शिक्षण-पद्धति के अनुरूप पढ़ाया जाता है। उसी का परिणाम है कि यहाँ जितनी भाषाएँ हैं प्राय: उतने ही प्रकार के अँगरेजी के उच्चारण मिलते हैं। वस्तुत: भाषा के रूप में सीखने वाला नहीं।

अन्य-भाषा शिक्षण के आरंभ काल में मातृभाषा एवं अन्य भाषा के ध्वनि प्रक्रियात्मक अन्तरों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि यदि प्रशिक्षणार्थी एक साथ भाषा के गठन, शब्दावली, अर्थ एवं ध्वनियों की समस्याओं से आवद्ध हो जाता है, तो वह ध्वनि-प्रणाली की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान देता है। वह नयी भाषा की ध्वनियों का अपनी मातृभाषा से मिलती-जुलती ध्वनियों के अनुरूप उच्चारण करके कार्य सिद्ध करना चाहता है। एक बार ध्वनियों का अशुद्ध उच्चारण सीख लेने पर बाद में उनका निवारण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

अन्य भाषा की ध्वनि-व्यवस्था के शिक्षण की दृष्टि से निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिये :—

(1) अन्य भाषा की ऐसी ध्वनियों का जो, प्रशिक्षणार्थी की मातृभाषा में नहीं है, निरन्तर उच्चारण कराते रहना चाहिए तथा शब्दों की भिन्न-भिन्न स्थितियों में उनके प्रयोग कराने चाहिए।

(2) दोनों भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हो सकती हैं, जिनमें आपस में अत्यधिक ध्वन्यात्मक समानता हो, किन्तु कुछ लक्षणों की भिन्नता भी हो। ऐसी ध्वनियों से भी विद्यार्थी को विशेष रूप से परिचय कराने की आवश्यकता है। इसके लिए दोनों भाषाओं के उन ध्वनियों के लघुतम युग्मों को ढूँढ़ा जा सकता है। ऐसे शब्दों की उच्चारण-भिन्नता की ओर संकेत कराते हुए उनके निरन्तर उच्चारणाभ्यास से दोनों ध्वनियों की ध्वन्यात्मक-भिन्नता से विद्यार्थी सहज में परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ-हिन्दी भाषा के 'आ' एवं अंग्रेजी भाषा के 'ऑ' की भिन्नता को बताने के लिये हिंदी काल एवं अंग्रेजी Call का साथ-साथ उच्चारण सहायक हो सकता है। एक अन्य उदाहरण मराठी एवं हिंदी का 'ल' एवं 'ड़' ध्वनियों को दिया जा सकता है। इन ध्वनियों की भिन्नता को समझाने के लिए 'मुले' (उपनाम) एवं 'मुड़े' (वे फिरे) शब्दों का साथ-साथ उच्चारण कराया जा सकता है।

(3) अन्य भाषा की ध्वनियों को शब्दों की भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्रयुक्त करके, उनका उच्चारण कराना चाहिए। शब्द की भिन्न स्थितियों में जहाँ ध्वन्यात्मक समान ध्वनियों के किंचित् भिन्न रूप मिलें, उनकी ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। उदाहरणार्थ—तमिल 'ग' ध्वनि शब्द की मध्य स्थिति में ही आती है। तमिल भाषियों को हिन्दी सिखाते समय शब्द की आरंभिक स्थिति में 'गाय' इत्यादि शब्दों द्वारा 'ग' ध्वनि के प्रयोग के बारे में बताया जा सकता है।

(4) विद्यार्थी को अन्य-भाषा की ध्वनि व्यवस्था के गठन से परिचित कराने के लिए उसकी ध्वनिग्रामिक व्यवस्था से भी परिचित कराना आवश्यक है। ध्वनिग्रामों के प्रयोग से वह उस भाषा की अर्थभेदक शक्ति रखने वाली ध्वनियों से परिचय प्राप्त कर लेगा, साथ ही लघुतम युग्मों में एक ध्वनिग्राम के स्थान पर दूसरे ध्वनिग्रामों का प्रयोग करके, भिन्न अर्थ-द्योतक शब्द का निर्माण करके एक उल्लास का भी अनुभव कर सकेगा। उदाहरणार्थ—किसी विद्यार्थी को 'कल्', 'खल्', अथवा 'चल्', 'छल्', 'जल्' इत्यादि शब्द सिखाये जाते हैं, तो वह इनके प्रयोग से ध्वनिग्रामो/क ख च छ ज/ को पहचान सकेगा। एक ध्वनिग्राम के परिपूरक वितरण या मुक्त परिवर्तन के आधार पर जितने सहस्वन हों, उनका ज्ञान भी विद्यार्थी को करा देना चाहिए।

(5) ध्वनिग्रामों का शब्दों में परस्पर क्रम भी महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से ऐसे शब्दों का उच्चारण कराना चाहिए, जिनमें साथ-साथ दो या अधिक व्यंजन-ध्वनिग्राम आ रहे हों। यह अभ्यास शिक्षण के एक वर्ष बाद आरंभ किया जा सकता है।

(6) प्रत्येक भाषा की ध्वनि-व्यवस्था में केवल स्वर एवं व्यंजन ही महत्त्वपूर्ण नहीं होते, अपितु कुछ अन्य रागतत्व भी होते हैं। इनका प्रयोग सीखे बिना, भाषा के उच्चारण में स्वाभाविकता नहीं आ पाती है। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ तत्त्व भाषा की ध्वनि-व्यवस्था में अर्थभेदक क्षमता रखने वाले भी हो सकते हैं, जिन्हें खण्डेतर ध्वनिग्राम के नाम से पुकारा जाता है। खण्डेतर ध्वनिग्रामों के प्रयोग होने या न होने के दो उच्चारणों में व्यतिरेक आ जाता है। इस दृष्टि से इन सबका अध्ययन एवं अभ्यास भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि हम किसी को हिन्दी सिखा रहे हैं, तो हमें उसे अनुनासिकता, अल्पविवृत्ति एवं सुर का प्रयोग अवश्य सिखाना होगा। अंग्रेजी में इनके अतिरिक्त बलाघात का प्रयोग भी सिखाना होगा। इस प्रकार ध्वनियों में केवल स्वर एवं व्यंजन का ज्ञान कराकर हमारे अध्यापन की इयत्ता नहीं हो जाती, प्रत्युत विद्यार्थी की अनुनासिकता, विवृत्ति, आघात, सुर, सुर-लहर, आक्षरिक विभाजन, इत्यादि सभी बातों का ज्ञान एवं अभ्यास कराना हमारी शिक्षण सीमा के क्षेत्र में आता है।

भाषा-सामग्री एवं भाषा विश्लेषण का आधार

परम्परागत शिक्षण पद्धति में अन्य-भाषा शिक्षण की आरंभिक पाठ्य पुस्तकों की भी सामग्री उस भाषा के लिखित रूप के आधार पर निर्मित होती है। किन्तु भाषा के यथार्थ स्वरूप से परिचित कराने के लिए भाषा सामग्री का निर्माण उसके कथ्य रूपों के आधार पर होना चाहिए। इसके लिए पाठ्य पुस्तक लेखक को सामान्य ध्वनि-विज्ञान एवं उस विशिष्ट भाषा की ध्वनि प्रक्रियात्मक पद्धति से अवश्य परिचित होना चाहिए।

अन्य-भाषा अध्यापक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह उस भाषा की परम्परागत लिपि में लिखे गये शब्दों के हिज्जे सिखाकर भाषा का अध्यापन आरंभ न करे, प्रत्युत जिस प्रकार वे शब्द बोले जाते हैं, उनके उच्चारण के अनुसार भाषा-ज्ञान कराये।

अधिकांश भाषाएँ प्रायः जिस प्रकार बोली जाती हैं, उनकी परम्परागत लिपियाँ उनके कथ्य रूप को बिलकुल वैज्ञानिक रूप में लिखने में प्रायः समर्थ नहीं हो पातीं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि अन्य भाषा शिक्षण में उसका लिपि-ज्ञान शिक्षण के किसी भी स्तर पर आवश्यक नहीं है और यदि है, तो जब भाषा-अध्यापक विद्यार्थियों को अन्य-भाषा की लिपि सिखाने लगे तब भाषा की उच्चारण व्यवस्था एवं परम्परागत लिपि व्यवस्था में जो अन्तर उपस्थित हो, उनका निराकरण वह किस प्रकार करे ?

इस संबंध में कुछ बातों की ओर संकेत किया जा सकता है :—

(1) यदि विद्यार्थी का उद्देश्य उस भाषा का लिखना एवं पढ़ना भी सीखना

है, तो जब विद्यार्थी उस भाषा की उच्चारण प्रकृति से परिचित हो जाये, तब उसे उसकी लिखावट सिखायी जानी चाहिए।

(2) जिन भाषाओं की उच्चारण-व्यवस्था एवं लिखावट में अधिक अन्तर नहीं है, उन भाषाओं के शिक्षण में लिपि का अभ्यास अपेक्षाकृत पहले आरम्भ किया जा सकता है। परम्परागत लिपि- चिह्नों के वर्तमान समय में बोली जाने वाली भाषा को ध्वनियों के अनुरूप मूल्य निर्धारित किये जा सकते हैं तथा भाषा के उच्चारण एवं लिखावट में जो सामान्य एवं सर्वत्र नियत अन्तर हो, उनके संबंध में विद्यार्थियों को निर्देश दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जो अध्यापक अहिंदी भाषियों को हिन्दी पढ़ा रहा है, उसे हिन्दी की लिखावट सिखाते समय (ऐ औ क ख ग घ ङ च छ ज ञ न र ल व) आदि लिपि-चिह्नों का ध्वन्यात्मक मूल्य हिन्दी भाषा की ध्वन्यात्मक व्यवस्था के अनुरूप बतलाना चाहिए तथा हिन्दी को उच्चारण-व्यवस्था एवं लेखन-व्यवस्था के नियमित अन्तरों की ओर निर्देशित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, वह विद्यार्थियों को बता सकता है कि एक अक्षरान्त तथा व्यंजन गुच्छों के अन्त्य शब्दों को छोड़कर शेष स्थितियों में जब हम शब्दों को अकारान्त रूप में लिखते हैं तो उनका उच्चारण व्यंजनान्त रूप में करते हैं।

(3) जिन भाषाओं की उच्चारण-व्यवस्था एवं लेखन-व्यवस्था में पर्याप्त अंतर एवं अनियमितताएँ हों, उनकी लिखावट अपेक्षाकृत काफी बाद में सिखायी जानी चाहिए।

किसी भाषा का प्रकृत भाषी अपनी भाषा की ध्वनियों का उच्चारण तो कर लेता है, किन्तु उसे यह पता नहीं होता कि उन ध्वनियों की ध्वन्यात्मक विशेषताएँ क्या हैं, उनका उच्चारण-स्थान एवं उच्चारण-प्रयत्न क्या है ? अन्य भाषा की ध्वनि-व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए भाषा-अध्यापक को ध्वनिविज्ञान का उपयोग साधन के रूप में करना चाहिए, साध्य रूप में नहीं। भाषा अध्यापक को तो उस भाषा की ध्वनि-प्रक्रियात्मक पद्धति का काफी ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उसे विद्यार्थी को यह ज्ञान बतलाना नहीं है, उस ज्ञान के माध्यम से विद्यार्थी को अन्य भाषा का उच्चारण करना सिखाना है। वह भाषा का बोलना सिखा दे, यह उसके अध्यापन की सीमा है। उस भाषा में कौन-कौन सी ध्वनियाँ किस-किस स्थान से उच्चरित होती हैं, इस ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान विद्यार्थी को कराने की आवश्यकता नहीं है।

भाषा अध्यापक को प्रयास यही करना चाहिए कि वह अन्य भाषा की उच्चारण-पद्धति को विद्यार्थी की आदत बना दे तथा यह कार्य इस प्रकार सम्पन्न हो कि विद्यार्थी को इस बात का कम से कम आभास हो कि वह कोई नयी बात सीख रहा है। उदाहरणार्थ, हम अन्य-भाषा की उन ध्वनियों को सिखा रहे हैं, जो उसकी मातृ-भाषा में नहीं है। यह कार्य सम्पन्न करने के लिए अन्य भाषा की उन ध्वनियों से मिलती-जुलती जो ध्वनियाँ उसकी मातृभाषा में हों; उनके लघुतम युग्मों का बा-बार उच्चारण कराया जा सकता है। बिना यह बताये कि उसे ध्वनियों को सिखया जा रहा है, वह ध्वनियों का उच्चारण सीख जायेगा। मान लिया कि तमिलभाषी विद्यार्थी को 'ड़' ध्वनि सिखाने की समस्या है। उसकी मातृभाषा में 'र' ध्वनि है, 'ड़' नहीं है। हम उसे 'सड़क' एवं 'सरक' दो शब्दों का वार-बार उच्चारण सिखाकर

'ड़' ध्वनि के उच्चारण को उसकी आदत बना सकते हैं। इस पद्धति के शिक्षण से वह 'र' एवं 'ड़' का अन्तर भी सीख सकेगा।

यदि वह कहीं बहुत अधिक आवश्यक समझे तभी, वह भी ध्वनि का उच्चारण सिखाने के लिए ही, उस भाषा की ध्वनि-व्यवस्था के बारे में प्रारम्भिक निर्देश दे सकता है। उदाहरणार्थ यदि अनेक बार के प्रयास करने पर भी तमिल भाषा छात्र हिन्दी की 'ड़' ध्वनि नहीं बोल पाता है तो ऐसी स्थिति में भाषा अध्यापक विद्यार्थी को यह बता एवं प्रदर्शित कर सकता है कि जिह्वा की नोक को उलटकर उसके नीचे के भाग में कठोर तालु के मध्यम भाग की कुछ देर तक छूकर झटके के साथ नीचे मसूड़े की ओर लाकर, उस ध्वनि का उच्चारण करो ध्वनिविज्ञान का यह ज्ञान विद्यार्थी को 'ड़' ध्वनि का उच्चारण सिखाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। किन्तु इस संदर्भ में ध्वनि-विज्ञान का यह ज्ञान देने की आवश्यकता नहीं है कि 'ड़' ध्वनि उत्क्षिप्त; सघोष, अल्पप्राण मूर्द्धन्य ध्वनि है।

श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान (Acoustic Phonetics)

प्रश्न 80 — श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान के बारे में आप क्या जानते हैं ? बतलाइए।

प्रश्न 81—ध्वनि-विज्ञान की शाखाएँ कौन-कौन सी हैं ? किसी एक का विस्तार से निरूपण कीजिए।

उत्तर—भाषा-विज्ञान की एक शाखा जिसमें ध्वनि का अध्ययन किया जाता है, ध्वनि-विज्ञान है। ध्वनि-विज्ञान की स्थूलतः तीन शाखाएँ हैं— (क) उच्चारण-स्थानों के आधार पर ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। (ख) भौतिक ध्वनि-विज्ञान—इसमें श्रोता और वक्ता के बीच तैरती ध्वनि तरंगों के ध्वनिक गुणधर्मों के आधार पर ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। (ग) श्रावणिक या श्रवणात्मक ध्वनि-विज्ञान—इसमें मानवीय श्रवण-यंत्र पर पड़े भौतिक प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। अतः हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

इसमें इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सुनने में ध्वनि कैसी है ? ध्वनि का निशिष्ट प्रकार का होना उसके सुरभा तारत्व (Pitch), आयतन (Volume), अनुवाद, भीतर से आने वाली हवा की शक्ति उच्चारण अवयवों की बनावट तथा उनके द्वारा विशिष्ट शक्ति से ध्वनन आदि कई बातों पर निर्भर करता है। इन्हीं में विभिन्नता के कारण ध्वनि मीठी-सुरीली, मोटी-पतली, हलकी- भारी, टूटी, भर्राई, कर्कश-कर्णकटु आदि होती हैं,। भाषा-ध्वनि के रूप में एक ध्वनि का दूसरे से अन्तर भी इन्हीं बातों पर निर्भर करता है।

फेफड़े से निकली हुई हवा, ध्वनि-यंत्र के अंगों के आन्दोलन के कारण आंदोलित होकर निकलती है और बाहर की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार की कम्पन लहरें पैदा कर देती हैं। ये लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कंपन पैदा कर देती हैं। इन ध्वनि-लहरों की चाल सामान्यतः 330-370 मीटर प्रति सेकेन्ड होती है। ज्यों-ज्यों ये लहरें आगे बढ़ती जाती हैं। इनकी तीव्रता घटती जाती है। इसी कारण दूर के व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है।

अब प्रश्न उठता है कि ध्वनियों को कान कैसे ग्रहण करता है। ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली (या कान के पर्दे)

पर कम्पन उत्पन्न करती हैं। इस कम्पन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है और हम सुन लेते हैं। ध्वनि हवा तथा अन्य सम्बद्ध अणुओं में कम्पन रूप में होती है। यह कम्पन प्रति से केण्ड 'फ्रिक्वेन्सी' या आवृत्ति कहलाता है। सामान्यतः आदमी का कान 70 से लेकर 20,000 आवृत्ति तक की ध्वनि सुन सकता है।

स्वर, अर्द्धस्वर तथा व्यंजन आदि रूपों में ध्वनियों का वर्गीकरण अन्य बातों के अतिरिक्त ध्वनियों के श्रौत गुण पर आधारित है। डॉ० जोन्स के मान स्वरों का वर्गीकरण भी मूलतः श्रावणिक है। ध्वनियों के श्रौत गुण के कारण ही श्रोता विभिन्न ध्वनियों की लहरों को पहचान कर भाषा को समझता है या सुर, तलाधारा या व्यक्ति-विशेष का निर्णय करता है। आज श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान में विभिन्न यंत्रों (ऑसिलोग्राफ़, स्पेक्ट्रोग्राफ़) से पहले इन लहरों के चित्र ले लेते हैं, फिर इन चित्रों के विश्लेषण द्वारा ध्वनि की आवृत्ति (Freaquence), मात्रा काल (duration) तथा तीव्रता (intensity) का पता चलाते हैं। श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान में अभी तक स्वरों पर ही विशेष रूप से कार्य हो सका है। व्यंजन के फार्मेंट स्पेक्ट्रोग्राफ़ पर पर्याप्त स्पष्ट नहीं आते, यद्यपि इस दिशा में प्रयास जारी है।

प्रश्न 82—संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—(1) भौतिक ध्वनि-विज्ञान, (2) भाषण-ध्वनि, (3) वाक्-ध्वनि, (4) संध्वनि या ध्वनिकल्प और ध्वनिग्राम।

(1) भौतिक ध्वनि-विज्ञान (Physical Phonetics)—विशिष्ट भाषाओं की प्रत्यययोग्य उक्तियों की मानवीय वाक् में पाई जाने वाली विशिष्ट महत्व की आवृत्ति पट्टियों पर, ध्वनि-तरंगों को उत्पन्न करके तथा उचित रूप में उनका संघात बना, पुनः कृत्रिम संरचना—भौतिक ध्वनि-विज्ञान के विषय हैं। इसमें सर्वाधिक व्यापक रूप में प्रयुक्त होने वाला उपकरण 'ध्वनि-चित्र-रेखी' (Sound Spectrograph) है।

श्रवणिक विश्लेषण ने इस बात को पुष्ट कर दिया है कि वाक् किन्हीं विविक्त ध्वनियों की शृंखला मात्र से नहीं बनता। बोलते समय उत्पन्न ध्वनि-तरंगों के निर्धार्य घटक विविध दैर्घ्यों वाले होते हैं, और कालक्रम में एक दूसरे को अति व्याप्त करते हैं। श्रवणिक आधार पर जिसे पहचानने में सबसे बड़ी कठिनाई आती है, वह है उच्चारण स्थान। ध्वनि-दृष्टि से यह प्रतीत होगा कि विविध उच्चारण स्थानों से उत्पन्न होने वाले व्यंजनों का विवेक मुख्यतः ध्वनि-तरंग के संक्रमणशील एवं संदर्भात्मक अभिलक्षणों से संभव होता है, न कि स्वयं व्यंजनों में अन्तर्निहित किन्हीं विशेष लक्षणों से।

(2) भाषण-ध्वनि (Speech Sound or Phone)—भाषा का प्रत्येक सामान्य प्रयोक्ता स्वयं ही उत्पादक और स्वयं ही वैकल्पिक ग्रहीता भी होता है। जब वक्ता के रूप में वह बोल रहा होता है, तब वह केवल ध्वनि को उत्पन्न नहीं कर रहा होता, बल्कि वह उसको ग्रहण भी कर रहा होता है, साथ ही वह उसको नियमित भी करता जाता है। वह अज्ञात रूप में ही अपनी उच्चारणात्मक विविध गतिविधियों को, जो कुछ वह सुनता है उससे, सतत् समायोजनों के द्वारा सहसम्बद्ध करता जाता है और जब श्रोता बनकर वही दूसरे के द्वारा उत्पन्न ध्वनियों को सुन

रहा होता है, तब वह केवल निष्क्रिय श्रवण ही नहीं करता, वल्कि वह वक्ता या प्रयोक्ता के रूप में अपने अनुभव के आधार पर श्रवणिक संकेतों की व्याख्या के साथ-साथ उन्हें क्रमबद्ध भी करता जाता है। इसमें उसे सहायता मिलती है—अपने ही अन्दर निर्मित सन्दर्भात्मक समाधानों और आशाओं से। ध्वनिक सामग्री (उपादान) भौतिक शास्त्रियों द्वारा समझी जाने वाली 'ध्वनि' मात्र ही नहीं है, वल्कि यह वह ध्वनि है, जो मानव-प्राणियों के द्वारा अपने भाषा प्रयोग में परिपूत और वर्गीकृत की जाती है। दूसरे शब्दों में, भाषा का ध्वनिक माध्यम एक मनोवैज्ञानिक और विशुद्ध भौतिक पक्ष भी रखता है। 'भाषण-ध्वनि की पूर्ण परिभाषा देना प्रायः असंभव सा है किन्तु काम चलाने के लिए कहा जा सकता है—'भाषण-ध्वनि' भाषा में प्रयुक्त ध्वनि की वह लघुतम इकाई है जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तित्व हो।

(3) **वाक्-ध्वनि**—वाक् अवयवों द्वारा उद्भूत ध्वनि की ऐसी कोई भी इकाई जिसे कि ध्वनि-विद् वाक्-अवयवों से उद्भूत अन्य ध्वनि-इकाइयों से पृथक् या विविक्त रूप में पहचान सकता है, 'वाक्-ध्वनि' कही जा सकती है। व्यवहारतः उन भिन्न-भिन्न वाक् ध्वनियों की संख्या की कोई सीमा नहीं हैं, जिन्हें मानवीय वाक्-तन्त्र से उत्पन्न किया जा सकता है, और जिनमें ध्वनि-विद् विभेद कर सकता है, परिणाम-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वाक्-ध्वनि प्राकृतितः अनिर्धारित होती है।

(4) **संध्वनि या ध्वनिकल्प** (Allophone) **तथा ध्वनिग्राम** (Phoneme)—किसी भाषा में किसी भी ध्वनि के विभिन्न रूप संध्वनि कहलाते हैं और उनका सामूहिक रूप 'ध्वनि ग्राम'। उदाहरतः—नागपुर में आग लगी और एक गुड़िया जल गई। इस वाक्य में पाँच 'ग' हैं। इन पाँचों 'ग' ध्वनियों में अन्तर है। पहला 'ग' स्फोटहीन है तथा आगे आने वाले 'प' के प्रभाव के कारण अघोष सा होकर 'क' ध्वनि के समान है। दूसरा 'ग' स्फोटहीन है। तीसरा 'ग' साथ की 'ई' ध्वनि के प्रभाव के कारण थोड़ा आगे को हट सा गया है। चौथा 'ग' ड के प्रभाव के कारण थोड़ा पीछे चला गया है। अंतिम 'ग' पर कोई प्रभाव नहीं है। 'ग' ध्वनि के ये विभिन्न रूप ही संध्वनियाँ हैं जबकि 'ग' स्वयं में 'ध्वनिग्राम'। इस सन्दर्भ में कुछ अन्य बातें भी ध्यातव्य हैं—(1) ध्वनिग्राम और संध्वनि किसी भाषा विशेष के होते हैं, सर्व सामान्य नहीं। (2) भाषा में प्रयोग संध्वनि का होता है। अतः यथार्थ सत्ता उसी की है। ध्वनि-ग्राम तो मिलती-जुलती संध्वनियों के परिवार का सामूहिक नाम मात्र है। (3) किसी भाषा में एक संध्वनि जिस विशेष परिस्थिति में आती है, उसमें दूसरी कोई संध्वनि नहीं आती।

अध्याय | 13

शब्द-विज्ञान

प्रश्न 83—शब्द की शास्त्रीय परिभाषा कीजिए तथा प्राचीन शब्दों के लोप, नवीन शब्दों के आगमन तथा नवीन शब्दों के निर्माण पर सम्यक् विचार कीजिए।

प्रश्न 84—शब्दों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार पर उसका भेदोपभेद प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—शब्द की परिभाषा—शब्द की स्पष्ट शब्दों में परिभाषा करना कठिन है। महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार—"शब्द कान से प्राप्त, बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुरित होने वाली आकाश व्यापी ध्वनि है।" पाश्चात्य विचारकों तथा भाषाशास्त्रियों ने भी 'शब्द' पर मनन करते हुए उसको अनेक परिभाषाओं में बाँधने की चेष्टा की है—

(1) ब्लॉक तथा ट्रेगर—"अविभाजित मुक्त रूप ही शब्द हैं।"
(2) एल० आर० पामर—"लघुतम भाषण इकाई ही शब्द है।"
(3) एल० ब्लूमफोल्ड—"शब्द लघुतम मुक्त रूप हैं।"
(4) के० एल० पाइक—"शब्द किसी विशिष्ट भाषा की वह व्याकरणिक लघुतम इकाई है जो रिक्त स्थान से पृथक् किया गया हो।"
(5) सुपीर—"किसी एक विचार का प्रतीकात्मक तथा भीषण रूप ही शब्द है।"

इन मतों की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि शब्द का एक स्पष्ट अर्थ होता है और यह प्रयोग अथवा अर्थ व्यक्त करने में स्वयं स्वतन्त्र होता है। इसे व्यक्त करने में और किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती। शब्द में सार्थकता अवश्य होनी चाहिए। उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए शब्द की परिभाषा निम्न प्रकार की जा सकती है।

"शब्द अर्थ के स्तर पर भाषा की वह लघुतम स्वतन्त्र इकाई है, जो स्वयं अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हो।"

ग्राफोलॉजी (लेखिम विज्ञान) के स्तर पर जो जो लिखित शब्द हैं जिनमें एक या एकाधिक अक्षर हो सकते हैं, वे रूप-रचना की दृष्टि से 'शब्द' कहे जाते हैं। शब्द को पहचानने की सबसे सुगम विधि यह हो सकती है कि उसके दोनों ओर रिक्त

स्थान हो। पर यह पहचान भी खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि इस विधि से बहुत से ऐसे 'रूप' भी शब्द की कोटि में आ जाएँगे जो नितान्त व्याकरणिक हैं, जैसे इस प्रकार के संयुक्त संज्ञापद। देखा जाए तो शब्द की व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत सभी प्रकार की व्याकारणिक इकाइयाँ भी आ जाती हैं।

शब्दों का वर्गीकरण—व्याकरण के अनुसार शब्दों के संज्ञा, क्रिया, विशेषण, सर्वनाम आदि भाग किये गये हैं। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ शब्दों को नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात चार भागों में विभाजित किया गया है। महाभाष्यः कार ने शब्द को मोटे रूप में चार रूपों में रखा—जाति रूप, गुण रूप, क्रिया रूप, संज्ञा रूप। इन वर्गीकरणों के स्थान पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शब्दों का रचना और इतिहास के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है।

डॉ० हरदेव बाहरी ने 'शिक्षा और संस्कृति के स्तर के अनुसार' शब्दावली के भेद किए हैं—वैज्ञानिक, पारिभाषिक, साहित्यिक, शिक्षित, ग्रामीण, सामान्य स्तर, गोप्य, स्थानीय, वल्गर।

(क) रचना के आधार पर—शब्द को बनावट या रूप-रचना की दृष्टि से इस प्रकार बाँटा जा सकता है—

1. मौलिक या अयौगिक—वे सार्थक शब्द, जिनका विभाजन न किया जा सके जैसे—हाथ, माल, काम, घोड़ा।

2. यौगिक—वे सार्थक शब्द, जिनको मौलिक या रूढ़ शब्दों में प्रत्यय (पूर्व, मध्य या पर) जोड़कर बनाया जाए जैसे अथाह, अनहोनी।

3. योगरूढ़ि उन शब्दों को कहते हैं, जिनका प्रयोग विशेष अर्थ में होता है जैसे 'पंकज' का शब्दार्थ पंक से जन्मा हुआ है, परन्तु यह 'कमल' के लिए योगरूढ़ि हो गया है।

4. सामासिक—समास में दो स्वतंत्र शब्दों का योग होता है; जैसे घुड़साल, देश-देश, साग-सब्जी, रेल-गाड़ी।

5. पूर्वोन्मुखी प्रवृत्ति—मिलवाँ, कटवाँ।
6. संक्षिप्तीकरण प्रवृत्ति—पेप्सू, संविद, भाक्रांद।
7. मुक्त रूप—राग, राम, धान।
8. मुक्त अबद्ध रूप—छुटपन, दासता।
9. अबद्ध मुक्त रूप—सहर्ष, सुपुत्र।
10. मुक्त-मुक्त रूप—कामधन्धा, दीपशलाका।
11. आवद्ध आवद्ध रूप—तारतम्य।
12. पुनरूक्त—जन-जन, रोम,रोम।
13. अनुकरणमूलक—चमचम, फटफटिया।
14. अनर्गल—लनड़ धो धो।
15. अनुवादयुग्मक—दवा-दारू इज्जत आबरू।
16. प्रतिध्वन्यात्मक—पीना-वीना।

(ख) इतिहास के आधार पर—शब्दों को तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों में विभाजित किया जा सकता है। किसी प्राचीन भाषा से वर्तमान भाषा में शुद्ध और अविकृत रूप में ले लिए जाने वाले शब्द तत्सम कहलाते हैं। उदाहरण के

लिए हिन्दी में जल, विद्या, नर संस्कृत से लिये हुए तत्सम शब्द है। तद्भव शब्द वे कहे जाते हैं जो प्राचीन भाषा से विकसित होकर वर्तमान भाषा में आ जाते हैं। उदाहरण के लिए कन्हैया, साँप, कान आदि तद्भव शब्द हैं, जिनका तत्सम रूप कृष्ण, सर्प और कर्ण हैं। देशज शब्द उन्हें कहते हैं जो स्थानीय बोलियों से विकसित होकर प्रयुक्त होने लगते हैं और जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं होता। देश की बाहर की भाषाओं के जो शब्द संस्कृतियों और समाज के समन्वय के कारण जो देश के भाषा में आ जाते हैं उनको विदेशी कहते हैं। भारत में विदेशी जातियों के आने के साथ में उनके बहुत से शब्द भी यहाँ की भाषाओं में मिल गए। उदाहरण के लिए किताब अरबी का तथा रेल, मोटर, फोटो आदि अँग्रेजी हैं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी ऐतिहासिक दृष्टि से शब्द-समूह के निम्नलिखित वर्गीकरण को अधिक वैज्ञानिक मानते हैं—
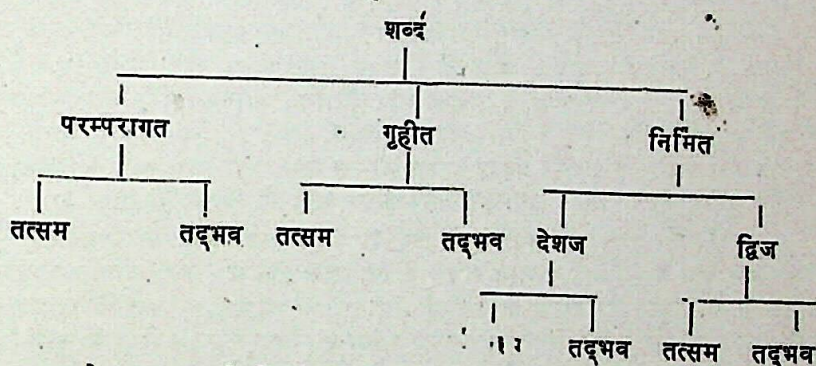
जो शब्द भाषा के विकसित होने के बाद बना लिए जाते हैं, वे निर्मित शब्द हैं। इसके दो भेद हो सकते हैं—देशज और द्विज। जो शब्द बिना किसी परम्परागत या गृहीत शब्द के आधार पर बना लिए गए—वे देशज हैं। द्विज शब्द वे हैं, जो परम्परागत, गृहीत या देशज में से, किसी एक या एक से अधिक शब्दों के योग से बना लिए गए।

(ग) अर्थ के आधार पर—भारतीय काव्यशास्त्र के वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द भेद भी अर्थ पर आधारित हैं। सार्थक, निरर्थक भेद तो प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त एकार्थी, अनेकार्थी, एकमूलीय भिन्नार्थक, समध्वनीय भिन्नार्थक (Homonym) आदि भेद भी हो सकते हैं।

(घ) व्याकरणिक प्रयोगों के आधार पर—यास्क के नाम, आख्यात, उपसर्ग निपात, पाणिनि के 'सुबन्त' तथा 'तिङन्त' थैक्स के संज्ञा (इसके अन्तर्गत विशेषण) सर्वनाम आर्टिकिल, पार्टीसिपिल, क्रिया, क्रिया विशेषण, संबंधवाचक, समुच्चयबोधक, फ्राइज के फ़ार्म क्लास् तथा फ़ंक्शन वर्ड्ज़ आदि इस दृष्टि से जितने भी भेद किए गए हैं, प्रायः कुछ ही भाषाओं पर लागू होते हैं। ऐसा कोई वर्गीकरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है जो सभी भाषाओं पर सरलता और सफलता के साथ लागू हो सके।

(ङ) रूपान्तर के आधार पर—कुछ शब्द प्रयोग में लिंग, वचन, पुरुष, कारक काल आदि के कारण परिवर्तित हो जाते हैं, ऐसे शब्द विकारी कहलाते हैं। संज्ञा,

सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया शब्द ऐसे ही हैं। दूसरी ओर कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जो कभी परिवर्तित नहीं होते, इन्हें अविकारी कहते हैं।

शब्द-समूह में परिवर्तन

शब्द-समूह परिवर्तित होता रहता है, जो निम्नलिखित कारणों से होता है—

प्राचीन शब्दों का लोप—समाज के रीतियों तथा परम्पराओं के समाप्त होने पर उनसे सम्बन्धित शब्द-समूह समाप्त हो जाता है। कभी-कभी शब्द घिस जाने के कारण अर्थ की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाता है, अतः उसे व्यर्थ समझकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार प्राचीन शब्द समाप्त होते रहते हैं तथा नवीन भावाभिव्यक्ति में सहायक नये शब्द आते रहते हैं।

रहन-सहन और खान-पान का परिवर्तन शब्द-समूह को प्रभावित करता है—खान-पान तथा रहन-सहन में परिवर्तन हो जाने से तत्सम्बन्धित शब्द-समूह भी समाप्त हो जाता है। पुराने ढंग के गहनों, कपड़ों तथा शृङ्गार के प्रसाधनों, बर्तनों, अस्त्रों, वाहनों आदि का प्रयोग बन्द हो गया है। उनके लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द भी समाप्त हो गए हैं तथा संस्कृति के विकास और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण बहुत-सी नई शब्दावली आ गई है। हमारे यहाँ नये धान को मथकर एक प्रकार से बनाये हुए को सत्तू कहते थे। इसी प्रकार यावक जौ से बना खाद्य होता था। इन खाद्यों का अब प्रयोग नहीं होता। अतः इनसे सम्बन्धित शब्द भी विनष्ट हो गए हैं।

रीतियों, परम्पराओं तथा कार्यों का परिवर्तन शब्द-समूह में परिवर्तन उपस्थित कर देता है—हमारे प्राचीन-भारत में यज्ञ बहुत होते थे। अतः वैदिक-साहित्य में यज्ञ से सम्बन्धित शब्दावली का प्राचुर्य मिलता है। यज्ञों की परम्परा समाप्त हो जाने के कारण यज्ञ से सम्बन्धित शब्द-समूह भाषा से निकल गए। यदि यज्ञ परम्परा का प्रचार रहता तो इससे सम्बन्धित शब्दावली विलुप्त न होती।

शब्दों की अश्लीलता भी उनको प्रयोग से हटा देती है। सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं के कारण बहुत से अश्लील शब्द प्रचलित हो जाते हैं। शिक्षित वर्ग ऐसे शब्दों को स्वीकार नहीं करता। उदाहरण के लिए पेशाब और मूत शब्दों को लिया जा सकता है। इनमें 'मूत' शब्द अश्लीलता के कारण विलुप्त हो गया है।

ध्वनि-परिवर्तन में शब्द घिस कर प्रयोग से निकल जाते हैं—ध्वनि-परिवर्तन से शब्द घिसते-घिसते समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर मूल शब्द या अन्य शब्द प्रचलित हो जाता है। संस्कृत के बहुत से शब्द अपभ्रंश तक आते-आते घिस कर विलुप्त हो गए। कुछ तो केवल स्वर मात्र ही रह गए। उदाहरण के लिए संस्कृत के कुछ शब्दों तथा उनके घिसे रूपों को देखिए—

संस्कृत	प्राकृत/अपभ्रंश
इति	अइ
उचित	उइउ
ऋण	अण
उपकार	ओआर

जंगली या अर्द्धसभ्य लोग अन्धविश्वास में कुछ शब्दों का प्रयोग बन्द कर देते हैं। यदि उनको यह आभास मिल जाता है कि अमुक शब्द अशुभ हैं, तो वे

उसका प्रयोग छोड़ देते हैं। जापान में राजा या उसके परिवार में बोली जाने वाली भाषा में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जो वहाँ की सामान्य भाषा में प्रयुक्त नहीं होते। भारत में बहुत से नामों को लेने का निषेध है। ऐसे शब्द भी सामान्य भाषा में से निकल जाते हैं।

जिस शब्द के पर्याय को स्पष्ट करने वाले सरल-शब्द मिल जाते हैं, वे भी भाषा से निकल जाते हैं। भारत में मध्य-युग तक जन-भाषा में सहस्र शब्द का प्रयोग होता था। मुसलमान अपने साथ में 'हज़ार' शब्द लाए। इसके समक्ष 'सहस्र' शब्द न टिक सका और वह भाषा में से निकल गया। बेईमान, ईमान, ईमानदार आदि ऐसे ही शब्द हैं, जिनके लिए यही कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने पर्याय के शब्दों को विलुप्त कर दिया।

भाषा में कुछ प्राचीन शब्दों का विलोप होने के साथ ही नवीन शब्दों का आगमन भी होता रहता है। यह निम्न कारणों से होता है—

सभ्यता के विकास के साथ नये शब्दों का आगमन—सभ्यता के विकास के साथ-साथ भाषा में नये-नये शब्द आते रहते हैं। तरह-तरह की नवीन वस्तुओं का आविष्कार होने के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित शब्दावली भी निर्मित होती रहती है। भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ बहुत से नये-नये शब्द आते जा रहे हैं।

सम्पर्क और समन्वय से शब्दों का आगमन—दो जातियों, क्षेत्रों या संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर एक भाषा की बहुत सी शब्दावली दूसरी भाषा में ग्रहण कर ली जाती है, भारत में अरब, ईरानी, पुर्तगाली, अँगरेज आदि आए। भारतीय भाषाओं में इन समस्त जातियों के सम्पर्क से बहुत सारे नए शब्दों का आगमन हुआ। संसार की प्रत्येक विकसित भाषा में इस प्रकार दूसरी भाषाओं से शब्द लिए गए। अँगरेजी ने भारतीय भाषाओं से लगभग 2,500 शब्द ग्रहण किए। जर्मनी में विदेशी शब्दों की संख्या लगभग 10,000 है।

राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना के विकास से भी नए शब्दों का आगमन होता है—किसी देश में जब राजनीतिक और सांस्कृतिक जागरण होता है तो उस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए हजारों शब्द अन्य भाषाओं तथा पूर्ववर्ती भाषाओं से ग्रहण कर लिए जाते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में बहुमुखी जागृति के कारण संस्कृत, प्राकृत तथा अँगरेजी आदि से बहुत से शब्द आए।

ध्वन्यात्मक—ध्वनियों के आधार पर कुछ वस्तुओं के लिए नवीन शब्दों का प्रयोग होने लगता है। कुत्ते की भौं-भौं, पत्तों की चर-चर, भड़-भड़, जल की छल-छल आदि शब्दों का हिन्दी में आगमन ध्वन्यात्मकता के कारण ही हुआ।

दृश्यात्मकता—कुछ वस्तुओं का विशिष्ट रूप होता है। दृश्यात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए नए शब्दों का निर्माण हो जाता है। हिन्दी के चमचम जगमग, बगबग जैसे शब्द दृश्यात्मक से ही निर्मित हुए हैं।

साम्य और नवीनता के लिए शब्दों का आगमन होता है—नवीनता और साम्य के आधार पर बहुत से नए शब्द चल पड़ते हैं। मीठा के आधार पर सीठा

तथा पिंगल के आधार पर डिंगल इसी प्रकार के शब्द हैं। ब्रजभाषा को पिंगल कहा जाता था साम्य के आधार पर राजस्थानी को डिंगल कहा जाने लगा। हिन्दी का पौर्वात्य पाश्चात्य के ही साम्य पर है। नवीनता के लिए उपसर्गों आदि को जोड़कर नये शब्द बना लिए जाते हैं।

नवीन शब्दों का आगमन दो प्रकार से होता है। कुछ शब्द उधार लिए हुए होते हैं, और कुछ का निर्माण होता है—

निर्माण—कभी-कभी दो शब्दों को मिलाकर तीसरा शब्द बना लिया जाता है। विकसित समुन्नत भाषाओं में इस प्रकार के शब्दों का प्रायः निर्माण होता रहता है। दो भाषाओं के शब्दों के मेल से एक नया शब्द बन जाता है। निम्न उदाहरण में देखिए :—

अरबी—'अर्जी' + फार्सी—'नवीस'=अर्जीनवीस
,, —'अक्ल' + ,, 'मन्द'=अक्लमन्द
अँगरेजी—'रेल' + हिन्दी—'गाड़ी'=रेलगाड़ी
संस्कृत—'दल' + फार्सी—'बन्दी'=दलबन्दी
पुर्तगाली—'पाव' + हिन्दी—'रोटी'=पावरोटी

व्यक्तिवाचक शब्दों के आधार पर भी विशेषता, कार्य और गुण के आधार पर नए शब्द बना लिए जाते हैं। स्थानों के नाम पर लखनौवा, बनारसी, चीनी, मिश्री आदि शब्द बने हैं। ध्वनियों के आधार पर खर-खर, मर-मर, चर-चर आदि शब्दों का निर्माण हुआ है। दृश्यों के आधार पर चम-चम जग-मग आदि जैसे शब्द निर्मित हुए हैं। व्याकरण के नियमों के आधार पर प्रत्यय लगाकर बहुत से शब्दों का निर्माण कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अथाह', 'दु' लगाकर 'दुकाल', 'नि' लगाकर 'निकम्मा' बना हैं। अरबी फार्सी में 'ल' उपसर्ग लगाकर वारिस से 'लावारिस' 'खोर' लगाकर 'चुगलखोर' आदि शब्दों का निर्माण हुआ है।

उधार—भाषा शब्दों को उधार लेती है। कुछ शब्द वह दूसरी भाषाओं से ग्रहण करती, कुछ प्राचीन साहित्य से तथा कुछ उसमें ग्रामीण बोलियों से आ जाते हैं। हिन्दी आदि में भारतीय भाषाओं में तुर्की, फार्सी, अँगरेजी आदि से बहुत से शब्द ले लिए गए हैं। कभी तो ऐसे शब्द ज्यों-के-त्यों ले लिए जाते हैं और कभी-कभी उनकी ध्वनि में परिवर्तन भी कर लिया जाता है। प्रत्येक भाषा अपने प्राचीन साहित्य और भाषाओं से बहुत-सी शब्दावली ग्रहण करती है। हिन्दी में बहुत से शब्द संस्कृत से ग्रहण कर लिए गए हैं। भाषा को सजीव बनाने के लिए प्राचीन बोलियों से भी उपयुक्त शब्द ले लिए जाते हैं।

प्रश्न 85—संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—शब्द तथा पदग्राम।

उत्तर—शब्द तथा पदग्राम—पदग्राम भाषा की न्यूनतम अर्थवान इकाई है। इसका निर्माण किसी भाषा के एक या एक से अधिक ध्वनिग्रामों को एक विशेष क्रम में रखने से होता है। शब्द का निर्माण एक या एक से अधिक पदग्रामों को एक विशेष क्रम में रखने से होता है। पदग्राम में एक से अधिक ध्वनिग्रामों का विशिष्ट क्रम रहता है, किन्तु शब्द में एक या एक से अधिक पदग्रामों का क्रम रहता है। एक

शब्द में कम-से-कम एक या एक से अधिक पदग्राम हो सकते हैं, किन्तु एक पदग्राम एक से अधिक शब्द का नहीं हो सकता।

शब्द	पदग्रामों की संख्या	शब्द संख्या
राग	1	1
दासता	2	1
उनींदा	3	1
बेरोजगारी	4	1

अध्याय | 14

अर्थ-विज्ञान

प्रश्न 86—"ब्रील के अनुसार अर्थ का विकास तीन दिशाओं में होता है।" विस्तार से विवेचन कीजिए।

प्रश्न 87—टिप्पणियाँ लिखिए—अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थादेश।

प्रश्न 88–अर्थ परिवर्तन के प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्टतया-समझाकर लिखिए।

प्रश्न 89—अर्थ परिवर्त्तन की दिशाएँ बतलाइए।

उत्तर—शब्द और अर्थ भाषा के अभिन्न अंग हैं। इनकी अभिन्नता महाकवि कालिदास ने 'वागर्थाविव संपृक्तौवागर्था प्रतिपत्तए' के द्वारा स्पष्ट की है। जिस प्रकार भाषा का वाह्य रूप परिवर्तित होता रहता है उसी प्रकार उसके अर्थ रूप में भी परिवर्तन आता रहता है। प्रयोग ही भाषा के नियामक हैं। प्रयोग जब रूढ़ हो जाते हैं तो उनका मूल अर्थ उसमें नहीं रह जाता। अर्थ का यह परिवर्त्तन अर्थ विकास भी कहलाता है क्योंकि भाषा का कोई भी परिवर्तन उसका विकास ही होता है। अर्थ परिवर्तन एक शाश्वत धारा है। इस अर्थ परिवर्तन के अनेक कारण हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण, 'प्रकरण' है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और हो सकते हैं, किन्तु उस शब्द का प्रयोग करने वाला उसका प्रयोग एक ही अर्थ में करता है। उदाहरण के लिए—भोजनशाला में बैठे हुए महाराज ने दूसरे नोकर से कहा 'सैन्धवमानव'। इस समय नौकर नमक लाता है, घोड़ा नहीं। राजदरबार के जाने के समय नैकर 'सैन्धवमानव' कहने पर घोड़ा ही लाता है न कि नमक, जबकि सैन्धव शब्द का अर्थ नमक तथा घोड़ा दोनों ही हैं। इस प्रकार 'प्रकरण' के कारण अर्थ का प्रयोग होता है

भाषा में शब्द का अर्थ परिवर्तन अनेक कारणों से होता है।

(1) दूसरी भाषाओं से गृहीत शब्द नवीन परिवेश में नये अर्थ से प्रयुक्त होता है उदाहरण के लिए शीश फारसी में पारदर्शी मिश्र धातु है किन्तु हिन्दी में यह दर्पण वाचक है। इसी प्रकार अँगरेज़ी के Gfass Copy तथा Repoxt आदि शब्द हिन्दी में क्रमशः पानी पीने का पात्र, उत्तर-पुस्तिका तथा शिकायत अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं जबकि इनका मूल अर्थ शीशी, नकल तथा संस्तुति आदि है।

(2) सम्बद्ध भाषाओं के शब्दों में वैद्धिक सम्पर्क के कारण अर्थान्तरण हो जाता है। संस्कृत का 'वाविका' शब्द हिन्दी में बाड़ी, बागीची तथा बंगला में घर अर्थ का सूचक है। संस्कृत का 'देव' शब्द ईरानी में दानव अर्थ का सूचक है।

(3) प्रकरण भेद से अर्थान्तर हो जाता है। इसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। 'चारा' शब्द हिन्दी में घास का सूचक है, फारसी में उपाय अर्थ का। 'आम' शब्द हिन्दी में फलवाची है जबकि अरबी में सामान्य अर्थ का सूचक है। इसी प्रकार के कुछ अन्य शब्द भी हैं जो मूलतः अभिन्न होते हुए भी प्रसङ्ग के कारण विभिन्न अर्थों के सूचक हो जाते हैं, जैसे—

अर्थ—धन, अभिप्राय, प्रयोजन।
नाग=हाथी, साँप, फल।
पाद=पैर, चरण, चतुर्थ अंश।

(4) एक ही भाषा में काल-भेद से अन्य अर्थ हो गए हैं।

(क) जैसे—'मृग' शब्द वैदिक काल में पशु मात्र का सूचक (सामान्यार्थक) था किन्तु कालान्तर में यह हरिण वाचक विशेषार्थक हो गया है।

(ख) विशेषार्थक शब्द कालान्तर में सामान्यार्थक हो जाते हैं। जैसे—उद्दण्ड शब्द मूलतः डण्डा उठाए उद्धत मनुष्य का सूचक था, किन्तु बाद में यह उद्धत मनुष्य का वाचक बन गया है।

(ग) मूल में मूर्त्त या ऐन्द्रियक अर्थ रखने वाले शब्द कालान्तर में अमूर्त्त या बौद्धिक अर्थ को व्यक्त करते हैं। जैसे—अनुग्रह—अनु+ग्रह=भार आदि उठाने में सहायता देना। आज यह शब्द कृपा अर्थ का सूचक हो गया है।

(घ) मूल में भाववाचक शब्द बाद में मूर्त्त अर्थ का सूचक हो जाता है जैसे—भवन शब्द होना अर्थ का वाचक है। यही भवन घर, या मकान का वाचक हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अर्थ-परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं उनके अनेक रूप होते हैं किन्तु अर्थ-विज्ञान के प्रमुख आचार्य माइकेल ब्रील ने इनका गम्भीर अध्ययन कर अर्थ-विकास की तीन दिशाओं का निर्देश किया है। उनके नाम निम्नलिखित हैं—

(1) अर्थ-विस्तार=Expansion of meaning or widening.
(2) अर्थ-संकोच=Contraction of meaning or Narrowing.
(3) अर्थान्तरण, अर्थ-संक्रमण या अर्थादेश—Transference of meaning.

अर्थ-विस्तार—अर्थ-विस्तार मे शब्दों का अर्थ अपने सीमित क्षेत्र से निकल कर व्यापक अर्थ को सूचित करने लगता है। इस सम्बन्ध में टकर महोदय का कथन

है, "अर्थ-विस्तार तो होता ही नहीं है, किन्तु जिसे हम अर्थ-विस्तार कहते हैं वह वस्तुत' अर्थादेश है ।" किन्तु टक्कर महोदय की यह मान्यता आज स्वीकृत नहीं है क्योंकि अर्थ-विस्तार होता है किन्तु अर्थ संकोच के अनुसार नहीं। उदाहरण के लिए— 'तेल' शब्द पहले केवल तिल के तेल के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु आज यह सभी तेलों के लिए—यहाँ तक कि मिट्टी के तेल के लिए भी प्रयोग में आता है। और यदि किसी व्यक्ति से कठिन परिश्रम कराया जाता है तो भी मुहावरेदार भाषा (लक्षण) में कहते हैं कि तेल निकाल लिया। इसी प्रकार के कुछ अन्य शब्द भी हैं जो अर्थ विस्तार को पा चुके हैं—

शब्द	मौलिक अर्थ	विस्तृत अर्थ
अभ्यास	बाण आदि फेंकना (अभि + असन)	प्रयत्न
अन्वेषण	गाय ढूंढ़ने की इच्छा	अनुसंधान
प्रवीण	वीणा बजाने में निपुण	चतुर
कुशल	कुश लाने में दक्ष	दक्ष
स्याही	काला रंग	स्याही, मसि
निपुण	पुण्य करने वाला	सभी प्रकार के कार्य करने में चतुर।

अर्थ-विस्तार मुख्यतः सादृश्य, साहचर्य, सामीप्य, तात्कर्म्य, शब्दार्थ के एक अंश की अविविक्षा तथा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति आदि कारणों से होता है।

अर्थ-संकोच—जब सामान्य या विस्तृत अर्थ का सूचक शब्द किसी विशिष्ट या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है, तब वह अर्थ-संकोच कहलाता है। ब्रील का कहना है कि जो जाति या देश जितना अधिक सभ्य होगा, उसकी भाषा में अर्थ संकोच भी उतना ही अधिक होगा। सभ्यता के विकास के साथ ही शब्दों के अर्थ भी सामान्य से विशेष होते जाते हैं। जैसे 'मृग' शब्द प्राचीन काल में समस्त पशुओं के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु आज वह केवल 'हरिण' के अर्थ का सूचक है। इसी प्रकार निम्न शब्द भी आज अर्थ-संकोच को प्राप्त कर चुके हैं —

शब्द	मूल अर्थ	संकुचित या वर्तमान अर्थ
वेद	विद्या	ऋग्वेद आदि वेद
वर	जो माँगा जाए	दूल्हा
पय	पीने का पदार्थ,	जल दूध
धान्य	अन्न	धान

अर्थ-संकोच के निम्नलिखित कारण हैं—समास, उपसर्ग, विशेषण, पारिभाषिकता, नामकरण आदि।

अर्थादेश—भावसाहचर्य से किसी शब्द के प्रमुख अर्थ के साथ कभी-कभी एक गौण अर्थ भी प्रयुक्त होने लगता है किन्तु कुछ समय के अनन्तर प्रधान अर्थ शनैः-शनैः लुप्त होकर गौण अर्थ में ही वह प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लुप्त होने और नवीन अर्थ के आ जाने का नाम अर्थादेश है। उदाहरण के लिए निम्न शब्दों को लिया जा सकता है। 'असुर' शब्द ऋग्वेद में देवता शब्द के लिए प्रयुक्त है,

किन्तु आज यह राक्षस वाचक शब्द है। 'गँवार' शब्द ग्रामवासी के लिए था किन्तु आजकल ग्रामीण एवं नागरिक सभ्यता में भेद के कारण 'मूर्ख' अर्थ का वाचक है। इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी दर्शनीय हैं—

शब्द	मूल अर्थ	वर्तमान अर्थ
दुहिता	दूध दुहने वाली	कन्या
सपत्न	एक ही स्त्री के लिए लड़ने वाला	शत्रु
उपवास	अग्नि के पास रहना	व्रत
अनुग्रह	पीछे से हाथ लगाना	कृपा

डॉ देवेन्द्रनाथ शर्मा का विचार है कि "अर्थ-परिवर्तन इन तीनों में से किसी भी दिशा में क्यों न हो, उसके पीछे लक्षणावृत्ति काम करती है। शब्द के मुख्य अर्थ में जब भी कोई परिवर्तन होगा; तो वह लक्षणा के कारण ही, जब तक लक्षणा का आधार नहीं मिलता तब तक परिवर्तन हो ही नहीं सकता।"

अर्थ-परिवर्तन की इन तीन दिशाओं के अतिरिक्त अर्थ का उत्कर्ष और अपकर्ष भी देखा जाता है, अतः अर्थोत्कर्ष एवं अर्थापकर्ष भी अर्थ-परिवर्तन की दिशा के रूप में मान्य हो सकते हैं।

अर्थोत्कर्ष—शब्दों के अर्थ का परिवर्तन होकर पहले से अधिक उन्नत, शिष्ट अर्थ का सूचक अर्थ अर्थोत्कर्ष कहा जाता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि "जिस प्रकार जीवन में उत्कर्ष के उदाहरण कम मिलते हैं, उसी प्रकार शब्द-भण्डार में भी अर्थोत्कर्ष के उदाहरण कम मिलते हैं।" उदाहरण के लिए निम्न शब्द एवं उनके अर्थ देखे जा सकते हैं। 'साहस'—संस्कृत भाषा में इसका प्रयोग व्यभिचार या हत्या के लिए होता था किन्तु अब अच्छे अर्थ में होता है। 'धृष्ट' शब्द का अर्थ है निर्लज्ज, परन्तु बंगाल में इसके तद्भव 'ढीठ' शब्द का अर्थ है—सीधा, सरल। इसी प्रकार—

शब्द	मूल अर्थ	अर्थोत्कर्ष
कर्पट	जीर्ण कपड़ा	कपड़ा
मुग्ध	सुन्दर, मूढ़	भोला-भाला

अर्थापकर्ष—जब किसी कारण किसी शब्द का अर्थ गिर जाता है, अच्छे से बुरा हो जाता है तो उसे अर्थापकर्ष या अर्थावनति कहते हैं। वस्तुतः यह अर्थ-परिवर्तन की कोई स्वतन्त्र दिशा नहीं है क्योंकि इसका कार्य अर्थादेश से चल जाता है। जब किसी शब्द में अर्थादेश होता है तब कभी अर्थ का अपकर्ष हो जाता है और कभी उत्कर्ष हो जाता है। कुछ उदाहरण—

'गुह्य'—भोजपुरी भाषा में ध्वनि परिवर्तन के कारण गुह शब्द बन गया है जिसका अर्थ अश्लील हो गया है। 'जुगुप्सा' शब्द गुप् धातु से निर्मित है जिसका अर्थ है—छिपाना। किन्तु आज यह घृणा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार अर्थ-भेद, अर्थापदेश, मूर्तिकरण, अमूर्तिकरण, अनेकार्थता तथा रूपक आदि को भी अर्थ-विकास की दिशाओं के रूप में मन्यता मिल रही है किन्तु इन सबका अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच तथा अर्थादेश के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। अतः अर्थ-परिवर्तन की मूलतः तीन दिशाएँ ही हैं।

प्रश्न 90—अर्थ-परिवर्तन के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए ।
प्रश्न 91—अर्थ-परिवर्तन के विविध प्रकारों पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—परिवर्तन प्रकृति का नियम है । यह प्रकृति एवं प्रकृति से परे समस्त तत्त्वों तथा मानव जीवन को भी प्रभावित करता है । मानव के मन, विचार और उनकी क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है । भाषा विचारों की वाहिका है; अतः विचारों के साथ भाषा में भी परिवर्तन होता है । इसके कारण भाषा के प्रधान तत्त्व शब्दों एवं अर्थों में भी परिवर्तन होता है । इन परिवर्तनों का कोई एक कारण नहीं होता अपितु अनेक कारण होते हैं, वे परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं । अतः कह सकते हैं कि अर्थ-परिवर्तन के आन्तरिक और बाह्य, मानसिक और भौतिक अनेक संश्लिष्ट कारण होते हैं जो समष्टि रूप में प्रभावित करते हैं जिनकी चरम परिणति अर्थ विकास में दृष्टिगत होती है ।

अर्थापकर्ष, अर्थापदेश, अर्थोत्कर्ष, अर्थ संकोच तथा अर्थ-विस्तार आदि अर्थ परिवर्तन के प्रधान कारण हैं, इनके अतिरिक्त अनेक कारणों में से कुछ निम्न हैं, जिनका उल्लेख डॉ भोलानाथ तिवारी ने किया है :—

(1) मानव-जीवन में रहन-सहन के परिवर्तन के साथ प्राचीन शब्दों के स्थान पर नवीन शब्दों का प्रयोग होने लगता है ।

(2) समाज के रीति-रिवाजों और विभिन्न कर्मों के लोप तथा प्रयोग से अनेक शब्द लुप्त हो जाते हैं ।

(3) अश्लीलता के कारण अनेक शब्द समाज से अलग हो जाते हैं ।

(4) ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से भी शब्द नष्ट होते हैं ।

(5) मानव जीवन में मनुष्य के कार्यों के कारण अर्थ परिवर्तन होता है । उदाहरण के लिए आज 25 वर्ष पूर्व नेताजी शब्द सम्मान सूचक था क्योंकि सुभाष वोस ने अपने त्याग, साहस और वीरता से इस शब्द में प्राण संचार किया था किन्तु आज राजनीतिक नेताओं की कारगुजारियों के कारण नेताजी शब्द अपमानजनक अर्थ का वोधक हो गया है, अतः कोई भी व्यक्ति इस शब्द को अपने नाम से संयुक्त नहीं कराना चाहता है ।

अर्थ-परिवर्तन के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(1) **लाक्षणिक प्रयोग या अलंकार**—लाक्षणिक प्रयोग को औपचारिक या आलंकारिक प्रयोग भी कहा जा सकता है । भाषा में ऐसे उदाहरण अनन्त होते हैं, मुहावरे इन प्रयोगों को जन्म देते हैं और अर्थ में परिवर्त्तन करते हैं । शैतान की खाला, काला नाग, छिपा रुस्तम आदि शब्द अपने अन्दर भाव राशि छिपाए हैं । ब्रील के कथनानुसार अन्य कारणों की अपेक्षा अलंकारों के प्रयोग से अर्थ एक क्षण में परिवर्तित हो जाता है । भर्तृहरि ने भी इसका उल्लेख इस कारिका में किया है :—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतवः ।

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि के कारण भी अर्थ में परिवर्त्तन होता है।

(2) परिवेश का परिवर्तन—वातावरण में परिवर्तन हो जाने से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन तीन क्षेत्र में दृष्टिगत होता है—(क) भौगोलिक (ख) सामाजिक तथा (ग) भौतिक, (क) भौगोलिक परिवेश का परिवर्तन-तारापुरवाला के मत के अनुसार वेद की प्राचीन ऋचाओं में 'उष्ट्र' का अर्थ 'भैंसा' और वाद की ऋचाओ में 'ऊँट' है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भ में जहाँ आर्य रहते थे वहाँ ऊँट नहीं थे; वाद में जब शीत भू-भाग से उष्ण भू-भाग की ओर आर्य आए और उन्हें एक नया उपयोगी जानवर मिला तो वे उसके लिए उस पूर्व परिचित शब्द का ही प्रयोग करने लगे जिसे भैंसे के लिए करते थे। तात्पर्य यह कि ऊँट के अर्थ में भैंसावाली 'उष्ट्र' शब्द का प्रयोग भौगोलिक कारणों से होने लगा। इसी प्रकार (corn) शब्द का अर्थ अँग्रेजी के लिए 'गेहूँ' स्कॉच के लिए 'बाजरा' और अमरीकी के लिए 'मक्का' हैं। शब्द एक ही है पर भौगोलिक स्थान-भेद से उससे तीन अर्थ प्रचलित हो गए।

(ख) सामाजिक परिवेश का परिवर्तन—ध्यान देने पर आप देखेंगे कि एक ही भाषा में एक ही समय में समाज के वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। अँगरेजी में मदर, फादर, ब्रदर, सिस्टर आदि शब्दों का जो अर्थ परिवार में है, वही रोमन कैथोलिक धार्मिक संगठन में नहीं। 'सिस्टर' का अर्थ परिवार में 'बहन' होता है किन्तु अस्पताल में उपचारिका (नर्स)। इसी प्रकार सभा में व्याख्यान देने वाले का भाई और 'बहन' कुछ दूसरे अर्थ रखते हैं और घर में कुछ दूसरे। ऑफिस में काम करने वाले सज्जन को रविवार को देर तक सोते रहने पर जब उनकी पत्नी यह कहकर जगाती हैं कि 'अरे भाई अब तो उठ जाइए तो वहाँ उसका आशय उन महाशय से साधारण 'भाई' का सम्बन्ध जोड़ने का कभी नहीं रहता इस प्रकार वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। नाई का 'खत काटना' और शिशु कक्षा के लड़के का सरकंडे की कलम में 'खत काटना' भी एक अर्थ नहीं रखते। विद्यार्थी के प्रयोग में आने वाला 'कलम' माली के 'कलम' से सर्वथा भिन्न अर्थ रखता है।

(ग) भौतिक परिवेश का परिवर्तन—भौतिक साधनों में परिवर्तन होने के साथ वस्तुओं के नाम भी परिवर्तित होते जा रहे हैं। 'पानी-पीने का कोई वर्तन हमारे यहाँ रहा होगा, किन्तु आज उसका नाम कोई नहीं जानता सभी 'गिलास' में पानी पीते हैं। 'गिलास' शब्द अंग्रेजी की देन है। साथ ही इस शब्द का अर्थ विस्तार भी हो गया है। गिलास केवल काँच से वने जल-पात्र को ही नहीं कहते, काँसा, चाँदी, पीतल, किसी भी धातु का गिलास हो सकता है। ऐसे ही दर्पण के लिए आज 'शीशा' शब्द का प्रयोग होने लगा है चूँकि आज शीशे (काँच) का ही दर्पण बनता है, पहले किसी धातु का बना करता था। शीशा शब्द भी अर्थ-विस्तार का ही उदाहरण है। शीशा धातु विशेष का नाम है, किन्तु अब उसका प्रयोग काँच के लिए होने लगा है।

(3) विनम्रता प्रदर्शन—विनम्रता, सामाजिक शिष्टाचार के अन्तर्गत अनि-

वार्य तत्व है। उसका प्रदर्शन भाषा में सर्वप्रथम होता है, जब हम किसी अफसर का घर पूछते हैं तो कहते हैं। 'सरकार का दौलतखाना कहाँ है' तथा जब अपने घर का पता देते हैं तो कहते हैं कि 'खाकसार का गरीबखाना फलाँ-जगह है'। इसी तरह राजाओं के लिए अन्नदाता, दयानिधान, आलमपनाह, जहाँपनाह आदि शब्द प्रयोग में लाए जाते थे। किसी से आने का कारण पूछने के लिए कहा जाता है 'कैसे कृपा की' आदि। इन सबसे स्पष्ट है कि शब्दों का अर्थ विनम्रता प्रदर्शन से भी परिवर्तित हो जाया करते हैं।

(4) सुश्राव्यता—प्रायः अशुभ सूचक बातें, बचाकर गोल-मोल शब्दों में प्रकट की जाती है। जैसे वैधव्य की 'चूड़ी फूटना' कहते हैं। मरजाने को 'स्वर्गवास होना' या 'पंचत्व को प्राप्त होना' कहते हैं। गमीं में जो बाल मुँड़ाने होते हैं उन्हें 'बाल बनवाना' तथा साधारण को 'हजामत' कहा जाता है। उर्दू बोलने वाले सभ्य समाज में वह बीमार है, न कह कर 'उनके दुश्मनों की तबीयत नामाज़ है', यह कहा जाता है, क्योंकि यह कहा भी नहीं जा सकता कि बीमारी जैसी अशुभ चीज उनके पास फटकी। 'लाश को मिट्टी' दैनिक क्रिया-विशेष (पारवाना) को दिशा जंगल अथवा इंगलैंड आदि, साँप को कीड़ा, रस्सी, इत्यादि उक्तियों में भी अशुभ लज्जाजनक या घृणास्पद बातों को घुमा फिरा कर प्रकट करने की मनोवृत्ति है। इस विषय में भाषा पर स्त्रियों का विशेष प्रभाव पड़ता है, उनके मुँह से अशुभ और सभ्य बात बहुधा नहीं निकलती। लज्जाशील भारतीय ललना ही नहीं विदेशी ललना भी अपने पति का नाम नहीं लेती, लल्ला के लाला, बच्ची के बाबू, पंडित जी आदि शब्दों से अथवा यह आदि सर्वनामों से ही उनका उल्लेख करती हैं। गर्भिणी को प्रत्यक्ष ऐसा न कहकर पाँव भारी है, कहा जाता है।

(5) व्यंग्य—यह अँगरेजी के 'आयरनी' का पर्याय है, हिन्दी का वास्तविक 'व्यंगार्थ' नहीं है, परन्तु आज व्यंग्य के रूप में ही वह प्रचलित है। 'ऊधो तुम अति चतुर सुजान' में गोपियाँ उद्धव को महायज्ञ और मूर्ख बताना चाहती हैं न कि वस्तुतः ज्ञानी घर देर से लौटने वाले लड़के से जब बाप कहता है, क्यों हजरत आज सबेरे कहाँ से आ रहे हैं, तो उसका अर्थ विपरीत दिशा में होता है। कंजूस को कर्ण, कुरूप को कामदेव, आततायी को कृपा-निधान आदि कहने में यही भाव रहता है।

(6) भावात्मक बल—भावात्मक बल देने से भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे 'राम-राम! उसने कैसे यह काम किया।' इस वाक्य में 'राम-राम! धिक्कार का वाचक है। इसी प्रकार उसकी बात सुनकर कलेजा मुंह को आने लगा' वाक्य में भी भावात्मकता का ही अतिरेक है।

(7) सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग—यह वस्तुतः अर्थ विस्तार का ही एक रूप है। कभी-कभी पूरे वर्ग के लिए उसी वर्ग की एक वस्तु का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'स्याही' शब्द स्याह (काला) से बना है परन्तु उसका प्रयोग केवल काली रोशनाई के लिए नहीं होता, किसी भी रंग की रोशनाई स्याही कहलाती है। ऐसे 'जलपान कर लीजिए' ये केवल पानी पीने की बात नहीं निहित है; प्रत्युत वह सामान्यतः साधु भोजन का वाचक है।

(८) अज्ञान अथवा भ्रान्ति—अज्ञानतावश गलत अर्थ में प्रयोग करने से भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। लोक-भाषा में ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं जैसे भोज-

पुरी के 'कलंक' के लिए 'अकलंक', फ़ज़ूल के लिए बेफ़ज़ूल गुजराती में जरूरत के लिए 'जरूर'। उर्दू में ख़ालिस के लिए निख़ालिस का प्रयोग भी इसी अज्ञान का परिणाम है।

(9) **शब्दार्थ की अंतर्निहित अनिश्चितता**—किसी भी भाषा में बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जिनके अर्थ सुनिश्चित नहीं होते। अमूर्त भावों के वाचक शब्द प्रायः इसी कोटि में आते हैं। जैसे अनुकम्पा, कृपा और दया में भेद कर पाना बहुत कठिन है, इसी तरह अभ्युदय, उन्नति, विकास, प्रगति आदि शब्द भी अर्थ की दृष्टि से बहुत स्पष्ट नहीं है। क्षोभ, अक्रोश, क्रोध के बीच सीमा-रेखा खींचना दुष्कर है। इसका परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न प्रयोक्ताओं द्वारा इनके प्रयोग में भी भिन्नता आ जाती है।

×(10) **व्यक्ति के अनुसार शब्दों के प्रत्यय (Concept) में भेद**—डॉ० देवेन्द्र नाथ शर्मा के अनुसार व्यक्तिगत संस्कार, परिवेश, शिक्षा, जीवन-प्रणाली आदि के भेद से शब्दों में जो प्रत्यय मन में उत्पन्न होता है, वह भी भिन्न होता है। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य अच्छा-बुरा, खाद्य-अखाद्य की कोई एक कसौटी नहीं है। धर्म शब्द हिन्दू, मुसलमान, और ईसाई के हृदय में विभिन्न भावनाएँ, उत्पन्न करता है। अधर्म आदि की भी यही स्थिति है। 'लोकतन्त्र' या 'जनतन्त्र' शब्द का वही अर्थ अमरीका में नहीं होता जो रूस में। पिछले युद्ध के समय जर्मनी और इंगलैण्ड दोनों लोकतन्त्र की रक्षा के लिए ही लड़ रहे थे। निश्चय ही दोनों के लोकतन्त्र शब्द का एक ही अर्थ अभिमत नहीं था। तात्पर्य यह है कि विभिन्न व्यक्तियों के मन में एक ही शब्द से विभिन्न प्रत्यय होते हैं। भारत में राष्ट्रपति कहने से नीलम संजीव रेड्डी का बोध होता है और पाकिस्तान में जियायुल हक का। प्रयोग के समय प्रत्यय शब्द के चयन में सहायक बनते हैं।

(11) **शब्दार्थ के तत्व की प्रमुखता**—कभी-कभी शब्द के पूरे अर्थ को ध्यान में न रखकर उसके किसी एक तत्व को ही प्रधानता देकर प्रयोग चल पड़ता है, जैसे पुलिस के लिए 'लाल पगड़ी', काँग्रेस के लिए गाँधी टोपी आदि।

(12) **सहचर्य के कारण गौण अर्थ की प्रमुखता**—वस्तुतः इसमें अर्थादेश होता है। उदाहरण के लिए सिंधु का अर्थ बड़ी नदी या समुद्र था। आर्यों ने पंजाब की एक नदी विशेष को सिंधु कहा। कालान्तर में नदी के आस-पास की भूमि भी सिंधु कही जाने लगी। इसी प्रकार पत्र का अर्थ अब पत्र पर लिखे विचारों या शब्दों के लिए भी होने लगा है। पत्र में अशुद्धियों का अभिप्राय काग़ज़ की अशुद्धि न होकर वाक्य या शब्द की अशुद्धियाँ हैं। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

(13) **ध्वनि विशेष**—पर बल देने के कारण भी अर्थ में परिवर्त्तन हो जाता है। क्योंकि बलहीन ध्वनियाँ इस स्थिति में स्वतः नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए वेद में 'अरि' शब्द शत्रु, घर, ईश्वर और धार्मिक अर्थ का सूचक है किन्तु आज 'अरि' शब्द केवल शत्रु का वाचक है।

(14) **अनुकरण की अपूर्णता**—मनुष्य अनुकरणप्रिय व्यक्ति है किन्तु अनुकरण सदा पूर्ण नहीं होता है, अतः अर्थ में क्रमशः अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिए

'पत्र' शब्द पुस्तक के पृष्ठ, Letter आदि के लिए प्रयुक्त है किन्तु प्राचीन काल में 'पत्र' या लेखन कार्य भोज-पत्र पर होता था, अतः आज कागज भी पत्र है, प्रश्न-पत्र भी पत्र है और Letter भी पत्र है।.

(15) अन्य भाषा के शब्द जब प्रयोग में ले लिए जाते हैं तो उनका अर्थ कभी-कभी बदल जाता है। उदाहरण के लिए 'मुर्ग' फारसी में पक्षी-मात्र के लिए है किन्तु हिन्दी में एक पक्षी विशेष के अर्थ का सूचक है।

(16) एक भाषा-भाषी लोगों के प्रवास के कारण भी अर्थ का विकास होता है। जैसे संस्कृत में 'बाटिका' शब्द उद्यान अर्थ का सूचक है किन्तु बंगला में इस शब्द का अर्थ है 'घर'।

(17) नामकरण—मनुष्य की सीमाएँ सीमित हैं अतः वह परिचित चीजों के आधार पर ही नयी चीजों के नाम रखता है। अतः वस्तुओं के अर्थ में परिवर्त्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए वेदों में 'सोम' का विस्तार से वर्णन है। किन्तु वह अप्राप्य था अतः एक तृण विशेष—'पूतीकतृण' को ही सोम कहा जाने लगा। पर्वतीय प्रदेश में एक घास का नाम है 'बिच्छू'। इस घास के स्पर्श से पीड़ा होती है, अतः उसे बिच्छू के डंक के सादृश्य के कारण यह नाम दिया गया है। Pen शब्द का अर्थ पंख है, प्राचीन काल में पंख के कलम बनते थे अतः उन्हीं के आधार पर कलमों को भी 'पेन' कहा जाने लगा है। आज अनेक चीजों के नाम पुराने हैं किन्तु अर्थ नया जैसे-'घड़ी'। चौबीस मिनट का समय घड़ी कहलाता था किन्तु आज समय सूचक यन्त्र घड़ी बन गया है।

(18) एक शब्द को भिन्न रूपों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग—ऐसा बहुत बार देखा जाता है कि किसी शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों में अर्थ की दृष्टि से भेद हो जाता है, जैसे—खाद्य-खाद, भद्र-भद्दा, श्रेष्ठ-सेठ, क्षीर-खीर, स्तन-थन, वधू-बहू, आदि शब्दों से स्पष्ट है। एक शब्द के अनेक तद्भव रूपों में भी अर्थ-भेद की प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ, पत्र शब्द से पत्ता, पत्ती, पत्तर, पत्तल आदि अनेक शब्द विकसित हुए हैं, किन्तु इनके अर्थ में भेद है। पत्र शब्द के दो अर्थ हैं—पत्ता और चिट्ठी। उपर्युक्त चारों तद्भव रूपों में चिट्ठी का अर्थ किसी से नहीं निकलता, किन्तु 'पाती' शब्द का प्रयोग चिट्ठी के लिए होता है।

(19) सादृश्य—सदृश्य के कारण भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए 'गोस्वामी' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं—गायों का स्वामी, इन्द्रियों का स्वामी, ईश्वर तथा जातिवाचक अर्थ। इस शब्द का प्रयोग होने पर अर्थ का विस्तार सम्भव है।

(20) एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ परिवर्त्तन होने पर उस वर्ग के अन्य शब्दों के भी अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए 'दुहिता' शब्द लिया जा सकता है। इस शब्द का अर्थ है—'गाय दुहने वाली', प्राचीन काल में दूध दूहने का कार्य प्रायः लड़कियाँ करती थी, बाद में यह शब्द लड़की का वाचक हो गया। इस शब्द के अर्थ परिवर्त्तन के साथ दौहित्र, दौहित्रि आदि शब्दों के अर्थ भी परिवर्तित हो गए हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अनेक कारण अर्थ परिवर्त्तन के हो सकते

हैं। इन कारणों की सीमा रेखा बाँधना सम्भव नहीं है क्योंकि कारण इतने संश्लिष्ट होते हैं कि उनका पृथक्-पृथक् निर्देश करना सम्भव नहीं है।

बौद्धिक नियम

प्रश्न 92—बौद्धिक-नियमों का परिचय दीजिए।

प्रश्न 93—परिवर्त्तन में बौद्धिक नियमों का क्या महत्त्व है? बौद्धिक नियमों की ध्वनि-नियमों से तुलना कीजिए।

उत्तर—अर्थ-परिवर्तन के नाना कारणों में कुछ कारण बुद्धिगत भी होते हैं अर्थात् कभी-कभी हम साभिप्राय अर्थ परिवर्तित कर लिया करते हैं। इस प्रकार के बुद्धिप्रसूत कारणों का अनुशीलन कर जो नियम निर्धारित किए गए हैं, उन्हें 'बुद्धि-नियम' या 'बौद्धिक-नियम' की संज्ञा दी गई है। अर्थ के अध्ययन के सिलसिले में सर्वप्रथम इस नियम की बात 'ब्रील' ने उठाई थी। तत्पश्चात् वुंट, स्पर्बर, ल्यूमैन, कैटानी स्टर्न तथा सरकार आदि अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के नियमों पर विचार किया। कुछ अन्य विद्वानों ने इन्हें असंतोषजनक भी बताया फिर भी इनका अपना महत्त्व है। इनके साथ देश काल आदि का बन्धन नहीं होता। ये निरपवाद होते हैं तथा स्वतंत्रता-पूर्वक कार्य कर सकते हैं सीमा का बन्धन इनके लिए नहीं होता। ये किसी भी काल तथा देश की भाषाओं में लग सकते हैं।

इनका विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) **विशेषीकरण का नियम** (Law of Specialization) किसी एक भाव रूप या सम्बन्ध आदि को व्यक्त करने के लिए कभी अनेक शब्द या प्रत्यय आदि प्रयुक्त होते हों और फिर धीरे-धीरे उनमें से केवल एक-दो शेष रह जाएँ तो इसे विशेष-भाव का नियम कहते हैं, क्योंकि प्रयोक्ता एक या दो को ही उन सारे के स्थान पर विशेष (special) रूप से प्रयुक्त करने लगता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में संस्कृत में तृतीया के रूप में 'अ' तथा 'न' दोनों प्रकार की विभक्ति जोड़कर बनते थे—जैसे हरितना, वारिणा, साधुना आदि। परन्तु आज कल 'आ' वाले रूपों का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है और 'ना' वाले रूपों का प्रचार बढ़ रहा है। संभव है किसी किसी समय 'आ' वाले रूप पूर्णतया नष्ट हो जाता और तृतीया के रूप केवल 'ना' विभक्ति द्वारा ही बन सकें। इसी प्रकार प्रत्ययों के भी उदाहरण लिए जा सकते हैं तथा लर और तम का 'म' प्रत्यय हमें प्रथम आदि संख्यावाचक रूपों में दृष्टिगत होता है। ईयस (गरीयस, महीयस) और इष्ट (गरिष्ट, महिष्ट) दो प्रकार के प्रत्यय एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त मिलते हैं। ईयस् के अब केवल दो ही रूप रह गये हैं—द्वितीय तथा तृतीय। इष्ट' का 'ट' स्पष्ट में ही रह गया है। इस प्रकार हम देखते हैं एक प्रत्यय ने तारतम्य के बोधार्थ और दूसरे ने संख्या के बोधार्थ विशिष्टता प्राप्त की। बस यही विशेषीकरण हो गया।

(2) **अर्थद्योतन का नियम** (Law of Irradiation)—जब किसी शब्द के अर्थ का उत्कर्ष-अपकर्ष अथवा परिवर्तन हो जाता है तो उस प्रक्रिया को द्योतकता कहते हैं। इस प्रकर शब्द में नवीन अर्थद्योतन आ जाता हैं, उदाहरणार्थ मुदर्रसी, क्लर्की, साहबी, आदि में द्योतकता का ही नियम कार्य कर रहा है मूल शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। एक उदाहरण और देखिए प्राचीन काल में संस्कृत में आने वाला 'आ' स्त्री प्रत्यय नहीं

था जैसा कि संज्ञा पुल्लिंग 'गोपा' से स्पष्ट है। परन्तु अधिकांश स्त्रीलिंग शब्दों के अंत में आने के कारण कालान्तर में 'आ' में नवीन द्योतकता आ गई और यह स्त्रीलिंग सूचक बन गया। यह उद्योतक सतत् उपयोग अथवा काल भेद से हुआ वही 'आ' प्रत्यय हिन्दी में आने पर बड़प्पन अथवा पुरुषत्व का द्योतक बन गया, जैसे तख्ता, कटोरा सूजापत्ता, में बड़प्पन और बेटा, चाचा भौंरा आदि में पुरुषत्व का द्योतक है।

(3) भेदीकरण का नियम (Law of differentiation)—धात्वर्थ के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं वे ही शब्द प्रवृत्ति तथा प्रक्रिया के द्वारा अपने अभिन्न अर्थ को छोड़ देते हैं तथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं उसे भेदीकरण कहते हैं, पर्यायवाची शब्द समानार्थी शब्दों का जब सूक्ष्म गति सूक्ष्म विवेचन किया जाता है तो उनका छिपा हुआ भेद या रहस्य प्रकट हो जाता है। इस मानसिक उन्नयन या सूक्ष्म दर्शक बुद्धि से समानार्थी शब्दों की विभिन्नता का द्योतन भेदीकरण नियम के नाम से जाना जाता है। इसमें मानसिक स्तर की उच्चता तथा व्यापकता अपेक्षित है। जैसे डाक्टर, वैद्य, हकीम आदि शब्द पर्यायवाची हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इनमें भी भेद लक्षित होता है। डॉक्टर से एलोपैथी या होम्योपैथी प्रणाली के चिकित्सक का ज्ञान होता है और हकीम यूनानी तथा वैद्य आयुर्वेदिक पद्धति के चिकित्सक के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। उपर्युक्त शब्द तीन भाषाओं के हैं, परन्तु एक भाषा के शब्दों में भी यह भेद की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे Child, tot, mite, imp, brat, calf, kid, colt cub तथा urchin आदि सभी शब्दों का अर्थ 'बच्चा' है, लेकिन इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। child, tot, min, imp और brat में उम्र या अच्छाई-बुराई की दृष्टि से अन्तर आ गया है तो child, calf, colt, cub और kid आदि विभिन्न जीवों के नाम हो गए हैं। एक तत्सम शब्द से विकसित तद्भव शब्दों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे सवत्स से बच्चा (आदमी) बछेड़ा (घोड़ा) और बाछा (गाय), या सं पत्र से पत्ता (पेड़ या ताश) पत्तर (धातु) पतरी या पत्तल (पत्तों का बना)। सभ्यता और संस्कृति के उत्थान से भी भेदीकरण की प्रवृत्ति का विकास होता है। आदरणीय व्यक्ति के लिए सुन्दर शब्दावली और सामान्य व्यक्ति के लिए सामान्य शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। यथा, पधारिए विराजिए प्रथम वर्ग के लिए और बैठिए, द्वितीय वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है

(4) विभक्तियों के अवशेष का नियम (Law of Survival of-Inflections)—अपनी प्रकृति के अनुसार जब भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर अग्रसर होती है तो ध्वनि लोप के कारण विभक्तियों का लोप हो जाता है तथा उनके स्थान पर कारक-चिह्न या परसर्गों का प्रयोग होने लगता है। हिन्दी में संस्कृत विभक्तियों का लोप हो गया है और उनके स्थान पर कारक चिह्न या परसर्गों का प्रयोग चलने लगा है। इन लुप्त विभक्तियों के अस्तित्व को बनाए रखने की मनोवृत्ति कभी-कभी भाषा में दिखाई पड़ जाती है जैसे हठात्, दैववशात् आदि। इसी प्रकार अब 'कृपया' का अर्थ 'कृपा से' न होकर 'कृपा करके' लिया जाता है और 'परिणामतः' का अर्थ 'परिणाम से' न लेकर परिणाम-स्वरूप के अर्थ में लिया जाता है। यदि सूक्ष्म रूप से इनका अध्ययन करें तो हमें इनमें अर्थ-परिवर्तन के सूत्र दिखाई देते हैं।

(5) भ्रम या मिथ्या प्रतीति का नियम (Law of False Perception)—सामान्य व्यवहार में यह प्राय: देखने को मिलता है कि कभी-कभी किसी शब्द के रूप के कारण हम उसे और का और समझ लेते हैं, फलतः उसके अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। यही मिथ्या प्रतीति का नियम है। 'असुर' का अर्थ पहले देवता था ('असुरो मेधास')। आर्यों और पारसियों के संघर्ष के बाद हमारे यहाँ असुर का अर्थ 'राक्षस' हो गया। 'अ' नकारात्मक उपसर्ग पहले से था। असुर के 'अ' को भी वही समझा गया जिसका फल यह हुआ कि 'सुर' का अर्थ देवता मान लिया गया और 'असुर' का अर्थ जो 'देवता न हो'। इस एकार 'असुर' के 'अ' और 'सुर' को पहले अलग-अलग निरर्थक से थे, अब सार्थक हो गए। प्रकृति-प्रत्यय का ठीक से ज्ञान न होने के कारण भी हमने अनेक शब्दों के विभिन्न अर्थों की कल्पना कर ली है। यथा—श्रेष्ठ 'का मूल अर्थ है सबसे अच्छा'। यह 'प्रशस्य' में 'इष्ठन' जोड़ने से बना है। प्रकुति-प्रत्यय का स्वरूप इसमें स्पष्ट नहीं था। अत: कालान्तर में प्रयोग चलने लगा—सर्व-श्रेष्ठ, या श्रेष्ठतम—सबसे श्रेष्ठ आदि भ्रम में शब्दों के दुहरे प्रयोग का अधिक योगदान होता है यथा 'दर असल में' (दर और असल एक अर्थ रखते हैं) सी० आइ० डी० डिपार्टमेन्ट (डी० और डिपार्टमेन्ट का ही छोटा रूप है), मलयागिरि पर्वत और गुल मेहदी का फूल आदि में भ्रम स्पष्ट है।

(6) सादृश्य का नियम (Law of analogy)—बाबू श्यामसुन्दर दास ने इसे उपमान नियम की संज्ञा दी है। परन्तु ग्रील ने सादृश्य का नियम कहा है। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से अनुकरणप्रिय प्राणी है। यदि उसे अभिव्यक्ति के लिए नये शब्द की आवश्यकता होती तो वह वर्तमान शब्द के सादृश्य पर कोई नया शब्द बन लेता है। फिर एक प्रचलित शब्द के अनुकरण पर प्रायः अन्य शब्दों का निर्माण हो जाता है। उदाहरणार्थ हिन्दी में धातु के 'आ' जोड़कर भूतकालिक कृदन्त बनाते हैं जैसे 'पड़ा' लिख से 'लिखा' आदि। इसी आधार पर लोग 'कर' से 'कार' बना लेते हैं जबकि दूसरा परंपरागत रूप 'क्रिया' है। ग्रील के मतानुसार इस प्रकार के रूप अभिव्यक्ति की कोई कठिनाई दूर करने के लिए, उसमें अधिक स्पष्टता लाने के लिए असमानता या समानता पर बल देने के लिए तथा किसी प्रचीन अथवा नवीन नियम से संगति मिलाने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं।

(7) नव प्राप्ति का नियम (Law of new acquisition)—ग्रील का कहना है कि जिस प्रकार भाषा में पुराने अर्थ रूप शब्द प्रयोग आदि समाप्त होते रहते हैं उसी प्रकार नए अर्थ, रूप शब्द आदि आते या विकसित भी होते रहते हैं। यथा संज्ञ या विश्लेषण का कोई विशिष्ट रूप जब विभक्तियों का त्याग कर अपव्यय रूप में स्थित हो जाता है, तब उसका वह रूप क्रिया विशेषण बन जाता है। उदाहरणार्थ ,चिरम आगत्य' (देर से आया हुआ) ये चिरम् की द्वितीया विभक्ति का रूप अप्रयुक्त होकर अव्यय रूप से आ गया तथा चिरम् विशेषण के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। 'कस्मात् में बना के अकस्मात्' इसी प्रकार के रूप हैं।

(8) अनुपयोगी रूपों के विलोप का नियम (Law of extenction)—किसी भाषा में जब एक अर्थवाले अनेक शब्दों का प्रचलन हो जाता है तो प्रयोग के आधार पर कुछ सशक्त शब्द तो जीवित रह जाते हैं और शेष को अनुपयोगी समझ लोग उनका प्रयोग एकदन कम कर देते हैं। धीरे-धीरे वे विलुप्त होने लगते हैं। वैदिक संस्कृत के प्रचलित एक ही अर्थ वाले अनेक रूपों के लौकिक संस्कृत में आते-आते कुछ

निश्चित रूप ही अवशिष्ट रह पाए। शेष अनुपयोगिता के कारण व्यवहृत नहीं हुए। जैसे देखना क्रिया के लिए वैदिक काल में दो धातुएँ थीं पश्य और दृश्। बाद में दोनों मिलकर एक हो गई अब पश्य आदेश माना जाता है और कुछ रूपों में ही उसका प्रयोग होता है। शेष कालों में 'दृश्' के ही रूप चलते हैं। इसी प्रकार हिन्दी में संस्कृत के द्विवचन का लोप हो गया है।

बौद्धिक नियम एवं ध्वनि नियम—प्रश्न यह है कि बौद्धिक नियम क्या ध्वनि नियमों की भाँति वास्तविक हैं? नियम का अर्थ है—"अपवाद रहित सर्वव्यापी और सदा सत्य निकलने वाले कानून।" किन्तु बौद्धिक नियम, नियम की इस परिभाषा में नहीं आते हैं क्योंकि इन नियमों का अर्थ है—कुछ व्यापारों और व्यवहारों में पाये जाने वाले स्थिर सम्बन्ध। इन नियमों में ध्वनि नियमों की भाँति देश काल की सीमा का आग्रह नहीं है। वे किसी भी देश काल की भाषा में लागू हो सकते हैं। ध्वनि-नियम सापवाद होते हैं और निर्धारित सीमाओं में कार्य करते हैं। बौद्धिक नियम निरपवाद ओर स्वतन्त्र होते हैं।

ध्वनि-नियम सबसे कम व्यापक और सबसे कम अकाट्य है किन्तु बौद्धिक नियमों से भी अधिक व्यापकता और अकाट्यता प्राकृतिक नियमों में होती है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी 'बौद्धिक नियमों' को नियम नहीं मानते हैं क्योंकि उपर्युक्त नियम किसी न किसी रूप में अर्थ परिवर्तन के कारणों में अन्तर्मुक्त हो जाते हैं, अतः अनावश्यक विस्तार उन्हें अभीप्ट नहीं है।

संकेत-ग्रह

प्रश्न 94—संकेत-ग्रह से क्या तात्पर्य है? समझाकर लिखिए।

उत्तर—किस शब्द से किस अर्थ का बोध होना चाहिए, यह निश्चय करने वाले साधन को संकेत कहते हैं। संकेत-ग्रह का सम्बन्ध विशेष रूप से व्यवहार में होता है; अतः संकेत-ग्रह व्यवहार के रूपान्तर मात्र ही कहे जा सकते हैं। शब्द की शक्ति का बोध कराने वाला, ग्राहक कहलाता है। अतः संकेत-ग्रह का अभिप्राय उस साधन से है जो शब्द की शक्ति तथा उसके अर्थ का बोध करा सके।

संकेत-ग्रह का सम्बन्ध जन-साधारण के व्यवहार से है, अतः उनका बनना बिगड़ना भी उसी व्यवहार तथा लोकेच्छा पर निर्भर करता है। शब्द साधारणतः अपने एक ही रूप में बना रहता है, परन्तु उसके अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन शब्द की सांकेतिकता पर निर्भर करता है जिसे नयी शक्ति सर्वसाधारण से मिला करती है, 'अर्थबोध' वास्तव में अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान से होता है। इस सम्बन्ध का परिचालन संकेत करता है। अतः संकेत का महत्त्व ही सर्वोपरि हुआ।

संकेतों की उत्पत्ति का आधार लोकेच्छा और ग्रहण का लोक व्यवहार है। बालक का शब्द-ज्ञान प्रारम्भ में व्यवहारानुकरण पर ही आधृत होता है। वाक्य की सहायता से वह संकेतों का निर्णय करता है। रही-सही कठिनाइयों को वह विवृत्ति अर्थात् व्याख्या से हल करता है।

व्यवहार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। संकेत के अन्य समस्त ग्राहक (ज्ञात करने वाला साधन) जैसे उपमान, विवृक्ति आदि उसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं। परन्तु इसके साथ यह कठिनाई है कि इसमें समय अधिक लगता है। कम समय में

अधिक सीखने से कुछ अन्य साधन बताये गए हैं जिनका प्रयोग बालक धीरे-धीरे करता है। उनमें निम्न 6 साधन प्रमुख बताये गए हैं—

(i) शब्दकोश, (ii) व्याकरण, (iii) उपमान, (iv) विवृत्ति, (v) वाक्य सन्निद्ध।

इसके द्वारा बालक को शब्दार्थ ज्ञान अपेक्षाकृत कम समय में हो जाता है। ग्राहक ही शब्दों के अर्थ का ज्ञान कराते हैं। प्रत्येक अर्थ में संकेत की स्थिति स्वयं सिद्धि-सी होती है। यह संकेत किसी में प्रत्यक्ष होता है और किसी में परोक्ष। प्रत्यक्ष रूप से संकेत की स्थिति उस दशा में रहती है, जब अर्थ से शब्द का सम्बन्ध लोक प्रसिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ—'सड़क पर हाथी चल रहा है' वाक्य ले सकते हैं। यहाँ यदि हाथी शब्द जानवर विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है तब तो इस शब्द का संकेत 'प्रत्यक्ष' होगा और यदि 'हाथी' का प्रयोग किसी मोटे, विशालकाय शरीर वाले आदमी के लिए किया गया है तो इसका संकेत परोक्ष माना जाएगा। तात्पर्य यह कि पहले प्रयोग में ,शब्द' का अर्थ लोक प्रसिद्ध अवस्था में है और दूसरे में प्रसिद्ध परम्परा संबन्धी अर्थ का अभाव है।

प्रत्यक्ष सांकेतिक अर्थ वाले शब्द को वाचक कहते हैं। यह 'वाचक' शब्द जिस शक्ति के द्वारा अपने अर्थ का बोध कराता है उसे 'अभिधा' कहते हैं।

'वाचक' शब्द से अर्थ-बोध कैसा होता है। इस प्रश्न को समझाने के लिए संकेत का सम्यक ज्ञान आपेक्षित है।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अनेक भेद-प्रभेद हैं। यथा-अभिधा रूढ़ि, योग और योग रूढ़ि तीन भेद हैं तथा लक्षणा के लक्षण लक्षणा; उपादान लक्षणा गौणी सारोपा लक्षणा, गौणी साध्यावसाना लक्षणा, शुद्धा सारोपा लक्षणा तथा शुद्धा साध्यावसाना लक्षणा ये छह भेद हैं। इसी प्रकार व्यंजना शब्दों और आर्थी दो अकार की मानी गई है। शाब्दी व्यंजना कभी अभिधा मूलक होती है और कभी लक्षणा मूलक। आर्थी व्यंजना कभी वाच्यार्थ संभवा होती है, कभी लक्षणार्थ संभवा और कभी व्यंग्यार्थ क्षंभवा। अर्थ के आधार पर अनेक भेद हो सकते हैं। कुछ विद्वानों ने वस्तु व्यंजना, अलंकार, व्यंजना और भाव-व्यंजना तीन भेद बताये हैं। ये सभी भेद-प्रभेद अर्थ-बोध में सहायक बनते हैं जिनमें कोई न कोई संकेत विद्यमान होता है।

अन्त में सारांश रूप में यह कहना अधिक युक्ति संगत है कि संकेत किसी शब्द के अर्थ विशेष बोध का साधन होता है। अर्थ-बोध, शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध-ज्ञान से होता है। संकेत का जन्म लोकेच्छा से होता है और 'व्यवहार' में शब्दार्थ का हेतु व साधन बन जाता है। संकेत ग्रह सात होते हे जिनमें व्यवहार प्रमुख होता हैं। शेष छह—शब्दकोष, व्याकरण, उपमान, विवृति, आप्तोपदेश तथा वाक्य सन्निधि है। इसकी सहायता से शब्द-ज्ञान तथा अर्थ-ज्ञान सुगमता तथा सरसतापूर्वक हो जाता हैं।

अध्याय | 15

रूप (पद)-विज्ञान

प्रश्न 95—रूप विज्ञान या रूप-विचार की सम्यक् विवेचना करते हुए रूप-परिवर्तन की दिशाओं को बतलाइए ।

प्रश्न 96—रूप-विज्ञान क्या है ? इसे स्पष्ट करते हुए इसके मुख्य तत्वों का विवेचन कीजिए ।

उत्तर—**रूप-विचार का स्वरूप और परिभाषा**—रूप-विचार में वाक्य के अन्तर्गत रूप या पद का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन होता है । रूप-विचार का अध्ययन वर्णात्मक, ऐतिहासिक दो प्रकार का होता है । वर्णात्मक रूप-विचार जहाँ किसी एक रूप या पद का अध्ययन करता है, वहाँ ऐतिहासिक रूप-विचार में विभिन्न कालों का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है । तुलनात्मक रूप-विचार में दो भाषाओं के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन रहता है ।

रूप या पद की व्याख्या—भाषा की इकाई वाक्य होते हैं । वाक्यों को शब्दों में विभाजित किया जा सकता है । वाक्य में दिए गए शब्द और कोश के शब्द में अन्तर होता है । वाक्य में प्रयुक्त शब्द अन्य शब्दों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उनको परस्पर बाँधता है । कोश के शब्द में ऐसा नहीं होता । अत: शब्द के दो रूप होते हैं—

(1) शब्द का मूल या शुद्ध रूप जो कोश में मिलता है ।
( ) सम्बन्ध तत्त्व से युक्त शब्द ।

सम्बन्ध तत्त्व से युक्त शब्द ही वाक्य में प्रयुक्त होता है । इसको पद या रूप कहते हैं । उदाहरण—संस्कृत में 'पत्र' शुद्ध शब्द मात्र है । वाक्य में प्रयोग करने पर इसमें सम्बन्ध-तत्त्व जोड़ना पड़ेगा । सम्बन्ध-तत्त्व सहित पत्र हो जाएगा । पत्ता गिरता है के लिए 'पत्रं पतति' कहा जाएगा ।

चीनी और अयोगात्मक भाषाओं में शब्द और पद का भेद स्पष्ट नहीं होते । शब्दों में सम्बन्ध-तत्त्व जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

सम्बन्ध तत्त्व और उसके प्रकार—पद शब्द पर ही आधाति होते हैं । वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य कर लेने पर शब्द को पद की संज्ञा दी जाती है ।

अयोगात्मक भाषाओं में पद नाम की शब्द से पृथक् कोई वस्तु नहीं होती है । सम्बन्ध तत्त्व का प्रयोग केवल योगात्मक भाषाओं में ही होता है

वाक्य में तत्त्व—वाक्य में दो तत्त्व होते हैं—(1) अर्थ तत्त्व और (2) सम्बन्ध तत्त्व । इन दोनों में अर्थ-तत्त्व की प्रधानता होती है । सम्बन्ध-तत्त्व विभिन्न अर्थ-तत्त्व की स्थापना करता है । जैसे—मोहन ने कल्लू को डण्डे से मारा । यहाँ मोहन, कल्लू डण्डे और मारा चार अर्थ तत्त्व हैं । 'ने' मोहन, 'को' 'कल्लू' 'से' डण्डे से सम्बन्ध बतलाता है । सम्बन्ध तत्त्व के निम्न प्रकार हैं—

शब्दों का स्थान भी कभी-कभी सम्बन्ध तत्त्व का काम करता है—संस्कृत के सामासिक पदों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है । उदाहरण के लिए 'राज-सदन' का अर्थ राजा का सदन तथा 'सदन-राज' का अर्थ घरों का राजा अर्थात् अच्छा या बड़ा घर होता है । यहाँ स्थान परिवर्तन होने से सम्बन्ध-तत्त्व बदल जाने से अर्थ में अन्तर आ गया है । वाक्यों में भी स्थान से तत्त्व स्पष्ट होता है । स्थान-प्रधान चीनी भाषाओं में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है । 'जैसे—न्गो तनि' का अर्थ 'मैं' तुम्हें मारता हूँ' तथा 'नित न्यो' का अर्थ होगा—'तू मुझे मारता है' ।—

बहुत-सी भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द भी सम्बन्ध-तत्त्व का कार्य करते हैं—हिन्दी के समस्त कारक चिह्न 'परसर्ग' इसी प्रकार के हैं । ये दो या अधिक शब्दों का वाक्य में सम्बन्ध जोड़ते हैं। अँगरेजी के To, From, On तथा संस्कृत के एव, च, इति आदि इसी प्रकार के शब्द हैं ।

ध्वनि प्रतिस्थापन से भी सम्बन्ध-तत्त्व प्रकट किया जाता है—कहीं-कहीं भाषाओं में स्वर-परिवर्तन से सम्बन्ध-तत्त्व प्रकट किया जाता है । जैसे अँगरेजी में Sing से Sang तथा Sung इसी प्रकार बनते हैं । संस्कृत के दशरथ से दाशरथी तथा पुत्र इसी प्रकार बनते हैं । व्यंजन परिवर्तन से भी सम्बन्ध तत्त्व स्पष्ट होता है । जैसे अँगरेजी में Send से Sent बनता है । कुछ ध्वनियों की द्विरावृत्ति से भी सम्बन्ध तत्त्व का काम लिया जाता है । अफ्रीका की एक भाषा में Irik का अर्थ चलना और Irikrık का अर्थ 'वह चलता' हो जाता है ।

कभी-कभी सम्बन्ध-तत्त्व न लगाकर शब्दों का ज्यों का त्यों जोड़ दिया जाता है । इसमें भी सम्बन्ध तत्त्व का बोध होता है । हिन्दी में धातुओं का मूल रूप मर, रो, हँस तथा लिख आदि ही आज्ञासूचक क्रिया का रूप है । अँगरेजी में वर्तमान प्रथमपुरुष के एक वचन I go तथा समस्त बहुवचनों में We go, You go, They go आदि में क्रिया को ज्यों का त्यों छोड़ देते हैं ।

कभी-कभी कुछ ध्वनियों को घटाकर या निकाल कर भी सम्बन्ध-तत्त्व का काम लिया जाता है । इस प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व के अधिक उदाहरण नहीं मिलते । उदाहरण के लिए फ्रांसीसी स्त्रीलिंग का उच्चरित रूप Sul तथा लिखित रूप Soule होता है ।

कहीं-कहीं पर बालाघात तथा सुर भी सम्बन्ध तत्त्व का काम करते हैं—उदाहरण के लिए प्रद्रोक्टोड में पहले 'ओ' पर स्वराघात होने पर पिता द्वारा मारा गया' अर्थ होता है तथा दूसरे 'ओ' पर स्वराघात होने पर 'पिता को मारने वाला' अर्थ होता है ।

सम्बन्ध-तत्त्व के अन्तर्गत विभक्ति या प्रत्यय सबसे अधिक सम्बन्ध तत्त्व का कार्य करते हैं– हिन्दी में ही धातु से होता तथा उससे उसने रूप बनता है। संस्कृत में संज्ञा सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के रूपों के बनाने में अन्तर्गत विभक्ति प्रत्यय का प्रायः प्रयोग होता है।

कभी-कभी सम्बन्ध-तत्त्व मूल शब्द के बीच में आ जाता है—मुण्डा भाषा में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए 'मंझि' का अर्थ मुखिया तथा बीच में सम्बन्ध तत्त्व 'प' लगाने में 'मपंझि' बनेगा, जिसका अर्थ 'मुखिया लोग' हो जाएगा। मूल शब्द या प्रकृति के पूर्व पूर्वसर्ग, उपसर्ग, या पूर्व-प्रत्यय लगाकर शब्द तो बहुत-सी भाषाओं में बनते हैं, किन्तु सम्बन्ध-तत्त्व के लिए इनका प्रयोग कम होता है। अफीका के बान्टू कुल की काफिर भाषा में इस प्रकार के सम्बन्ध तत्त्व विशेष रूप से मिलते हैं। 'काफिर' भाषा में 'कु' सम्प्रदान कारण का चिह्न है। 'ति' जिसका अर्थ हम है, में लगा देने से 'कुति' बनता है जिसका अर्थ हमको हो जाता है।

उपर्युक्त सम्बन्ध-तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ और भी सम्बन्ध तत्त्व मिलते हैं, परन्तु उनका प्रयोग अधिक होता है।

सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व का सम्बन्ध विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न होता है—कुछ भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व का पूर्ण संयोग होता है। सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व एक दूसरे से इतने अधिक मिले रहते हैं कि दोनों एक ही शब्द के साथ प्रकट हो जाते हैं। अंगरेजी के Sing, Sang आदि को लिया जा सकता है। कुछ भाषाओं में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का अपूर्ण योग होता है। दोनों ही स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकते हैं। द्राविड़, तुर्की आदि भाषाओं में दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध इसी प्रकार का होता है। अँगरेजी की निर्बल क्रियाएँ ed लगाकर भूतकाल में परिवर्तित की जाती हैं जैसे—Asked, Killed, Thanked आदि। कुछ भाषाओं में सम्बन्ध तत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनों ही स्वतन्त्र रहते हैं। इस प्रकार के उदाहरण के लिए चीनी भाषा तथा अमेरिका चक्र की चिश्क भाषा को लिया जा सकता है।

सम्बन्ध-तत्त्व द्वारा काल, लिंग, पुरुष, वचन तथा कारक आदि की अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न 97—रूप-परिवर्तन के कारणों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 98—रूप-परिवर्तन (Morphological Change) किसे कहते है? उदाहरण सहित बतलाइए।

उत्तर—शब्दों या पदों के रूप में परिवर्तन होता रहता है—मनुष्य की प्रवृत्ति अधिक शब्दों या पदों के स्थान पर कम-से-कम और एक प्रकार से बने रूपों के प्रयोग की ओर होती है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की तुलना करने से स्पष्ट होता है कि संस्कृत में संज्ञा तथा क्रिया के रूपों के बहुत अधिक अपवाद थे, किन्तु लौकिक संस्कृत तक आते-आते इन अपवाद स्वरूप प्राप्त रूपों का स्थान नियमित ने ले लिया था। संस्कृत में अकारान्त संज्ञाओं की संख्या बहुत अधिक थी। प्राकृत काल में आते-आते कुछ अकारान्त के अतिरिक्त संज्ञा शब्द के रूप भी अकारान्त की भाँति प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत का पुत्रस्य प्राकृत में पुत्तस्स हो गया।

अभिव्यंजना की सुविधा तथा नवीनता के लिए भी नये शब्दों का प्रयोग होने लगता है। हिन्दी में परसर्गों का प्रयोग इसी प्रकार प्रारम्भ हुआ है। विभक्तियों के घिस जाने से जब विभिन्न कारकों के रूप एक हो गए तो अर्थ की स्पष्टता के लिए प्राकृत अपभ्रंश काल में पृथक् शब्द जोड़े जाने लगे।

इसके अतिरिक्त ध्वनि-परिवर्तन से भी शब्द या पद में धीरे-धीरे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए इसी प्रकार संस्कृत का वर्तते भोजपुरी बाटे हो गया।

रूप-विज्ञान में भाषा की पदरचना तथा पद के विकास के कारणों पर विचार किया जाता है। "पद उस ध्वनि समूह को कहते हैं जिसका वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार सम्बन्ध तत्त्व अर्थ तत्त्व अथवा उन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि समूह है तो एकत्र और कभी-कभी अनेकत्र भी उनके अंगों की स्थिति है।" शब्दों के साथ जो प्रत्यय जुड़ कर वाक्य रचना मे प्रयुक्त होने योग्य बनते हैं उन्हीं का नाम रूप है। इन्हीं रूपों के वैज्ञानिक विश्लेषण का नाम रूप-विज्ञान (Morphology) है।

वाक्य में दो तत्त्व होते हैं—एक मूल शब्द जिसे अर्थ तत्त्व भी कहते हैं, दूसरे उन अर्थ तत्त्वों से सम्बद्ध होकर अर्थ व्यक्त करने वाले सम्बन्ध सूचक शब्द, विभक्तियाँ प्रत्यय आदि। इन्हें क्रमशः अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व कह सकते हैं। "अर्थतत्त्व (Memanteme) से अभिप्राय भाषा के उन अंशों से है जो अर्थतत्त्व द्वारा व्यक्त किये हुए विचारों के परस्पर सम्बन्ध की सूचना देते हैं।" उदाहरण के लिए—'गृहं गच्छामि' वाक्य में दो तत्त्व हैं—गृहं (घर) तथा गम् (जाना) किन्तु गृहं, गम् दोनों का केवल वाक्य में प्रयोग सम्भव नहीं है अतः संज्ञा शब्दों के साथ विभिन्न उन तत्त्वों के योग के पश्चात् ही गृहं और गम् क्रमशः गृहं तथा गच्छामि रूपों को धारण करते हैं। आशय यह है कि शब्द असिद्ध प्रयोग है और पद सिद्ध प्रयोग। किन्तु यह बात समस्त भाषाओं के लिए समान रूप से मान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि चीनी आदि भाषाएँ एकाक्षर परिवार की हैं अतः इनमें वाक्य और पद में अन्तर नहीं है। सम्बन्ध तत्त्व की सत्ता भी इन भाषाओं में नहीं है। इनमें शब्द के स्थान से ही अर्थ तत्त्व ज्ञात है।

भाषा परिवर्तनशील है अतः उसके प्रत्येक अवयव—ध्वनि, अर्थ, पद, वाक्य आदि में विभिन्न परिस्थितियों के कारण समय-समय पर परिवर्तन लक्षित होते हैं। उन परिवर्तनों के अनेक कारण होते हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

प्रयत्नलाघव—रूप परिवर्तन का प्रधान कारण प्रयत्नलाघव है। मानव कम से कम में अधिक लाभ चाहता है अतः अपने मुख की सुविधा के लिए, समय की बचत के लिए और सरलता या अभिव्यंजन की सुविधा के लिए नियम के विरुद्ध जितने अपवाद होते हैं उनके स्थान पर व्याकरण के नियमों के आधार पर नवीन रूपों का निर्माण कर लिया जाता है। अतः रूप परिवर्तन का प्रथम कारण प्रयत्नलाघव है।

एकरूपता—प्रयत्नलाघव के कारण मानव पदों के रूपों में एकता लाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक भाषा में मिलती है। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा में अकारान्त शब्दों के बाहुल्य को देखा जा सकता है। अकारान्त शब्द इकारान्त, उकारान्त व्यंजनान्त शब्दों की अपेक्षा अधिक है, तथा अकारान्त शब्द ही

अधिक स्थिर और प्रभावशाली हैं। प्राकृतों में अकारान्त शब्दों का बाहुल्य है। संस्कृत के 'अग्नेः' के स्थान पर प्राकृत में "अग्गिस्स" मिलता है। 'वायोः' के स्थान पर 'वाउस्स' भी इसी का परिणाम है। "एकरूपता के ये उदाहरण क्रियापदों में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत के गम् धातु के वर्तमान काल के लट् लकार में 'गच्छति' तथा लृट् लकार में "गमिष्यति" रूप बनते हैं किन्तु प्राकृत में एकरूपता की प्रवृत्ति के कारण 'क्रमशः 'गच्छति' और गच्छिस्सति' रूप बनता है।

सादृश्य— एकरूपता की इस प्रवृत्ति के मूल में सादृश्य की भावना है। अनेक समान शब्दों के रहते हुए असमान शब्दों का प्रयोग कष्टदायक होता है अतः मानव इस कष्टप्रद स्थिति से बचने के लिए सादृश्य का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए संस्कृत के नपुंसकलिङ्ग शब्द प्रायशः पुल्लिङ्ग के समान ही हैं। इसी सादृश्य के कारण प्राकृतों में केवल दो लिङ्ग शेष रह गये।

अनेकरूपता—अनेकरूपता की प्रवृति के कारण भी रूपपरिवर्तन होता है। समान शब्द भ्रमात्मक हो सकते हैं अतः उस भ्रान्ति के निराकरण के लिए अनेकरूपता का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'पुत्र' शब्द के 'पुत्र' और 'पुत्रान्' के स्थान पर प्राकृत में 'पुत्ता' तथा प्रथमा और द्वितीया इन समान रूपों में अन्तर लाने के लिए 'पुत्ते' रूप का प्रयोग हुआ है।

सरलता— मनुष्य की प्रवृत्ति सरलता की ओर जाने की होती है। वह रूपों के साथ उनके अपवादों को याद करने का भार मस्तिष्क पर नहीं डालना चाहता। वह अपवादों को निकाल कर उनके स्थान पर नियम के अनुसार चलने वाले रूपों को याद रखना चाहता है। जो कि ध्वनि-परिवर्तन में सरलता को वही स्थान है जो कि ध्वनि-परिवर्तन में प्रयत्न-लाघव का स्थान है। सरलता के लिए प्रायः किसी प्रचलित सादृश्य पर नया शब्द बना लिया जाता है। उदाहरण के लिए पूर्वीय के लिए पौरस्त शब्द था, किंतु पाश्चात्य के वजन पर पौर्वात्य बना लिया गया।

अज्ञान के कारण भी कभी-कभी नये रूप बन जाते हैं—ऐसे रूपों में से बहुत से प्रचलित भी हो जाते हैं। उदाहरण के लिए सड़ना से सड़ा, मरना से मरा, धरना से धरा आदि रूप इसी प्रकार बने। इस प्रकार के रूप अशुद्ध होने पर भी चल पड़ते हैं और आगे चलकर शुद्ध ही समझ कर प्रयुक्त होने लगते हैं। अज्ञानवश बने हुए रूपों में कुछ ही बने रहते हैं, शेष नष्ट हो जाते हैं। कुछ अज्ञानी लोग न समझते हुए भी अपनी विद्वाता का प्रदर्शन करने के लिए लावण्यता, सौन्दर्यता, मित्रताई, कुटिलताई आदि अशुद्ध रूपों का प्रयोग करते रहते हैं। साहित्यिक भाषाओं में भी अज्ञान के कारण इस प्रकार के शब्द प्रचलित हो जाते हैं। अज्ञान से हुए रूप-परिवर्तन का आधार भी सादृश्य ही होता है।

नवीनता, स्पष्टता और बल के लिए बहुत से नये शब्दों का प्रयोग होने लगता है—अवधी में न जोड़कर एक वचन से बहुवचन बनाए जाने लगे हैं—"अब बरधा खात अहै का बहुवचन बरगा खात अहै' न बनकर बरधवन या बरधन खात अहै बनता है। हिन्दी में 'मैं' के स्थान पर हम का प्रयोग बढ़ रहा है, तथा स्पष्टता के लिए हम के स्थान पर हम लोग प्रयुक्त होने लगा है। गत बीस वर्षों से हिन्दी में उपसर्ग और प्रत्ययों के योग से नये-नये शब्द सामने आ रहे हैं। नवीनता के लिए ही

मृदुता के स्थान पर मार्दव तथा प्रखरता के लिए प्राखर्य जैसे रूप बन गए हैं। बल के लिए भी नये रूप बना लिए जाते हैं। इनमें बहुत से अशुद्ध भी होते हैं। अनेक का अर्थ स्वयं ही एक से अधिक होता है। अनेक स्वयं बहुवचन है, किन्तु इसके स्थान पर अनेकों का प्रयोग भी चल पड़ा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा विकासशील है। इसमें प्रचलित और पुराने शब्द विलुप्त होते रहते हैं और सरलता, नवीनता, स्पष्टता आदि के लिए तथा अज्ञानता से नये रूप आते रहते हैं।

रूपग्राम-विज्ञान (Morphemics)

प्रश्न 99—रूपग्राम-विज्ञान क्या है? रूपग्राम के विभिन्नभेदोंर भेदों का निरूपण कीजिए।

रूपग्राम-विज्ञान या भाषाओं का रूपग्रामीय अध्ययन रूप-विज्ञान का एक प्रमुख अंग है। इसका विकास अपेक्षाकृत आधुनिक है। इसमें किसी भाषा के रूपों (Morph) का अध्ययन-विश्लेषण करके उनके अर्थ एवं वितरण आदि के आधार पर रूपग्राम (Morpheme) एवं संरूप (Allomorph) का निर्धारण किया जाता है, साथ ही दो या अधिक रूपग्रामों के योग से जब किसी संयुक्त रूपग्राम (Complex Morpheme) या मिश्रित रूपग्राम (Compound Morpheme) का निर्माण होता है तो उसमें यह भी देखा जाता है कि योग के पूर्व की तुलना में उसमें कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन तो नहीं आया और यदि आया है तो उसका आधार क्या है।

रूपग्राम (Morpheme)

'रूप' के सम्बन्ध में ऊपर विचार किया जा चुका है। रूप या पद वे अवयव या घटक हैं, जिनसे वाक्य बनता है। 'उसके रसोईघर में सफाई होगी' वाक्य में 5 पद या रूप हैं, जिन्हें सामान्य भाषा में शब्द कहते हैं। इन रूपों में सभी एक प्रकार के नहीं हैं। कुछ तो छोटे से छोटे टुकड़े हैं, उन्हें और छोटे खंडों में नहीं विभाजित किया जा सकता, जैसे 'मैं'। कुछ को छोटे खंडों में बाँटा जा सकता है, जैसे रसोईघर को 'रसोई' और 'घर' में। यदि घर को और छोटे टुकड़ों में बाँटना चाहें तो 'घ' और 'र' कर सकते हैं, यद्यपि इनमें न तो 'घ' का कोई अर्थ है और न 'र' का, इसलिए ये दोनों खंड तो हैं, किन्तु सार्थक (विशेषतः इस प्रसंग में) नहीं है। 'भाषा या वाक्य कि लघुतम सार्थक इकाई को रूपग्राम कहते हैं।' इसका आशय यह है कि उपर्युक्त वाक्य में उस, के, रसोई, घर, में, साफ, ई, हों ग, ई, ये दस रूपग्राम हैं। रूपग्राम के भेद दो आधारों पर हो सकते हैं। रचना और प्रयोग की दृष्टि से रूपग्राम प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं—

(क) मुक्त रूपग्राम (free morpheme) जो अकेले या अलग भी प्रयोग में आ सकते हैं। उपर्युक्त वाक्य में रसोई, घर, साफ़ इसी प्रकार के हैं। ये अलग, मुक्त या स्वतन्त्र रूप से भी आ सकते हैं (जैसे रसोई बन चुकी है) और अन्य रूपग्रामों के साथ भी (जैसे रसोईघर)।

(ख) बद्ध रूपग्राम (boud morpheme)—जो अलग नहीं आ सकते जैसे 'उस' (उससे, उसे, उसका आदि में ही) या ई (जैसे घोड़ी, लड़की, खड़ी आदि में) आदि। बद्ध रूपग्राम के 3 उपभेद किए जा सकते हैं—(अ) मुक्त—जो अर्थ

की दृष्टि से बद्ध होकर भी स्थान की दृष्टि से सर्वदा मुक्त रहते हैं, जैसे अंग्रेज़ी के from, with आदि। (ब) बद्ध—जो स्थान की दृष्टि से भी सर्वदा बद्ध रहते हैं, जैसे अंग्रेज़ी (ly, ness, ed), संस्कृत (अः, अम्,) या हिन्दी (ई, आई) आदि के प्रत्यय। (स) बद्धमुक्त—जो कभी तो बद्ध रहते हैं और कभी मुक्त। जैसे हिन्दी परसर्ग, जो संज्ञा के साथ मुक्त रहते हैं (जैसे राम को) और सर्वनाम के साथ बद्ध (जैसे उसको)।

रचना और प्रयोग के आधार पर ही रूपग्राम के दो अन्य भेदों का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। जब दो या अधिक ऐसे रूपग्राम एक में मिलते हैं, जिनमें अर्थ-तत्त्व केवल एक हो (जैसे ऊपर के वाक्य में 'उसके', 'सफ़ाई', 'होगी') तो उस पूरे रूप को संयुक्त रूपग्राम कहते हैं। यदि एक से अधिक अर्थ-तत्त्व हों तो मिश्रित रूपग्राम कहते हैं। ऊपर के वाक्य में 'रसोईघर' मिश्रित रूपग्राम है।

अर्थ और कार्य के आधार पर रूपग्राम के दो भेद होते हैं—

(क) अर्थदर्शी रूपग्राम—जिनका स्पष्ट रूप से अर्थ होता है और अर्थ व्यक्त करने के अतिरिक्त जो और कोई कार्य नहीं करते। इन्हीं को अर्थ-तत्त्व भी कहते हैं। प्राचीन व्याकरण में इन्हें ही stem, root, धातु, मस्दर या माद्दा कहा गया है। विचारों का सीधा सम्बन्ध इन्हीं से होता है। भाषा के मूल आधार ये ही हैं। व्याकरणिक या प्रायोगिक दृष्टि से ये कई प्रकार के हो सकते हैं। जैसे क्रिया (हो, खा, go, भू) संज्ञा (राम्, cat, किताब), सर्वनाम (वह, तुम), विशेषण (अच्छ्, बड़्, सुन्दर, good) आदि। हर भाषा में इस वर्ग के रूपग्रामों की संख्या कई हजार होती है। दूसरे प्रकार के रूपग्रामों से बहुत अधिक।

(ख) सम्बन्धदर्शी रूपग्राम या कार्यात्मक रूपग्राम—इन्हें निरर्थक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इनमें अर्थ का प्राधान्य नहीं होता। इनका प्रमुख कार्य होता है। 'सम्बन्ध-दर्शन' या 'व्याकरणिक कार्य'। इसीलिए इन्हें सम्बन्ध-तत्त्व भी कहते हैं। यों इन्हें व्याकरणिक तत्त्व कहना शायद अधिक ठीक होगा। संस्कृत में प्रत्यय, तिङ, सुप् या हिन्दी में परसर्ग, प्रत्यय आदि यही हैं। इनके बहुत से भेद होते हैं, इस प्रसंग में 'सम्बन्ध' शब्द काफ़ी व्यापक है। इनमें यह भाव तो है ही कि ये रूपग्राम एक शब्द का सम्बन्ध वाक्य में दूसरे से दिखाते हैं. साथ ही ये लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति या अर्थ (mood) और भाव (बार-बार, आधिक्य) आदि की दृष्टि से अर्थदर्शी रूपग्राम में परिवर्तन भी लाते हैं (जैसे 'लड़क्' अर्थदर्शी रूपग्राम है। इसमें 'ई' 'आ' 'इयाँ', 'इयों', 'ए', 'ओं' आदि सम्बन्धदर्शी रूपग्राम या सम्बन्ध-तत्त्वों को जोड़कर लड़की, लड़का, लड़कियाँ, लड़कियों, लड़के, लड़कों आदि संयुक्त रूपग्राम या रूप या पद बना सकते हैं। इसीलिए इन्हें कार्यात्मक रूपग्राम (functional morpheme) कहना अधिक उचित है। इस श्रेणी के रूपग्रामों की संख्या हर भाषा में कुल सौ से अधिक नहीं होती अर्थात् अर्थदर्शी रूपग्रामों से बहुत कम होती है।

कुछ लोग खंडीकरण (segmentation) के आधार पर भी रूपग्राम के दो भेद करते हैं। एक तो (क) खंड रूपग्राम (segmental), जिन्हें तोड़कर अलग किया जा सके। ऊपर के सारे रूपग्राम इसी प्रकार के हैं। दूसरे (ख) अखंड रूपग्राम (suprasegmental) है। बलाघात (stress), सुर (tone, pitch) या सुरलहर

(intonation) आदि रूप में स्वीकृत रूपग्राम इस श्रेणी के हैं। उन्हें दो-टूक रूप में खंडित नहीं किया जा सकता। ध्वनिग्राम-विज्ञान (phonemics) में भी इसीलिए इन्हें अखंड या suprasegmental कहा जाता है।

संरूप (Allomorph)

प्रश्न 100—संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—संरूप।

यदि कई रूप (क) समानार्थी हों, (ख) एक प्रकार की रचना में आवें और (ग) परिपूरक वितरण में हों, अर्थात् सबके आने की स्थिति निश्चित रूप से अलग-अलग हो, विरोध न हो या एक ही स्थिति में एक से अधिक न आते हों तो उन सबको एक ही 'रूपग्राम' के 'संरूप' माना जाता है।

इसी प्रकार हिन्दी में बहुवचन के लिए —

रूपग्राम	संरूप	परिपूरक वितरण
१. (–ओं)	१. /--ओं/	— सपरसर्ग रूप के लिए सभी शब्दों में। जैसे घरों, घोड़ों, कवियों, हाथियों, साधुओं, भालुओं, पुस्तकों, लताओं, गुड़ियों, शक्तियों, लड़कियों, वस्तुओं, वहुओं, गाँओं आदि। नीचे दिए गए अपवाद शब्द प्रायः अपवाद हैं। यों सादृश्य के कारण कुछ लोग प्रयोग करते हैं, किंतु वे प्रयोग चिंत्य हैं।
	2. /--ओ/	— संबोधन में सभी शब्दों (घोड़ो, कवियो, साधुओ आदि) के साथ। नीचे का अपवाद वर्ग यहाँ भी अपवाद है।
2. (--एँ)	1. /--ए/	— अपरसर्ग रूप के लिए आकारांत पुं० शब्दों (जैसे घोड़े, लड़के, बेटे) के साथ। नीचे का अपवाद वर्ग यहाँ भी अपवाद है।
	2. /--एँ/	— अपरसर्ग रूप के लिए व्यंजनांत (किताबें), आकारांत (माताएँ), उकारांत (वस्तुएँ), ऊकारांत (बहुएँ) स्त्री, शब्दों के साथ।
	3. /--याँ/	— अपरसर्ग रूप के लिए इकारांत (जातियाँ), ईकारांत (नदियाँ) शब्दों के साथ।
	4. /--ँ/	— अपरसर्ग रूप के लिए या अंत्य स्त्री० शब्दों (चिड़ियाँ, गुड़ियाँ) के साथ।
	5. /--०/	— अपरसर्ग रूप के लिए व्यंजनांत (घर), इकारांत (कवि), ईकारांत (हाथी), उकारांत (साधु), ऊकारांत (भालू) तथा नीचे के 'अपवाद वर्ग' के साथ। केवल पुं० शब्दों में।

टिप्पणी : (क) अपवाद वर्ग—(i) पिता जैसे तत्सम शब्द; (ii) पुनरावृत्त शब्द जैसे चाचा, मामा, दादा, नाना, काका, बाबा, लाला; (iii) मुखिया जैसे कुछ अन्य शब्द।

(ख) गण, लोग, जन जोड़कर भी बहुवचन बनते हैं। यहाँ इन्हें छोड़ दिया गया है।

(ग) उपर्युक्त रूपों में 'य' का आगम, दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना तथा लोप मिलेगा।

यह ध्यान देने की बात है कि जितने भी रूपों का प्रयोग होता है, वे सभी 'संरूप' कहलाते हैं।

निष्कर्षतः यदि एक रूपग्राम के परिपूरक वितरण वाले कई समानार्थी रूप (ध्वन्यात्मक दृष्टि से मिलते-जुलते या न मिलते-जुलते) हों तो उन्हें 'संरूप' की संज्ञा दी जाती है।

रूपध्वनिग्रामविज्ञान (Morphophonemics)

प्रश्न 101— रूपध्वनिग्राम विज्ञान क्या है ? रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तनों को सोदाहरण समझाइए।

मार्फोफ़ोनीमिक्स या रूपध्वनिग्रामविज्ञान, रूप-विज्ञान की ही शाखा है। इसमें उन ध्वन्यात्मक या ध्वनिग्रामीय परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जो दो या अधिक रूपों या रूपग्रामों के मिलने पर दृष्टिगत होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि यह रूपविज्ञान की वह शाखा है, जिसमें रूपग्राम के उन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जो वाक्य, फ़्रेज़, रूप या शब्द के स्तर पर दो या अधिक रूपग्रामों के एक साथ आने पर घटित होते हैं। रूपध्वनिग्रामविज्ञान, प्राचीन भारतीय पारिभाषिक शब्द 'संधि' के निकट है, किन्तु वस्तुतः संधि में प्रायः केवल उन परिवर्तनों को लिया जाता है जो दो मिलने वाले शब्दों या रूपों में एक के अन्त्य या दूसरे के आरंभ या दोनों में (राम + अवतार = रामावतार; ध्वनि + अंग = ध्वन्यंग; उत् + गम = उद्गम या तेजः + राशिः = तेजोराशि आदि) घटित होते हैं, लेकिन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में इसके साथ अन्य स्थानों पर आने वाले परिवर्तन भी लिए जाते हैं। जैसे घोड़ा + दौड़ = घुड़दौड़; ठाकुर + आई = ठकुराई; बूढ़ा + औती = बुढ़ौती आदि। इन सभी में हम देखते हैं कि हर दो के बीच में तो परिवर्तन हुए ही हैं; लेकिन साथ ही अन्य स्थानों में भी (घो > घु, ठा > ठ, बू > बु) परिवर्तन हो गए हैं। इन सारे परिवर्तनों का अध्ययन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में होता है। इस प्रकार यह संधि से अधिक व्यापक है और संधि इसका एक अंग है।

आजकल अंतर्राष्ट्रीय भाषा-विज्ञान क्षेत्र में 'संधि' का प्रयोग रूपध्वनिग्रामविज्ञान के लिए हो रहा है, इसी आधार पर हिन्दी में कुछ लोग इस अर्थ में संधि के प्रयोग के पक्ष में हैं। किन्तु डॉ० भोलानाथ तिवारी संधि को परंपरागत अर्थ में अर्थात् संधिस्थल पर परिवर्तन के लिए तथा रूपध्वनिग्रामविज्ञान को संधिस्थल पर तथा अन्यत्र दोनों के लिए प्रयोग करने के पक्ष में हैं। वस्तुतः रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन दो प्रकार के माने जा सकते हैं—

(1) बाह्य (External)—जहाँ शब्द के आदि या अंत में अर्थात् उसके बाहरी अंश में परिवर्तन हो जैसे राम + अवतार = रामावतार। यहाँ 'राम' के 'म' में परिवर्तन है या ध्वनि + अंग = ध्वन्यंग। यहाँ 'नि' और 'अ' दोनों में परिवर्तन है।

आभ्यंतर (Internal)--जहाँ संधि-स्थल से अलग शब्द के भीतर परिवर्तन हो। जैसे 'घुड़दौड़' में। इस रूप में 'बाह्य ध्वनिग्रामीय परिवर्तन' ही परंपरागत संधि पर्याय हैं। स्वतंत्र उच्चारण में या वाक्यांत में रूसी भाषा में शब्दांत का घोष व्यंजन अघोष हो जाता है, इसी प्रकार अंगरेज़ी शब्दों का अंत्य शब्दों के स्वतंत्र उच्चारण में, वाक्यांत हा व्यंजन के पूर्व उच्चरित नहीं होता। इस प्रकार के लोप या अघोषीकरण के उदाहरण भी रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन हैं, यद्यपि इनमें कम से कम स्वतंत्र या वाक्यांत में प्रयुक्त शब्दों मे अंत्य घोष ध्वनि का अघोष हो जाना या 'र' का लोप, संधि में किसी भी प्रकार नहीं आ सकते। निष्कर्षतः संधि और इसे पर्याय न मानकर संधि को रूपध्वनिग्राम परिवर्तन का एक भेद मानना अधिक समीचीन है।

रूप की दृष्टि से, मोटे रूप से **समीकरण** (डाक+घर=डाग्घर जिसमें 'घ' के घोषत्व के कारण 'क' भी घोष अर्थात् 'ग' हो गया है; नाग+पुर=नाक्पुर, जिसमें 'प' के अघोषत्व के कारण 'ग' भी अघोष अर्थात् 'क्' हो गया है; मार+डाला =माड्डाला; दूध+दो=दूद्दो) सबसे प्रमुख रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन हैं। यों सूक्ष्मता और विस्तार से यदि देखें तो **घोषीकरण** (डाग्घर), **अघोषीकरण** (नाक्पुर), **पूर्ण समीकरण** (अर्थात् सभी दृष्टियों, जैसे हाथ+से=हास्से), **अपूर्ण समीकरण** (अघोष+घोष =घोष+घोष, जैसे वागीश; घोष+अघोष=अघोष,+घोष जैसे आग+का= आक्का, 'आक्का गोला' आदि), **अल्पप्राणीकरण** (दूध+दो=दूद्दो), **आगम** (हाथी+ ओं=हाथियों; कवि+ओं=कवियों),**लोप** (घोड़ा+दौड़=घुड़+दौड़),**ह्रस्वीकरण** भालू+ओं=भालुओं),**दीर्घीकरण** (राम+अवतार+रामावतार; हरि+इच्छा= हरीच्छा) आदि अनेक रूपों में इस परिवर्तन को पाया जा सकता है। **विपर्यय** (हिब्रू में Hit+Sha-mmeer=hishtammeer) तथा **विषमीकरण** [ग्रीक Thrikh (बाल) ×os (का)=Trikhos (बालक); दो महाप्राण में एक रह गया] के उदाहरण इक्के-दुक्के ही मिलते हैं।

हिन्दी बहुवचन बनाने में निम्नांकित रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन घटित होते हैं—

(क) 'ओं' जोड़ते समय शब्द के अंत में 'आ' अथवा 'याँ' हो तो उसका लोप कर देते हैं (घोड़ा+ओं=घोड़ों; चिड़ियाँ+ओं=चिड़ियों)।

(ख) शब्द के अंत में यदि 'ई' या 'ऊ' हो तो शून्य को छोड़कर कोई भी प्रत्यय जोड़ते समय ह्रस्व 'इ', 'उ' (ह्रस्वीकरण) कर देते हैं (हाथी—हाथियों, बहू—बहुओं, नदी—नदियाँ)।

(ग) शब्द के अंत में इ या ई हो तो शून्य प्रत्यय के अतिरिक्त किसी के भी जुड़ने पर प्रत्यय और मूल शब्द के बीच में 'य' का आगम हो जाता है (हाथी+ओं =हाथियों, नदी+आँ=नदियाँ, कवि+ओं=कवियों, जाति+आँ=जातियाँ)।

विषय की दृष्टि से रूपध्वनिग्रामविज्ञान ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यों रूपों से संबद्ध होने के कारण लोग इसे रूप-विज्ञान में भी प्रायः रखते रहे हैं। इधर इसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि इसे स्वतंत्र स्थान भी दिया जाने लगा है।

अध्याय | 16

वाक्य-विज्ञान

प्रश्न 102—वाक्य-विषय का विषय तथा प्रकार बतलाइए।

प्रश्न 103—वाक्यों की सम्यक् परिभाषा देते हुए वाक्यों का विभाजन कीजिए और उनके प्रकार बतलाइए।

पद-विज्ञान या रूप-विज्ञान के अन्तर्गत वाक्य का प्रसंग आ चुका है। यहाँ उस पर विशेष रूप से विचार किया जायगा।

वाक्य-विज्ञान का विषय

वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना, वाक्य के आवश्यक तत्त्व, वाक्य में पदों का क्रम, वाक्य में पदों की अन्विति, वाक्य के प्रकार, वाक्य में बलाघात, वाक्य के निकटस्थ अवयवों पर विचार करते हुए, इन सबसे सम्बद्ध सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

वाक्य-विज्ञान के प्रकार

वाक्य-विज्ञान के अध्ययन के 3 प्रकार हैं—

(1) वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान, जिसमें किसी भाषाविशेष के, कालविशेष में प्रयुक्त वाक्यों की रचना आदि पर विचार किया जाता है।

(2) ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान, जिसमें किसी भाषाविशेष की वाक्य रचना का, प्रारम्भ से अन्त तक का, कालक्रम की दृष्टि से ऐतिहासिक या विकासात्मक अध्ययन किया जाता है।

(3) तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान, जिसमें दो या अधिक भाषाओं की वाक्य रचना आदि का, तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। यह तुलना वर्णनात्मक भी हो सकती है और ऐतिहासिक भी।

वाक्य की परिभाषा

तात्त्विक तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसे हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

वाक्य की तात्त्विक परिभाषा

वाक्य की तात्त्विक परिभाषा अत्यधिक विवादास्पद विषय है। भारत के प्राचीन वैयाकरणों, नैयायिकों, मीमांसकों तथा साहित्यकारों का इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। प्राचीन वैयाकरण 'पतञ्जलि'—

"कारक, अव्यय, विशेषण क्रियाविशेषण तथा क्रिया के एक साथ प्रयोग" को

या "मात्र क्रियापद के प्रयोग" को या "कभी-कभी क्रियापदरहित एकमात्र 'तर्पणम्' या 'पिण्डीम्'—जैसे संज्ञापद को भी वाक्य मानते हैं।

युरोप में पहली शताब्दी में डियोनिसियस थ्रॉक्स ने वाक्य की परिभाषा करते हुए कहा है—

'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-समूह वाक्य है।"

किन्तु, वाक्य की यह परिभाषा विवाद से परे नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार वाक्य की दो विशेषताएँ हैं—

(क) "वाक्य, शब्दों का समूह है" तथा

(ख) "वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

विचार करने पर वाक्य की इन दोनों विशेषताओं का खंडन हो जाता है, क्योंकि न तो "वाक्य, शब्दों का समूह है "और न ही "वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।"

डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक इकाई वाक्य ही है।" डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' की दृष्टि में—"वाक्य भाषा की लघुतम पूर्ण स्वतन्त्र इकाई है, जो विचार की ध्वनिमयी सार्थक अभिव्यक्ति है।" इस ध्वनिमयी सार्थक अभिव्यक्ति में शब्द-समूह भी हो सकता है और एक शब्द भी।

ए० मेरियम वेब्सटर ने अपने कोश में वाक्य को अर्थ दिया है—"a grammatically self-contained speach unit consisting of a word or a syntacticolly related group of words."

भाषा में वाक्य की प्रधानता होती है, मनुष्य का सोचना-समझना, लिखना और बोलना वाक्यों में ही होता है। इस प्रकार वाक्य में पृथक् शब्द का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं रहता। वाक्य अपने में पूर्ण शब्द-समूह होता है। उदाहरण के लिए राम मोहन से पूछे कि ' तुम वाराणसी कब जाओगे" और मोहन उत्तर दे—'कल' यहाँ प्रथम और दूसरे दोनों ही को वाक्य कहा जाएगा। इसी प्रकार वाक्य की पूर्णता पर भी प्रश्न-चिह्न लग जाता है। प्रायः कोई भाव कई वाक्यों में अभिव्यक्त होता है। ऐसी स्थिति में ये वाक्य निश्चय ही पूरे वाक्य के खण्ड-मात्र और अपूर्ण होते हैं। उपर्युक्त तथ्यों के दृष्टि में रखते हुए, वाक्य की परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है—

"वाक्य वह सार्थक ध्वनि-समुदाय है, जो पूरे भाव या बात की तुलना में चाहे अपूर्ण हो किन्तु स्वयं में पूर्ण हो तथा उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में भाव व्यक्त किया गया हो।"

वाक्य का विभाजन

साधारण रूप से वाक्यों को लिखित और बोलचाल के वाक्य—दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। बोलचाल के वाक्य लिखित वाक्यों की अपेक्षा छोटे होते हैं।

भाषाविज्ञानियों को अभी तक कोई ऐसा वाक्य-विभाजन ज्ञात नहीं हो सका है, जिसे विश्व की सभी भाषाओं पर लागू किया जा सके। अभी तक वाक्य-विभाजन का जो रूप प्रचलित है, उसके अनुसार वाक्य का विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) अग्र और पश्च—वाक्य का अग्र और पश्च विभाजन अपढ़ लोगों के छोटे-छोटे वाक्यों में मिलता हैं। जैसे, भोजपुरी के "जाए में देरी हो गइल। देरी हो गयला से ओइजाँ के खयक्वे खतम हो गयल" में एक वाक्य का पश्च अंश सम्बन्ध दिखाने के लिए दूसरे का अग्र हो गया है। इस वाक्य को आज शिक्षित इस प्रकार कहेगा—"मुझे जाने में देर हो गई। खाना खत्म हो गया।"

(2) उद्देश्य और विधेय—वाक्य के उद्देश्य और विधेय दो भाग होते हैं। उद्देश्य अधिकतर (कर्त्ता) के रूप में माना जाता है और विधेय क्रिया के रूप में। जैसे, 'अनिल जाता है' में 'अनिल' उद्देश्य और 'जाता है' विधेय है। यह विभाजन हमारी आधुनिक आर्य भाषाओं के अनुकूल है, पर अन्य परिवारों की भाषाओं पर सर्वथा लागू नहीं है। ऐसी भाषाओं में जिनमें संज्ञा, क्रिया आदि पद-विभाग ही न हों, उनमें उद्देश्य और विधेय का विभाजन संभव नहीं है। यहां उद्देश्य और विधेय केवल दुहराये और अंशों और नये आए हुए अंशों में अवश्य उपस्थित रहते हैं। जैसे भोजपुरी के उदाहरण में दिखाया जा चुका है।

(3) उपवाक्य (Clause)—कोई वाक्य यदि, एक से अधिक वाक्यों से मिल कर बना हो, तो वे वाक्य, बड़े वाक्य के उपवाक्य कहलाते हैं। जैसे—"जब वह आया तब मैं पढ़ रहा था" में 'जब वह आया' तथा 'तब मैं पढ़ रहा था' दो उपवाक्य हैं।

(4) निकटस्थ अवयव—आजकल वाक्य का अध्ययन उसे निकटस्थ अंगों में बाँट कर किया जा रहा है—वाक्य में प्रयुक्त एक से अधिक पद या रूप वाक्य के ही अंग हैं। वाक्य जिन दो या अधिक अंगों से मिलकर बना है, वे एक दूसरे के निकट रूप अंग कहे जाते हैं। इस रूप में निकटस्थता अर्थ से होती है न कि स्थान से उदाहरण के लिए 'Is Sita going' में 'Is' और 'going' स्थान की दृष्टि से दूर होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से निकट हैं। वाक्य के निकटस्थ अवयवों का विशेष महत्त्व है। इन्हीं के कारण अर्थ की प्रतीति होती है।

वाक्यों के प्रकार (भेद)

भाषा में प्रयुक्त वाक्यों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जा सकता है। आधार एवं वर्गीकरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) आकृति के आधार पर

आकृति से तात्पर्य है—रूप-तत्त्व या सम्बन्ध-तत्त्व। इस दृष्टि से वाक्य निम्नांकित चार प्रकार के होते हैं—

(1) अयोगात्मक वाक्य—अयोगात्मक वाक्यों में प्रत्येक शब्द अलग-अलग रहता है। उनका स्थान निश्चित रहता है। एकाक्षर परिवार की चीनी भाषा का वाक्य-गठन इसी प्रकार होता है। योरोपीय परिवार की कुछ भाषाओं में भी यह

प्रकृति आ गई है। उदाहरण के लिए अँगरेज़ी के 'Ram killed' और 'Mohan killed Ram' वाक्यों को लिया जा सकता है। दोनों वाक्यों के शब्दों में समानता हैं, किन्तु स्थान-परिवर्तन करने से अर्थ में अन्तर हो गया है; किन्तु आर्य परिवार की भाषाएँ एकाक्षर की तरह ही चीनी जैसी भाषाओं के समान अयोगात्मक नहीं हैं। अयोगात्मक भाषाओं के उदाहरण भाषाओं के रूपात्मक वर्गीकरण में दिए जा चुके हैं।

(2) प्रश्लिष्टयोगात्मक—प्रश्लिष्ट योगात्मक में कई शब्दों में थोड़ा-थोड़ा सा अंश लेकर एक वड़ा शब्द वाक्य वन जाता है। इन वाक्यों का विश्लेषण सरलता से नहीं हो सकता। दक्षिणी अमरीका के चेरोकी भाषा में वाक्य पूर्ण रूप से प्रश्लिष्ट योगात्मक है। उदाहरण के लिए 'नाधोलिनिन' शब्द-वाक्य को लिया जा सकता है—जिसका अर्थ होता है—हमारे पास नाव लाओ। यह वाक्य निम्न शब्दो में से थोड़े-थोड़े से अंश को लेकर बना है—

नातेन=लाओ, अमोखल=नाव, निन=हम।

(3) अश्लिष्ट-योगात्मक-वाक्य—अश्लिष्ट योगात्मक भाषा प्रत्यय प्रधान होती है। इस प्रकार के वाक्यों में अश्लिष्ट वाक्यों की तरह न तो शब्द मिलाए ही जाते हैं और न अयोगात्मक भाषाओं के वाक्यों की तरह सम्बन्ध जानने के लिए शब्दों के स्थान को ही ध्यान में रखना पड़ता है, अपितु प्रत्ययों को आदि, मध्य और अन्त में जोड़कर सम्बन्ध प्रकट किया जाता है। जैसे मुंडा कुल की संथाली भाषा में मझि का अर्थ मुखिया तथा बीच में 'प' जोड़ देने से मपंझि हो जाता है।, जिसका अर्थ होता है=मुखिया लोग।

(4) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य—श्लिष्ट वाक्यों में विभक्तियों की प्रधानता होती है। विभक्तियाँ अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों की तरह प्रत्यय रूप में लगती हैं। अश्लिष्ट में जहाँ प्रत्यय का अस्तित्व स्पष्ट रहता हैं, वहाँ श्लिष्ट में प्रत्यय का स्पष्ट पता नहीं चलता। उदाहरण के लिए संस्कृत में प्रथमा एकवचन में 'स' प्रत्यय जोड़ कर पद बनाया जाता है। जोड़ने पर 'सु' का पता नहीं चलता (राम+सु=रामः।

[ख] रचना या व्याकरणिक गठन के आधार पर

व्याकरण की गठन की दृष्टि से वाक्य के तीन भेद होते हैं—

(1) साधारण-वाक्य—साधारण वाक्य में केवल एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। जैसे— कमल पढ़ता है।

(2) संयुक्त वाक्य— संयुक्त वाक्य में दो या दो से अधिक प्रधान उप-वाक्य होते हैं। जैसे—मैं तुम्हारे घर गया पर तुम नहीं मिले।

(3) मिश्रित वाक्य—मिश्रित वाक्य में एक प्रधान वाक्य तथा अन्य आश्रित उपवाक्य होते हैं; जैसे—वह फेल हो गया, क्योंकि उसने पढ़ा नहीं था।

[ग] भाव या अर्थ के आधार पर

भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के अनेक भेद होते हैं, जिनमें विधान-सूचक निषेध-सूचक, आज्ञा-सूचक, प्रश्नसूचक, विस्मय सूचक, सन्देह सूचक, संकेत सूचक, विनय सूचक आदि प्रमुख हैं।

(घ) क्रिया के होने या न होने के अधार पर

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से क्रिया सभी भाषाओं के वाक्यों में पाई जाती है, किन्तु संस्कृत, लैटिन आदि कुछ प्राचीन तथा रूसी, बंगला आदि कुछ नवीन भाषाओं में बिना क्रिया के वाक्य मिलते हैं। अतः, इस आधार पर वाक्यों के दो प्रकार होते हैं—

1. **क्रियायुक्त वाक्य**—जिसमें क्रिया हो। अधिकांश वाक्य इसी प्रकार के होते हैं।

2. **क्रियारहित वाक्य**—जिसमें क्रिया न हो। समाचारपत्रों के शीर्षकों, लोकोक्तियों, विज्ञापनों आदि में प्रायः क्रियाविहीन वाक्यों का ही प्रयोग होता है।

वाक्य परिवर्तन

प्रश्न 104—वाक्य-गठन में परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भाषाओं का सम्पर्क, समन्वय, ध्वनि-विकास, बोलने वालों की मानसिक् स्थिति स्वराघात, पद-लोप आदि के कारण वाक्य के गठन में परिवर्तन होता रहता है।

(1) **अन्य भाषा का प्रभाव**—एक वाक्य के प्रभाव से दूसरी भाषा के वाक्य-गठन में भी परिवर्तन हो जाता है। फारसी और अँगरेजी के प्रभाव से हिन्दी वाक्य गठन में कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। फ़ारसी के प्रभाव से हिन्दी में 'कि' लगाकर वाक्य बनाने की परम्परा आई। आज हिन्दी-भाषा वाक्य-गठन में अँगरेज़ी से बहुत प्रभावित है। अँगरेज़ी के प्रभाव से ही हिन्दी में लम्बे-लम्बे वाक्यों की परम्परा आई है। साथ ही कुछ लोग क्रिया को वाक्य के बाद में रखते हैं।

(2) **ध्वनि-विकास के कारण विभक्तियाँ घिस जाती हैं**—सम्बन्ध-तत्त्व को स्पष्ट करने वाली जब विभक्तियाँ घिस जाती हैं, तब अर्थ की स्पष्टता के लिए क्रिया में परसर्ग आदि जोड़ने पड़ते हैं। यही कारण है कि भाषाएँ संयोगात्मक से वियोगात्मक हो जाती हैं। इस परिवर्तन का सर्वाधिक प्रभाव वाक्यों के 'पद-क्रम' पर पड़ता है। भाषा की संयोगावस्था में वाक्य में पदों का कोई निश्चित क्रम नहीं होता, किन्तु वियोगावस्था में वाक्य या पदों का क्रम निश्चित हो जाता है। संस्कृत की तुलना में हिन्दी में पद-क्रम लगभग निश्चित हो गया है।

(3) **सहायक शब्दों का प्रयोग**—प्राकृत और अपभ्रंश में विभक्तियाँ घिसने की अवस्था को नहीं पहुँची थीं, किन्तु स्पष्टता या बल के लिए सहायक शब्दों का प्रयोग किए जाने के कारण धीरे-धीरे विभक्तियाँ समाप्त हो गईं और वे शब्द परसर्ग की तरह प्रयुक्त होने लगे।

(4) **वाक्य में स्वराघात**—वाक्य के गठन में संगीतात्मकता तथा बलात्मक स्वराघात भी परिवर्तन उपस्थित कर देता है। वाक्य के विशेष शब्द या पद पर बल देकर वाक्य में उसका स्थान प्रमुख बना दिया जाता है। इसी प्रकार सामान्य अर्थ के बोधक वाक्य में आश्चर्य, शंका, प्रश्न आदि का भाव स्वराघात या वाक्य-सुर से ही व्यक्त किया जाता है। 'आप जा रहे हैं' को प्रश्न के रूप में रखने पर 'क्या आप जा रहे हैं?' कहा जाएगा।

(5) वाक्य में पद या शब्द आदि का लोप—प्रायः ऐसा भी होता है कि वाक्य में परसर्ग, संयोजक तथा सहायक-क्रिया आदि में से किसी एक अंग की कमी होती है। कुछ दिनों पहले हिन्दी में "मैं आज नहीं जा रहा हूँ।" कहने की प्रवृत्ति थी, परन्तु अब 'मैं आज नहीं जा रहा हूँ' कहने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। 'आज नहीं जा रहा' कहकर भी काम निकाल लिया जाता है। पद-लुप्त वाक्यों की प्रवृत्ति प्रायः संक्षिप्तता या मुख-सुख के कारण विकसित होती है। जो समस्त-पद की प्रवृत्ति में वाक्य-गठन में परिवर्तन उपस्थित कर देती है। बोल-चाल के वाक्यों में पद-लुप्तता अधिक मिलती है।

(6) बोलने वालों की मानसिक स्थिति—वक्ताओं की मानसिक स्थिति भी वाक्य-गठन में परिवर्तन उपस्थित कर देती है। प्रेम तथा करुणा से अभिभूत मनुष्य लम्बे-लम्बे व्याख्यान देने नहीं बैठता। उसके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। सौन्दर्य का वर्णन करते हुए शैली का अलंकृत हो जाना स्वाभाविक है।

(7) अनुकरण की प्रवृत्ति—अनेक वक्ताओं में कुछ विशेष कारणों से, विशेषतः उच्चता की भावना के कारण, किसी भाषा के अनुकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे वक्ता अपनी भाषा में उस तथाकथित उच्च भाषा का अनुकरण जानबूझकर करने लगते हैं, जिससे उनकी अपनी भाषा के वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है; जैसे—"मैं जा रहा हूँ।"—मोहन ने कहा। "तुम नहीं जा सकते।" सोहन ने उसे रोका। यह अँगरेजी की वाक्य-रचना का अनुकरण है।

(8) नवीनता का प्रयास—अनेक वक्ता तथा लेखक अपनी भाषा में नवीनता लाने के लिए वाक्यों के नये-नये प्रयोग करते हैं। इस प्रयास में, वाक्य में प्रचलित पदक्रम को बदल दिया जाता है; जैसे—"यह स्थान मनुष्य मात्र के लिए है।" के स्थान पर "यह स्थान मात्र मनुष्यों के लिए है।" इसके अतिरिक्त अनेक बार कर्ताविहीन या क्रियाविहीन वाक्यों का प्रयोग भी देखा जाता है।

(9) अज्ञान—अज्ञान के कारण भी, वाक्यों में अधिक पदों का प्रयोग होने से वाक्य-परिवर्तन हो जाता है। अनेक वक्ता, 'दरअसल' 'दरहकीकत', 'सज्जन' आदि शब्दों के स्थान पर वाक्यों में 'दरअसल में' 'दरहकीकत में', 'सज्जन पुरुष' आदि का प्रयोग करते हैं, जिससे वाक्य-रचना में परिवर्तन हो जाता है।

(10) परम्परावादिता—कभी-कभी परम्परावादिता से भी वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत में विशेष्य-विशेषण का अन्वय आवश्यक था, और विशेषण भी पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग होता था। हिन्दी में, इस परम्परा का पालन कुछ विशेषणों में तो हो रहा है, किन्तु कुछ में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार विशेषण का एक ही लिङ्ग रह गया है। जैसे 'चतुरः' या 'चतुरा' का केवल 'चतुर'। संस्कृत के प्रति आग्रह रखने वाले कुछ विद्वान् हिन्दी में भी 'चतुरा बालिका' जैसा प्रयोग करते हैं, जिससे हिन्दी वकायों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत में, आदर प्रकट करने के लिए एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता था। परम्परा-पालन के लिए हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं, जिससे हिन्दी की वाक्य-रचना में परिवर्तन हो जाता है; क्योंकि हिन्दी में एकवचन के लिए, बहुवचन के प्रयोग का कोई नियम नहीं है। "वह आया" के स्थान पर "वे आए" उदाहरण ऐसा ही है। आदर देने के लिए, आजकल बोलचाल की हिन्दी में "आप आये" या "आप गए" जैसे कुछ वाक्यों का

प्रयोग पुँल्लिग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों के लिए समान रूप से हो रहा है। वाक्यपरिवर्तन की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का बहुत ही महत्त्व है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त 'भावुकता', 'संक्षेप की प्रवृत्ति' आदि अन्य कारण भी हैं, जिनसे वाक्य-परिवर्तन घटित होता है।

प्रश्न 105—टिप्पणी लिखिए—(क) रूपिम और वाक्य, (ख) पद-बन्ध।

रूपिम और वाक्य

यदि रूपिम अर्थतत्त्व के रूप में एक ओर शब्दों से जुड़ा है तो दूसरी ओर सम्बन्ध तत्त्व (आवद्ध रूपिम) के माध्यम से वाक्य से। इस प्रकार वह शब्द और वाक्य के बीच का सेतु है, दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। पद का अध्ययन इस बात को ध्यान में रख कर करना चाहिए, क्योंकि वाक्यस्तर पर पद अक्सर अपनी रूढ़ स्थिति से हटकर भिन्नता धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए, कई बार एक शब्द-भेद वाक्य में प्रयुक्त होने पर दूसरे शब्द भेद का रूप धारण करता देखा जाता है; जैसे कि संज्ञापद विशेषण बन जाता है, विशेषण संज्ञा या क्रियाविशेषण या और कुछ। इस दृष्टि से अधोलिखित वाक्य अवलोकनीय हैं—

(1) पुरुष की मुक्ति उसकी इच्छा-शक्ति पर निर्भर है।
(2) हिंसा से पीड़ित इस धरा पर भगवान् बुद्ध मुक्तिदूत बन कर आए।
(3) दीन जनों को समाज सम्मान नहीं देता।
(4) दीनों पर करुणा करने वाला भगवान् का प्रिय बन जाता है।
(5) उसका लेख बड़ा सुन्दर है।
(6) वह बहुत सुन्दर लिखता है।

प्रथम वाक्य में 'मुक्ति' संज्ञा है, तो दूसरे में विशेषण। तीसरे वाक्य में 'दीन' शब्द विशेषण है, तो चौथे में संज्ञा। पाँचवें वाक्य में 'सुन्दर' शब्द विशेषण है, तो छठे में क्रियाविशेषण। इस प्रकार प्रयोगभेद से एक ही पद विविध रूप धारण कर सकता है। अर्थतत्त्व ही नहीं, सम्बन्धतत्त्व के विषय में भी यही बात दीख पड़ती है। किसी एक कारक में रूढ़ प्रत्यय अक्सर दूसरे कारकों के लिए भी प्रयुक्त होता देखा जाता है। उदाहरणार्थ 'से' करण अपादान कारकों का रूढ़ प्रत्यय है, पर "मैंने उससे बहुत कहा किन्तु उसने मेरी एक न सुनी' वाक्य में 'से' कर्मकारक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि पद या रूपिम का केवल पदस्तर पर अध्ययन अपूर्ण और एकांगी है। उसके स्वरूप से सम्यक् उद्घाटन के लिए उसका वाक्य-स्तर पर अध्ययन भी उतना ही वांछनीय है।

पद-बन्ध

'पदबन्ध' में दो शब्द हैं—पद + बन्ध। 'पद' के बारे में पाणिनी का सूत्र है—'सुप्तिङन्तम् पदम्' अर्थात् 'पद' सुप् या तिङ् से युक्त होता है। दूसरे शब्दों में 'पद' शब्द के उस रूप को कहते हैं जिससे उस शब्द का वाक्य के अन्य शब्दों या रूपों से सम्बन्ध स्थापित हो सके। 'बन्ध' का यहाँ अर्थ है—बँधा हुआ रूप।

'पदबन्ध' की परिभाषा कुछ लोग इस प्रकार देते हैं—कम-से-कम दो ऐसे पदों

का समूह जो मिलकर एक ही व्याकरणिक कार्य कर रहे हों, पदबंध कहलाता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने कुछ और गहराई में ले जाते हुए पदबंध को अग्रलिखित रूप में परिभाषित किया है—"एक से अधिक पदों का वह वाक्येतर या उपवाक्येतर अंश जो किसी वाक्य में कोई एक व्याकरणिक कार्य करे पदबंध है।" इन दोनों परिभाषाओं को लेते हुए अपेक्षाकृत सरल शब्दों में पदबंध की परिभाषा हो सकती है—"पदबंध वाक्य-रचना में पद और उपवाक्य के बीच की इकाई है, जिसमें कई पद मिलकर एक ही कार्य करते हों।"

अन्य अनेक भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी निम्नांकित प्रकार के पदबंध मिलते हैं—

1. **संज्ञा पदबन्ध**—जब कोई पदबंध किसी वाक्य में संज्ञा का काम करता है तो उसे संज्ञा पदबंध कहते हैं। इसका प्रयोग परम्परागत सभी कारकों में तथा पूरक रूप में मिलता है। यह परसर्ग के बिना तक परसर्ग के साथ, दोनों ही प्रकार से आता है। यथा—'पुलिस की गोली से घायल बच्चों को' अस्पताल भेज दिया गया है—में ' ' के अन्दर का वाक्यांश संज्ञा पदबन्ध है।

(2) **सर्वनाम पदबन्ध**—किसी वाक्य में सर्वनाम का काम करने वाले पदबंध को सर्वनाम पदबन्ध कहते हैं। इसका प्रयोग अन्य पदबंधों की अपेक्षाकृत कम होता है। उदाहरणतया—'अभाग्य का मारा वह' वहाँ पहुँचा—में ' ' वाला अंश सर्वनाम पदबन्ध है।

(3) **विशेषण पदबन्ध**—यदि कोई पदबन्ध किसी संज्ञा की विशेषता बतलाए या उसे विशेषीकृत करे तो उसे विशेषण पदबन्ध कहेंगे। उदाहरणतः—'परिश्रम न करने वाले' लड़के अच्छे अंक नहीं पा सकते। यहाँ 'परिश्रम न करने वाले' विशेषण पदबन्ध हैं। इसके काल, स्थान, रंग, दशा, स्वरूप, आकार, गुण, परिमाण, संख्या आदि अनेक भेदोपभेद हो सकते हैं।

(4) **क्रिया पदबन्ध** किसी वाक्य में क्रियापदों का योग हो वहाँ क्रिया पदबन्ध होगा। जैसे—उसकी बात अब 'मान ली जा सकती है'। ' ' अन्तर्गत क्रिया पदबन्ध है। वाक्य में क्रिया पदबन्ध की स्थिति अन्य पदबंधों से थोड़ी भिन्न है। यह कभी-कभी आन्तरिक रूप से पदबंध होने पर भी बाह्यतः वाक्य में एक साथ न होकर निखरा हुआ होता है। उदाहरण के लिए—(क) मैं कल प्रातः जा रहा हूँ। (ख) कल प्रातः मैं जा रहा हूँ।

(5) **क्रियाविशेषण पदबंध**—जो पदबंध क्रिया की विशेषता बतलाए या उसे विशेषीकृत करे, वह क्रिया विशेषण पदबंध है। जैसे—सीता ज़रूरत से ज्यादा' बोलती है। इसमें 'ज़रूरत से ज्यादा' क्रिया-विशेषण पदबंध है। इसके स्थान, दिशा, समय, अवधि, अधिक, तुलना, रीति आदि की दृष्टि से अनेक भेद हो सकते हैं।

वाक्य-संरचना

प्रश्न 106—हिन्दी-वाक्य-संरचना के सूत्रों, नियमों को आरेखों तथा उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।

वाक्य के सम्बन्ध में सभी बातों का विवरण एक आरेख के द्वारा दिखा सकते हैं। ऐसे आरेख विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। हम इस ग्रन्थ में

'वृक्ष शाखा' वाले आरेख को अपनाते हैं। जिस प्रकार वृक्ष का मूल, तना, शाखाएँ प्रशाखाएँ होती हैं उसी प्रकार वाक्य के भी विभिन्न अंश होते हैं। जैसे—
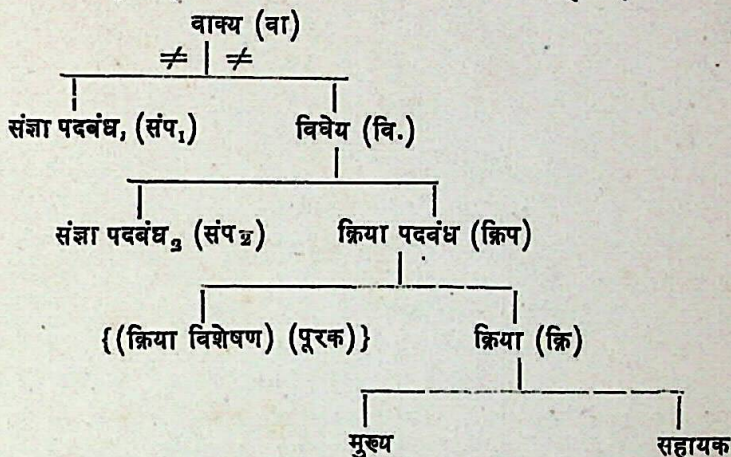
इस आरेख में जहाँ दो रेखाएँ सम्मिलित होती हैं उस स्थान को 'संगम-बिन्दु' कहते हैं। उससे नीचे की ओर चलने वाली दो रेखाएँ 'पात रेखा' कहलाती हैं। पात रेखा जिस अंश की ओर जाती है वह अंश संगम बिन्दु का 'प्रभावी' होता है, 'संगमबिन्दु के अधिकार' अंश में प्रभावी अंश अंतर्भूत है। प्रभावी अंश तथा अधिकारी अंश–दोनों का सम्मिलित रूप क्षेत्र कहलाता है। इसे और स्पष्ट करेंगे। इस आरेख में वा संगम बिन्दु है जिसके अधिकार में संप$_1$ और वि दो प्रभावी अंश हैं। वा से हिन्दी के समस्त वाक्य संकेतित हो जाते हैं। वा का क्षेत्र हिन्दी के समस्त वाक्य तथा उनके प्रभावी अंश संप$_1$ और वि. हैं। इसी प्रकार वि. एक संगम बिन्दु है जिसके अधीन संप$_2$ और क्रिप हैं।

यह आरेख हिन्दी के मूल-वाक्य की संरचना को स्पष्ट करता है। हम लेखन की सुविधा के लिए विभिन्न व्याकरणिक संवर्गों के नामों के संक्षिप्त रूप अपनाएँगे जैसे—वाक्य=वा, संज्ञा पदबन्ध=संप, क्रिया पदबन्ध=क्रिप, क्रिया विशेषण=क्रिवि, क्रिया=क्रि, पूरक=पू, निषेध-वाचक=नि, उद्देश्य=उ, विधेय=वि, इत्यादि प्रकार से अंकित करेंगे। '≠' – यह निश्शब्दता का चिह्न है। ≠वा≠ का अर्थ है–निश्शब्दता से आरंभ होकर उच्चरित होने वाली स्वन-शृंखला जो निश्शब्दता में समाप्त होती है और जिसे 'वाक्य' नाम दिया गया है। ( ) यह संकेत देता है कि इसके भीतर का अंश विकल्प से कभी आता है और कभी नहीं आता। { } एक समुच्चय का संकेत देता है, अर्थात् इसके भीतर के अंश एक समुच्चय के सदस्य होते है। ϕ=शून्य-रूप। धा=धातु, प्र=प्रत्यय।

अब हम हिन्दी-वाक्य-संरचना को दिखाने के लिए उदाहरण स्वरूप एक वाक्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

हमारे सभी मित्र भगवान थियेटर में हिन्दी पिक्चर देख रहे हैं।

इस वाक्य के विभिन्न अंशों को आरेख में इस प्रकार दिखलाएँगे—
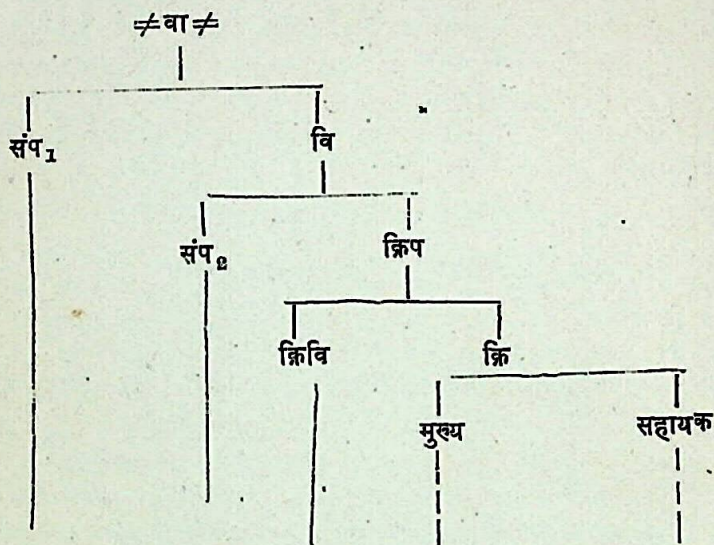
संप$_1$ या संप$_2$ के स्थान पर कभी एक ही शब्द रहता है। तो भी उसे 'संज्ञापदबन्ध' ही कहेंगे। क्योंकि एक ही शब्द पदबन्ध का कार्य करता है, दूसरे शब्दों में एक पदबन्ध के द्वारा शब्द प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

कुछ वाक्यों में संप$_2$ (अर्थात् कर्म) होता है। कुछ वाक्यों में नहीं होता है। संप$_2$ अनिवार्य घटक नहीं है। कुछ धातुओं के साथ संप$_2$ अवश्य आता है। कुछ धातुओं के साथ संप$_2$ नहीं आता है। अतः वाक्य का लक्षण देते हुए संप$_2$ को वैकल्पिक मानना होगा। हमारी अंकन-पद्धति में वैकल्पिक अंश को कोष्ठकों में रखेंगे। जैसे (संप$_2$)—अर्थात् संप$_2$ कभी आता है और कभी नहीं आता है।

सूत्रों का प्रयोग एक-एक करके होता है। उनका प्रयोग '≠' वा '≠' नामक अंश पर होता है, इसे आरंभ-शृंखला नाम देते हैं। ज्यों-ज्यों एक एक करके सूत्रों का प्रयोग होता जाएगा त्यों-त्यों व्याकरणिक संवर्गों की शृंखलाएं बनती जाएँगी। इन सूत्रों में कुछ ऐसे भी नियम होते हैं जिनके प्रयोग से अंत में एक ऐसी शृंखला प्राप्त होती है जिनमें वे शब्द तथा रूप होते हैं जिनका प्रयोग वास्तविक भाषा में होता रहता है। इस शृंखला को अंतिम शृंखला कहते हैं। अंतिम शृंखला वास्तविक भाषा के अनुरूप होती है जबकि उसके पूर्व की शृंखलाएँ अंशतः या पूर्णतः व्याकरणिक संवर्गों की होती हैं। अंतिम शृंखला पर स्वनिम प्रक्रिया के सूत्रों का प्रयोग करने से आवश्यक स्वन-परिवर्तन प्राप्त होंगे और वह भाषा का कोई वास्तविक वाक्य होगा। इस प्रकार सूत्रों का प्रयोग करके भाषीय अंश प्राप्त करने की प्रक्रिया का नाम है—व्युत्पादन। व्युत्पादन प्रक्रिया को आरेख के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक नमूना प्रस्तुत किया जा रहा है—

सूत्र

(1) वा → संप$_1$ + वि.

(2) वि → (संप$_2$) क्रिप.

(3) क्रिप → (क्रिवि) क्रि.

(4) क्रि → मुख्य + (सह.)

(5) मुख्य — [धातु + प्रत्यय]

(6) सह → {है}

(7) संप$_1$ → संज्ञापदवन्ध + $\left\{ \begin{array}{c} \phi \\ \text{ने} \end{array} \right\}$

(8) संप$_2$ → संज्ञापदवन्ध + $\left\{ \begin{array}{c} \phi \\ \text{को} \end{array} \right\}$

(9) संज्ञापदवन्ध → (विशेषण) संज्ञा

(10) संज्ञा → $\left\{ \begin{array}{l} \text{सर्वनाम} \\ \text{संज्ञा}_2 \\ \text{संज्ञा}_3 \end{array} \right\}$

(11) संज्ञा → {राम, दिल्ली, भगवान थियेटर}

(12) संज्ञा$_3$ → {हिन्दी पिक्चर, मित्र·· }

(13) धातु → {देख, आ···}

(14) प्रत्यय → {रहा, [ϕ + आ]···}

(15) विशेषण → {(हमारे) (सभी)}

(16) क्रिवि — $\left\{ \begin{array}{l} \text{कल}\cdots \\ \text{संप + से}\cdots \\ \text{संप + में} \end{array} \right\}$

इन सूत्रों का प्रयोग करने से व्युत्पादन निम्न प्रकार से होगा —

```
वा
├── संप₁
│   ├── संप
│   │   ├── विशेषण
│   │   │   ├── हमारे
│   │   │   └── सभी
│   │   └── संज्ञा
│   │       └── मित्र
│   └── परसर्ग
│       └── ϕ
└── वि.
    ├── संप₂
    │   ├── संप
    │   │   └── हिन्दी
    │   └── परसर्ग
    │       └── पिक्चर ϕ
    └── क्रिप
        ├── क्रिवि
        │   ├── संप
        │   │   └── भगवान थियेटर
        │   └── परसर्ग
        │       └── में
        └── क्रि
            ├── मुख्य
            │   ├── धा
            │   │   └── देख
            │   └── प्र
            │       └── {रहा}
            └── सह
                └── {है}
```
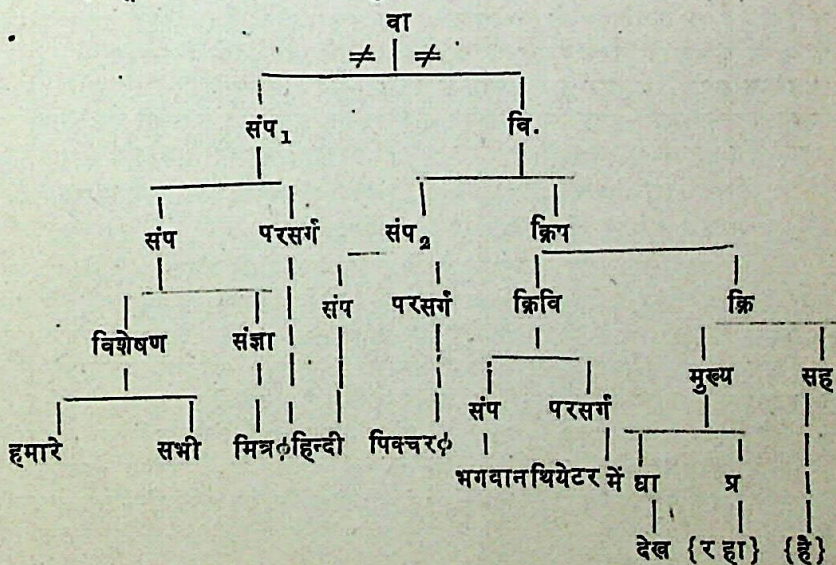
≠व≠

सूत्र प्रयोग 1. संप$_1$ + वि

,, 2. संप$_1$ + संप$_2$ + क्रिप

,, 3. संप$_1$ + संप$_2$ + क्रिवि + क्रि.

,, 4. संप$_1$ + संप$_2$ + क्रिवि + मुख्य + सह.

,, 5. संप$_1$ + संप$_2$ + क्रिवि + [धा + प्र.] + सह.

,, 6. संप$_1$ + संप$_2$ + क्रिवि + [धा.प्र.] + है

,, 7. संप + ϕ + संप$_2$ + क्रिवि + [धा.प्र.] + है

,, 8. संप + ϕ + संप + ϕ + क्रिवि + [धा.प्र.] + है

,, 9. वि + संज्ञा + ϕ + विशे + सं + ϕ + क्रि. वि. [धा. प्र.] + है

,, 10. हमारे + सभी + मित्र + ϕ + विशे + सं + ϕ + क्रिवि [धा. प्र.] + है

,, 11. हमारे + सभी + मित्र + ϕ + हिन्दी पिक्तर + क्रि. वि + [धा.प्र.] + है

,, 12. हमारे + सभी + मित्र + ϕ + हिन्दी पिक्कर + भगवान थियेटर + में + [धा. प्र.] + है

,, 13. हमारे + सभी + मित्र + ϕ + हिन्दी पिक्चर + भगवान थियेटर में + [देख + रहा] + है

अन्विति के नियमों के द्वारा धातु के बाद प्रत्यय 'रहा' 'रहे' बन जाएग। और 'है' 'हैं' बन जाएगा।

उक्त प्रकार से अनेक नये-नये वाक्यों का व्युत्पादन करने की क्रिया को 'निष्पादन' नाम दिया जाता है। ऊपर दिए गए सूत्र निष्पादक व्याकरण के एक भाग के सूत्र-समुच्चय हैं। अन्य तीन भागों में स्वनिम-प्रक्रियासूत्र आदि रहते हैं। इन सब सूत्रों में नये-नये हिन्दी वाक्य निष्पन्न करने की क्षमता होती है। अतएव इस प्रकार के व्याकरण को निष्पादक व्याकरण कहते हैं। मूल वाक्य के निष्पादन के लिए आवश्यक ऊपर दिए गए सूत्र "पदबन्ध संरचना-सूत्र" कहलाते हैं; इन्हीं को "मूल-वाक्य-घटक-संरचना सूत्र" अथवा संक्षेप में "संरचना सूत्र" भी कह देते हैं। सारांश यह है कि निष्पादक व्याकरण के प्रथम भाग में 'पदवन्ध संरचना सूत्र' होते हैं।

प्रश्न 107 टिप्पणी लिखिए—(क) निकटस्थ अवयव, (ख) रूपान्तरण।

(क) निकटस्थ अवयव (Immediate Constiuent)

आजकल वाक्य का अध्ययन उसे निकटस्थ अवयवों में बाँटकर भी किया जा रहा है। जब वाक्य में एक से अधिक पद रूप हों तो ऐसा किया जा सकता है। वाक्य में प्रयुक्त 'पद' या 'रूप' ही उसके 'अंग' या 'अवयव' हैं। कोई रचना जिन दो या कुछ अवयवों से मिलकर बनती है, उनमें प्रत्येक 'निकटस्थ अवयव' कहलाता है। निकटस्थ का आशय स्थान से नहीं है, अपितु अर्थ से है। अँग्रेजी वाक्य 'Is Ram going' में यद्यपि is और 'going स्थान की दृष्टि से दूर-दूर हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से वे निकट हैं इसमें 'is' और 'going', 'is going' रचना के निकटस्थ अवयव हैं, और फिर ये दोनों मिलकर' Is Ram going' वाक्य या रचना के निकटस्थ अवयव हैं।

वाक्य में निकटस्थ अवयवों का महत्त्व बहुत अधिक है। अर्थ की प्रतीति इसी कारण होती है। भाषा का प्रयोक्ता या श्रोता जाने या अनजाने इससे परिचित रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह अर्थ नहीं समझ सकता। एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करने में भी इसका पूरा ध्यान रखना पड़ता है। अनुवाद में जब हम कहते हैं कि शब्द के लिए शब्द नहीं रखा जाना चाहिए तो वहाँ हमारा आशय इसी से होता है। अनुवाद कर्ता 'निकटतम अवयव' का अनुवाद करके ही सफल हो सकता है, पद-पद का अनुवाद करके नहीं। एक उदाहरण लें—

'मेरा सर चक्कर खा रहा है' का अनुवाद My head is eating circles, नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ 'चक्कर' स्वतन्त्र न होकर 'खा रहा' के साथ मिलकर निकटस्थ अवयव बनाता है, या 'चक्कर' खा रहा है' निकटस्थ अवयव का अंश है।

भाषा सर्वत्र अपने अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाती। ऐसे स्थलों पर निकटस्थ अवयवों को ठीक-ठीक अलग कर पाना असम्भव हो जाता है। मान लें एक वाक्य है 'सुन्दर पुस्तकें और कापियाँ रक्खी हैं' यहाँ यह कहना कठिन है कि 'सुन्दर' विशेषण केवल 'पुस्तकें' के लिए है या 'पुस्तकें और कापियाँ' दोनों के लिए। यदि केवल 'पुस्तकें' के लिए है तो 'निकटस्थ अवयव' का विभाजन होगा—

सुन्दर पुस्तकें | और कापियाँ

किन्तु यदि दोनों के लिए है, तो होगा—

सुन्दर | पुस्तकें और कापियाँ

'वाक्य-सुर' भी निकटस्थ अवयव है, क्योंकि इसके बिना कभी-कभी ठीक अर्थ की प्रतीत नहीं होती। 'आप जा रहे हैं' वाक्य को 'वाक्यसुर' के आधार पर प्रश्न-सूचक, आश्चर्यसूचक या सामान्य, आदि कई रूप दिये जा सकते हैं। यहाँ तीनों में ही भिन्न-भिन्न प्रकार केव ाक्यसुर वाक्य के निकटस्थ अवयव हैं।

(ख) रूपांतरण (Transformation)

वाक्य-रचना या वाक्य-विश्लेषण के क्षेत्र में तरह-तरह के प्रयोग होते रहे हैं। इधर चॉम्स्की, हैरिस, बाख आदि ने इसका एक नया रूप सामने रखा है जिसे रूपांतरण करते हैं। रूपांतरण का अर्थ है परिवर्तित करना, अर्थात् किसी भाषा के मूल वाक्य को विभिन्न प्रकार के व्याकरण-सम्मत वाक्यों में बदलना ही मूलतः रूपांतरण है उदाहरण के लिए एक अंग्रेज़ी का वाक्य तथा उसके दो रूपांतरण। हैं—

Ram is going. (सामान्य)
Is Ram going ? (प्रश्न)
Ram is not going.(नकारात्मक)

यहाँ हम देखते हैं कि प्रश्न के लिए केवल रूपों के स्थान में परिवर्तन कर दिया गया है तथा नकारात्मक के लिए बीच में नकारात्मक अव्यय जोड़ दिया गया है। किन्तु अंग्रेज़ी के ही दूसरे उदाहरण में—

I see. (सामान्य)
Do I see ? (प्रश्न)
I do not see. (नकारात्मक)

बात बिलकुल बदल गई है। यहाँ प्रश्न के लिए क्रम नहीं बदला गया है, बल्कि एक अतिरिक्त शब्द (do) आ गया है तथा नकारात्मक में भी वह अतिरिक्त शब्द है। अर्थात् भाषा में किसी वाक्य को रूपांतरित करने के लिए विभिन्न प्रकार के नियम होते हैं। हिन्दी में ही—

मैं जा रहा हूँ। (सामान्य)
क्या मैं जा रहा हूँ ? (प्रश्न)
मैं नहीं जा रहा। (नकारात्यम)

प्रश्न के लिए 'क्या' जोड़ा गया है, और नकारात्मक के लिए 'नहीं' जोड़ा तथा 'हूँ' घटाया गया है।

इस तरह एक मूल वाक्य से कैसे अन्य वाक्य रूपांतरण के आधार पर बनते हैं, इससे संबद्ध नियमों का निर्धारण ही रूपांतरण का विषय है।

अध्याय | 17

शैली विज्ञान

[Stylistics]

प्रश्न 108—शैली क्या है ? विभिन्न परिभाषाओं के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए।

प्रश्न 109—शैली-विज्ञान क्या है ? इसके भेदोपभेदों का निरूपण कीजिए।

शैली

उत्तर—प्रत्येक साहित्यकार अपनी अनुभूति को किसी-न-किसी ढंग से अभिव्यक्त करता है, जो भाषा का एक विशिष्ट रूप होता है। इस ढंग या पद्धति का निर्धारण गुणों के आधार पर किया जाता है। वस्तुतः इस पद्धति मे एक ऐसी शक्ति

निहित है, जो साहित्यकार के सृजनात्मक प्रयोग को रसानुकूल एवं प्रभावोत्पादक बनाती है तथा साहित्यकार की अनुभूति, भाव एवं विचार का हमें बोध कराती है। इसी शक्ति को रीति या शैली कहते हैं। साहित्य के मर्म को पहचानने के लिए साहित्यिक भाषा एक उपादान का कार्य करती है, किन्तु उस मर्म तक पहुँचाने की उसमें जो शक्ति है वह है शैली।

बीसवीं सदी के आरम्भ में जेनेवा स्कूल के भाषाविज्ञानी चार्ल्स बेली ने शैली के भाषा वैज्ञानिक विवेचन की बात उठाई। उनके मतानुसार वैयक्तिक भाषा में भावात्मकता निहित रहती है, जो विशिष्ट परिस्थितियों मे सहज भाव से मनुष्य के उच्चारणोपयोगी अवयवों से निस्सृत होती है। यह भावात्मकता भाषा में ऐसे मूल्य प्रस्तुत करती है जो शैली के मूल होते हैं। इस प्रकार भाषा के प्रभावी तत्त्व शैली में समाहित होते हैं, और इन प्रभावी तत्त्वों में वैकल्पिक तत्त्व पहले से निर्धारित अर्थों में है। वस्तुत: बेली साहित्यिक भाषा के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से सहमत नहीं थे, क्योंकि वह साहित्यिक भाषा को ऐच्छिक तथा सायास वस्तु मानते थे। किन्तु परवर्ती भाषाविज्ञानियों ने साहित्यिक भाषा को अपना विषय इसलिए बनाया कि भाषा एक सोद्देश्य व्यापार है और इसका प्रयोग किसी न किसी प्रयोजन से होता है। अतः इसमें भावात्मकता, चाहे वह सायास हो या अनायास, समान रूप से विद्यमान रहती है। भाषा साहित्यकार का उपादान है, इसलिए साहित्यकार अपने साहित्य-सृजन में एक विशेष भाषा का चयन करता है,जिसमें भाषा की एक विशेष प्रकार की ध्वनि, शब्द तथा अर्थ और उनकी विशेष संरचना होती है। अतः इनके अध्ययन के लिए भाषा विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुत: विश्लेषण के सभी स्तरों में अर्थात् ध्वनि-ग्रामिक, रूपग्रामिक और वाक्यीय स्तरों में प्रत्येक भाषा के अपरिवर्तनशील और व्यतिरेकी पहलू होते हैं और शैली का अध्ययन संहिता के निर्धारित मानदण्ड से व्यतिरेक की स्थिति द्वारा सम्भव है। यह बात अवश्य है कि व्यतिरेक की सीमा होती है और उसकी यह स्थिति निर्बंध अथवा उच्छृङ्खल नहीं होती। अत: व्यतिरेक की इस सीमा में चयन में भी कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता रहती है। उच्चारण तथा लेखन में चयन कोशीय अथवा वाक्यीय स्तर पर होता है किन्तु शैलीविज्ञान कोशीय चयन की अपेक्षा संरचनात्मक चयन से अधिक जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में, हमें यह देखना होता है कि व्यक्ति 'किस प्रकार' बात कर रहा है, न कि 'क्या' बात कर रहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शैली में 'मानक' (norm) की अपेक्षा 'मानक' से अतिक्रमण' (deviation from the norm) की ओर ध्यान देना पड़ता है। ये अतिक्रमण वैयक्तिक अतिक्रमण और परिस्थिति-मूलक अतिक्रमण होते हैं, क्योंकि व्यक्ति या परि-स्थिति के अनुसार ही भाषा का अपने मानकों से अतिक्रमण होता है। कविता या रचना लिखते समय, टेलीफ़ोन पर बात करते समय, घर में माता-पिता, बहन-भाई या पत्नी-बच्चे आदि से बात करते समय, कार्यालय में अफ़सर से, मित्रों से, बाहर या अन्य लोगों से बात करते समय भाषा में जो परिवर्तन होते हैं, वे भाषिक मानक में अतिक्रमण होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की भाषा में जो विविधताएं पाई जाती हैं, उन्हें भाषा की शैलियाँ कहा जाएगा। हॉकेट के शब्दों में—"एक ही भाषा में दो तरह के उच्चारण, जो कि लगभग एक ही बात को सम्प्रेषित करते हैं, किन्तु संरचना में वे अलग-अलग होते हैं, शैली कहलाते हैं"। "उसकी माँ मर गई" और "उसकी माता जी का स्वर्गवास हो गया" वाक्यों में बात एक ही है; अन्तर है, केवल भाषिक संर-

चना में। तात्पर्य यह हुआ कि जिस व्यक्ति से बात की जा रही हो अथवा जिस विषय पर बात हो रही है उसी के अनुसार भाषा की शैली ढलती है और यही बात साहित्य के संदर्भ में भी लागू होती है। चार्ल्स ऑसगुड शैली की परिभाषा इस प्रकार देते हैं "शैली वह है जिसमें उन परिस्थितियों में, जिनमें वक्ता या लेखक संहिता का प्रयोग करता है, मानक से वैयक्तिक अतिक्रमण होता है और ये अतिक्रमण उन संरचनात्मक खंडों के सांख्यिकी गुणों के कारण होते हैं जिनके लिए संहिता में कुछ सीमा तक चयन होता है"। इसी प्रकार नील्स एरिक एन्कविस्ट शैली उसे मानते हैं जो " रचना के ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक और कोशीय रूपों की आवृत्तियों तथा संदर्भात्मक मानकों के तदनुरूपी रूपों की आवृत्तियों के बीच आनुपातिक सम्बन्धों में समुच्चय का कार्य फलन होती है।" इस प्रकार साहित्यकार के भाषिक चयन, भाषिक व्यवस्था' और सीमित एवं परिस्थिति मूलक अतिक्रमण से शैली का संयोजन होता है। इसमें चयन तथा इनकी व्यवस्था केवल कोशीय न रह कर ध्वन्यात्मक, स्वनग्रामिक, वाक्यीय आदि कई रूपों में की जाती है। इसी बात को डॉ० भोलानाथ तिवारी इस प्रकार कहते हैं कि "हर भाषा में ध्वनि, शब्द-समूह, रूप-रचना तथा वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से अभिव्यक्ति का एक सर्वस्वीकृत मानक या परिनिष्ठित रूप होता है, जिसे उस भाषा में अभिव्यक्ति का एक सामान्य ढंग कह सकते हैं। जो लोग लेखन में या बोलने में इसी सामान्य रूप का प्रयोग करते हैं, उनकी कोई अपनी शैली नहीं मानी जाती। शैली मानी जाती है उनकी, जो इस सामान्य रूप से ध्वनि, शब्द-समूह, रूप-रचना तथा वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से हट कर (deviatingly) प्रयोग करते हैं। इस शैली-विशेष के लिए यह आवश्यक है कि चुन कर भाषिक इकाइयों का ऐसा प्रयोग हो जो सामान्य की तुलना में विशेष या अलग हो।" इस प्रकार शैली भाषा की एक ऐसी अभिव्यंजनामूलक शक्ति है जिसमें साहित्यकार की अनुभूति एवं अनुभव सम्मिलित रहते हैं, जो आगे सम्प्रेषित होकर पाठक का रसास्वादन कराते हैं। चूंकि व्यक्ति की विशिष्ट से विशिष्ट अनुभूति भाषा के रंगों से मुक्त नहीं होती और दूसरी ओर भाषा अनुभवों का रीतिपक्ष है। भाषा के माध्यम से ही हम अपने अनुभवों का साधारणीकरण करते हैं और इसी साधारणीकरण के माध्यम से ही उसे दूसरे तक सम्प्रेषित करते हैं। यहीं आकर भाषा का स्वरूप सामान्य न होकर विशिष्ट हो जाता है। सामान्य से अलग हट कर जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग कवि करता है, वही भाषा की काव्यात्मक शैली है। अनुभव के कथ्य पक्ष और भाषा के रूप में उसके रीति पक्ष से साथ जो लचीला, किन्तु अटूट सम्बन्ध है उसी के परिणामस्वरूप अनुभव के कथ्य पक्ष की विशिष्टता उसके रीतिपक्ष में भी विशिष्टता लाने को बाध्य करती है। अनुभव के कथ्य पक्ष और उसके रीतिपक्ष सम्बन्ध कलाकृति के माध्यम के रूप में केवल भाषा में ही देखा जा सकता है। इस प्रकार जब साहित्यकार अपनी अनुभूति और अनुभव का सम्प्रेषण विशिष्ट भाषा में करता है, तभी शैली का जन्म होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक परिस्थिति में शैली का प्रादुर्भाव नहीं होता क्योंकि मानक का अतिक्रमण किसी विशेष परिस्थिति में सही रूप से हो सकेगा। यदि यह अतिक्रमण प्रत्येक परिस्थिति में किया जाता है तो वह शैली न होकर 'तकिया कलाम' हो जाएगा। मानक में अतिक्रमण की कुछ सीमाएँ होती हैं और इसीलिए वह अतिक्रमण विशेष परिस्थिति में ही संयोजित रूप में हो पाता है और इसी परिस्थिति में शैली में निखार आ पाता है।

शैली-विज्ञान

शैली-विज्ञान में शैली का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। यह विज्ञान; काव्यशास्त्र के पर्याप्त निकट है। भारतीय साहित्यशास्त्र के रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदाय इसमें प्रमुखतया आते हैं और शेष रस, अलंकार तथा वक्रोक्ति भी अपनी भूमिका निभाते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की 'स्टाइल' के लक्षण भी आधुनिक विश्लेषण में अपना महत्त्व जमाए हुए हैं। भाषा के दो विशिष्ट पक्ष होते हैं—रूप और अर्थ। रीति रूप के बारे में कहती है, ध्वनि अर्थ के बारे में तथा वक्रोक्ति इन दोनों को साथ लेकर चलती है। 'स्टाइल' भी कुछ-न-कुछ रूप और अर्थ के गुणों को अपने में सँजोए हुए है। इस प्रकार शैली के आधुनिक विवेचन और विश्लेषण का मूलाधार भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र है।

इस विज्ञान में प्रभाव की दृष्टि से ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य आदि पर विचार किया जाता है। इन आधारों पर इसके—(1) ध्वनीय शैली-विज्ञान (Phonostylistics), (2) रूपीय शैली-विज्ञान (Morphostylistics), (3) शब्दीय शैली-विज्ञान (wordostylistics), (4) वाक्यीय शैली-विज्ञान (Syntactostylics), (5) अर्थीय शैली-विज्ञान (Semantico-stylistics),—पाँच उपभेद हो सकते हैं। इसमें इस बात पर विचार करते हैं कि साहित्य-रचना या बातचीत में प्रभाव आदि की दृष्टि से किस प्रकार की ध्वनियों, रूपों, शब्दों, वाक्यों या अर्थों आदि को छोड़ा जाए और किन्हें प्रयुक्त किया जाए। इस तरह इसमें चयन-पद्धति एवं उसके आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। इस प्रकार का विचार साहित्यिक भाषा के सम्बन्ध में तो होता ही है, रोज की बोली जाने वाली भाषा में भी वक्ता के सामाजिक स्तर, सन्दर्भ या विषय आदि की दृष्टि से रूपों या शब्दों आदि के चयन में पर्याप्त अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार विशिष्ट प्रभाव के लिए सामान्य भाषा में परिवर्तन करके भी भाषा को आकर्षक बनाया जाता है। इन सभी बातों का इसमें विचार किया जाता है।

प्रश्न 110—साहित्यिक शैली-विज्ञान की क्रियात्मक प्रक्रिया तथा उसके निष्कर्षों को प्रस्तुत करने की विधि को सोदाहरण बतलाइए।

उत्तर—साहित्यिक शैली विज्ञान की क्रियात्मक प्रक्रिया तथा उसके निष्कर्षों को प्रस्तुत करने की विधि का परिचय कराने के लिए हम निम्नलिखित दो साहित्यिक अंशों का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें प्रयुक्त क्रम-संख्याएँ तथा उपशीर्षक (व्याकरण, शब्द आदि) केवल इसी नमूने तक सीमित हैं। व्यवस्थित तथा अपेक्षाकृत पूर्ण विश्लेषण में नये अनुच्छेद बनाने आदि की वैकल्पिक विधि का प्रयोग करना उचित होगा।

(अ)

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेह तरल-आँखें कभी-कभी स्मृति पटल पर अंकित हो जाती हैं और कभी धुँधली होते-होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से ओंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति के संबंध में भी यही सत्य है।

(ब)

कानों में चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल, हाथों में चाँदी के कंगन और पैरों में चाँदी की गोड़ाई, भर बाँह की बूटेदार कमीज पहने, काली साड़ी के छोर गले में लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ बालों को सँभालने में परेशान, वह छोटी-सी लड़की जो उस दिन मेरे सामने आकर खड़ी हो गई थी—अपने बचपन की उस रजिया की स्मृति ताजा हो उठी, जब मैं भी अचानक उसके गाँव जा पहुँचा।

दोनों अंशों का वर्ण्य विषय स्मृतिगत रूप वर्णन है। दोनों में चित्रात्मकता मिलती है, साथ ही भावात्मकता का स्पर्श भी मिलता है। (अ) में चरित्रनायक के चर्म सौन्दर्य की न्यूनता तथा उसकी व्यंजना से, अतएव परोक्ष रूप में कर्म सौन्दर्य की विशेषता प्रदर्शित की गई है। उसमें स्मृति की गहराई, परिष्करण, गुरुता तथा वायवीयता की अनुभूति होती है। इसके विपरीत (ब) की चित्रात्मकता में (अ) की अपेक्षा विशेष सहजता प्रतीत होती है। साथ ही (ब) में घटनात्मकता सम्पृक्त है। (ब) की चरित्रनायिका के विशिष्ट सामाजिक स्तर से सम्बद्ध होने की अतिरिक्त विशेषता भी अंश में प्रकट रूप से दिखाई पड़ती है।

सारांश यह है कि भावात्मक रूप वर्णन की दृष्टि से समान होते हुए भी दोनों अंश कुछ दृष्टियों से एक दूसरे से भिन्न हैं। पाठक के हृदय को, अन्तर्ज्ञान द्वारा अनुभूत होने वाले साम्य-वैषम्य को दोनों अंशों की भाषा-शैली के वैज्ञानिक विश्लेपण से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

व्याकरण भाषा पक्ष

(1) प्रकार की दृष्टि से (अ) में, एक सरल तथा एक संयुक्त वाक्य का प्रयोग हुआ है। दूसरी ओर (ब) का एक मात्र वाक्य मिश्र कोटि का है। दोनों अंशों में पाए जाने वाले वैषम्यों को सामूहिक रूप से इस अन्तर के साथ जोड़ा जा सकता है।

(2) दोनों अंशों में समान रूप से वाक्यांशों (संज्ञा-क्रिया विशेषण, दोनों) के शृंखलामूलक प्रयोग के द्वारा रूप वर्णन हुआ है। (अ) किसी थके भुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक·········आदि (ब) कानों में चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल·······आदि।

(3) विशेषण-वाक्यांशों का प्रयोग दोनों अंशों में महत्त्वपूर्ण शैलीय उपकरण के रूप में हुआ है। (अ) के विशेषणों में (ब) के विशेषणों की अपेक्षा अधिक विविधता मिलती है। भावात्मक विशेषण दोनों अंशों में प्राप्त होते हैं। (अ) स्नेह तरल, किसी थके भुँझलाए शिल्पी की अंतिम भूल जैसी (अनगढ़ मोटी नाक); (ब) गोरा (चेहरा)। इसी प्रकार निर्देशात्मक विशेषण भी दोनों में समान रूप से हैं। (अ) संकीर्ण, खूब घनी, छोटी-छोटी, अनगढ़, मोटी, सघन सफेद·········आदि, (ब) चाँदी का, भर बाँह की, बूटेदार, काली, लटकते हुए······आदि। परन्तु (अ) में विशेषणों की दो कोटियाँ और प्राप्त होती हैं जिसके फलस्वरूप (अ) का रूप वर्णन (ब) के रूप वर्णन से अधिक परिष्कृत हो गया है। वे हैं क्रमशः सादृश्यसम्बन्धनिरूपक तथा अवधान-मूलक विशेषण, (अ) किसी थके भुँझलाये शिल्पी की अंतिम भूल जैसी (अनगढ़ मोटी नाक) काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली (सघन और)

सफेद दन्तपंक्ति); साँस के प्रवाह से फैले हुए से (नथुने), मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से (ओंठ)।

(4) विशेषण वाक्यांशों के द्वारा ही (अ) के चरितनायक के चर्म-सौन्दर्य की न्यूनता व्यक्त हुई है, संकीर्ण (माथे पर), खूब घनी (भौंहें), छोटी-छोटी (स्नेह-तरल आँखें), अनगढ़ मोटी (नाक), फैले हुए से (नथुने), फूले हुए से (ओंठ) आदि। यह द्रष्टव्य है कि चर्म-सौन्दर्य की विशेषता भी विशेषणों से ही प्रकट हो रही है। इस दृष्टि से उक्त विशेषता की अभिव्यक्ति को भावात्मक विशेषणों का एक अतिरिक्त प्रकार्य माना जा सकता है।

(5) (अ) के सादृश्यसम्बन्धनिरूपक विशेषण-वाक्यांशों की निविष्ट संरचना (ब) की तुलना में उसके परिष्कृत स्वरूप के लिए उत्तरदायी है। (अ) में प्रतीत होने वाली गुरुता और नायवीयता उसके विशेपण-वाक्यांशों की निविष्ट सरंचना के कारण भी है।

(6) (अ) और (ब) के क्रिया वाक्यांशों में काल का भेद भी मिलता है। (ब) क्रिया वाक्यांश 'खड़ी हो गयी थी, में पूर्ण भूतकाल है, तथा 'जा पहुँचा' 'हो उठी' में सामान्य भूत। इस काल-भिन्नता का सम्बन्ध (ब) की घटनात्मकता के साथ है जो वस्तु- विन्यास से सम्बन्धित है। इसमें प्रत्यावर्तन (Flashback) की युक्ति का प्रयोग हुआ है जो उपर्युक्त किया वाक्यांश के काल-पूर्ण भूतकाल में प्रतिक्षिप्त हो रही है। इसके विपरीत (अ) के क्रिया वाक्यांशों का काल-वर्तमान काल-सम्पूर्ण अंश में व्याप्त, भावात्मकता तथा स्मृति की गहराई एवं स्थायिता से सम्बद्ध किया जा सकता है।

शब्द

(1) (अ) तथा (ब) दोनों में रूप वर्णन के लिए मूर्त्त एवं स्पष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इसमें वे सभी संज्ञा तथा विशेषण-वाक्यांश हैं जो चरितयनाकों की आकृति (नख-शिख) वर्णन करते हैं: (अ) संकीर्ण माथा, खूब घनी भौंहें, छोटी-छोटी आँखें, अनगढ़ मोटी नाक, साँस, हँसी, नथुने ओंठ, सघन, भौंहें, सफेद दंतपंक्ति आदि। (ब) कान, चाँदी,बाली, गला, हैकल, हाथ, कंगन, पैर, गोड़ाई बाँह, बूटेदार कमीज, काली साडी, छोर गोरा चेहरा, छोटी बाल आदि। इसके अतिरिक्त (ब) के मूर्त शब्द गोरा, छोटी भावात्मक भी है : (अ) की मूर्त शब्दावली उसकी समृद्ध भावात्मकता को अभिव्यक्त कर रही है : स्नेह तरल, स्मृति पट अन्तिम भूल। (ब) की भावात्मक शब्दावली प्रधानतया मूर्त ही रही है : गोरा, छोटी, सी परेशान। इसी प्रकार एक ही वाक्य में 'अंकित होना' तथा 'खो जाना' इन दो विलोम शब्दों का समन्वय मूलक प्रयोग भी परिष्करण (Sophistication) के गुण के लिए उत्तरदायी है।

(2) (अ) की प्रधानतया साहित्यिक तथा तत्सम शब्दावली उसमें प्राप्त परिष्करण से संयुक्त की जा सकती है। इसके विपरीत (ब) में तद्भव, बोलचाल के तथा बोली के शब्दों की प्रधानता का सम्बन्ध उसकी सहजता के साथ स्थापित हो जाता है।

(3) (ब) में प्राप्त होने वाली आभूषण तथा वस्त्र सम्बन्धी शब्दावली—

चाँदी, बालियाँ, हैकल, कंगन गोड़ाईं — चरित्रनायिका के विशिष्ट सामाजिक स्तर—आर्थिक तथा जन्म की दृष्टि से हीन—को प्रकट करती है।

(4) (अ) के शब्दों के अर्थगत सम्बन्ध—सादृश्य—की विशेषता भी (अ) के रूप वर्णन की परिष्कारिता से सम्बद्ध है। रामा की, 'अनगढ़ मोटी नाक' की तुलना 'किसी भुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल' से की गई है तथा 'सघन और सफेद दंतपंक्ति, को 'काले पत्थर के प्याली में पड़ी दही' के समान बताया गया है।

ध्वनि

दोनों अंशों के वाक्यांशों की योजना के माध्यम से निष्पन्न होने वाली लय उनकी चित्रात्मकता को पुष्ट करती प्रतीत हो रही है: (अ) साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने (13) मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से ओंठ (12) : (ब) कानों में चाँदी की वालियाँ (9) गले मे चाँदी का हैकल (8) हाथों में चाँदी के कंगन (8) पैरों में चाँदी की गोड़ाई (9)। (कोष्ठगत संख्या (Syllabls) अक्षरों की संख्या को सूचित करती है।

साहित्यिक पक्ष

शैली वैज्ञानिक विश्लेषण को भाषा पक्ष से प्रस्तुत करने के बाद उसे साहित्य पक्ष से इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते है :

(1) चित्रात्मकता : संज्ञा-तथा क्रियाविशेषण-वाक्यांशों का शृंखलामूलक प्रयोग, विशेषण, वाक्यांश, मूर्त एवं स्पष्ट शब्दावली, लय।
(2) भावात्मकता : विशेषण वाक्यांश।
(3) चर्मसौन्दर्य की न्यूनता, तथा कर्मसौन्दर्य की विशेषता : विशेषण-वाक्यांश।
(4) परिष्करण, गुरुता तथा वाचनीयता: विशेपण वाक्यांश, अमूर्त साहित्यिक तथा तत्सम शब्द, विलोम शब्दों का समन्वयात्मक प्रयोग, शब्दों का अर्थगतसम्बन्ध — सादृश्य।
(5) स्मृति की गहराई, स्थायिता : काल (वर्तमान)।
(6) घटनात्मकता : काल (भूत-पूर्ण तथा सामान्य)।
(7) सहजता : तद्भव, बोली के, तथा बोलचाल के शब्द।
(8) सामाजिकता : वस्त्राभूषण संम्बन्धी विशिष्ट शब्दाली।
(9) समग्र साहित्यिक सरचना : वाक्य-रचना के प्रकार—सरल तथा संयुक्त, एवं मिश्र।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दोनों अंशों की शैली का मुख्य आधार वाक्य रचना का प्रकार, विशेषण वाक्यांश, काल, अमूर्त शब्द, समूह के विशिष्ट स्तर, तथा विशिष्ट अर्थगत सम्बन्ध हैं। दोनों के आस्वाद में अनुभव होने वाले अन्तर का स्वरूप उपर्युक्त कोटि के भाषिक तत्त्वों के आधार पर निरूपित किया जा सकता है। (अ) की समग्र शैलीय संरचना जटिलता (Complexity) की ओर झुकी हुई है, (ब) की सरलत (Simplicity) की ओर। (अ) की सौन्दर्य शैलीपरक विशेषता के निरूपण के लिए हम सामूहिक रूप से परिमार्जित (Eleveted) तथा (Abtruse)

विशेषणों का प्रयोग कर सकते हैं " तथा (ब) की उक्त विशेषता के लिए सुबोध (Plain) तथा सहज (Natural)।

यहां यह संकेत करना उचित होगा कि साहित्य की संरचना तथा उसकी सौन्दर्यात्मक विशेषताएँ परस्पर संश्लिष्ट हैं। विश्लेषण की भाषा से प्रतीत हो सकने वाली पार्थक्य-कल्पना केवल व्यवहार के अनुरोध से है। यह साहित्यिक सामग्री की अन्तर्निहित विशेषता होती है कि सौन्दर्यात्मक विशेषणों के द्वारा उसका संकेत किया जाए। तथापि शुद्ध सैद्धांतिक दृष्टि से किसी प्रकार का व्याप्ति संबंध उनमें नहीं जा सकता। अधिक-से-अधिक हम संवादी भाषागत शैलीय उपकरणों को विशिष्ट प्रकार की सौन्दर्यात्मक विशेषता के अस्तित्व की संभावना से जोड़ सकते हैं। वे प्रवृत्ति-संकेतक होते हैं, नियम-संकेतक नहीं।

उपर्युक्त अध्ययन केवल दो परिच्छेदों से सम्बन्धित था। यदि हमें किसी कृति विशेष का शैली विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करना हो तो उसके लिए हमें निम्न-लिखित क्रम अपनाना होगा—

(1) कृति की भाषा की सामान्य व्याख्या
(2) शब्द-चयन — ध्वनिगत विवेचन (काव्यकृतियों के लिए)
(3) प्रयुक्त शब्दों के अर्थ के विभिन्न स्तर
(4) अलंकार—शब्दालंकार, अर्थालंकार—समतामूलक, विषमतामूलक
(5) प्रतीक
(6) सम्पूर्ण अभिव्यक्ति कौशल-कथ्य के अनुरूप अभिव्यक्त करने की क्षमता—कथ्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।
(7) सौन्दर्य बोध की दृष्टि से कृति का विवेचन।

समवेततः शैली वैज्ञानिक अध्ययन की यही प्रक्रिया है।

अध्याय | 18

व्युत्पत्ति-विज्ञान

प्रश्न 111—व्युत्पत्ति-विज्ञान का परिचय देते हुए 'व्युत्पत्ति, के सामान्य नियमों का परिचय दीजिए।

उत्तर—'व्युत्पत्ति' शब्द का अर्थ है—विशेष या विशिष्ट उत्पत्ति-अतएवी व्युत्पत्ति-विज्ञान में शब्दों के मूल का अध्ययन किया जाता है। यह ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान तथा शब्द-विज्ञान का सम्मिलित योग है। इसके लिए अंगरेज

शब्द है—एटिमॅलोजी (Etymology)। यह यूनानी भाषा के दो शब्दों 'etymon' और 'lgoia' से मिलकर बना है। 'etymon' का अर्थ है—किसी शब्द का शाब्दिक अर्थ है उसकी उत्पत्ति के अनुसार तथा 'loyia' का अर्थ है—लेखा-जोखा अर्थात् किसी शब्द का उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार लेखा-जोखा ही एटिमॅलोजी है। वेब्स्टर कोश ने इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"The history of a linguistic form (as a word) shown by tracing its develepment since its earliest recorded occurnece in the language where it is found,

व्युत्पत्ति के नियम

शब्दों को व्युपत्ति देने में बहुत-सी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, जिनमें प्रधान ये है —

(1) जिस शब्द की व्युत्पत्ति देनी हो उसके जीवन का पता लगाकर और उस पर काल-क्रमानुसार विचार करके उसके प्रचीनतम रूप, अर्थ एवं प्रयोग को निश्चित कर लेना चाहिए। जिस शब्द के सम्बन्ध में ये बातें निश्चित हो जाएँ उसकी व्युत्पत्ति देने में भटकने का भय प्रायः नहीं रह जाता।

(2) दो भाषाओं में एक ध्वनि तथा एक अर्थ के शब्द पाकर बिना और छानबीन किए दोनों को संबद्ध नहीं मानना चाहिए। उदाहरण के लिए भोजपुरी का 'नीयर', 'नियर' या 'नियरा' (=नजदीक) और अँग्रेजी का 'नीअर' (near)= नजदीक, शब्दों को लें। दोनों में ध्वनि तथा अर्थ-साम्य है, पर यथार्थतः भोजपुरी का 'नियर या ,नियरा' संस्कृत शब्द 'निकट' से निकला है और अँगरेजी का 'नीअर' पुरानी नार्स के 'नेर' से, और इस प्रकार दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ इस प्रकार का साम्य मिले उस भाषा या बोली की जननी भाषा में, उस शब्द के समानार्थी शब्दों तथा उस शब्द की प्राप्त जीवनी को लेकर विचार करना चाहिए।

(3) दो शब्दों को संवद्ध सिद्ध करने में या किसी पुराने शब्द से किसी बाद के शब्द को व्युत्पन्न सिद्ध करने में ध्वनि या रूप के अतिरिक्त अर्थ पर भी विचार करना चाहिए, और यदि कोई अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़े तो भूगोल, इतिहास तथा सामाजिक नियमों एवं रूढ़ियों के प्रकाश में उस परिवर्तन का कारण समझ लेना चाहिए।

(4) किसी भी ध्वनि का न तो यों ही लोप होता है और न तो कोई अतिरिक्त ध्वनि यों ही किसी शब्द में जुड़ जाती है। अकारण अनुनासिकता भी इसका अपवाद नहीं। इस प्रकार के परिवर्तनों में मुख-सुख, सादृश्य, किसी और शब्द का साथ में जुड़ना तथा स्वराघात (वलात्मक तथा संगीतात्मक) आदि काम करते हैं। इन दृष्टियों से भी दो शब्दों (यदि उनके रूप अभिन्न न हों) को सवद्ध सिद्ध करने में विचार आवश्यक है। इस प्रकार की समस्याओं पर विचार करने में ध्वनि-नियमों का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(5) भाषा के विकास के साथ, शब्द उच्चारण की दृष्टि से सरल तथा लंबाई में प्रायः छोटे होते जाते हैं। एक शब्द के दो रूपों में प्रचीन तथा अर्वाचीन रूप पहचानने के लिए इस सिद्धांत को सामान्यतः अपनाया जा सकता है। यों इसके अपवाद भी मिल सकते हैं।

(6) यदि किसी अन्य भाषा से किसी शब्द के उधार लिए जाने की संभावना हो तो ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से उस पर विचार अपेक्षित है। दो भाषा-भाषियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्पर्क होने पर ही, एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पहुँचते हैं।

(7) किसी भी भाषा के शब्द प्रमुखतः तीन प्रकार के हो सकते हैं, जिनके संबंध में ऊपर कहा जा चुका है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित करने में इन सबका ध्यान आवश्यक है। सम्भव है देखने में कोई शब्द विदेशी ज्ञात हो, पर यथार्थतः वह अपनी प्राचीन भाषा से विकसित हुआ हो, और उसी जननी भाषा से अतीत में कभी विदेशी भाषा में चला गया हो। या दूसरी ओर कोई शब्द जननी भाषा से विकसित हुआ ज्ञात हो पर यथार्थतः वह जननी भाषा से विदेशी भाषा में गया हो और फिर विदेशी भाषा से ही वह आधुनिक काल में लिया गया हो। इस दूसरी अवस्था में वह शब्द विदेशी कहा जाएगा यद्यपि उसका मूल देशी है। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ी शब्द 'शैंपू' लें। पढ़ी-लिखी औरतों में यह एक प्रचलित शब्द है। प्रसाधन-सामग्री में इसका प्रमुख स्थान है। इसे प्रायः लोग अंग्रेजी का समझते हैं, पर यथार्थतः हिन्दी शब्द 'चाँपना' से ही यह अंग्रेजी में लिया गया है। इस प्रकार मूलतः 'शैंपू' हिन्दी शब्द है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मूलतः हिन्दी 'चाँपना' से विकसित होते हुए भी 'शैंपू' अंग्रेजी से हिन्दी में लिया गया माना जाएगा।

(8) दो भाषाओं के दो शब्द यदि अर्थ एवं ध्वनि की दृष्टि से समान या समीप ज्ञात हों तथा अन्य सारी बातों का विचार करने पर भी उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय न हो सके तो यह देखना चाहिए कि वे दोनों भाषाएँ कहीं एक परिवार की तो नहीं हैं और यदि हैं तो उनमें पाए जाने वाले मिलते-जुलते शब्द उन दोनों की आदि जननी मूलभाषा के तो नहीं हैं। संस्कृत पितृ, अंग्रेजी फ़ादर, या फ़ारसी हफ़्त, संस्कृत सप्त ऐसे ही शब्द हैं। इस प्रकार के शब्दों में यदि मूलभाषा के किसी एक शब्द से विकसित होने की सम्भावना का ध्यान न रक्खा जाए तो प्रायः इस निर्णय पर पहुँचने का भय रहता है कि शब्द उन दोनों भाषाओं में किसी एक से दूसरे में लिया गया है।

शब्द-व्युत्पत्ति के उपर्युक्त नियम महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी उपेक्षा होने पर व्युत्पत्तियों में भ्रम होने की संभावना है। प्राचीनकाल में मनमानी व्युत्पत्तियाँ होती रही हैं किन्तु आज इस वैज्ञानिक युग में कल्पित एवं स्वैच्छिक व्युत्पत्तियाँ होनी चाहिए— इसका समर्थन कोई नहीं कर सकता। व्युत्पत्ति-विज्ञान में नियमों, प्रमाणों और इतिहास पर ध्यान देते हुए ही कार्य ठीक हो सकता है।

कोश-विज्ञान

प्रश्न 112—'कोश' क्या है ? उसकी क्या महत्ता एवं आवश्यकता है ?

कोश

उत्तर—'कोश' शब्द का सर्वप्रचलित प्रमुख अभिधेयार्थ है—वह ग्रन्थ जिसमें अर्थ एवं पर्याय सहित शब्द एकत्र किए गए हों। उसका अतिव्यापक, सर्व प्रसिद्ध, लोकप्रिय एवं मूलभूत लक्षण है—शब्दों का संग्रह करना—कोषः शब्दस्य संग्रहः (त्रिकांड चिन्तामणि)।

शब्द अनेक प्रकार के होते हैं और उनको भिन्न-भिन्न दृष्टियों से और शैलियों पर संगृहीत किया जाता है। अतएव कोश मुख्यत: एक वर्गवाची शब्द है। परन्तु सामान्य अर्थों में कोश का तात्पर्य शब्दो के एक ऐसे संग्रह से है जिसमें शब्दों के प्रचलित एवं शुद्ध रूप तथा अर्थ और व्याख्याएँ दी हुई हों।

संस्कृत में 'कोष' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भागुरि के 'त्रिकाण्ड कोष' में मिलता है जिसका रचना-काल पहली शती ई० अनुमानित किया जाता है।

कोश एवं शब्द का सम्बन्ध शरीर और आत्मा का-सा है। शब्द के जन्म, विकास, परिवर्तन तथा परिवर्धन के साथ ही कोश के मूलभूत उपादान एवं सामान्य लक्षण विषयक धारणाएँ भी समय की अवधि के साथ-साथ परिवर्तित होती चलती हैं। अद्यावधि कोश में शब्द-संग्रह ही नहीं, उनका सम्यक् वर्ण-विन्यास, अर्थ, प्रयोग, उच्चारण, पर्याय आदि का भी देना आवश्यक माना गया है।

कोश शब्द अँगरेज़ी के 'डिक्शनरी' (Dictionary) का समानार्थी है। यह शब्द लैटिन के 'di tion' या 'dictio' से निकला है, जिसका अर्थ 'शब्द' या 'उच्चारण' है। अँगरेज़ी में 'डिक्शनरी' शब्द का प्रयोग ऐसे शब्दकोश के लिए होता है, जिसमें शब्दों का क्रम अकारादि हो, जिसमें शब्दों का उच्चारण, उनकी निरुक्ति और उनकी व्याकृतियाँ, उनके विभिन्न अभिप्राय या अर्थ, उनकी वर्तनी, उनके पर्य्याय और विपर्य्याय और उनसे सम्बन्ध रखने वाले शब्दों के प्रयोग भी दिए हों। अँगरेज़ी भाषा का दूसरा शब्द 'लेक्सिकन' (Lexicon) भी डिक्शनरी का पर्याय ही है। यद्यपि बहुत से विद्वान् लेक्सिकन को मृत भाषाओं (पुरानी ग्रीक, हिब्रू) का कोश कहना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।

संस्कृत तथा उसी के अनुकरण पर. हिन्दी में 'कोश' के लिए निघण्टु, माला, नाममाला, शब्दमाला, शब्दरत्नमाला, शब्दसागर, शब्द महार्णव, शब्दार्णव, शब्दरत्न

समुच्चय, अभिधान संग्रह, अभिधान चिन्तामणि, वर्णरत्नाकर आदि नाम व्यवहृत हुए हैं। संसार के ज्ञात कोशों में संस्कृत भाषा का 'निघण्टु' पहला कोश है। इसका रचना-काल 1000 ई० पू० अनुमानित किया जाता है।

कोश की महत्ता—किसी भाषा के शब्द समूह का रक्षण और पोषण कोश-साहित्य द्वारा ही संभव है। कोश की महत्ता के सम्बन्ध में बतलाया गया है—

> कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि।
> उपयोगो महान्नेष क्लेशस्तेन बिना भवेत्॥

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य कोष (=खजाना) के बिना नहीं चल सकता है, कोष के अभाव में शासन-सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, उसी प्रकाश विद्वानों को शब्दकोश के बिना अर्थग्रहण में क्लेश होता है। शब्दों में संकेत-ग्रहण की योग्यता कोश-साहित्य के द्वारा आती है।

शब्द केवल एक व्यक्ति के लिए ही नहीं बने हैं, बल्कि वे सामाजिक सम्बन्धों का मूल्य निर्धारण करने के लिए उसी प्रकार बनाए गए हैं, जिस प्रकार आर्थिक मूल्य निर्धारण का व्यवहार चलाने के लिये सिक्के बनाए जाते हैं। अतः प्रत्येक भाषा के चिन्तक विद्वान् कोश का प्रणयन करते हैं, क्योंकि विशेष विशेष अर्थों की अभि-व्यक्ति के लिये कोशों की आवश्यकता होती है।

शब्दों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी देने के लिये 'कोश' ही एकमात्र एवं अत्याज्य साधन है। कोई भी बौद्धिक कार्य शब्दों के माध्यम के बिना असंभव है और उससे भी अधिक असम्भव है कोश या व्याकरण के बिना शब्दों का उचित ज्ञान प्राप्त करना।

किसी भाषा की वास्तविक स्थिति और उन्नति जितनी पूर्णता से शब्दकोश में प्रतिबिम्बित होती है, उतनी भाषा के किसी अन्य क्षेत्र में नहीं। समस्त प्रकाशमय ज्ञान शब्दरूप ही है और किसी भाषा के समस्त शब्दों के रूप का परिचय उसके कोशों द्वारा ही मिलता है। इसीलिए किसी भाषा के स्वरूप का ज्ञान जितनी सुगमता से एक कोश द्वारा हो सकता है उतना किसी अन्य साधन द्वारा नहीं।

कोश विचार-शक्ति को संकुचित सीमा से उठाकर विकासमयी विस्तीर्ण धरातल पर अवस्थित करने का भी सुदृढ़ माध्यम है। विशेषकर द्विभाषीय या बहु-भाषीय कोशों ने इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसीलिए आज कोशों की स्थिति स्थानिक, प्रान्तीय या एक देशीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँच गई है।

113—कोश-विज्ञान का परिचय देते हुए विविध प्रकार के कोशों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

प्रश्न 114—ऐतिहासिक कोश निर्माण-पद्धति पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

कोश-विज्ञान

कोश-विज्ञान के अन्तर्गत कोशों के इतिहास, प्रकार, निर्माण-पद्धति, सुधार, उन सामान्य सिद्धान्तों आदि का विवेचन और निर्धारण होता है जिनके आधार पर उत्कृष्ट कोटि के कोश बनाए जाते हैं या बनाये जा सकते हैं।

कोशों के प्रकार

किसी भी भाषा के कोशों को कई आधारों पर कई प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं। स्थूल रूप से कोश दो प्रकार के होते हैं—(1) शब्द-कोश, (2) ज्ञान-कोश।

शब्द-कोश

यहाँ 'शब्द' स्वयं में अर्थ की दृष्टि से अति व्यापक है। यह अपने में शब्द, पद, उपवाक्य तथा वाक्य सभी को समाहित किए है। अतएव 'शब्द-कोश' से हमारा तात्पर्य उस कोश से है जिसमें शब्द, पद, उपवाक्य तथा वाक्य आदि का संकलन हो। यह संकलन दो प्रकार का हो सकता है—अर्थवान् तथा अर्थहीन।

[अ] अर्थयुक्त

अर्थ की दृष्टि से कोश दो प्रकार के हो सकते हैं—अनेकार्थी अर्थात् बहु-अर्थी तथा समानार्थी। समानर्थी कोश दो प्रकार के हो सकते हैं—(i) पर्याय कोश, (ii) पर्याय-विपर्याय कोश। यहाँ पर्याय से तात्पर्य मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दों से है। एक स्थान पर संगृहीत ऐसे शब्दों का प्रायः एक-सा सामान्य भाव होता है। इन शब्दों में पारस्परिक एक या इससे अधिक गुणों की साम्यता होती है। पर्याय-विपर्याय कोश में मुख शब्द का विपरीतार्थक शब्द भी साथ में दिया जाता है।

(अ) अनेकार्थी या बहु-अर्थी कोश

प्रत्येक शब्द के कई अर्थ होते हैं और अधिकांश कोश इसी प्रकार के हैं। ये कोश कई प्रकार के हो सकते हैं—

(क) भाषी काश—भाषा-सम्बन्धी कोश 'भाषी-कोश' कहलाते हैं। इस प्रकार के कोश एक भाषा या एक से अधिक भाषाओं के हो सकते हैं—

। क$_1$ । एक भाषी कोश—इस प्रकार के कोश में किसी भाषा का अर्थ उसी भाषा में दिया जाता है। जैसे—अँगरेज़ी-अँगरेज़ी कोश, हिन्दी-हिन्दी कोश। 'भाषा शब्द कोष,' 'मानक हिन्दी कोश' आदि इसी प्रकार के कोश हैं। यह कोश तीन प्रकार का हो सकता है—

1. वर्णनात्मक कोश—इसमें किसी भाषा में किसी एक काल में प्रयुक्त सारे शब्दों और उनके सारे अर्थों को देते हैं। इस प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है कि यदि एक शब्द के एक से अधिक अर्थ हैं, तो उन्हें किस क्रम में रक्खा जाय। हिन्दी में नागरी प्रचारिणी सभा का हिन्दी शब्दसागर या उसका संक्षिप्त रूप, मानक हिन्दी कोश या प्रामाणिक हिन्दी कोश आदि इसी प्रकार के वर्णनात्मक कोश हैं। उनमें अर्थ किसी भी क्रम से न दिए जाकर मनमाने ढंग से जैसे याद आते गए, आगे-पीछे दे दिए गए हैं। वस्तुतः वर्णनात्मक कोश में अर्थ प्रचलन के आधार पर क्रमबद्ध किए जाने चाहिए। जो अर्थ सबसे अधिक प्रचलित हो, उसे सबसे पहले और जो सबसे कम प्रचलित हो उसे बाद में। कभी-कभी अर्थ के कम या अधिक प्रचलन के सम्बन्ध में विवाद भी खड़ा हो सकता है और ऐसी स्थिति में विवादग्रस्त अर्थों में किसी को भी आगे-पीछे रखा जा सकता है।

2. ऐतिहासिक कोश—किसी भाषा का ऐतिहासिक कोश उसके विकास आदि

को समझने के लिए बड़ा सहायक होता है । ऐतिहासिक कोश में किसी भाषा में केवल प्रचलित शब्दों या उनके प्रचलित अर्थों को ही न लेकर सारे शब्दों और उनके सारे अर्थों को लेते हैं । वर्णनात्मक कोश में हमने देखा कि अर्थ प्रचलन के आधार पर सजाया जाता है । यहाँ अर्थ अपने इतिहास के आधार पर सजाया जाता है । उदाहरणार्थ, हम मान लें कि किसी भाषा का एक शब्द है 'अ' उसके 'आ,' 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ' ये पाँच अर्थ हैं । यहाँ देखना होगा कि सबसे पहले किस अर्थ का प्रयोग हुआ और फिर किस-किस का । मान लें कि उस भाषा का आरम्भ 1000 ई० से और 'आ' अर्थ का प्रयोग 1600 ई० में, 'इ' का 1100 में, 'ई' का 1000 में, 'उ' का 1700 में और 'ऊ' का 1200 ई० में हुआ है । कहना न होगा कि यहाँ उन अर्थों को कालक्रम से सजाना होगा अर्थात् 1000 ई० मे प्रचलित अर्थ पहले दिया जायगा फिर क्रम से 1100, 1200, 1600 और 1700 ई० का । अर्थात्

अ—ई, इ, ऊ, आ, उ

इस प्रकार का कोश बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उस भाषा का साहित्य उपलब्ध हो । ऐसे कोश के निर्माण के पूर्व दो बातें आवश्यक हैं : (1) उस भाषा में प्राप्त सभी ग्रंथों का पाठ पाठालोचन के आधार पर निश्चित कर लिया जाए । यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रक्षिप्त अंशों को निकाल फेंकने की आवश्यकता नहीं, अपितु उनके रचे जाने का काल-निर्धारण करके, उन्हें भी उस काल या सदी की रचना मान कर उनके समकालीन साहित्य के साथ रखा जाए । (2) सभी रचनाओं का काल निश्चित कर लिया जाए । इन दो बातों को कर लेने पर किस सदी में कौन शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ इसका निश्चय करना सरल हो जायगा, और उनके आधार पर सम्पूर्ण साहित्य की अनुक्रमणी बनाकर सरलता से ऐतिहासिक कोश बन जायगा । जैकब तथा विहेल्म ग्रिम का Deutsches Worterbuch इस दिशा में कदाचित् सर्वप्रथम प्रयास है । संस्कृत का इसी प्रकार का एक आदर्श कोश पूना में बन रहा है, जिसका पहला खंड प्रकाशित हो चुका है ।

(3) व्याख्यात्मक कोश—इसमें शब्दों के व्याख्यात्मक अर्थ दिए जाते हैं, जिसमें अर्थ पूर्णतः स्पष्ट रहे । अंगरेज़ी वेब्स्टर कोश इसी प्रकार का है । हिन्दी के मानक कोश में कुछ शब्दों के व्याख्यात्मक अर्थ देने का प्रयास किया गया है । 'पर्यायकी' भी इसी कोश का एक प्रकार है । 'पर्यायकी कोश' में पर्यायवाची शब्दों को एक साथ देकर, प्रत्येक के अर्थगत अन्तर को व्याख्यात्मक रूप में स्पष्ट किया जाता है ।

(क 2) द्विभार्थ या द्विभाषिक कोश—इसमें एक भाषा का अर्थ दूसरी भाषा में दिया जाता है । जैसे—उर्दू-हिन्दी कोश, अंग्रेजी-हिन्दी, आदि । ये कोश दो प्रकार के हो सकते हैं—

1. अर्थगत—इसमें किसी देशी भाषा के एक या उससे अधिक अर्थ या अर्थच्छटाएँ दी जाती हैं ।

2. अनुवादपूरक—इसमें प्रविष्टि के निकटतम अर्थ वाला केवल एक शब्द रखा जाता है ।

द्विभाषिक कोश के मूल प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लादिस्लाव-ज्गुस्ता ने लिखा है—"द्विभाषिक कोश का मूल प्रयोजन होता है—एक भाषा के कोशीय

एककों का दूसरी भाषा के ऐसे कोशीय एककों के साथ सामंजस्य स्थापित करना जो कोशीय अर्थ की दृष्टि से समान समतुल्य हों।" इसका महत्त्व इस बात में है कि इसके द्वारा एक भाषा को जानने वाला व्यक्ति दूसरी भाषा को सरलतापूर्वक सीख या समझ सकता है।

(क $_3$) त्रिभाषी या त्रिभाषिक कोश—इसमें तीन भाषा में शब्दों के अर्थ दिए रहते हैं। जैसे—जॉन टॉम्सन प्लॉट्स का A Dictionary of Urdu, Classical Hindi & English (1884, लंदन); मथुरा प्रसाद मिश्र की Trilingual Dictionary English-Urdu-Hindi (बनारस, 1865 ई०)।

(क $_4$) बहुभाषी या तुलनात्मक कोश—ये दो या अधिक भाषाओं के कोश तुलनात्मक, वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक हो सकते हैं। इसमें एक ही अर्थ के वाचक अनेक भाषाओं के शब्द संकलित किए जाते हैं। ऐसे कोशों का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि एक स्थान पर एक अर्थ के वाचक, सभी या अधिक-से-अधिक भाषाओं के शब्द एक साथ देखे जा सकें तथा उनमें प्राप्त ध्वन्यात्मक या अर्थ सम्बन्धी समानता आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। ऐसे कोश प्रायः किसी एक ही भाषा-परिवार की विभिन्न भाषाओं को लेकर बनाए जाते हैं; जिससे उन भाषाओं की पारस्परिक निकटता का अध्ययन किया जा सके। वस्तुतः बहुभाषा कोश में मूलशब्द एक भाषा में होता है और उसका अर्थ दूसरी भाषा या भाषाओं में होता है। इस दिशा में संवत् 1987 (1930 ई०) में प्रकाशित 'श्री सयाजी शासन कल्पतरु' एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इसमें शासन में प्रचलित अंगरेज़ी, गुजराती, मराठी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, हिन्दी, बंगला के समानार्थक शब्द थे। सन् 1931 में सर आर० एल० टर्नर का कोश 'कम्परेटिव एण्ड एटिमॉलॉजिकल डिक्शनरी ऑव नेपाली लैंग्वेज' प्रकाशित हुआ जिसमें 212 भारतीय भाषाओं को तुलना का आधार बनाया गया। 1961 ई० में विश्वनाथ दिनकर नरवणे ने 'भारतीय व्यवहार कोश' प्रकाशित करवाया। इसमें 16 भाषाओं (हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी, उर्दू, सिंधी, मराठी, गुजराती, बंगला, असमिया, ओड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, संस्कृत, कश्मीरी,) के कुल 40,000 शब्द दिए गए हैं। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कोश टर्नर का 'A Comprative Dictionary of Irdo-Aryan Languges (1966) है, जिसमें बहुत सारी भाषाओं की तुलनात्मक सामग्री है।

(ख) बोली कोश—किसी भी भाषा में कई प्रकार की बोलियाँ होती हैं। प्रायः इन बोलियों का कोई महत्त्वपूर्ण साहित्य नहीं होता क्योंकि बोलियाँ जन-सामान्य के दैनिक और सामाजिक जीवन को व्यक्त करने का माध्यम होती हैं। इन कोशों में वे शब्द संकलित किए जाते हैं जो मानक प्रयोगों से भिन्न माने जाते हैं। इन शब्दों के स्थानीय अर्थ आवश्यकतानुसार चित्र सहित भी दिए जाते हैं। अमानक होने के कारण शब्दों के रूप निश्चित करने में यथार्थ ध्वन्यात्मक रूप मान्य समझा गया। लोक में प्रचलित अर्थ को ही मान्यता दी गई। जितने छोटे-छोटे क्षेत्रों के बोली कोश बनाए जाएँगे, उतना ही महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। सन् 1767 में प्रकाशित Nidersachsischen Wort-rbuch 'बोली कोश' के क्षेत्र में प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण कृति स्वीकार की गई है। हिन्दी में रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' का 'अवधी कोश' (1955), डॉ० हरदेव बाहरी का 'भोजपुरी कोश' (1980) इसी प्रकार के कोश हैं। इनके अतिरिक्त ब्रज,

मगही, राजस्थानी, ताजुज्बेकी, मैथिली, हरियानवी, बुन्देली, गढ़वाली, कुमायूँनी, छत्तीसगढ़ी, हलवो, आदि बोलियों के भी कोश हो सकते हैं।

(ग) व्याकरणिक कोश — इन कोशों का निर्माण व्याकरण को आधार बनाकर किया जाता है। इसके कई भेद हैं—

(ग 1) शब्द-भेदात्मक—शब्दों के कई भेद होते हैं, यथा-संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय। इन भेदों के आधार पर पाँच प्रकार के कोश हो सकते हैं। क्रिया कोश का दूसरा नाम 'धातु कोश' भी है।

(ग 2) लिंगवाची—लिंग कुल तीन हैं। इनके आधार पर शब्द कोश तीन प्रकार के होते हैं—पुल्लिंगवाची स्त्रीलिंगवाची तथा नपुंसकलिंगवाची।

(ग 3) व्युत्पत्ति कोश—इसमें एक भाषा के शब्दों की केवल व्युत्पत्तियाँ ही दी जाती हैं। मास्क का 'निरुक्त' इस दिशा से दुनिया का सर्वप्रथम ग्रन्थ है।

।ग 4। योगात्मक — मूल शब्द में उपसर्ग, प्रत्यय, संधि द्वारा नये शब्द बनाए जाते हैं। यह चार प्रकार का होता है—

1. उपसर्ग कोश—इसमें आनुक्रमिक रूप में उपसर्गों का संकलन तथा अर्थों का का विस्तार रहता है।

2. प्रत्यय कोश—इसमें प्रत्ययों का संकलन व अर्थ-विस्तार रहता है।

3. शब्द-परिवार कोश—जिस प्रकार किसी मूल व्यक्ति से परिवार की रचना होती है, उसी प्रकार मूल शब्द में उपसर्ग-प्रत्यय जोड़कर बनने वाले शब्दों को एक परिवार का कहा जाता है। इन शब्दों को अर्थ सहित मूल शब्द के साथ रखा जाता है। यह पेटे वाली पद्धति कहलाती है। अँगरेज़ी की चैम्बर्स डिक्शनरी तथा हिन्दी के पुराने कोश इसी ढर्रे पर बने हैं। इस सम्बन्ध में बदरीनाथ कपूर का 'शब्द परिवार कोश' अवलोकनीय है।

4. समास कोश—यौगिक शब्दों का विश्लेषण कर उनमें निहित समासों तथा अर्थों को व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

।ग 5। पद कोश—यह किसी भाषा के शब्दों का संग्रह न होकर उस भाषा के मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों, वाक्यों, वाक्यखंडों आदि का संग्रह होता है। यह तीन प्रकार का हो सकता है—

1. मुहावरा कोश—मुहावरों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एवं अर्थ होता है। इस सन्दर्भ में रामदहिन मिश्र का 'हिन्दी मुहावरे' (1923), हिन्दी मुहावरा कोश (जम्बुनाथन, 1935) आदि उल्लेखनीय हैं।

2. कहावत या लोकोक्ति कोश — कतिपय प्रकाशित कोशों के नाम इस प्रकार हैं — हिन्दुई कहावतें (1834, कलकत्ता); A Dictionary of Hindustani Proves bs (फैलन, 1884), हिन्दी लोकोक्ति कोश (विश्वम्भर नाथ खत्री, 1923)।

3. उद्धरण या सूक्ति कोश — इसमें किसी विशेष साहित्यकार या अनेक साहित्यकारों की सूक्तियों अथवा उद्धरणों का अर्थ के साथ संग्रह रहता है। यह दो प्रकार का है—

(i) साहित्यकार उद्धरण कोश—जैसे 'प्रेमचन्द्र सूक्ति, कोश'

(ii) भाषा उद्धरण, सूक्ति कोश — जैसे 'हिन्दी सूक्ति कोश' या 'सूक्ति सरोवर' (लाला भगवानदीन)।

।ग₆। ध्वनिमूलक — ये कोश दो प्रकार के हो सकते हैं—

1. समोच्चारित प्राय शब्द कोश—इस कोश मे ऐसे शब्दों का संकलन किया जाता है, जिनका उच्चारण मात्र या वर्ण के हलके हेर-फेर के सिवा प्रायः समान है, किन्तु अर्थ में भिन्नता है।

2 समश्रुतिमूलक शब्द कोश—इस कोश में एक ही उच्चारण अक्षरी तथा वर्त्तनी वाले वे शब्द संकलित किए जाते हैं, जो विभिन्न स्रोतों से आए हैं। अर्थात् आगत शब्द समश्रुतिमूलक होने पर भी भाषा-विशेष के मूल अर्थ में भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, हि० चारा=घास; उर्दू चारा=उपाय।

।ग₇। वर्णिक—जिन कोशों का नियोजन वर्ण के आधार पर होता है, उन्हें वर्णिक कोश कहते हैं। ये तीन प्रकार के हो सकते हैं—

1. एक वर्णिक—इसमें एक-एक वर्ण या अक्षर के अक्षर दिए जाते हैं। जैसे—अमरचन्द्र का 'एकाक्षर नाममाला', उदैराम का 'एकाक्षरी नाममाल'।

2. आदि वर्णिकानुपूर्वी—इन कोशों में शब्दों के आदि वर्ण को लेकर क्रमानुसार सजाया जाता है। अधिकांश कोश इसी पद्धति पर बनाए जाते हैं। जैसे—अकारादि शब्द-मंजरी, नानार्थ संग्रह (अजयपाल)।

3 अन्त्य वर्णिकानुपूर्वी—इन कोशों में अन्त्यवर्णानुसारी पद्धति अपनाई जाती है। महेश्वर द्वारा विरचित 'विश्वप्रकाश' (1111 ई०) इसी प्रकार का कोश है। मंख का 'अनेकार्थ कोश' तथा मेदिनीकर का 'नानार्थ शब्दकोश' भी इसी वर्ग के हैं।

4. अक्षरी कोश—इसमें शब्दों का क्रम अक्षर (सिलेबिल्) के आधार पर लगाया जाता है। यादव प्रकाश कृत 'वैजयन्ती कोश' (11वीं शती ई०) इसी प्रकार का कोश है।

(घ) विशिष्ट कोश—उपर्युक्त कोशों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के कोश भी बनते हैं।

।घ₁। कालवाची—किसी भाषा के साहित्य को तीन कालों में बाँट कर, प्रत्येक काल के शब्दों का संकलन तथा अर्थ निरूपण, इन कोशों का मुख्य प्रयोजन होता है। उदाहरणत: हिन्दी साहित्य को लें तो उसके चार प्रकार के कोश बन सकते हैं—

1. आदिकालीन हिन्दी शब्द कोश—आदिकालीन शब्दों का संकलन व अर्थ।

2. मध्यकालीन हिन्दी शब्द-कोश—हिन्दी साहित्य का मध्यकाल दो भागों में विभक्त है, तदनुसार कोश भी दो प्रकार के हो सकते हैं—

(i) भक्तिकालीन हिन्दी शब्द कोश—इस काल के कोश के भी कई भेदोपभेद हो सकते हैं। जैसे सगुणमार्गी. निर्गुणमार्गी, संत-काव्य, शब्द कोश, सूफी-काव्य शब्द कोश, राम-काव्य शब्द कोश, कृष्ण-काव्य शब्द कोश आदि।

(ii) रीतिकालीन शब्द कोश—डॉ० किशोरीलाल का कोश प्रकाशित हो चुका है।

3. आधुनिक कालीन हिन्दी शब्द-कोश—आधुनिक साहित्यकारों द्वारा प्रयुक्त शब्दों तथा अर्थों का संकलन।

।घ$_2$। व्यक्ति वाङ्मय कोश—किसी व्यक्ति द्वारा उसके रचे सभी ग्रन्थों में प्रयुक्त समस्त शब्दों का कोश 'व्यक्ति वाङ्मय कोश' है। इस कोश से एक व्यक्ति की शब्द-सीमा और अर्थ-सीमा का ज्ञान होता है, साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि साहित्यकार ने किसी शब्द को कितनी बार तथा किन-किन अर्थों में प्रयोग किया है। प्रकाशित कोश—केशव कोश, मीराँ कोश, जायसी कोश, तुलसी शब्दसागर आदि।

। घ$_5$ । संख्यावाची—इसमें संख्यावाचक शब्दों का संकलन होता है।

। घ$_3$ । ग्रन्थ-कोश—इसमें साहित्यकार की किसी एक रचना या ग्रन्थ के समस्त शब्दों को अकारिक्रम में सजा कर कोश बनाया जाता है। प्रकाशित कोशों के नाम—विनय कोश (महावीर प्रसाद मालवीय, 1924 ई०), रामायण कोश (केदारनाथ भट्ट, 1948)।

। घ$_3$ । शब्दार्थी (ग्लॉसेरी)—किसी लेखक, कोश, विभाषा व कला के आंशिक अंग के कठिन, विदेशी, असाधारण, पारिभाषिक तथा गत प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या सूची को 'शब्दार्थी' या 'व्याख्यात्मक शब्दावली' कहतें हैं।

[ब] अर्थ-रहित

इस प्रकार के कोशों में केवल शब्दों का संकलन रहता है। इन शब्दों का अर्थ नहीं दिया जाता है। इतना अवश्य है कि शब्द क्रमानुसार दिए जाते हैं। ये कोश कई प्रकार के होते हैं।

(क) पदानुक्रम कोश—इसमें पदों को अनुक्रम से संकलित किया जाता है। जैसे—वैदिक पदानुक्रम कोश, ऋग्वेद पदानुक्रमणिका।

(ख) प्रतिपदानुक्रम कोश—आखिरी शब्द को सबसे पहले, उसके पहले वाले शब्द को उससे बाद इस प्रकार विपरीत क्रम में सम्पूर्ण पद को लिखकर क्रमानुसार लगा लेते हैं। पाठालोचन के आधार पर किसी ग्रन्थ-विशेष का सम्पादन करते समय यह पद्धति प्रयोग में लाई जाती है।

(ग) सन्दर्भ कोश—किसी ग्रन्थ विशेष या साहित्यकार विशेष के ग्रन्थों में कोई शब्द कितनी बार आया है, इसका उल्लेख इन कोशों में मिलता है। किसी साहित्यकार या कृति विशेष का लोगों ने कहाँ-कहाँ उल्लेख किया है, उनका निर्देश भी किया जाता है। जैसे—तुलसी सन्दर्भ कोश।

(घ) उच्चारण कोश—ठीक उच्चारण किसी भी भाषा की महत्त्वपूर्ण समस्या है। अच्छे कोश इस समस्या का वैज्ञानिक और ध्वनिशास्त्रीय निराकरण देते हैं। फिर भी इसका अलग से कोश बनता है जिसमें शब्दों के मात्र उच्चारण का निर्देश रहता है। डेनियल जोन्स की English Pronouncing Dictionary (1917) तथा जॉन एस० केन्यन व थामस ए० नॉट की Pronouncing Dictionary of American English इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हैं।

(ङ) सूची कोश—सूची शब्दों या पदों का संकलन मात्र है। इसमें अर्थ नहीं दिए जाते हैं। सूचियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं—

($ङ_1$) सूची कोश—इसमें प्रकाशित, अप्रकाशित, हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, कृतिकार का नाम, प्रकाशन-वर्ष, प्रकाशक का नाम व पता, संस्करण आदि का उल्लेख रहता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'हिन्दी-पुस्तक-सूची' इसी वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

($ङ_2$) संकेत-सूची कोश—संकेतों की बहुलता के कारण जब संकेत अस्पष्ट होने लगते हैं तो इस प्रकार के कोशों की आवश्यकता होती है। अँगरेजी में रोबर्ट जे० स्केत्ज का 'The Complete Dictionary of Abbreviations' (1955) इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है।

($ङ_3$) अनुसूची—किसी कृति या कृतिकार द्वारा प्रयुक्त शब्दों का, अपने पूर्वस्थान को इंगित करते हुए अकारादिक्रम से, नियोजन को 'अनुसूची' कहते हैं।

इनके अतिरिक्त ($ङ_4$) ग्रन्थ-सूची, ($ङ_5$) जाति सूची, ($ङ_6$) स्थान सूची, ($ङ_7$) नाम सूची, ($ङ_8$) विषय सूची आदि अन्य कई प्रकार भी संभव हैं।

ज्ञान-कोश

बृहद् परिवेश के व्यापक ज्ञान का परिभाषिक और विशिष्ट शब्दों के माध्यम से ज्ञान देने वाले ग्रन्थ का 'ज्ञान कोश' नाम निर्धारित हुआ। जब कोई कोश शब्द सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातों (शब्द-रूप, व्याकरणिक निर्देश, सामान्य अर्थ, आन्तरिक भावों का निर्देशन) का उल्लेख कर अन्य विषयों इतिहास, संस्कृति, लोकाचार आदि से सम्बद्ध सामग्री प्रस्तुत करने लगते हैं तो वे 'अर्थ-कोश' की सीमा से निकल कर ज्ञान-कोश के क्षेत्र में आ जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान-कोश ऐसा भण्डार है, जिसमें ज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों का समावेश करते हुए विविध विषयों पर संक्षिप्त रूप से पठनीय सामग्री दी जाती है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी 'विश्वकोश' (1713-1784 ई०) के अनुसार ज्ञान-कोश का उद्देश्य है—**"पृथ्वी पर फैले हुए समस्त ज्ञानों का संकलन, एक निश्चित योजना के साथ उन लोगों के सामने रखना जिनके साथ हम रहते हैं और उनके लिए जो हमारे बाद आएँगे। कारण यह कि बीती हुई शताब्दियों का ज्ञान व्यर्थ न हो जाए, हमारे बच्चे श्रेष्ठतर सूचना पा सकें और इस समय भी प्रसन्नता हो कि हम मनुष्य जाति के लिए बिना कुछ किए नहीं मर रहे हैं?**

ज्ञान-कोश सामान्य और विशेष दो कोटियों के हो सकते हैं। सामान्य ज्ञान-कोश को हम 'विश्वकोश' तथा विशेष ज्ञान कोष को केवल 'कोश' नाम देना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

[अ] सामान्य ज्ञान-कोश या विश्वकोश

इसमें विषयों का चयन सभी क्षेत्रों से करते हैं, और पठनीय सामग्री का स्तर पाठक की दृष्टि से उच्चतम से लेकर साधारण तक हो सकता है। बच्चों के लिए लिखे गए विश्वकोशों की सामग्री उस स्तर की होती है, जिससे बच्चों को लाभ हो सके और उनके लिए सुगम भी हो। विशेषज्ञों के लिए जो विश्वकोश हैं उनके लेखों में ज्ञान के अद्यावधि स्तर से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाता है। अँगरेजी में

इस प्रकार के विश्वकोश का सर्वोत्कृष्ट प्रयास 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' है। हिन्दी में नगेन्द्रनाथ वसु का 'हिन्दी विश्वकोश' तथा नागरी प्रचारिणी सभा का 'हिन्दी विश्वकोश' प्रकाशित हो चुका है।

विश्वकोश मुख्यत: दो रूप में नियोजित किए जाते हैं—वर्णानुक्रम और विषयानुक्रम से। इसमें प्रविष्टियों का प्रतिनिर्देश (Cross-reference) भी आवश्यक है जिसमें एक ही सामग्री की पुनरावृत्ति नहीं हो पाती है तथा प्रत्येक लेख के अन्त में सहायक ग्रन्थों तथा दूसरे आधारों की सूचना रहती है।

[ख] विशेष ज्ञान-कोष

आज-कल ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में इतना अधिक कार्य हुआ है कि सबसे परिचय कराना सामान्य विश्वकोश में सम्भव नहीं है, इसलिए अलग-अलग विषयों के विभिन्न ज्ञान-कोश सम्पन्न भाषाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। इन कोशों में विषय-प्रतिपादन का क्षेत्र सीमित कर दिया जाता है। ये कोश पुन: दो कोटियों में विभाजित किए जा सकते हैं —पारिभाषिक तथा विशिष्ट।

(क) पारिभाषिक ज्ञान-कोश—इन कोशों में ऐसे शब्दों का संग्रह करते हैं, जो कुछ विशेष मानवीय गतिविधि या प्रकृति के कुछ विशेष रूप के ज्ञान की शाखा का अध्ययन करने वालों के लिए विशेष अर्थ और महत्त्व रखते हैं। इसके पुन: दो भेद हैं—

($क_1$) विषयानुसारी कोश—प्रत्येक शास्त्र के कुछ अपने शब्द होते हैं, जो उस शास्त्र के अनुसार ही अर्थवत्ता रहते हैं। अगर सभी शास्त्रों के शब्दों को एक ही कोश में रखा जाए तो उससे पाठकों पर अनावश्यक बोझ ही बढ़ेगा. अतएव आजकल एक विषय का कोश बनाने की प्रथा चल गई है। इस प्रकार के कोशों के नाम निम्नलिखित हैं—

1. साहित्य-कोश (हिन्दी साहित्य कोश); 2. संगीत कोश, 3. विज्ञान कोश (हिन्दी वैज्ञानिक कोश-श्यामसुन्दरदास, 1901); 4. मनोविज्ञान कोश; 5. नौ विज्ञान कोश; 6. जीव विज्ञान कोश (जंतु विज्ञान शब्दकोश-महेश्वरसिंह, 19·6); 7. वैद्युत शब्द कोश (वैद्युत शब्दावली-केशवप्रसाद मिश्र तथा रामनाथ सिंह, 1915); 8. ज्योतिष शब्द कोश; 9. खनिज विज्ञान कोश (खनिज अभिधान—डॉ० रघुवीर, 1953); 10. चिकित्सा कोश (रोग नामावली कोश-दलजीत सिंह, 1951) 11. शरीर विज्ञान कोश (प्रत्यक्ष शरीर कोश, 1951 प्रयाग); 12. वाणिज्य शब्द कोश (कान्तानाथ गर्ग तथा श्रीनारायण श्रीवास्तव, 1949 ई०); 13. अर्थशास्त्र शब्दकोश (डॉ० रघुवीर तथा अन्य,1948); 14. गणितीय कोश (डॉ० बृजमोहन, 1954); 15. सांख्यिकी शब्दकोश (डॉ० रघुवीर तथा अन्य, 1948); 16. समाचारपत्र शब्दकोश (डॉ० सत्यप्रकाश, 1942); 17 पुस्तकालय विज्ञान कोश (प्रभु नारायण गौड़, 1961); 18. दर्शनशास्त्र कोश; 19. भौतिक विज्ञान कोश (डॉ० सत्यप्रकाश, 1951); 20. रसायन शास्त्र कोश; 21. जीवरसायन कोश (व्रजकिशोर मालवीय, 1952); 22. पदार्थ संख्या कोश (व्रजवल्लभ मिश्र, 1911); 23. समाज शास्त्र कोश; 24. शिक्षाशास्त्र कोश; 25. कृषि कोश (डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, 1959); 26. राजनीति कोश, 27. शासन शब्दकोश (राहुल सांकृत्यायन, तथा

अन्य, 1948); 28. विधि शब्द कोश; 29. भूगोल शब्दकोश (रामनारायण मिश्र, 1948); 30. भाषा विज्ञान कोश (डॉ० भोलानाथ तिवारी, 1964); 31. वनस्पति विज्ञान कोश; 32. प्राकृतिक इतिहास कोश; 33. भूगर्भ शास्त्र कोश; 34. धातु विज्ञान कोश; 35. भवन-निर्माण कला कोश; 36. शल्य चिकित्सा कोश; 37. भैषज कोश; 38. आयुर्वेदीय कोश; 39. रंगसाजी कोश; 40. अभियांत्रिकी कोश; 41. जलवायु कोश; 42. शिल्प विज्ञान कोश; 43. सिलाई-कढ़ाई शब्द कोश; 44. अंक-विज्ञान कोश; 45. अश्वविज्ञान कोश; 46. फिल्म विज्ञान कोश; 47. पाक-विज्ञान कोश; 48. सैन्य विज्ञान कोश; 49. धर्मशास्त्र कोश आदि ।

(क$_2$) साहित्यिक विधा कोश—प्रत्येक साहित्य की अनेक विधाएँ हैं, जिनको दृष्टि-पथ में रखकर ये कोश कई प्रकार के हो सकते हैं—

1. काव्य शास्त्रीय शब्द कोश—इस प्रकार के कोशो में रस, छन्द, अलंकार गुण, दोष, रीति, नाट्य-शास्त्र, उपन्यास, कहानी, एकांकी काव्य विषयक शब्दों की विशेष रूप से व्याख्या रहती है । इन विषयों के आधार पर इसके पृथक्-पृथक् कोश भी बन सकते हैं ।

2. ग्रन्थ निर्देशक कोश—इस प्रकार के कोशों में साहित्यिक विधाओं (नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, लेख, निबन्ध-शोध प्रबन्ध काव्य आदि) से सम्बन्धित कृतियों या रचनाओं का आनुक्रमिक रूप में विशेष विवरण दिया जाता है । प्रकाशित हिन्दी-उपन्यास कोश, हिन्दी नाटक कोश आदि इसी प्रकार के कोश हैं ।

(ख) विशिष्ट कोश—उपर्युक्त प्रकार के कोशों के अलावा अन्य प्रकार के कोश इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं—

(ख$_1$) चरित्र-कोश—इसमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रों का संकलन है । जैसे—भारतीय चरिताम्बुधि (चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, 1919); भारत-वर्षीय प्राचीन चरित्र कोश (सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, 1964); मदन कोश (संसार के 1000 महापुरुषों का चरित्र) ।

(ख$_2$) कथा-कोश—प्राचीन साहित्य में व्यवहृत नामों तथा पौराणिक अन्तर्कथाओं का सन्दर्भ ग्रन्थ; जैसे 'हिन्दी कथा कोश' (डॉ० भोलानथ तिवारी, 1954 ई०) ।

(ख$_3$) शासक-कोश—देश में शासन करने वाले राजाओं का विवरण ।

(ख$_4$) साहित्यकार-कोश—इसमें साहित्यकारों की जन्म-मृत्यु की तिथियों, रचनाओं तथा उनके साहित्यिक कार्यों का उल्लेख रहता है । जैसे—हिन्दी साहित्यकार कोश, हिन्दी सेवी संसार आदि ।

(ख$_5$) ग्रन्थ-कोश—इसमें ग्रन्थ या ग्रन्थों पर सर्वांगपूर्ण दृष्टि से विचार किया जाता है । जैसे—प्रसाद साहित्य कोश (डॉ० हरदेव बाहरी, 1957); महाभारत कोश (राम कुमार राय, 1964 ई०); वाल्मीकि रामायण कोश (रामकुमार राय, 1965 ई०) ।

(ख$_6$) ऐतिहासिक काल कोश—इसमें तिथिवार प्रत्येक घटना का विस्तार से विवरण रहता है ।

इस प्रकार कोश के उपर्युक्त वर्गीकरण हो सकते हैं ।

प्रश्न 115—कोश किस प्रकार बनाया जाता है? बतलाइए।

उत्तर—कोश-निर्माण के लिए प्रायः कोशकार निम्नलिखित रीति अपनाते हैं।

शब्द-संकलन—सबसे पहला काम कोशकार को शब्द-संकलन का करना पड़ता है। कोश यदि जीवित भाषा का है तो लोगों से सुनकर शब्द इकट्ठे करने पड़ते हैं। यदि साहित्य या पुरानी भाषा का बनाना हो तो पुस्तकों से लेना पड़ता है। लोगों से सुनकर इकट्ठा करने में पूर्ण कोश बनाना प्रायः असम्भव-सा है, क्योंकि हर जीवित भाषा में शब्द बढ़ते रहते हैं, नये शब्द विभिन्न स्रोतों से आते रहते हैं। साहित्य के आधार पर कोश बनाने के लिये संबद्ध सारी पुस्तकों की पूरी शब्दानुक्रमणी बना लेना सबसे अच्छा होता है। इससे कोई शब्द या अर्थ छूटने नहीं पाता। ऐतिहासिक कोशों के लिये तो ऐसा करना अनिवार्य है।

वर्तनी—(Spelling) सबसे अधिक आवश्यक चीज है—वर्तनी की एकरूपता। अनेकरूपता होने पर होता यह है कि कभी-कभी शब्द कोश में रहता तो है, किन्तु मिलता नहीं। इस विषय के आवश्यक निर्णयों का उल्लेख भूमिका में अवश्य करना चाहिए।

शब्द-निर्णय—यह कार्य बहुत कठिन है। इसमें कई प्रश्न सामने आते हैं। जैसे किस शब्द को मूल मानें और किसको दूसरे के अन्तर्गत रक्खें। समस्त पदों को प्रथम के साथ रक्खें या दूसरे के। इसी प्रकार से ध्वनि की दृष्टि से एक दीखने वाले शब्द को एक मानें या अधिक। उदाहरणार्थ; 'आम' शब्द है। एक तो अरबी का 'जो खास न हो' दूसरे संस्कृत में 'आम्र' का तद्भव। अच्छे कोश में दोनों को अलग शब्द मानना होगा। आम,1 आम2।

शब्द-क्रम—कोश में शब्द विशेष क्रम से होते हैं ताकि देखने वाला उन्हें सरलता से पा सके। संसार में कोशों में अनेक प्रकार के शब्द-क्रम प्रचलित रहे हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

(1) **वर्णानुक्रम**—आज अधिकांश कोशों में शब्द वर्णानुक्रम से रखे जाते हैं।

(2) **अक्षर-संख्या**—इसके आधार पर भी शब्दों को रखा जाता है। भारत में इस प्रकार के एकाक्षरी कोश मिलते हैं। चीनी तथा कुछ और भाषाओं में भी यह पद्धति प्रचलित है। इसमें एक अक्षर (Syllable) वाले शब्द पहले, फिर दो वाले, फिर तीन वाले और आगे भी इसी प्रकार रखे जाते हैं।

(3) सुरप्रधान भाषाओं में वर्णानुक्रम या अक्षर-संख्या के आधार पर शब्दों के रखने के अतिरिक्त उन्हें सुरों के आधार पर भी रखते हैं, क्योंकि वहाँ एक ही शब्द कई सुरों में भी प्रयुक्त होता है।

(4) **विचारों के आधार पर**—पर्याय कोशों या थेसारस में शब्दों को भावों विचारों के आधार पर रखा जाता है। जैसे सारे जीवों के शब्द एक स्थान पर। ऐसे ही धर्म, अंग, खाद्य-पदार्थ, कला, विज्ञान आदि के अलग-अलग। अमरकोश के कांड इसी आधार पर हैं।

(5) **व्युत्पत्ति के आधार पर**—कभी-कभी शब्द व्युत्पत्तियों के आधार पर रखे

जाते हैं। अरबी में इस प्रकार के कोश प्रायः मिलते हैं जिनमें वर्णानुक्रम से 'माद्दा' देते हैं और हर 'माद्दा' के साथ उससे बनने वाले शब्द।

व्याकरण—बहुत के कोशों में शब्द पर व्याकरण की दृष्टि से भी टिप्पणी रहती है। इसका निर्णय भी विचारपूर्वक होना चाहिए। कभी-कभी एक शब्द कई व्याकरणिक इकाई के रूप में प्रयुक्त होता है। मूलतः वह जो है, उसी का कोश में उल्लेख होना चाहिए।

अर्थ—अर्थ वर्णनात्मक कोश में प्रचलन के आधार पर और ऐतिहासिक में इतिहास के आधार पर दिया जाता है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं—एक में केवल एक समानार्थी शब्द देते हैं (जैसे गज=हाथी) दूसरे में व्याख्या देते हैं या समझाते हैं। (जैसे हाथी एक जानवर है जो) दोनों प्रकारों का उचित प्रयोग होना चाहिए। व्याख्या जहाँ अपेक्षित हो वहीं दी जानी चाहिए।

उद्धरण—स्पष्टीकरण के लिए अर्थ के साथ उसके प्रयोग भी दिए जाते हैं। ऐसे उद्धरण प्रामाणिक होने चाहिए। यदि कई उद्धरण दिये जाएँ तो उन्हें कालक्रमानुसार रखना चाहिए।

चित्र—कभी-कभी अर्थ, पर्याय या व्याख्या से स्पष्ट नहीं होते। ऐसी स्थिति में वस्तु का चित्र आवश्यक हो जाता है।

उच्चारण—कोश में उच्चारण भी आवश्यक है, क्योंकि मात्र सामान्य वर्तनी से वह स्पष्ट नहीं होता। हिन्दी कोशों में उच्चाअण नहीं रहता।

व्युत्पत्ति—यह भी कोश का महत्वपूर्ण अंग है। अच्छे कोश में इसका होना आवश्यक है। व्युत्पत्ति का कभी तो सीधे संकेत कर देते हैं, कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टि से और भाषाओं के भी रूप दे देते हैं। संक्षेप में कोश-निर्माण की यही विधि है।

प्रश्न 116—किसी भाषा के अच्छे कोश में किन तत्वों का होना अनिवार्य है? बतलाइए।

उत्तर—किसी भी भाषा के अच्छे कोश में जिन तत्त्वों का होना अनिवार्य है, उन पर चार दृष्टियों मे विचार किया जाता है—

(क) शब्द-चयन तथा प्रविष्टियों की दृष्टि से

1. उसमें साहित्यिक भाषा के प्रचलित शब्दों का संकलन होना चाहिए। प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं के सभी शब्दों को उसमें स्थान मिलना चाहिए।

2. किसी भी, प्राचीन या अर्वाचीन तथा देशी व विदेशी, भाषा के अप्रचलित शब्दों के समावेश से अनावश्यक रूप में उसकी कलेवर वृद्धि नहीं की जानी चाहिए।

3. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का समावेश किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। उसमें नितान्त अमहत्त्वपूर्ण एवं ऐसे प्राचीन व्यक्तियों या स्थानों की नामावली का समावेश नहीं होना चाहिए जो कोशस्थ भाषा एवं उसके साहित्य के अंग न हों।

4 कोश में लोकभाषा के शब्दों का समावेश प्रसिद्धि एवं बहु-प्रचलन आदि के आधार पर होना चाहिए। उसमें ऐसा नहीं होना चाहिए कि क्षेत्र विशेष की लोक-भाषा के तो अमहत्त्वपूर्ण शब्दों की अनावश्यक भरमार हो तथा क्षेत्र विशेष की लोकभाषा के प्रसिद्ध शब्द छूट जाएँ।

(ख) व्युत्पत्ति की दृष्टि से

1. किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में दी जानी चाहिए जिससे कि उक्त शब्द का इतिहास तथा उसमें निहित रहस्य स्पष्ट हो सके। ऐसा करने के लिए विभिन्न भाषाओं में प्रचलित समान उद्गम वाले शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए ।

2. उन शब्दों की व्युत्पत्ति देने में अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता का प्रयोग किया जाना चाहिए जो रचनात्मक दृष्टि से एक, किन्तु अर्थ एवं इतिहास के आधार पर वस्तुतः भिन्न शब्द हों।

(ग) अर्थ की दृष्टि से

1. कोश में एक ही शब्द के अनेक अर्थों का महत्त्व-क्रम से उल्लेख होना चाहिए तथा जहाँ इन अर्थों का अन्तर सूक्ष्म हो वहाँ साहित्य से उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जाना चाहिए।

2. विविध उपकरणों एवं जीव-जन्तुओं के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जहाँ भी आवश्यक हो चित्रों का उपयोग भी किया जाना चाहिए।

(घ) व्याकरण, शब्द-क्रम, संपादन एवं मुद्रण आदि की दृष्टि से

उक्त दृष्टियों से भी कोश में अपेक्षित सावधानी रखनी चाहिए। सम्पादन तथा मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ शब्द-विशेष के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाओं को जन्म दे सकती हैं, अतः कोशकार को इनके प्रति भी सतर्क रहना चाहिए।

समवेततः अच्छे कोश में उपरिवर्णित तत्त्वों का होना आवश्यक है।

अध्याय | 20

भाषा-कालक्रम-विज्ञान (शब्द-सांख्यिकी)

प्रश्न 117—भाषा-कालक्रम-विज्ञान या शब्द-सांख्यकी से आप क्या समझते हैं ? इसके सिद्धान्तों तथा पद्धति को सोदाहरण समझाइए।

उत्तर—भाषा-कालक्रम-विज्ञान या शब्द-सांख्यिकी शब्दावली-लोप एवं प्रतिरक्षण के आधार पर कालानुक्रमिक भाषाई सम्बन्धों का प्रतिपादन करता है। यह भाषा-विकास के क्रमागत सोपानों को तिथि प्रदान करता है। इसमें वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर एक भाषा-परिवार की दो या अधिक भाषाओं के शब्द-

समूह को एकत्र करते हैं और फिर उनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में पुराने शब्दों के लोप और नये के आगम के आधार पर भाषाओं के एक मूल भाषा से अलग होने के काल का पता लगाते हैं। साथ ही कभी-कभी ऐसी भाषाओं में जिनमें कुछ समानता हो और कुछ भिन्नता हो, जिसके कारण उनके एक परिवार में होने के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन हो, भाषा-कालक्रम विज्ञान के आधार पर उनके एक परिवार के होने या न होने के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक निश्चय के साथ कहा जा सकता है। इस प्रकार वर्णनात्मक और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पर आधारित इस नयी शाखा के आधार पर ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं।

आधारभूत मान्यताएँ—शब्द-सांख्यिकी की चार आधारभूत मान्यताएँ हैं—(1) किसी भी भाषा की शब्दावली का एक अंश दूसरे की अपेक्षा बहुत कम परिवर्तित होता है। (2) आपेक्षिक रूप से स्थिर शब्दावली के आधारी आंतरक के शब्दों के प्रतिरक्षण की दर काल-प्रवाह में स्थिर और समान रहती है। (3) आधारी शब्दावली में लोप की दर सभी भाषाओं में समान रहती है। (4) यदि हम किन्हीं दो भाषाओं की अधारी शब्दावली के वास्तविक सजातों (ऐसे शब्द युग्म जो पितृ-भाषा के एक ही शब्द से विकसित हो) का प्रतिशत जान लें, तो जिस तिथि से वे एक दूसरे से अलग हुई हैं, उसे वतलाया जा सकता है।

सिद्धान्त—सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए दो सम्वद्ध भाषाओं की तुलनीय शब्द-सूची वनाई जाती है। तत्पश्चात् परिदर्शनपद्धति से सजातों का निश्चयन किया जाता है। संभाव्य सजातों के लिए चार प्रक्रियाओं का अनुप्रयोग किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं—

(1) दो सम्वद्ध भाषाओं के कुछ ऐसे समान और तद्रूप शब्दों को संभाव्य सजात न मानकर संभाव्य असजात माना जाता है, जो किन्हीं अन्य भाषाओं या एक ही भाषा से आदत्त हों।

(2) दो सम्वद्ध भाषाओं के प्रत्येक शब्द-युग्म के रूपिमों का वियोजन किया जाता है, ताकि क्रियाओं के विकारी रूपों के स्थान पर क्रिया के मूल रूपों की प्राप्ति हो सके।

(3) संभाव्य सजात और संभाव्य असजात के निश्चयन के लिए समान रूपिमों की तुलना की जाती है तथा रूपिमों का वह युग्म संभाव्य माना जाता है, जिसमें निम्नलिखित सिद्धान्तों में से एक या अनेक अनुकूल स्वनिमों या स्वनिम गुच्छों में से कम-से-कम तीन युग्म तुल्य हों। जहाँ एक सदस्य दो स्वनिमों वाला हो, उसके दोनों स्वनिम दूसरे सदस्य के तद्स्थानीय स्वनिमों से तुल्य होने चाहिए। तुल्यता-सिद्धान्त निम्नलिखित है—

समान रूपिमों के युग्म में तुलनीय स्थितियों में प्रयुक्त स्वनिम-युग्म

प्रथम—के तद्रूप सदस्यों को तुल्य माना गया है।

द्वितीय—के स्वनिक दृष्टि से समान सदस्यों को तुल्य माना गया है।

तृतीय का एक आश्रित सदस्य असमान सदस्य के तुल्य माना गया है।

चतुर्थ—के नियमित संवादी सदस्य तुल्य माने जाते हैं, भले ही वे स्वनिक-दृष्टि से असमान हों।

(4) दोनों भाषाओं के सजातों की गणना कर दोनों भाषाओं के कालान्तर विस्तार तथा त्रुटि-अभिसीमा की संगणना की जाती है।

विश्लेषण एवं उदाहरण—नरेन्द्र देव वर्मा ने 'हिन्दी तथा अवधी का भाषा काल-क्रम-वैज्ञानिक अध्ययन' किया है। इसके लिए उन्होंने स्वाडेश द्वारा प्रस्तुत 200 आधारी इकाइयों की सूची को आदर्श माना है, जिसमें उन्हें 'स्नो' तथा 'लिवर' के उदाहरण नहीं मिल पाए हैं। इस प्रकार दोनों में 198 युग्म बचे रहते हैं। तुलना-प्रक्रिया में उन्होंने सबसे पहल स्वाडेश की सूची का अँगरेज़ी शब्द दिया, फिर उसके हिन्दी और अवधी तुल्य दिए गए हैं—

(1) all : सब् : सब्, संभाव्य सजात : स् : स, अ : अ और ब : ब; तुल्य तद्रूप (प्रथम सिद्धान्त)।

(79) ice : बरफ़् : बरफ़्; संभाव्य असजात; इनकी समानता का कारण यह नहीं है कि ये सजात हैं, प्रत्युत ये इसलिए समान हैं कि ये फ़ारसी (बर्फ़) से गृहीत हैं।

(109) One : एक् : याक्, संभाव्य सजात : ए : या तुल्य, नियमित संवादी (चतुर्थ सिद्धान्त)।

अब कालान्तर-विस्तार की संगणना की जाती है। तदर्थ सजातों की संख्या को सजात प्रतिशत में परिवर्तित करना होता है। यह कार्य संभाव्य सजातों की संख्या को तुलना किए गए युग्मों की संख्या से भाग देने पर सम्पन्न होता है। संगणना निम्नलिखित सूत्र से की जाती है—

$$t = \frac{\log C}{2 \log R}$$

t = हज़ार वर्ष का कालान्तर-विस्तार
C = सजात प्रतिशत
R = स्थिरांक 0·805 (हज़ार वर्ष बाद बचने वाला सजात प्रतिशत।

हिन्दी और अवधी के 198 युग्मों में से 158 युग्म संभाव्य सजात निश्चित किए गए। 158 को 198 से भाग देने पर 0·79% आता है। सूत्र में प्रतिस्थापित करने पर—

$$t = \frac{\log 0{\cdot}79}{2 \log 0{\cdot}805} = \frac{-0{\cdot}1023729}{2 \times (-0{,}0942041)} = 0{\cdot}5433568$$

0·543 हज़ार वर्षों में संकेतित कालान्तर-विस्तार है, जो 1000 से गुणा करने पर 543 वर्ष हो जाता है। नरेन्द्र देव वर्मा ने 1970 को आधार वर्ष मानकर यह गणना की थी। अतएव निष्कर्ष निकलता है—(1) हिन्दी और अवधी 543 वर्ष पूर्व एक ही भाषा थी या (2) हिन्दी और अवधी एक समान पितृभाषा से सन् 1427 ई० के लगभग पृथक् हुई।

प्राप्त निष्कर्षों को सही बनाने के लिए निम्नलिखित सूत्र के आधार पर 1. विश्रंभ स्तर पर मानक त्रुटि की संगणना की जाती है—

$$S = \sqrt{\frac{C\,(c-1)}{N}}$$

S = सजातों के प्रतिशत के सम्बन्ध में मानक त्रुटि
C = सजात-प्रतिशत।
N = तुलना किए गए युग्मों की संख्या।

शब्दगत सम्बन्ध की मात्रा संगणना की निम्नलिखित सूत्र से की जाती है।

$$d = 14 \times \frac{\log C}{\log R}$$ यहाँ d = अर्थ-शब्दगत सम्बन्ध की मात्रा।

भाषाई स्तर का निर्धारण—सांख्यिकीय विश्लेषण से प्राप्त कालान्तर-विस्तार तथा सजात-प्रतिशत के आधार पर भाषा-रूपों के भाषाई स्तर का निर्धारण किया जा सकता है—

(1) यदि दो भाषाओं का संजात-प्रतिशत 100 से 92 के मध्य और कालान्तर विस्तार 0 से 2 शताब्दी तक है तो वे दोनों एक ही उपबोली की व्यक्ति बोलियाँ होंगी।

(2) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 92 से 80 के मध्य और कालान्तर-विस्तार 2 से 5 शताब्दी तक है, तो वे दोनों एक ही बोली की उप-बोलियाँ होंगी।

(3) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 80 से 65 के बीच और कालान्तर विस्तार 5 से 10 शताब्दी तक है, तो वे दोनों एक ही भाषा की बोलियाँ होंगी।

(4) यदि दो भाषाओं का सजात-प्रतिशत 65 से 35 के बीच और काला-न्तर-विस्तार 10 से 25 शताब्दी तक है, तो वे दोनों एक ही परिवार की भाषाएँ होंगी।

अध्याय 21

भाषा-भूगोल (बोली-भूगोल)

प्रश्न 118—भाषा-भूगोल से आप क्या समझते हैं ? इसकी पद्धति पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए इसकी उपयोगिता बतलाइए।

उत्तर—भौगोलिक परिवेश में जब किसी भाषा का अध्ययन किया जाता है तो वह 'भाषा-भूगोल' कहलाता है।

किसी क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषाओं, भाषा या बोलियों आदि में ध्वनि, सुर, शब्द-समूह, रूप तथा वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से कहाँ-कहाँ क्या-क्या अन्तर या विशेषताएँ हैं—इनका अध्ययन भाषा-भूगोल में किया जाता है। इस प्रकार भाषा-भूगोल में पहले किसी क्षेत्र के अनेक स्थानों की भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन

किया जाता है और फिर उन विभिन्न स्थानों की भाषा-विषयक विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निश्चय किया जाता है कि कितने स्थानों की भाषा लगभग एक-सी है और स्थानीय अन्तर प्रायः नहीं के बराबर है तथा किस-किस स्थान से भाषा में अन्तर आने लगा है एवं वह अन्तर कहाँ थोड़ा और कहाँ अधिक है। साथ ही कहाँ से भाषा में इतना परिवर्तन आरम्भ हो गया है कि एक क्षेत्र का व्यक्ति दूसरे क्षेत्र की भाषा को समझ न सके। इन बातों का निर्धारण हो जाने पर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उस क्षेत्र में 'इतनी' भाषाएँ हैं और उनके क्षेत्र अमुक स्थान से अमुक स्थान तक है। साथ ही प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत आने वाली बोलियों, और प्रत्येक बोली के अन्तर्गत आने वाली उपबोलियों एवं उनके क्षेत्रों आदि का भी निर्धारण किया जाता है। बोलियों का निर्धारण हो जाने पर उनके क्षेत्र में ध्वनि, रूप, शब्द आदि सभी दृष्टियों से सर्वेक्षण किया जाता है और इस प्रकार अलग-अलग बोलियों के अलग-अलग व्याकरण तथा कोश बनाये जाते हैं। उपबोलियों के अन्तरों का भी विवरण प्रस्तुत किया जाता है और आवश्यकतानुसार बोली-क्षेत्रों के अलग-अलग नक्शे भी बनाये जाते हैं, जिनमें भाषा सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट करने वाली रेखाएँ खींची जाती हैं।

पद्धति—जिस भौगोलिक क्षेत्र में भाषा का अध्ययन करना हो, पहले उसमें घूम-फिरकर मोटे ढंग से उसकी भाषा-स्थिति का पता लगा लेते हैं, और इस आधार पर प्रारम्भिक रूप में उसे अध्ययन की सुविधा के लिए खंडों में बाँट लेते हैं। फिर शब्दों या वाक्यों आदि की सूची तैयार करते हैं। सूची कैसे बनाएँ तथा उनके सम्बन्ध में लोगों से सूचना कैसे प्राप्त करें, इसका अध्ययन क्षेत्र पद्धति के अन्तर्गत आता है। भाषा का अध्ययन ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य तथा अर्थ इन पाँच दृष्टियों से किया जा सकता है। ज्ञातव्य सूचनाओं की दृष्टि से सूची बनायी जाती है और पूछने में यह ध्यान रखा जाता है कि बताने वाला या बोलने वाला किसी बाह्य प्रभाव से प्रभावित न हो और स्वाभाविक रूप में सभी बातों को बतलाए। सूची के आधार पर फिर पूरे क्षेत्र से सामग्री एकत्र करते हैं। अच्छा तो यह होता है कि हर 5-5 या 10-10 किलोमीटर के बाद से सामग्री लें, किन्तु यदि इतने अधिक स्थलों से लेना संभव न हो तो उन स्थलों पर लेना चाहिए जहाँ स्पष्टतः कुछ अन्तर हो। सामग्री एकत्र करने पर उस क्षेत्र के नक्शे में उसे विषयानुसार भरा जाता है। ये रेखाएँ सामान्य रूप से 'आइसोग्लास' कहलाती हैं। ध्वनि-रेखा खींचने के बाद रूप-रेखा, वाक्य-रेखा, अर्थ-रेखा और शब्द-रेखा खीचते हैं और फिर इन नक्शों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। फलस्वरूप पूरे क्षेत्र की बोलियों का विभाजन हो जाता है।

उपयोगिता—प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण में भाषा-भूगोल की सहायता मिलती है। कौन-सा स्थान प्राचीनतम है? भाषा-भूगोल द्वारा आसानी से पता लगाया जा सकता है। सांस्कृतिक अध्ययन में भी भाषा-भूगोल पर्याप्त सहायता देता है। शब्दों का अध्ययन ही एक प्रकार से संस्कृति का अध्ययन है। किस दिशा में सांस्कृतिक शब्द फैलते हैं इसको आसानी से मानचित्र पर देखा जा सकता है और उसके साथ ही उस प्रदेश की संस्कृति स्पष्ट होती है। भाषा-भूगोल के द्वारा विभिन्न भाषाओं की परम्परा से चली आती हुई सीमाओं को पुनः निर्धारित किया जा सकता है, अथवा उसमें उपयुक्त परिवर्तनों का सुझाव दिया जा सकता है।

प्रश्न 119—भाषा-भूगोल की परिभाषा देते हुए, भूभाषिकी तथा नव्यभाषिकी से साम्य तथा अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—भाषा-भूगोल का तात्पर्य उस शाखा से है जो भाषीय व्यापार की भौगोलिक स्थिति तथा परिसीमाओं का अध्ययन तथा वर्गीकरण प्रस्तुत करती है। अर्थात् इस शास्त्र की सहायता से किसी भी क्षेत्र विशेष की स्थानीय बोली या बोलियों में स्वन, स्वनिम, सुर, शब्द-समूह रूप तथा वाक्य-रचना आदि की विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है, साथ ही यह भी देखा जाता है कि उपर्युक्त दिशाओं में कहाँ-कहाँ क्या-क्या अन्तर है। भाषा-भूगोल की विद्वानों वे निम्नलिखित परिभाषा दी है—

1. ब्लूमफ़ील्ड—किसी भाषण-प्रदेश में स्थानीय विभेदों का अध्ययन बोली-भूगोल कहलाता है।

2. W. P. lehmonn—एक ही भाषा में विविध वाक्रूपों का अध्ययन बोली-भूगोल या भाषा-भूगोल है।

3. Robert A. Hall—मानव में किसी भी प्रकार का वर्ग-भेद उसकी भाषाई भिन्नता में प्रतिलक्षित होता है। इन भिन्नताओं का विश्लेषण तथा उनका भौगोलिक सामाजिक सह-सम्बन्ध भाषा-भूगोल के नाम से जाना जाता है।

वस्तुतः ये सब परिभाषाएँ भाषा-भूगोल के यथार्थ स्वरूप को वांछित सीमा तक व्यक्त कर सकती हैं। इन सब परिभाषाओं का समादार करते हुए हमारी दृष्टि में भाषा भूगोल की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—किसी भाषा-समुदाय में संकालिक और कालक्रमिक दृष्टियों से शब्द-रचना (बाह्य व आन्तरिक) और प्रयोगों का व्यवस्थित भौगोलिकव सापेक्षेतर अध्ययन भाषा-भूगोल है।

अन्य पर्यायों से साम्य एवं अन्तर

भूभाषिकी—Mario Pei ने भूभाषिकी की व्याख्या इस प्रकार की है–वक्ताओं की संख्या, भौगोलिक वितरण, आर्थिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक महत्त्व व उच्चरित तथा लिखित रूपों के विशेष सन्दर्भों के साथ भाषाओं का वर्तमान स्थिति में अध्ययन ही भूभाषिकी है। इस रूप में यह परिभाषा भाषा-भूगोल को ही लक्षित करती है।

नव्यभाषिकी—नव्यभाषाविज्ञानियों की दृष्टि शब्द प्रक्रियात्मक अध्ययनों पर अधिक थी। उन्होंने शब्दों का उत्पत्ति-स्थान, समय, कारण व दिशा पर विचार करते हुए यह जानने का प्रयास किया कि उनका प्रयोग पहले किसने किया तथा सर्वप्रथम वे किस सामाजिक वर्ग में प्रयुक्त हुए। वे यह भी जानना चाहते थे कि क्या पहले कोई शब्द अलंकारिक का या तकनीकी या और कुछ; तथा उसने किस शब्द को स्थानापन्न किया, किस शब्द के साथ उसे संघर्ष करना पड़ा. व किन शब्दों ने उसके अर्थ और रूप को प्रभावित किया, एवं उसका प्रयोग किस वाक्य, कहावत या पंक्ति में हुआ है। वे यह मानते हैं कि दो शब्दों के समान इतिहास की कल्पना अनुचित है। उनकी धारण है कि शब्दों में परिवर्तन उपस्थित करने वाले प्रत्येक कारण (जैसे-ऐतिहासिक, क्षेत्रीय, प्रसार-केन्द्रीय व अन्य) का ज्ञान आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कारण भाषा-भूगोल के विषय हैं। सच तो यह है कि नव्य-

भाषा विज्ञानियों ने प्रत्येक भाषाई लक्षण को क्षेत्रीय वितरण के प्रसंग में देखने का प्रयास किया है।

आंशिक विवक्षा की दृष्टि से इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं है।

प्रश्न 120 — संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—समभाषांश-रेखा (Isogloss)।

समभाषांश रेखा

उत्तर — समभाषांश-रेखाओं की कल्पना ऋतु-मानचित्रों में खींची जाने वाली रेखाओं के अनुकरण पर हुई हैं। ऋतु-विज्ञान में समतापरेखा या समभार रेखा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह एक ऐसी काल्पनिक रेखा है, जो पृथ्वी की सतह पर उन बिन्दुओं से होकर गुजरती है, जिनका एक बार-साभार या ताप होता है। ऐसी स्थिति में Simeon potter ने कहा है कि समभाषांश-रेखा एक ऐसी रेखा है, जो ऐसे स्थानों से गुजरती है जहाँ के निवासी एक ही प्रकार के भाषांश का प्रयोग करते हैं।"

विद्वानों ने समभाषांश-रेखाओं की वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ परिभाषाएँ अधोलिखित हैं—

1. Bloomfield—"Lines between places which differ to any feature of languege."

2, Strurtevavt—"Each feature of linguistic difference will tend to have its own boundary which is technically known as Isogloss."

3. Hans kurath—An Isogloss is a simplified statement of the geographic dissemination of a word or expression, and on the other hand, that diolect boundaries can be ;established only by means of isoglosses."

4- Hockett—"the geographical boundaries os usage."

5. Gleason—"A live indicating the limit of same degree of linguistic change."

6. डॉ० देवीशंकर अवस्थी—"एक समच्छवि (आइसोग्लास) किसी एक भाषिक तत्त्व का विस्तार निर्दिष्ट करती है और इस प्रकार उस एक लक्षण की परिचायिका मात्र होती है।"

7. Steible—"A line drawn on a map by a diolect linguist to mark the outer. boundaries or limits of the area in which a regionally distributed feature is found."

इन परिभाषाओं में कोई भी परिभाषा ऐसी नहीं है, जिससे समभाषांश या समभाषांश-रेखा पर व्यापक अन्तर्दृष्टि मिलती हो, फिर भी अन्तिम परिभाषा कुछ हद तक ठीक है। यहाँ ध्यातव्य है कि समभाषांश रेखा द्वारा अभिव्यक्त भाषिक तत्त्व समभाषांश कहलाते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इन रेखाओं को अधोलिखित प्रकारों में वर्गबद्ध किया

सकता है—(1) समध्वनिक रेखा, (2) समध्वनिमीय रेखा, (3) समरूपध्वनिमीय रेखा, (4) समरूपिम रेखा, (5) समशाब्दिक रेखा, (6) समार्थक रेखा।

ग्लीसन के अनुसार अधिक या कम समानता रखने वाली जनसंख्या (भाषा-समुदाय) मे किसी समभाषांश के प्रादुर्भाव की गति के अनुसार भाषिक परिवर्तन को बहुत सरलता से खोजा जा सकता है। वैसे अभी तक समभाषांशों का सादृश्य दिया जाता है, उनकी यथार्थता कभी नहीं मिलती इस प्रकार के तत्त्वों को इंगित करने वाली जो रेखा खींची जाती है, वह अन्वेषक के निष्कर्ष को ही बताती है।

अध्याय 22

क्षेत्र-पद्धति या सर्वेक्षण-पद्धति

प्रश्न 121—क्षेत्र-पद्धति का क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

यदि हमें किसी ऐसी भाषा का विश्लेषण करना हो जिसकी सामग्री लिखित रूप में हमें प्राप्त नहीं है, और वह भाषा किसी क्षेत्र में प्रयुक्त हो रही है तो, उस क्षेत्र में जाकर, उसके प्रयोक्ताओं से सुनकर, अपेक्षित सामग्री संकलित करने की पद्धति को क्षेत्र-पद्धति या सर्वेक्षण-पद्धति कहते हैं। यह सामग्री-संकलन भी प्रायः दो प्रकार से होता है : (1) स्वयं उस क्षेत्र में जाकर; (2) उस भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलने वाले अर्थात् मातृभाषा-भाषी (native speaker) को अपने यहाँ बुलाकर। इन दोनों में प्रथम अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है, क्योंकि उस क्षेत्र में उस भाषा का अपना वातावरण बना रहता है, अतः सहज रूप में संबद्ध और अपेक्षित सारी सामग्री प्राप्त करना संभव होता है।

सूचक से सामग्री प्राप्त करने के लिए उसके संपर्क में आना पड़ता है। इस प्रसंग में आने की स्थिति दो प्रकार की हो सकती है। कभी तो ऐसा होता है कि सूचक केवल अपनी भाषा जानता है, उसे किसी ऐसी दूसरी भाषा की जानकारी नहीं होती जो सामग्री संकलित करने वाले या सर्वेक्षक को ज्ञात हो, और कभी-कभी इसके विपरीत वह ऐसी कोई एक (या अनेक) भाषा जानता है, और वह भाषा (या भाषाएँ) उन दोनों के बीच विचार-विनिमय के माध्यम का कार्य करती है (हैं)। पहली स्थिति में उन दोनों के बीच केवल वही भाषा होती है, जिसकी सामग्री लेनी है अतः इस रूप में सामग्री-संकलन की पद्धति को एकभाषिक (monolingual)

पद्धति कहते हैं, तथा दूसरी को द्वैभाषिक (bilingual) पद्धति, क्योंकि उस स्थिति में उन दोनों के बीच एक और भाषा भी आ जाती है। दूसरी में यदि एक से अधिक भाषाओं को माध्यम बनाया जाय तो उसे बहुभाषिक पद्धति कह सकते हैं। यों एक-भाषिक पद्धति के सादृश्य पर दूसरी को अनेकभाषिक पद्धति भी कहा जा सकता है, जिसमें द्वैभाषिक और बहुभाषिक दोनों ही पद्धतियाँ आ जाती हैं। द्वैभाषिक या बहुभाषिक पद्धति से सामग्री-संकलन अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। उसके लिए जिस भाषा को विचार-विनिमय का माध्यम बनाना होता है, उसमें प्रश्नावली तैयार करते हैं। प्रश्नावली बनाते समय मुख्यत: केवल इस बात का ध्यान रखते हैं कि वह इतनी व्यापक हो कि उसके उत्तरस्वरूप, उक्त भाषा के विश्लेषण-विवेचन के लिए अपेक्षित सारी सामग्री (ध्वनि, लिंग; वचन, कारक, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण, विशेषण, क्रिया, अव्यय एवं वाक्यादि विषयक) प्राप्त हो जाय।

प्रश्न 122—सूचक के क्या गुण होने चाहिए ? बतलाइए।

सूचक उस व्यक्ति को कहते हैं, जिससे सूचना (भाषा विषयक सामग्री) प्राप्त की जाए। सूचक के चयन आदि के संबंध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने की हैं—

(1) सामान्यतया 17-18 वर्ष के कम का सूचक बहुत काम का नहीं होता, क्योंकि उसका भाषा-ज्ञान अपेक्षित गहराई का नहीं होता। यों 30-35 वर्ष के आस-पास का सूचक बहुत अच्छा होता है, क्योंकि वह अपनी भाषा की सूक्ष्मताओं से अधिक परिचित होता है। चालीस से ऊपर के सूचकों में साधारणतया अपेक्षित चुस्ती नहीं होती।

(2) कभी-कभी एक ही स्थान की भाषा, उच्च वर्ग, निम्न वर्ग, उच्च जाति, निम्न जाति, हिन्दू-मुसलमान, विशेष प्रकार के अलग-अलग पेशे, आदि दृष्टियों से एकाधिकप्रकार की होती है। यह अन्तर शब्द-समूह के अतिरिक्त कभी-कभी, यद्यपि सीमित रूप में, ध्वनि एवं व्याकरण के स्तर पर भी होता है। सूचक-चयन के समय इसका विचार भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में कई सूचकों (कुछ पुरुषों कुछ स्त्रियों) से सामग्री लेना अच्छा रहता है।

(3) एक स्थान से दो-तीन सूचक लिए जाने चाहिए, किन्तु सभी से अलग-अलग सामग्री नोट करनी चाहिए। जो बातें सभी में समान हों, वे निश्चित रूप से ठीक हैं, किन्तु जिनमें अन्तर है, आवश्यक नहीं कि सर्वदा गलत ही हों। उम्र, व्यवसाय, कुल-परम्परा, शिक्षा आदि कारणों से अन्तर पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में उन्हीं सूचकों से फिर सुनकर, या अन्य सूचकों से पता लगाकर शुद्धि-अशुद्धि या बोलीगत अन्तर आदि का निर्णय किया जा सकता है।

(4) स्त्री-पुरुष में पुरुष सूचक अपेक्षाकृत अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि अधिक सामाजिक जीवन बिताने के कारण, उसका भाषा-विषयक अनुभव भी अधिक होता है। किन्तु इसके साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि पुरुष सूचकों पर बाह्य प्रभाव की अधिक संभावना रहती है। स्त्री सूचक अपेक्षाकृत अधिक अप्रभावित एवं ठेठ भाषा का प्रयोग करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई कठिनाई न हो तो एक पुरुष और एक स्त्री दो सूचकों से सामग्री ली जानी चाहिए।

(5) पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में शब्दों, रूपों, मुहावरों आदि के स्तर पर कभी-कभी अंतर भी मिलते हैं। इसीलिए अपनी आवश्यकतानुसार केवल पुरुष से, केवल स्त्री से, या दोनों से सामग्री ली जा सकती है।

(6) कभी-कभी कुछ पिछड़े वर्गों या जातियों में स्त्रियाँ दूसरों से नहीं मिलतीं-जुलतीं। ऐसे स्थानों पर केवल पुरुष सूचक से काम चलाया जा सकता है।

(7) शब्दों, रूपों एवं प्रयोगों आदि के स्तर पर कम आयु, अधिक आयु और बहुत अधिक आयु के लोगों में अंतर मिलता है। सामान्यतः नई पीढ़ी के लोगों को धर्म, अंधविश्वास आदि विषयक शब्दों या वर्जित शब्दों (टेबू) के संबंध में पुरानी पीढ़ी की तुलना में कम जानकारी होती है। अलग-अलग क्षेत्रों में इससे मिलते-जुलते अन्य प्रकारों के भी अंतर मिल सकते हैं। यदि इस प्रकार के अंतरों को ज्ञात करना भी हमारा लक्ष्य हो तो सूचक तदनुकूल चुने जा सकते हैं।

(8) सूचक कई पीढ़ियों से यदि उसी क्षेत्र में रह रहा हो, तो अधिक अच्छा है, क्योंकि बाहर से आने वालों की भाषा में किसी न किसी स्तर पर, किसी और भाषा या बोली के प्रभाव की पूरी संभावता रहती है। इस प्रकार उससे उस भाषा या बोली का प्रकृत रूप नहीं मिल पाता।

(9) सूचक कई पीढ़ियों से वहाँ रह रहा हो किन्तु यदि वह अपने जीवन-काल में अधिक दिनों तक कहीं बाहर रहा हो तो भी उसकी भाषा में बाह्य तत्त्वों के आ जाने की संभावना रहती है, अतः अच्छा हो कि ऐसे व्यक्ति को सूचक बनाया जाए जो अधिक दिनों के लिए कहीं बाहर न गया हो।

(10) सामग्री के साथ सूचक का नाम, उसकी आयु, स्थान, परिवार की यात्रा, मूल, प्रवास, पेशा आदि विषयक संक्षिप्त इतिहास तथा उच्चारण-अवयव विषयक विशेषता आदि लिख लेनी चाहिए। सामग्री-विश्लेषण में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। सूचक के चयन में सभी दृष्टियों से सामान्य आदमियों को लेना चाहिए।

(11) समझदार आदमी अधिक अच्छा सूचक बन सकता है, क्योंकि वह सर्वेक्षक की आवश्यकता को जल्दी समझ सकेगा।

(12) अल्पभाषी, लज्जालु, एकांतप्रिय या बहुत गंभीर व्यक्ति प्रायः अच्छे सूचक नहीं बन पाते। इसके विपरीत बातूनी, हँसमुख, न झेंपने वाला व्यक्ति सूचक के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त होता है।

(13) सूचक ऐसा होना चाहिए जो सहज रूप में बोले। बहुत से लोग सतर्क होकर बनावटी रूप में बोलने लगते हैं। इस बात का पता चलते ही, या तो उसे छोड़ देना चाहिए या फिर उसके द्वारा बताई गई बातों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का किसी अन्य अच्छे सूचक की सहायता से पता लगा लेना चाहिए?

(14) सभी दृष्टियों से विचार करने पर अन्य लोगों की तुलना में किसान अपने क्षेत्र की भाषा को प्रायः अधिक प्रकृत रूप में जानता तथा बोलता है, अतः मजदूर या अन्य नौकरीपेशा व्यक्ति की तुलना में वह प्रायः अधिक अच्छा सूचक हो सकता है।

(15) ऐसा व्यक्ति जो कोई ऐसी भी भाषा जानता हो जिसका ज्ञान सर्वेक्षक को हो, ऐसी भाषा न जानने वाले की तुलना में, सूचक का काम अधिक अच्छी तरह

कर सकेगा। उससे बड़ी सरलता से और कम समय में अपेक्षित सारी सूचनाएँ ली जा सकती हैं।

(16) यदि कई पढ़े-लिखे सूचक उपलब्ध हों तो भाषा-विज्ञान का जानकार सू .क अपेक्षाकृत अधिक अच्छा हो सकता है।

प्रश्न 123—सर्वेक्षक की आवश्यक अर्हताओं को बताइए।

सर्वेक्षक स्वभाव, योग्यता तथा प्रशिक्षण आदि की दृष्टि से कैसा हो, इस संबंध में ये बातें ध्यान में रखने की हैं—

(1) सर्वेक्षक को यथाशीघ्र अपरिचित को परिचित एवं परिचित को मित्र बना लेनेवाला, मिलनसार, विनम्र, व्यवहार-कुशल, हँसमुख, धैर्यवान, अपना काम सहज ढंग से निकालनेवाला, जिज्ञासु, सूचक से एक शिष्य की तरह भाषा सीखने तथा उसके संबंध में जानकारी प्राप्त करने को इच्छुक, बातचीत में पटु, चुस्त और सावधान होना चाहिए।

(2) उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी होनी चाहिए। इससे तुलना, विश्लेषण आदि में वह अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकता है।

(3) जिस क्षेत्र से सर्वेक्षक को सामग्री संकलित करनी हो, उसके भूगोल, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता, रहन-सहन, लोग, जाति, उद्योग-धंधे आदि का यथा-साध्य उसे समुचित ज्ञान होना चाहिए। इससे उसे अपनी प्रश्नावली बनाने, लोगों से निकट संपर्क स्थापित करने, अच्छे सूचक चुनने और अततः वहाँ की भाषा का समुचित अध्ययन एवं विश्लेषण करने में सहायता मिलेगी।

(4) उसकी श्रवण-शक्ति बहुत अच्छी होनी चाहिए ताकि उच्चारण-स्थान, प्रयत्न, प्राणत्व, अनुनासिकता, मर्मरता, मात्रा-काल सुर, सुरलहर, बलाघात, संगम आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतर को अत्यंत शीघ्रता से और ठीक-ठीक पकड़ सके। इसके लिए, सहज श्रवण-शक्ति के अतिरिक्त, ध्वनि-विज्ञान का सैद्धांतिक ज्ञान, तथा उस ज्ञान के प्रयोग का उसे जितना ही अधिक अभ्यास होगा, वह उतनी ही कुशलता और सफलता से अपना काम कर सकेगा।

(5) भाषाविज्ञान—सामग्री संकलन एवं सामग्री विश्लेषण—में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अच्छी गति, सर्वेक्षक के लिए बड़ी सहायक होती है।

(6) सर्वेक्षक को काफी तेज लिखने का अभ्यास होना चाहिए, ताकि वह सूचक की बोलने की सहज गति को कम किए बिना अपेक्षित सामग्री नोट कर सके।

(7) ध्वन्यात्मक लिपि का न केवल अच्छा ज्ञान बल्कि तेजी से उसमें लिखने का अभ्यास भी होना चाहिए।

प्रश्न 124—सर्वेक्षण के लिए प्रश्नावली निर्माण-पद्धति तथा लेखन पद्धति पर प्रकाश डालिए।

कहानी, गीत, चुटकुला आदि के लिए तो किसी प्रश्नावली की अपेक्षा नहीं होती किन्तु शब्द, रूप, वाक्य आदि जानने के लिए सर्वेक्षक को प्रश्नावली बना लेनी चाहिए। प्रश्नावली बना लेने से एक तो सरलता एवं सहजता से सूचक अपेक्षित सूचनाएँ देता चलता है, दूसरे आवश्यक सूचनाओं के छूटने का भय नहीं

रहता। यों ऐसी कोई भी प्रश्नावली नहीं बनाई जा सकती जो अपने मूल रूप में बिना किसी परिवर्तन के सभी क्षेत्रों में भाषा-सर्वेक्षण के काम आ सके, क्योंकि हर भाषा या बोली की अपनी सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न होती है। इसी लिए अच्छा यह होता है कि क्षेत्र के लोगों, जातियों, धर्म, रहन-सहन एवं उद्योग धंधे आदि से परिचय प्राप्त करके ही सर्वेक्षक प्रश्नावली तैयार करे। फिर भी मोटे रूप से इस संबंध में कुछ सामान्य बातें बताई जा सकती हैं—

(1) प्रश्नावली में स्थूल या मूर्त वस्तुओं या क्रियाओं से संबंधित प्रश्न पहले आने चाहिए तथा सूक्ष्म या अमूर्त से संबंधित बाद में।

( ) व्याकरणिक दृष्टि से संज्ञा सर्वनाम, विशेषण तथा वाक्य क्रम से सामग्री प्राप्त करने की दृष्टि से प्रश्नावली बननी चाहिए।

(3) वाक्य के बाद कहानी, चुटकुले, गीत जैसी चीजें पूछकर नोट की जा सकती हैं।

(4) प्रारंभ में मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि कहानी आदि से खोजी जा सकती हैं। भाषा के बारे में अच्छी जानकारी हो जाने पर स्वतंत्रतः भी इन्हें पूछ कर मालूम किया जा सकता है। प्रश्नावली बनाते समय क्षेत्र की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए निम्न आधारों की सहायता ली जा सकती है।

(अ) संज्ञा – (क) शरीर के अंग— सिर, पैर, हाथ, अँगूठा, उँगली, नाखून बाल, आँख, नाक, मुँह, कान, गाल, दाँत, जीभ, होंठ, भौं, गर्दन, छाती, पीठ, पेट कमर, जाँघ, घुटना, पिंडली; हड्डी, रक्त, मांस, दिल, फेफड़ा जैसी चीज़ों के नाम बाद में पूछे जा सकते हैं। **(ख) सबंधियों के नाम** — बाप, माँ, भाई, भाभी, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, बहन, जीजा, दादा, दादी, ताऊ, ताई, चाचा, चाची, नाना, नानी, मामा, मामी, मौसा, मौसी, फूफा, बूआ, साला, साली, सास, ससुर, पोता, पोती, नाती, नतिनी, पतोहू। **(ग) घरेलू चीज़ों के नाम**—चारपाई, बिछौना, रज़ाई, तकिया, चादर, लोटा, गिलास, थाली, कटोरी, पतीली, कड़ाही, तवा, चमचा, अँगीठी, चूल्हा। **(घ) अन्न तथा खानपान** — गेहूँ, धान, जौ, मटर, चना, बाजरा, उड़द, चावल, दाल, आटा, खाना, पानी, मिठाई, रोटी, पूड़ी, पराठा, सब्जी, आलू, बैंगन, गोभी, पालक, आम, सेव, अमरूद, केला, अंगूर, संतरा, नींबू, अन्नास, नाशपाती, अखरोट, बादाम, किशमिश, काजू आदि। **(ङ) जीव-जंतुओं के नाम** — गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, कुत्ता, बिल्ली, बंदर, घोड़ा, हाथी, शेर, चीता, हिरन, गीदड़, ऊँट, मछली, चूहा, साँप, मेंढ़क, तोता, कोयल, मुर्गी बत्तख, मक्खी, मच्छर आदि। **(च) फूलों के नाम** — गुलाब, चमेली, चम्पा रातरानी, बेला आदि। **(छ) भौगोलिक नाम आदि**—नदी, नाला, समुद्र पर्वत, घाटी ज़मीन, आसमान, सूर्य चांद, तारे, बादल। **(ज) कपड़े आदि**—धोती, कुर्ता, टोपी, तौलिया, अँगोछा, रूमाल, कोट, पाजामा, बनियाइन, जूता, मोज़ा, कमीज़, स्वेटर आदि। **(झ) पढ़ने-लिखने की चीज़ों के नाम**—किताब, कागज़, कलम, स्याही, पत्र, पत्रिका, अख़बार आदि।

(आ) सर्वनाम —यदि एकभाषिक पद्धति से पूछना हो तो सर्वनामों में प्रारंभ में मेरा घर, उसका घर, तुम्हारा घर जैसे प्रयोगों से संबंध कारक के रूप मालूम किए जा सकते हैं तथा अन्य रूपों (मैं, हम, तुम, वह, यह, मुझे, उन्हें आदि) को बाद में जानने का यत्न किया जा सकता है। हाँ द्वैभाषिक या बहुभाषिक पद्धति से यदि

सामग्री एकत्र की जा रही हो तो मूल रूप (मैं तुम, हम, वह, यह आदि) एवं संबंध के रूप दोनों ही नोट किए जा सकते हैं। अन्य रूप (उन्हें, मुझे, जिसे आदि) बाद में वाक्यों के विश्लेषण के बाद खोजे जाने चाहिए। उसके पूर्व इनको जानने का यत्न अनावश्यक रूप से बहुत समय तो लेता ही है, स्पष्टतः पता चलना भी कठिन हो जाता है।

(इ) विशेषण—सबसे पहले संख्यावाचक विशेषण। इनमें भी पूर्ण तथा कम पहले, और अपूर्ण आदि बाद में। पूर्ण में भी दस तक पहले तथा अन्य बाद में। रंग आदि विषयक विशेषणों को छोड़कर अन्य विशेषण वाक्य के माध्यम से अधिक अच्छी तरह जाने जा सकते हैं। ये बातें एकभाषिक पद्धति की दृष्टि से कही जा रही हैं। द्विभाषिक आदि में इनका ध्यान रखना आवश्यक नहीं है।

(ई) वाक्य— लिंग, वचन, कारक, शेष सर्वनाम, शेष विशेषण, अव्यय, क्रिया आदि की जानकारी फुटकर उदाहरणों से अपेक्षित पूर्णता के साथ नहीं प्राप्त की जा सकती। वाक्य के स्तर पर ही इन्हें पाया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसे प्रश्न बनाए जाने चाहिए कि उत्तर में प्राप्त वाक्यों से पूरी भाषा के संबंध में इन विषयों से संबद्ध तथ्य जाने जा सकें।

प्रश्नावली के लिए कुछ संकेत—**संज्ञा के लिए :** वस्तु या जानवर आदि की ओर संकेत करते हुए 'यह क्या है ?' व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए 'यह कौन है ?' या 'यह तुम्हारा कौन है ?' **सर्वनाम के सम्बध में कारकीय रूपों के लिए :** वस्तु की ओर संकेत करते हुए 'यह किस का (की) है ?' **संख्याओं के लिए :** कई वस्तुओं को एक स्थान घर रखकर 'ये कितने हैं ?' **क्रिया के लिंग :** स्वयं चलते या कूदते हुए 'मैं क्या कर रहा हूँ ?' या दूसरे को कुछ करते हुए देखकर, संकेत करते हुए, वह क्या कर रहा है ?' इत्यादि।

कहानी, गीत, चुटकुले आदि का संकलन--वाक्यों के बाद इनका संकलन करना चाहिए। इनके विश्लेषण द्वारा सूक्ष्म संज्ञाएँ (आत्मा, दया, श्रद्धा आदि), सूक्ष्म विशेषण (बुद्ध, चालाक, संतोषी आदि); प्रत्यय, उपसर्ग, समास, संधि, मुहावरे तथा लोकोक्तियों आदि का पता लगाया जा सकता है तथा ऊपर जिनका उल्लेख किया जा चुका है, उनसे संबद्ध जानकारी की प्रामाणिकता की परीक्षा की जा सकती है। असल में इस प्रकार के पाठों (texts) में ही भाषा अपने सहज और पूरे रूप में हमारे सामने आती है। इसी कारण इसके आधार पर अपने अनेक पूर्ववर्ती निर्णय हमें बदलने भी पड़ते हैं। ध्यातव्य है कि कहानी तथा गीत आदि की भाषा कभी-कभी प्रचलित सहज भाषा से कई बातों में थोड़ी भिन्न तथा पुरानी होती है। गीतों में छंद की आवश्यकतानुसार तोड़-मरोड़ की प्रवृत्ति भी असामान्य नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कहानी, गीत आदि के आधार पर भाषा के स्वरूप-निर्धारण में इन दृष्टियों से पर्याप्त सतर्कता आवश्यक है।

बातचीत की रिकार्डिङ्ग—दो या अधिक सूचकों की बातचीत की टेप-रिकार्डर से रिकार्डिङ्ग करके, उसे फिर सुनकर उसका विश्लेषण करना भी उस भाषा या बोली-विषयक सामग्री की प्राप्ति का अच्छा साधन है। सच पूछा जाए तो दो या अधिक सूचकों की आपसी बातचीत में ही भाषा का सर्वाधिक प्रकृत रूप मिल सकता है।

सामग्री-लेखन—इस संबंध में मुख्यतः निम्नांकित बातें ध्यान में रखने की हैं—

(1) विश्लेषण के समय कभी-कभी यह जानना आवश्यक हो जाता है कि कौन-सी सामग्री कब ली गई थी। अतः जिन चिटों पर सामग्री नोट करें उन पर उस दिन की तिथि भी अंकित होनी चाहिए। पहले से तिथि अंकित करने में बची चिटों पर तिथि काटनी पड़ती है, अतः प्रतिदिन नोट करने के बाद तिथि अंकित करना अधिक अच्छा रहता है।

(2) यदि चिटों पर कोई संशोधन करना हो तो ऐसे काटकर लिखना चाहिए कि पूर्वलिखित सामग्री भी पढ़ी जा सके। कभी-कभी संशोधनपूर्व सामग्री को जानना भी आवश्यक हो जाता है।

(3) सामग्री कितने बड़े कागज़ पर नोट करें, यह प्रश्न भी विचारणीय है। नाइडा ने बड़े कागज़ पर सामग्री नोट करने की राय दी है, जिस पर काफ़ी लिखा जा सके। मेरे विचार में शब्द, रूप, वाक्य आदि छोटी-छोटी चिटों पर नोट करना अधिक अच्छा है, ताकि फिर से सामग्री उतारनी न पड़े और ध्वनि-ग्रामिक, रूपग्रामिक तथा वाक्य-विश्लेषण में चिटों को आवश्यकतानुसार विभिन्न वर्गों में रखा जा सके। हाँ, कहानी, गीत आदि बड़े कागज़ पर नोट किए जा सकते हैं।

(4) कागज़ के एक तरफ़ लिखना चाहिए। दोनों तरफ़ लिखने में तुलना करते समय बहुत समय लग जाता है तथा विश्लेषण में भी कठिनाई पड़ती है।

(5) छिपाकर नहीं लिखना चाहिए। इससे सूचक को सर्वेक्षक के उद्देश्य पर संदेह हो सकता है।

(6) हर शब्द को कम से कम दो बार सुनकर लिखना अधिक अच्छा होता है। लिखने के बाद तुरन्त एक बार दुहरा भी लेना चाहिए ताकि लेखन में यदि कोई त्रुटि हो तो उसे ठीक किया जा सके। अन्य लोगों का उच्चारण कुछ भिन्न होना आदि से प्रायः असंभव हो जाता है।

(7) जो शब्द जैसे सुनाई पड़े, वैसे ही लिखना चाहिए। किसी स्तर पर बलात् एकरूपता लाने का यत्न नहीं किया जाना चाहिए। अनुसंधाता में ऐसी ईमानदारी बड़ी ही आवश्यक है।

(8) सामग्री ध्वनिग्रामिक लिपि में न लिखी जाकर ध्वन्यात्मक लिपि में लिखी जानी चाहिए। साथ ही अपेक्षित उपचिह्नों की सहायता से विवृतता, संवृतता, अग्रता, मध्यता, पश्चता, प्रयत्न, स्थान,प्राणत्व, अनुनासिकता, मर्मरता,मात्रा, सुर, सुरलहर, बलाघात, संगम आदि विषयक असमान्यताओं को भी नोट कर लेना चाहिए।

(9) सूचक से सामग्री नोट करने के लिए अच्छी किस्म की पेंसिल ठीक रहती है। एक तो इससे अपेक्षाकृत अधिक तेजी एवं सरलता से लिखा जा सकता है, दूसरे कागज़ के भीगने पर अपाठ्य होने का भय नहीं रहता, और तीसरे स्याही साथ रखने की परेशानी से भी छुटकारा मिल जाता है।

(10) टेप-रिकार्डर से टेप करके, बाद में अकेले बैठ कर भी सामग्री लिखी जा सकती है।

अर्थ—सामग्री लिखने के साथ-साथ उसका अर्थ भी लिखते चलना चाहिए। इस संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखी जा सकती हैं—

(1) स्थूल वस्तुओं के सुनिश्चित अर्थ (जैसे रोटी, चारपाई, मकान आदि) तो सरलता से लिखे जा सकते हैं।

(2) जिन शब्दों के लिये अपनी भाषा में शब्द न मिलें उनकी व्याख्या लिखी जा सकती है।

(3) बहुत से वस्तुओं के ऐसे भी नाम मिल सकते हैं जिनके लिए अपनी भाषा में शब्द नहीं है, और उनकी ठीक व्याख्या लिखना भी जल्दी में कठिन होता है, ऐसी स्थिति में उनके रेखाचित्र या संकेत से काम चलाया जा सकता है।

(4) अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट शब्दों के अर्थ उनके प्रयोग से पकड़ने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि सूचक के लिए सभी शब्दों का अर्थ समझाना—विशेषतः ठीक अर्थ समझाना—सर्वदा संभव नहीं होता।

अध्याय 23

व्यक्ति-बोली-विकास

प्रश्न 125—'व्यक्ति-बोली-विकास' के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए, 'बच्चों की भाषा के विकास' पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

'आंटोजेनी' (व्यक्ति-विकास) शब्द मूलतः जीव-विज्ञान का है। इसका प्रयोग 1870 के आसपास किसी एक व्यक्ति (मनुष्य या अन्य जीव) के विकास के लिए किया गया। आधुनिक काल में भाषा-विज्ञानवेत्ताओं ने इसके साथ 'लिंग्विस्टिक' जोड़ कर भाषा-विज्ञान की शाखा के रूप में इसे स्वीकार कर लिया है। इसमें, व्यक्ति बोली या व्यक्ति-भाषा (idiolect) के जन्म से मृत्यु तक के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन होता है। दूसरे शब्दों में इसमें एक व्यक्ति की भाषा के विकास का (जन्म से मृत्यु तक) अध्ययन किया जाता है। बच्चों की भाषा पर ओविस सी० इरविन, मैकार्थी, वाट्स, लियोपोल्ड याकोब्सन, ब्रडनबर्ग, डेलाक्रवायक्स, केलाग, स्टर्न, कैज़, सिद्धेश्वर वर्मा आदि कई विद्वानों ने काम किया है, जिसे इस अध्ययन से सम्बद्ध माना जा सकता है। सैद्धांतिक दृष्टि से इस विषय पर हॉकेट तथा कुछ अन्य लोगों ने भी विचार किया है।

छोटे बच्चों में भाषा जैसी चीज़ नहीं होती, किन्तु भूखा या दर्द आदि से पीड़ित होने पर वह रोकर या अंगों को पटक कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

और यह प्रतिक्रिया ही उसके लिए भाषा बन जाती है। माँ समय और स्थिति के आधार पर इन प्रतिक्रियाओं से उसके भूखे या दर्द आदि से पीड़ित होने का अनुमान लगा लेती है। धीरे-धीरे उसे पता चल जाता है कि भूखा होने पर रोने की क्रिया द्वारा वह खाना पा सकता है और तब वह रोने का धीरे-धीरे भाषा के रूप में प्रयोग करने लगता है। साथ ही अभ्यास से पीठ ठोंकने आदि से सोने और बैठाने से शौच होने आदि के रूप में वह माँ के इशारे या 'इशारों की भाषा' को समझने लगता है। इस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान बच्चा बहुत छोटी अवस्था से करने लगता है, किन्तु इसे सच्चे अर्थों में 'भाषा' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दोनों में बहुत अंतर है।

फिर, धीरे-धीरे बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति आ जाती है, साथ ही वह ओठों से और जीभ से तरह-तरह की ध्वनियों को बिना किसी उद्देश्य के उच्चारित करता है। यों तो पैदा होते ही बच्चा रोने के रूप में हँ, कँ, यँ, आँ आदि ध्वनियों का उच्चारण करता सुना जाता है, किन्तु शीघ्र ही वह अन्य ध्वनियों का भी उच्चारण करने लगता है। कुछ लोगों का कहना है कि बच्चा पहले दोनों ओठों से बोले जाने वाली ध्वनियाँ कहता है, किन्तु यह बात पूर्णरूपेण सत्य नहीं है। मैंने व्यक्तिगत रूप से एक लड़की में, ध्वनियों के उच्चारण में विकास का अध्ययन पर्याप्त सावधानी से किया है। आरम्भ में 'किहाँ-कियाँ' जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती थी। एक महीने 22 दिन की होने पर लड़की 'घी-घी' जैसी ध्वनि उच्चरित करने लगी। एक महीने बाद अर्थात् लगभग पौने तीन महीने की होने पर दुखी होने पर अघी, ङे, ङे, हियाँ, अँगा, अँङा, अँहँ-अँहँ, अङऽऽ उँहँ-ऊँहँ जैसी ध्वनियाँ उच्चरित करती थी और प्रसन्न होकर खेलते समय हँ-हँ, अबू-अबू, अफ्-अफ् अऽऽ, अँऽऽ, गे-गे, गी-गी, अगी-अघी आदि। निष्कर्षतः अनुनासिक और घोष ध्वनियों का यहाँ प्राधान्य माना जाएगा। यों कुछ ऐसे बच्चे भी देखे गए हैं जो म, प, व का भी उच्चारण इस काल में विशेष रूप से करते हैं। इस प्रकार के अनर्गल ध्वनि-समूहों से उसका ध्वनि-उच्चारण का अभ्यास बढ़ता है और धीरे-धीरे वह अभ्यास के आधार पर सफलता से अनुकरण करने लगता है। आरम्भ में उसकी सफलता इतनी ही होती है कि मामा को 'माँ' या 'पापा' को 'पा' आदि रूप में वह कह लेता है पर धीरे-धीरे ये कमियाँ दूर होती जाती हैं। आरम्भ में मौखिक के स्थान पर अनुनासिक, अल्पप्राण के स्थान पर महाप्राण या महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण, घोष के स्थान पर अघोष या अघोष के स्थान पर घोष आदि का उच्चारण करता है। संघर्षी ध्वनियाँ प्रायः उसके लिए कठिन होती हैं। साथ ही पार्श्विक 'ल' और लुंठित 'र' भी बच्चों के लिए कठिन होते हैं, इसलिए वे इन दोनों के स्थान पर 'न' आदि कहते हैं। कुछ बच्चे 'ल' को पहले पकड़ लेते हैं और 'र' 'ड़' आदि के स्थान पर इसी का प्रारम्भ में प्रयोग करते हैं। धीरे-धीरे उन्हें अपनी गलती का पता चलता जाता है और वे उसे ठीक करते जाते हैं। यह है ध्वनि की दृष्टि से बच्चों की बोली का विकास।

बच्चे आरम्भ में केवल एक एक शब्द कहते हैं, किन्तु वे शब्द हमारी दृष्टि से हैं, बच्चों की दृष्टि से वे वाक्य हैं। बच्चे द्वारा कहे गए 'दू' या 'दूध' का अर्थ है 'मैं दूध चाहता हूँ' या 'मुझे दूध दो'। धीरे-धीरे वे व्याकरण की अन्य बातों—सैद्धांतिक दृष्टि से नहीं, अपितु प्रायोगिक दृष्टि से—को सीख लेते हैं। सादृश्य के आधार पर

शब्दों का निर्माण भी इसी काल के बाद शुरू होता है। बच्चे में इस निर्माण के आरम्भ होने का अर्थ है कि उसके मस्तिष्क में भाषा की नियमितता अपना स्थान बनाने लगी है :

इसी प्रकार 'फ़ोनीम' और 'अर्थ' की दृष्टि से भी धीरे धीरे विकास होते हैं। छह-सात वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बच्चा अपनी भाषा को काफी हद तक सीख लेता है। उसके आधारभूत शब्द-समूह से परिचित हो जाता है। आगे बढ़ने पर प्रायः ध्वनि या व्याकरण की दृष्टि से आदमी में बहुत विकास नहीं होता, जो होता है, शब्द-समूह, मुहावरे तथा शैली आदि की दृष्टि से ही होता है, और स्वभावतः ये विकास उसके पेशे एवं वातावरण आदि पर निर्भर करते हैं।

प्रश्न 126—टिप्पणी लिखिए—(1) व्यक्ति बोली, (2) भाषिका व्यंजक।

(1) व्यक्ति-बोली (Idiolect)

उत्तर—प्रत्येक व्यक्ति की बोली भिन्न होती है, इस दृष्टि से व्यक्ति समाज में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति की भाषा स्वतन्त्र बोली माननी चाहिए, क्योंकि उसकी अपनी विशिष्टताएँ होंगी। इसकी विद्वानों ने कुछ परिभाषाएँ दी हैं—

(1) "The totality of speech habits of a single person at a given time constitute an idiolect." —C. F. Hockett.

(2) "In the lost resort every speaker has own linguistic idiosyncrasies & thus, in a sense, his own diolect."

—Angusi McIntosh.

(3) "किसी व्यक्ति के निर्धारित समय की वाक्-प्रवृत्तियों की समष्टि ही उपबोली (व्यक्ति-बोली) है।" —डॉ० उदयनारायण तिवारी।

अन्तिम परिभाषा बहुत हद तक ठीक है, क्योंकि व्यक्ति भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपनी बोली को बदल देता है। इस प्रकार भाषा के स्वरूप निर्धारण में व्यक्ति तथा परिस्थितियाँ प्रभाव डालती हैं।

यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पाएँगे कि प्रत्येक व्यक्ति की मात्र बोली ही अलग नहीं होती वरन् जैसा वह एक बार बोलता है वैसा कभी दूसरी बार नहीं बोलता। कुछ न कुछ अन्तर आ जाना स्वाभाविक है, भले ही वह अन्तर इतना अधिक सूक्ष्म हो कि मशीन की पकड़ में ही आ सके। व्यक्ति की शैलीगत विशेषता के कारण ही हम प्रायः बोली सुनकर ही उसको न पहचानते हुए भी पहचान लेते हैं। निष्कर्षतः भाषा की लघुतम इकाई 'व्यक्ति बोली' है।

(2) भाषिक-व्यंजक (Eye Diolect)

भाषिका व्यंजक का तात्पर्य यह है कि लिखित साहित्य में भी इस प्रकार की वर्तनी का प्रयोग किया जाए जिससे यह ज्ञात हो सके कि वक्त 'लोकभाषा' का प्रयोग कर रहा है। जैसे हिन्दी में 'माट साव' या 'मास्साव'। इसको विद्वानों ने इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास किया है—

(1) "The use of spelling in representation of speech that are based on pronunciation."

—Webester's Seventh N. C. Dictionary.

(2) "The Spellings which are used in written literature to indicate that the speaker is using folk speech, they may represent actual differences between geographical diolects."—H. A. Gleason.

(3) "A crude but common device often utilised to convey the illusion of substandard pronunciation is 'Eye Diolect'."

Raven I. Mc David.

लिखित प्रयोगों के द्वारा सुसंस्कृत भाषा तथा लोकभाषा के मध्य अथवा विभिन्न भौगोलिक दृष्टियों से भिन्न बोलियों के मध्य अन्तर स्पष्ट होता है। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि शब्द के जिस रूप को लोकभाषा के रूप में प्रस्तुत किया गया है वही उच्चारण संभ्रान्त व्यक्तियों द्वारा भी किया जाता हो।

अध्याय | 24

तुलनात्मक पद्धति तथा पुनर्निर्माण

प्रश्न 127—तुलनात्मक पद्धति का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी पद्धति को समझाइए।

तुलनात्मक पद्धति को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का एक अंग माना जा सकता है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें (तुलनात्मक पद्धति) दो (या अधिक) भाषाओं या बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पहले यह निश्चय किया जाता है कि वे एक परिवार की हैं या नहीं, और फिर सूक्ष्म तुलना के आधार पर उन भाषाओं या बोलियों की पूर्वजा भाषा (जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है) का पुनर्निर्माण किया जाता है, अर्थात् उसकी ध्वनियों तथा व्याकरणिक रूपों एवं अन्य नियमों आदि को ज्ञात किया जाता है।

तुलनात्मक पद्धति का प्रारम्भ 17वीं सदी में हो गया था। तब से अब तक भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण एवं पारिवारिक अध्ययन के क्षेत्र में जो भी कार्य हुआ है, उसका आधार तुलनात्मक पद्धति ही है। अब यह पद्धति पहले की अपेक्षा सांख्यिकी आदि शास्त्रों की सहायता से बहुत सुविकसित हो गई है।

तुलनात्मक पद्धति में पहले दो भाषाओं के शब्दों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हम देखते हैं कि दोनों भाषाओं के बहुत से शब्दों में ध्वनि (या रूप) और अर्थ की दृष्टि से बहुत साम्य है। उदाहरणार्थ संस्कृत पिता, ग्रीक Pater या लैटिन pater फ़ार्सी पेदर, या अँगरेज़ी father आदि। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ध्वनि और अर्थ दोनों में यह साम्य क्यों हुआ? यदि विचार करें तो चार सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं—(1) सम्भव है यह साम्य यों ही संयोग से हो गया हो। इसका कोई ऐतिहासिक आधार न हो। उदाहरणार्थ जर्मन नास (nass) और ज़ूनी नास (nas) दोनों का अर्थ 'भीगा हुआ' होता है, और दोनों में ध्वनि साम्य भी है, किन्तु इसका कोई आधार नहीं है। संयोग से ही यह साम्य हो गया है। अंग्रेज़ी near तथा भोजपुर नीयर (=समीप में भी इसी प्रकार का साम्य है। (2) दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि इन दोनों भाषाओं में से किसी एक ने दूसरी से उस शब्द को लिया हो। उदाहरणार्थ हिन्दी ने द्रविड़ भाषाओं से 'पिल्ला' शब्द लिया है। या यदि संस्कृत और द्रविड़ परिवार की किसी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो एक ओर ऐसे बहुत-से शब्द मिलेंगे जो उन भाषाओं में संस्कृत से लिए गए हैं, जैसे कन्नड़ अन्नम् (भात) और दूसरी और संस्कृत में ऐसे बहुत-से शब्द मिलेंगे जो द्रविड़ भाषाओं से लिए गए हैं, जैसे ब्रीहि (चावल)।

(3) तीसरी संभावना यह भी हो सकती है कि दोनों ही भाषाओं ने ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से साम्य रखने वाले शब्दों को किसी तीसरी भाषा से लिया हो। उदाहरणार्थ पंजाबी और हिन्दी ने फ़ारसी से बहुत-से शब्द लिए हैं।

(4) चौथी सम्भावना यह भी हो सकती है कि जिन दो भाषाओं में कुछ शब्दों में अर्थ और ध्वनि का साम्य हो, वे दोनों एक ही परिवार की हों और वे समता वाले शब्द उस मूल भाषा के हों जिनसे निकली हों।

इन चारों सम्भावनाओं को संक्षेप में रखना चाहे तो केवल तीन वर्ग बना सकते हैं। एक संयोग का, दूसरा उधार लिए जाने का और तीसरा मूल भाषा से उससे निकली भाषाओं में परम्परागत रूप से आने का।

तीसरी सम्भावना के होने पर दोनों भाषाओं की कुछ और दृष्टियों से भी तुलना अपेक्षित होती है। पहले प्रकार की तुलना ध्वनियों की हो सकती है, दूसरे प्रकार की व्याकरणिक रूपों की। इस दूसरे में उपसर्ग तथा प्रत्ययों की तुलना भी महत्त्वपूर्ण है। तीसरे प्रकार की तुलना वाक्यगठन आदि भाषा के अन्य नियमों की हो सकती है। इन तुलनाओं के अतिरिक्त इन दोनों के बोलनेवालों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, उनके शरीर, जीवन एवं संस्कृति के मानवशास्त्रीय विश्लेषण, एवं उनके आदि स्थान एवं इतिहास के अध्ययन द्वारा भी इन भाषाओं के एक परिवार की होने की संभावना को पुष्ट किया जाता है, और फिर दोनों भाषाओं के एक परिवार की होने का निश्चय हो जाता है।

पुनर्निर्माण (Reconstruction)—पारिवारिक दृष्टि से आपस में संबद्ध भाषाओं के शब्दों, रूपों, ध्वनियों, तथा वाक्य-निर्माण के नियमों आदि से तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उस मूल भाषा की ध्वनियों, शब्दों, रूपों आदि का पता लगाना पुनर्निर्माण है। संस्कृत, प्राचीन फ़ारसी, ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं के

इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनकी मूल भारोपीय भाषा के सारे अंग पुनर्निमित्त किए गए हैं। इस प्रकार के पुनर्निर्मित रूप तारक (*) के साथ लिखे जाते हैं।

ध्वनियों के पुनर्निर्माण के लिए संवद्ध भाषाओं से बहुत-से ध्वनि और अर्थ की समता रखने वाले शब्द लिए जाते हैं। मान लें एक भाषा के शब्दों में जहाँ-जहाँ 'क' ध्वनि आई है दूसरी में भी वहाँ 'क' ध्वनि है, सामान्यतया यह माना जायगा कि मूल भाषा मे उस स्थान पर 'क' ध्वनि थी। यदि उस परिवार में दो से अधिक भाषाओं का पता है तो उन सभी भाषाओं में प्रयुक्त उन्हीं शब्दों के रूपों को लेकर इसकी परीक्षा की जाएगी। यदि सभी में 'क' है तो यह प्रायः निश्चित है कि मूल भाषा में उस स्थान पर 'क' ध्वनि थी। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक भाषा में, कहीं एक ध्वनि मिलती है और दूसरी में उसी स्थान पर दूसरी। इसमें कई सम्भावनाएँ हो सकती हैं। संभव है मूल भाषा में उन दोनों में की कोई एक ध्वनि रही हो, और दूसरी भाषा की दूसरी ध्वनि उसका विकसित रूप हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दो संवद्ध भाषाओं में एक स्थान पर दो भिन्न ध्वनियाँ मिलती हैं, पर तरह-तरह के तुलनात्मक अध्ययन के उपरांत निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल भाषा में उन दोनों में एक भी नहीं थी और उन दोनों के स्थान पर कोई तीसरी ध्वनि थी। इस प्रकार पुनर्निर्माण में ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियम और दिशाओं से भी पूरी सहायता मिलती है, और ग्रिमनियम जैसे ध्वनि-नियम का भी निर्धारण होता है।

पुनर्निर्माण कई पीढ़ियों तक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—
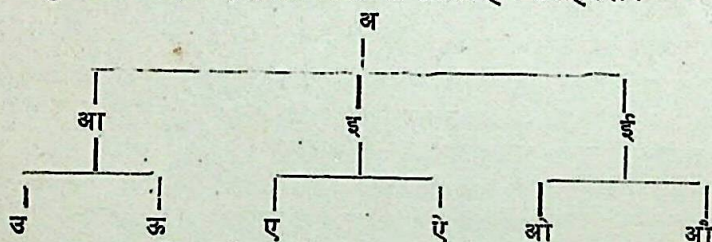
यह भाषा परिवार है। इसमें उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ जीवित भाषाएँ हैं और उनके सम्बन्ध में हमें जानकारी है। ऊपर कही गई तुलनात्मक पद्धति से उ-ऊ के आधार पर 'आ' का; ए-ऐ के आधार पर इ का; और ओ-औ के आधार पर ई का पुनर्निर्माण करेंगे। फिर पुनर्निमित आ, इ, ई के आधार पर 'अ' का पुनर्निर्माण करेंगे। इसी प्रकार यदि सामग्री मिले तो और पीछे तक भी पुनर्निर्माण किया जा सकता है। किसी मूल भाषा के पुनर्निर्मित रूप (विशेषतः पुनर्निर्मित शब्द-समूह) के आधार पर तत्कालीन संस्कृति-सभ्यता एवं उसके प्रयोक्ताजन के स्थान आदि का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

पुनर्निर्माण का एक आंतरिक पुनर्निर्माण (Internal Reconstruction) भी कहलाता है, जिसमें एक ही भाषा में तुलनात्मक पद्धति के सहारे पुरानी ध्वनियों या शब्दों आदि का निर्माण करते हैं। इस रूप में उपयुक्त पुनर्निर्माण को बाह्य पुनर्निर्माण (External Reconstruction) कहा जा सकता है। आंतरिक पुनर्निर्माण उस भाषा

का अपेक्षित होता है, जिसका पुराना लिखित रूप प्राप्त नहीं हैं। इसके द्वारा उसके प्राचीन रूप—ध्वनि, शब्दरूप या व्याकरण आदि—का पता लगाते हैं। इसका आधार यह माना गया है कि भाषा के प्राचीन रूप के कुछ चिह्न, किसी न किसी रूप में भाषा के वर्तमान रूप में वर्तमान होते हैं। उनके आधार पर ही प्राचीन भाषा का एक सीमा तक निर्माण संभव है।

अध्याय | 25

भाषिक पुराशास्त्र

प्रश्न 128—भाषिक पुराशास्त्र प्रागैतिहासिक खोज में कहाँ तक सहायक है? खोज की प्रणाली, मूल भाषा का निर्णय लेते समय तथा शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

उत्तर—भाषा-विज्ञान की इस शाखा में इतिहास के उस अन्ध युग पर, जिसके सम्बन्ध मे कोई सामग्री प्राप्त नहीं है, भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी नीव रखी।

खोज की प्रणाली—इस खोज के लिए किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लिया जाता है, फिर उस परिवार की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दो की तुलना के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि प्रचीनतम काल के शब्द कौन-कौन थे। इन शब्दों को इकट्ठा कर इनका विश्लेषण कई दृष्टियो से किया जाता है। सामाजिक,धार्मिक आदि वर्गों में शब्दों को अलग-अलग करके अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी। जानवरों के नामों से यह पता चलता है कि उनके पास कौन-कौन जानवर थे। क्रिया शब्दों से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार यथासाध्य उन शब्दो के सहारे जीवन के प्रत्येक अंग की छान-बीन की जाती है और एक पूरा नक्शा तैयार करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही प्रकृति, पर्वत, नदी, जानवर, पेड़-पौधे तथा ऋतु से संबन्धित शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि, किस स्थान पर इन सबका इस रूप में पाया जाना सम्भव है। इससे उनके आदिम स्थान का अनुमान लग जाता है।

मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें—(1) जिस कुल के प्राचीन काल की खोज करनी हो उसकी नई-पुराई सभी शाखाओं-प्रशाखाओं के शब्दों को इकट्ठा करना चाहिए और सभी का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना

चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी अप्रत्याशित सामग्री मिल जाती है। किसी भी प्राचीन शब्द को व्यर्थ समझकर छोड़ना उचित नहीं।

(2) एक शब्द एक शाखा की अनेक प्रशाखाओं में और अन्य शाखा की एकाध प्रशाखाओं में मिले तो इससे सीधे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शब्द मूल भाषा का है ; हो सकता है कि एक शाखा में बाद में उसका कहीं और जगह से आगम हुआ हो और दूसरी शाखाओं की एकाध प्रशाखाओं ने उसे उधार ले लिया हो। इस सम्बन्ध में, शब्द यदि दूर की शाखाओं में मिले, जिनकी आपस में भौगोलिक दूरी भी अधिक हो और इतिहास के किसी काल में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध भी न रहा हो तो वह मूल भाषा का माना जा सकता है। इसे नीचे दिए चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है—
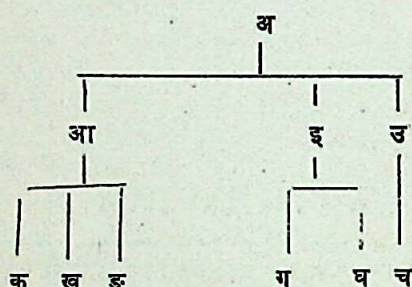
यहाँ अ मूल भाषा है। उससे आरम्भ में आ, इ, उ तीन शाखाएँ हुईं और क्रमशः आ से क, ख, ङ; इ से ग, घ; तथा उ से च का जन्म हुआ है। यदि क, ख और ङ में कोई शब्द है तो इसका अर्थ यह नहीं कि अनिवार्यतः वह मूल भाषा अ का शब्द है। पर यदि क और च में एक शब्द मिलता है तो उसके मूल में होने की अधिक सम्भावना हो सकती है। इतना ही नहीं यदि अँगरेजी और हिन्दी की भाँति क और च का सम्बन्ध हो, या रहा हो, तो इस प्रकार के एक शब्द का पाया जाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि सम्भव है संसर्ग के कारण, एक ने दूसरे से उधार लिया हो। पर दूसरी ओर दोनों भाषाओं में पाया जाने वाला शब्द यदि इतने पुराने समय से पाया जाता हो जब कि दोनों का आपस में सम्बन्ध नहीं था, तो उसका महत्त्व हो सकता है। यह बात प्रत्यक्ष सम्पर्क की है। कभी-कभी अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण भी शब्द एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उपर्युक्त चित्र में क और घ से सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा। पर यदि क का ग से और ग का घ से रहा तो यह अप्रत्यक्ष सम्बन्ध माना जाएगा और शब्द के उधार लिए जाने की सम्भावना हो सकती है। पर यहाँ भी पहले के उदाहरण की भाँति सम्पर्क के समय पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

(3) दो भाषाओं में एक शब्द मिले किन्तु ध्वनि और अर्थ में कुछ या अधिक अन्तर हो तो इस आधार पर शब्द छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि, सम्भव है अर्थ एवं ध्वनि-परिवर्तन के कारण यह अन्तर पड़ा हो और मूलतः शब्द एक हो।

(4) कोई एक शब्द एकाध प्रशाखा में हो और शेष में न हो तो इससे सीधे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि मूल भाषा में शब्द नहीं था। क्योंकि यह

भी सम्भावना हो सकती है कि शेष भाषाओं में उस शब्द का लोप हो गया हो। अतः और आधारों से इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

(5) किसी शृङ्खलाबद्ध शब्द-पंक्ति में इधर-उधर के शब्द मिलें तो बीच के शब्द न मिलने पर भी उसकी सम्भावना की जा सकती है। जैसे नाक, कान, मुँह के लिए शब्द मिलें तो आँख के लिए शब्द मिले या नहीं यह निश्चित रूप से कहा जाएगा कि उसके लिए शब्द था। इसी प्रकार 1, 2, 3, 5, 6, 7, 9 के लिए शब्द हो तो 4 और 8 का होना भी माना ही जाएगा, चाहे शब्द मिलें या न मिलें।

शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय ध्यान देने योग्य बातें—(1) एक वस्तु के नाम का मूल भाषा में मिलने पर जब तक और शब्द न मिलें, उसके विभिन्न प्रयोगों का उस काल में होना न मान लेना चाहिए।

पानी, पर्वत, पेड़ आदि के शब्दों के तथा ऋतु के आधार पर मूल निवास-स्थान के निश्चित करने में बहुत सतर्क रहना चाहिए। इसमें प्राचीन भूगोल से विशेष सहायता ली जानी चाहिए।

(3) सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था आदि के विषय में भी अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से सहारा लेकर निष्कर्ष निकालना चाहिए। साथ ही अपने परिणाम को पर्याप्त सामग्री पर आधारित करना चाहिए। उस विषय में शब्द के मिलने पर भी किसी ऐसी परम्परा या ऐसे विधान की कल्पना न की जानी चाहिए जो उस काल के लिए असम्भव हो। क्योंकि ऐसी दशा में अधिक सम्भव यह है कि वह शब्दविशेष उस समय कुछ दूसरा अर्थ रखता रहा हो।

भाषा-विज्ञान के आधार पर ऐसी खोज विशेषतः भारोपीय परिवार के विषय में हुई है। इस सम्बन्ध में प्रथम व्यवस्थित कार्य मैक्समूलर द्वारा हुआ। उसने और बातों पर प्रकाश डालते हुए मध्य एशिया में आर्यों का आदिस्थान निश्चित किया।

●

खण्ड 2 : हिन्दी-भाषा

अध्याय | 1

'हिन्दी' शब्द : अर्थ एवं इतिहास

प्रश्न 1 — 'हिन्दी' शब्द के अर्थ और इतिहास पर प्रकाश डालिए ।
प्रश्न 2 — 'हिन्दी' के विभिन्न अर्थों पर विचार कीजिए ।

उत्तर—'हिन्दी' एक ऐसा अनेकार्थी शब्द है जो विभिन्न कालों में, विविध रूपों में, प्रयुक्त मिलता है। हिन्दवी, हिंदी, हिन्दवी, हिंदवी, हिन्दुई, हिन्दगी, हिन्दवान आदि इसी के प्राचीन नाम थे। इनके अतिरिक्त परवर्त्ती काल में भाका, भाखा, भाषा, दकनी, दखनी, मूर, दखिनी, दक्खिनी, हिन्दुस्तानी, इंडोस्तानी, हिन्दोस्तान, हिन्दुस्थान, देहलवी, रेख्ता, रेख्ती, खड़ी बोली, सरहिन्दी, नागरी हिन्दी, नागरी, नागरी भाषा, देवनागरी, काली ज़बान, आर्यभाषा आदि नाम भी प्रयुक्त मिलते हैं; किन्तु हमें यहाँ केवल 'हिन्दी' शब्द का इतिहास अभीप्सित है, अतएव हम मात्र उसी की चर्चा, काल-क्रमानुसार करेंगे। काल की दृष्टि से इस शब्द के इतिहास को हम चार सोपानों में देख सकते हैं—(1) आदिकाल, (2) पूर्व मध्यकाल, (3) उत्तर मध्यकाल, (4) आधुनिक काल।

आदिकाल (200 ई० पू० से 1000 ई०)

'हिंदी' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग ईरानियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तक 'दसातीर' (200 ई० पू०) में मिलता है। इस ग्रन्थ की 163वीं आयत में प्रयुक्त 'हिंदी' शब्द का अर्थ 'हिन्द देश का' है—

चूं व्यास हिंदी बलख आमद। गुश्तास्प जरदुश्ता बख्वांद: ।।

फ़ार्सी वैद्य बुरज़ोई ने सर्वप्रथम 'कर्कटक और 'दिमनक' के आधार पर 'पञ्चतन्त्र' का, पह्लवी भाषा में, अनुवाद किया और उसका नाम 'कालीलक-ओ-दिमनक' रखा। इस ग्रन्थ की भूमिका ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ (531 ई० 579 ई०) के मंत्री बुज़र्च मिह्र ने लिखी। इसके बाद 'पञ्चतन्त्र' के, अरबी गद्य और पद्य में, कई अनुवाद हुए। उदाहरणार्थ—750 ई० में अब्दुल्ला इब्नुल् मुक़फ्फ़ा तथा इब्न मक़्ना का अनुवाद; 813 ई० में जावेदाने ख़िरद के नाम से इब्न सुहैल का अनुवाद। इन सब में यह कहा गया है कि ये अनुवाद 'ज़बान-ए-हिंदी' से किए गए हैं। स्पष्टत: यहाँ 'ज़बान-ए-हिंदी' का प्रयोग 'संस्कृत' के लिए है।

अबू मंसूर ने 940 ई० में 'ख़ुदाईनाम:' पुस्तक लिखी थी, जो सद्य: अप्राप्य है। इस पुस्तक का कुछ अंश फ़िर्दौसी ने अपने 'शाहनाम:' के प्राक्कथन में उद्घृत किया है। उक्त अंश में यह वर्णित है कि 'कलीलाह-व-दिमनाह' (मूलत: पञ्चतन्त्र)

कैसे भारत से ईरान ले जाया गया और पहले पह्लवी फिर अरबी में अनूदित किया गया--गुफ़्त नामाए अज़ हिंदुस्ताँ ब्यावुर्द आँकि बरज़ूया तबीव अज़ हिंदवी व पह्लवी गरदानीदः बूद ता नामे ऊ ज़िंदः शुद मियाने जहानियां व पानसद ख़रवार दिरम हज़ीना कर्दः । यहाँ 'हिंदवी' का प्रयोग 'संस्कृत' के अर्थ में है ।

पूर्व मध्यकाल (1001 ई० से 1500 ई०)

ईरान के महाकवि अबुल् क़ासिम फ़िर्दौसी (1010 ई०) ने अपने 'शाहनामः' में 'कैंद हिंदी' शब्द का प्रयोग एक भारतोय राजा के लिए किया है । यहाँ 'हिंदी' से तात्पर्य्य 'हिन्द देश का' है ।

सुल्तान महमूद के दरबारी कवि अबुल् फ़ज़्ल बैकही (1030 ई०) ने 'तिलक' नामक मुर्तजिम (=अनुवादक) का उल्लेख किया है जो 'हिंदवी' में नामः, पयाम और मुरासलत लिखता था—ख़तो नीको हिंदवी व फ़ार्सी व मुद्दते दराज़ ब कश्मीर रफ्तः बूद व शागिर्दी कर्दः । यहाँ 'हिंदवी' शब्द संस्कृत को छोड़कर हिन्दुस्तान की किसी अन्य भाषा का बोधक है । 1144 ई० में अबुल् माली नसरुल्ला बिन अब्दुल् हमीद ने 'पञ्चतन्त्र' का फ़ार्सी में अनुवाद किया । इस ग्रन्थ में उसने 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'संस्कृत' के अर्थ में किया है—आँ क़िताब रा कलीलाह व दिमनाह खानंद······मर्दे हुनरमंद बायद तलबीदः कै ज़बान पार्सी व हिंदी बेदानः ।

फ़ार्सी के सूफ़ी प्रेमाख्यानकार निज़ामी गंजवी ने अपनी मस्नवी 'मख़्ज़नुल् अस्रार' (1176 ई०) में नायिका के काले तिल का वर्णन करते समय 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग किया है—

दर शबे ख़त साख़्तः सहरः हलाल, बाबैली गम्ज़ः व हिंदवी ख़ाल ।
हर नफ़र अज़ गम्ज़ः व ख़ाले चुनान, कुश्तः जहान बाबिल व हिंदुस्तान ।।

मस्ऊद साद सल्मान इल्मुल औफ़ी (1233) ई० जो फ़ार्सी के प्रसिद्ध कवि थे, अपनी पुस्तक 'लुबाब-उल् अलबाब औफ़ी' (जिल्द 2, पृष्ठ 246) में लिखते हैं—यके बताज़ी व यके बपार्सी व यके बहिंदी । इसी ग्रन्थ में अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—सैयिद दीवान दर इबारत अरबी बपार्सी बहिंदी । इन दोनों स्थलों पर 'हिंदी' शब्द 'हिन्दी' भाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

मौलाना जलालुद्दीन रूमी कृत 'रुबाईयात-ए-रूमी' (1260 ई० ?) में एक रुबाई है जिसमें उन्होंने अपने को हिन्दी-भाषी घोषित किया है । 'हिंदी' से तात्पर्य्य 'हिंदुस्तान की भाषा' से हो सकता है—

बेगानः मीगीरी मरा ज़िन गूयम्, दर कूये शुमा ख़ान-ए-ख़ुद मी जूयम् ।
दुश्मन नयम अरचंद कि दुश्मन रूयम्, अस्लम तुर्कस्त अगर्चे हिंदी गूयम् ।।

अलाउद्दीन के समकालीन महाकवि शैख मुशर्रफ़ुद्दीन मुस्लेह बिन अब्दुल्ला सादी (जन्म 1184 ई०, मृत्यु 1291) ने भारतीय स्त्रियों के पातिव्रत्य का वर्णन करते हुए 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'हिन्द देश' के अर्थ में किया है—

चूँ ज़ने हिंदी कसे दर आशिक़ी मर्दानः नेस्त ।
सोख़्त नवर्दं शमा मुर्दन कारे हर पर्वानः नेस्त ।।

ख़्वाजा अबुल् हसन खुस्रो या अमीर खुस्रो [जन्म 1254 ई०, मृत्यु 1325

ई०] ने कई ग्रन्थ लिखे जिनमें से कई ग्रन्थों में 'हिंदी' या 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग हुआ है—

खिज्रनामः—इस मस्नवी में 'हिन्दवी' शब्द आया है—तुर्क हिंदुस्तानियम नन हिंदवी गूयम् जवाब। अर्थात् मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ, हिन्दवी में जवाब देता हूँ।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक़ (1325-51 ई०) के शासन-काल में इब्ने बत्तूता भारत आए थे। उन्होंने 1333 ई० में एक पुस्तक 'रिहाल इब्ने बत्तूता' लिखी जिसमें तारन नगर का वर्णन करते हुए लिखा है—किताबत अला बाज़ अलजदरात बिल हिंदी अर्थात् कुछ दीवारों पर हिंदी [=संस्कृत] में लिखा है।

मौलाना दाऊद के 'चांदायन' (1379 ई०) में एक स्थल पर हिन्दी भाषा के लिए 'हिंदुकी' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

पुनि मैं अखिर की सुधि पाइ। तुरकी लिपि लिषि हिंदुकी गाई ।।

उत्तर मध्यकाल (1501 ई०-1750 ई०)

दक्षिण के प्रसिद्ध कवि शैख़ शरफ़ुद्दीन अशरफ़ ने इमाम हुसैन पर पड़ी आफ़तों के सम्बन्ध में 'नौसरहार' (1503 ई०) काव्य लिखा जिसमें 'हिंदवी' शब्द हिन्दी भाषा के लिए ही व्यवहृत है—

वाजां कैता हिंदवी में। क़िस्स-ए-मक़तल शाह हुसैं ।।
नज्म लिखी सब मौज़ूं आन। यों मैं हिंदवी कर आसान ।।
यक यक बोल या मौज़ूं आन। तक़रीर हिंदवी सब वखान ।।

'मृगावती' के रचयिता कुतुबन ने इस ग्रन्थ (1503 ई०) के उपसंहार में लिखा है कि मृगावती की कथा पहले हिंदुई में थी, बाद में किसी ने उसे तुर्की में कहा—

पहिले हिंदुई कथा अही। फ़ुनि रे काहुँ तुरकीं लै कही ।।

रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' (1540 ई०) के उपसंहार में 'हिंदुई' शब्द हिन्दी भाषा के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है—

तुरकी अरबी हिंदुई भाषा जेती आहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहिं ।।

दक्षिण के महान् संत शाह मीरां बीजापुरी (1487-1573 ई०) की रचनाओं में 'हिंदी' तथा 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग हिन्दी भाषा के लिए हुआ है। 'शहादुतल् हक़ीक़त' नामक लम्बी नज्म में दो स्थलों पर 'हिंदी' शब्द प्रयुक्त है—

यों देखत हिंदी बोल। पुन माने हैं नपतोल।
हैं अरबी बोल केरे, और फ़ार्सी बहुतेरे।
यह हिंदी बोलूं सम, इस अरतो के सनन ।।

शाह मीरां जी के पुत्र एवं वंद: नवाज़ के उत्तराधिकारी शाह बुरहानुद्दीन जानम् 'बीजापुरी' ने 'इर्शादनामः' (1582 ई०) में अपनी भाषा को 'हिंदी' कहा है—

ये सब बोलूं हिंदी बोल। पन तूं अनभौ सेती घोल ।।
ऐब न राखें हिंदी बोल। मानी तूं चख दीखें खोल ।।
हिंदी बोलों किया बखान। जेकर परसान था मुंज ग्यान ।।

बीजापुर (महाराष्ट्र) के कवि शाह अब्दुल् गनी ने अपने संरक्षक इब्राहीम आदिल पर इब्राहीमनामः' लिखा जिसमें उन्होंने लिखा है कि वे केवल 'हिंदवी' और 'दहलवी' ज़बान जानते हैं—

सो यूँ बचन सूँ शाह उस्ताद कान। पूछ्या जगतगुर शेर कह किस ज़बान ॥
ज़बां हिंदवी मुज सूँ होर दहलवी। न जानूं अरब होर अजम मस्नवी ॥

गोलकुण्डा नरेश अब्दुल्ला कुतुबशाह के आस्थानी कवि मुल्ला वजही ने अपने ग्रन्थ 'सब रस' (1635 ई०) की भूमिका में अपनी भाषा को 'हिंदी' कहा है—जेते फ़हमदारां, जेते गुनकारां हुए सो आज तलक, कोई इस जहां में, हिंदी ज़बान सूं, इस लताफ़त, इस छन्दां सूं नज़्म होर नस्र मिलाके यूं नईं बोल्या।

कविवर बनारसीदास जैन ने 'अर्ध कथा' नामक ग्रन्थ में वंश-परिचय देते समय अपने पूर्वजों को 'हिंदगी' (=हिन्दी) और 'फारसी' का अध्येता बतलाया है—

मूलदास जिनदास के भयो पुत्र परधान। पढयो हिंदगी फारसी भागवान बलवान ॥

मलिक खुशनूदी ने खुस्रो की फ़ार्सी कृति के आधार पर नायक बह्राम गौरऔर नायिका हुस्नबानू की प्रेम-गाथा को 'हश्त बिहिश्त' (1646 ई०) नाम से अनूदित किया। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त 'हिंदी' शब्द का अर्थ 'हिन्द देश का है—

सिक्के हिंदी नहीं रोमी परी का, कमर जो बाल नाजुक इस्तरी का।

मंझन कृत 'मधुमालती'की किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा फ़ार्सी पद्य में अनूदित कृत 'कुंवर मनोहर व मधुमालत' (1649ई०) की दो हस्त लिखित प्रतियाँ ब्रिटिश म्यूजियम (लंदन) में संरक्षित हैं। इस ग्रन्थ में 'मधुमालती' को 'हिंदी' या 'हिंदवी' भाषा में लिखित बताया गया है—

तुफ़ैले हज़्रते औलादे आदम। ब-यम्नो हिम्मते असहाबे अकरम् ॥
चुनाँ अंदेशः बरमन् गश्त रौशन। कि मधुमालत ज़बाँ हिंदीऽज् मंझन ॥
बगूयम् फार्सी दर शेर अब्यात।...... ....॥
हज़ारा आफ़्रीं बर शैख़ मंझन। जे-शेरे हिंदवी बूदास्त पुर-फ़न ॥

मुल्ला मियाँ नुस्रती ने अपनी रचना 'गुलशन-ए-इश्क़' (1658 ई०) में अपने शेरों की भाषा 'हिंदी' बताते हुए उन पर गर्व प्रकट किया है—

मआनी की सूरत की है आर्सी। कह्या शेरे दकिन कूं जो फ़ार्सी ॥
फ़साहत में कर फ़ार्सी खुशकलाम। फ़ख़ हिंदी वचन पर मुदाम ॥

मिर्ज़ा मुहम्मद इब्न फ़करुद्दीन मुहम्मद ने 'तुहफ़त्-उल्-हिंद' (1675 ई०) में श्रीफल का अर्थ देते समय 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'हिंदी' भाषा के लिए किया है—श्रीफल नारजल रा नामंद व आँरा बफ़ार्सी हूर हिंदी गोइंद।

बीजापुर के प्रसिद्ध कवि बुलबुल ने 1688 ई० के आस-पास 'चंदर बदन होर महियार' नामक काव्य लिखा। इसमें प्रयुक्त 'हिंदवी' तथा 'हिंदी' शब्द हिन्दी भाषा के ही द्योतक है—

हरीरे हिंदवी पे कर तुं तस्वीर। लिबासे पार्सी है पाय जंजीर ॥
तु हो मुज-बाग़ में टुक नग्मः परवाज़। सितारे हिंदवी दो दम नवा साज़ ॥
पढा था इश्क़ का हिंदी रिसालः। पिता नै फ़ार्सी का मै दो सालः ॥
हुआ बुल्बुल उपर हुस्न-ए-ज़रूरत। दिखाना फ़र्ज़ हिंदी में सूरत ॥

शैख़ दाऊद 'जईफ़ी' ने 22 सितम्बर 1689 ई० को 3018 वैतों में 'हिदायत हिंदी' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें अनेक स्थालों पर 'हिन्दी' भाषा के अर्थ में 'हिंदी' शब्द व्यवहृत है—

हिदायत हिंदी फ़िकर इसका नाँव। रख्या होर ल्याया हुं हिन्दियाँ के ठाँव ॥
कि हिंदी केरे हिदायत में पो।.................................... ॥

जुनूनी ने मौलाना रूम के 'मोजज:' का 1690 ई० में फ़ार्सी से हिन्दी में अनुवाद किया—मैं इस को दर हिंदी जवाँ इस वास्ते कहने लगा, जो फ़ार्सी समझे नहीं समझे इसे ख़ुश दिल होकर।

रघुराम नागर ने 'सभासार नाटिक' (1700 ई०) में मुंशी का लक्षण-निरूपण करते समय उसे 'हिंदवांन' (=हिन्दी) और 'तुरकांन' (=फ़ार्सी) का ज्ञाता होना आवश्यक बताया है—

आषर समान सब सीरष सरल साँचे भाषा हिंदवांन तुरकांन में विसेषिये।

'मन' लगन' (1700 ई०) नामक मस्नवी में क़ाजी महमूद 'बहरी' ने अपनी भाषा को खुले आम हिन्दी बताया है—हिंदी तू ज़वाँ चे है हमारी, कहने न लगन हम कूँ भारी।

मीर जाफ़रजट्टली ने अपने 'कुल्लियात' में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिन्दी भाषा के अर्थ में किया है—अगरचः सभी कूडा करकट अस्त वहिंदी दर हिंदी ज़बान लटपट अस्त।

दादू के शिष्य जन प्रह्लाद ने 'नृसिंह तापनीय उपनिषद्' का 'भाषा उपनिषद्' (1719 ई०) के नाम से हिन्दी गद्य में अनुवाद किया—

श्री गुरु ने आग्यां करी जु पाट या उपनिषदों का यामनी भाषा सों पुनः हिन्दवी भाषा मों लिषा।

औरंगाबाद निवासी फ़ज़्ल अली फज़्ली' ने 'कर्बला कथा' या 'दह मज्लिस' (1732 ई०) नामक ग्रन्थ में कई स्थलों पर 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिन्दी भाषा के अर्थ में किया है—अब तक तरजुमः फ़ार्सी बइबारत हिंदी नस्र नहीं हुआ......अगर तरजुमः इस किताब का वरंगीन इबारत और हुस्ने इस्तआरात हिंदी क़रीबुल्-फ़हम और आम्मः मोमिनीन व मोमिनात कीजिए।

नूरमुहम्मद ने 'इंद्रावती' (1744 ई०) में 'हिन्दुई' [=हिन्दी] शब्द का प्रयोग किया—

का जौ अहै हिन्दुई भाखा, उत्तम भेद बहुत मैं राखा।

आधुनिक काल (1751 ई० से 1900 ई०)

आधुनिक कालीन सामग्रियों का अध्ययन हम तीन कोटियों में रख कर करेंगे—(अ) विशिष्ट साहित्य, (ब) फुटकर साहित्य, (स) गौण साहित्य।

(अ) विशिष्ट साहित्य

इसके अन्तर्गत हम मात्र उसी साहित्य का अध्ययन करेंगे जो साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखते हैं और जिनके विवरण उपलब्ध हैं। ग़रीब ने अपनी कृति

'तारीख़ ग़रीबी' (1751 ई०) में 'हिंदी' भाषा की वकालत बड़े ज़ोरदार शब्दों में की है—

हिंदी पर ना मारो ताना। सभी बतावैं हिंदी माना॥
यह जो है क़ुर्आन खुदा का। हिंदी करैं बयान सदा का॥
लोगों को जब खोल बतावैं। हिंदी में कह कर समझावैं॥

हसन अली ख़ाँ ने 1762 ई० में 'सीकार' नामक फ़ार्सी पुस्तक का 'हींदवी' (=हिन्दी) में अनुवाद किया था।—तमाम हुवा दस्तुर सीकार का बनाया हुवा हसन अली षां का संवत् 1819 मीती क्वार वदी 15 सुकरवार फारसी से हींदवी कीय।

'अनुराग बाँसुरी' (1764 ई०) के रचयिता नूर मुहम्मद सवरहदी ने स्पष्टतः रचना की भाषा को 'हिंदी' बताया है—

हिंदू मग पर पाँव न राखेउँ। का जौं बहुतैं हिंदी भाखेउँ॥

मीर ग़ुलाम हसन 'हसन' ने 'तज़्किरः शुअरा' (1780 ई०) में मुल्ला ग़व्वासी के तूतीनामः' की आलोचना करते समय हिंदी शब्द का प्रयोग भाषापरक अर्थ में किया है—तूतीनाम-ए-नख़्शबी रा नज़्म नमूदा अस्त, बज़बान क़दीम निस्फ़ फ़ार्सी निस्फ़े हिंदी बतौर बिकट कहानी। 'गुलज़ार-ए-इश्क़' (1796 ई०) नामक मस्नवी में मुहम्मद वाक़ 'आगा' ने हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में अपना अभिमत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—तर्ज़ व रोज़मर्रः दक्खिनी नहज मुहावरः हिन्दी से तब्दील पाने लगे ता आँ कि रफ़्तः रफ़्तः इस बात से लोगों को शर्म आने लगी और हिन्दुस्तान मुर्दुदन लग ज़बान हिन्दी कि उसे व्रजभाषा बोलते हैं (पृष्ठ 46)। मीर तक़ी मीर के 'निकातुश्-शुअरा' (1798 ई०) में दो स्थलों पर प्रयुक्त भाषा बोधक 'हिन्दी' शब्द ध्यातव्य है—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किस को सरूरे-क़ल्ब, आया नहीं है लफ़्ज़ य हिन्दी ज़बाँ के बीच। तबीअत से फ़ार्सी की जो मैंने हिन्दी शेर कहे, सारे तुरक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच॥

'मौज-उल्-क़ुर्आन' (1801 ई०) की भूमिका में शाह अब्दुल् क़ादिर देहलवी रेख़्तः और हिन्दी की तुलना करते हुए लिखते हैं—कभी-कभी ज़बान रेख़्तः के मुक़ाबले में हिन्दी शब्द प्रयुक्त होता है, इस में ज़बाँ रेख़्तः नहीं बल्कि हिन्दी मुतआरिफ़ कि अवाम को बेतकल्लुफ़ दर्याफ़्त हो।

मुन्शी निहालचन्द 'लाहौरी' ने 1803 में 'मज़्हब ए-इश्क़' में गुलबकावली की कहानी लिखी। इसकी भूमिका में 'हिन्दी शब्द आया है- फ़ार्सी से हिन्दी रेख़्ते के मुहावरे में तालीफ़ कर······ ।

अली इब्राहीम ख़ाँ कृत 'गुलज़ारे इब्राहीम' को सामने रख कर मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़' ने 'गुलशने हिन्द' (1822 ई०) नाम से अनुवाद किया। 1906 में हैदराबाद से प्रकाशित इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—इन फ़ार्सी किताबों के हिन्दी नक़्ल करने से मुराद यह है ··· ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विरचित 'प्रेमयोगिनी' (1871 ई०) नामक नाटक में सूत्रधार कहता है—···· हिन्दी के एकमात्र जनक, भाषा नाटकों के एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र दुःखी हो ?

(ब) फुटकर साहित्य

इसके अन्तर्गत उन रचनाओं का वर्णन है जिनके रचयिता या रचना-नाम या रचना-काल अज्ञात है। किसी मुसलमान कवि ने 'नूरनामः' में अपनी कविता को हिन्दी भाषा में लिखित बताया है—

जुबाने अरब में य' था सब कलाम। किया नज्म हिन्दी में मैं ने तमाम ॥
अगर्चे था अफ्सानः वो अरबी ज़ुबाँ। व लेकिन समझ उस की थी बस गिराँ ॥
समझ उस की हर इक को दुश्वार थी। कि हिन्दी ज़ुबाँ याँ तो दरकार थी ॥
इसी के सबब मैं ने कर फ़िक्रो ग़ौर। लिखा नूरनामें को हिन्दी के तौर ॥

सन् 1789 ई० में मुरादशाह ने लखनऊ से अपने पिता को लिखा कि अपने लाहौरी मित्रों को उपहार देने के लिए उर्दू के बाज़ार से मोती लाया हूँ। प्रश्न उठता है कि वह उर्दू क्या है, जिस के बाज़ार से मोती का उपहार लाया गया है। उत्तर दिया जाता है कि वह 'हिन्दी ज़बाँ' है, जिसका कि लोहा अब सारा संसार मान रहा है—

बराये तोहफ़:-ए-याराने आँ सू। गुहरहा अज़ बाज़ार-ए उर्दू ॥
वह उर्दू क्या है ? यह हिन्दी ज़बाँ है। कि जिसका क़ाइल अब सारा जहाँ है ॥

मुहम्मद शाह मालीन ने 'मसाइल हिंदी' (1795 ई०) में अनेक स्थलों पर 'हिंदी' शब्द का भाषावाची अर्थ में प्रयोग किया है—लिख दव हिन्दी बोल कर बाँचू मैं दिन रात……। लिखी किताब इस वास्ते हिन्दी बोली बूझ।

बुन्देलखंड के राजा जयसिंह देव और सरकार के मध्य पत्र-व्यवहार में 'हिन्दुई' (=हिन्दी) भाषा का उल्लेख हुआ है। जॉन रङ्गसेन के नाम लिखे गए एक पत्र (वैशाख शुक्ल 4 बुधवार संवत् 1869 वि०) में जयसिंह देव ने कंपनी के फ़ार्सी और हिंदुई में लिखे पत्रों की प्राप्ति-सूचना दी है तथा प्रार्थना की है कि वे उन्हें पत्र हिंदुई में ही लिखा करें—आपका षत फारसी का व हिंदुई का आया सो मालुम हुवा ……मेहरबानगी कर हिन्दुई का षत आया करै।

ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' 1845 ई० में अपनी भाषा के सम्बन्ध में कहते हैं—

मतलब की मेरे यार न समझो तो क्या अजब, सब जानते हैं तुर्क की हिंदी जबा नहीं।

1850 ई० के एक इश्तिहार में हिन्दी पुस्तकों के सन्दर्भ में लिखा है—हिन्दी बोली में सुन्दर और दिव्य नागरी अक्षरों में पत्थर के छाप से छप कर पुस्तकालय सरकार गवरमट स्थान आगरे में बिकने के अर्थ रक्खा है। श्रीधर पाठक ने हिन्दी की दयनीय स्थिति पर 'हिन्दी प्रदीप' (अक्तूबर 1884) मे एक ग़ज़ल लिखी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

हिन्दी का अब तो कोई कदरदां रहा नहीं। बाइस यही है उसका रुतबा जरा नहीं। १॥
कायथ हैं जितने मुल्क में पढ़ते हैं फारसी। हिन्दी का नाम लेना भी उन को रवा नहीं ॥२॥

(स) गौण साहित्य

इसके अन्तर्गत केवल उसी साहित्य का निरूपण किया जाएगा जिस में गौण रूप से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हुआ है, उदाहरणतः भाषण आदि में।

शेख़ गुलाम हमदानी 'मुसहफ़ी' ने एक भाषण (1800 ई०) में अपनी अनोखी ज़बान को 'हिन्दवी' कहा था—

मुसहफ़ी फ़ार्सी को ताक़ पर रख। अब है अश्आर हिन्दवी का रवाज॥

6 फ़रवरी 1802 ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के वार्षिक अधिवेशन में विलियम बटरवर्थ बेली ने कहा था—हिन्दुस्तान में काररवाई के लिए हिन्दी ज़बान और ज़बानों से ज़ीआदः दरकार है। इसी प्रकार कॉलिज के 1804 ई० में हुए वार्षिक अधिवेशन में जे० रोमर ने कहा था—यिह वुह जड़ है कि जिससे हिन्दी पैदा हुई है। इन के अतिरिक्त 'हिन्दी भाषा सार' (मुंशी सदा सुखलाल कायस्थ, 1782 ई०), 'हिन्दी में पद्य कथाएँ' (ह० प्रति, लीडेन, 1785 ई०)', 'द हिन्दी मोरल प्रीसेप्टर' (जॉन गिलक्राइस्ट, 1803) जैसी पुस्तकों; 'अल्फ़ाज़े फ़ार्सी-ओ-हिन्दी' (कलकत्ता, 1808), 'हिन्दी पर्शियन वॉकेबुलरी' (सदल मिश्र, 1809) सदृश कोशों और सर विलियम जोन्स (1806), एडमानस्टन (1825), गार्सां द तासी (1852) आदि के भाषणों में 'हिन्दी' शब्द का हिन्दी भाषा के अर्थ में बहुल प्रयोग हुआ है। सन् 1900 ई० के बाद तो 'हिन्दी' शब्द के अनेक प्रयोग मिलते हैं किन्तु इतिहास एवं विकास की दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं।

उपसंहार

'हिन्दी' शब्द के इतिहास की एक सु-दीर्घ परम्परा है, जो समयानुसार विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है। यद्यपि हिन्दी-साहित्य की शैशवावस्था के पूर्व यह शब्द हिन्दीवी, हिन्दुवी, हिन्दुई आदि भिन्नार्थक रूपों में प्राप्त होता है तथापि कालांतर में इन सब को एक ही में तिरोहित करके वह एकार्थी हो गया; परन्तु उस का यह एकार्थीपन सर्वत्र मान्य नहीं, क्योंकि यदा-कदा साहित्यकारों द्वारा इसके मूल अर्थ को पुनः संरक्षित करने का प्रयास किया गया है। फिर भी भाषावाची अर्थ ही सर्वोपरि है।

हिन्दी शब्द का सामान्य अर्थ—हिन्दवी या हिन्दी शब्द फारसी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ 'हिन्द का अर्थ' होता है अतः यह फारसी ग्रन्थों मे हिन्ददेश वासी और हिन्द देश की भाषा-दोनों अर्थों मे प्रयुक्त हुअ है और आज भी इस अर्थ में आ सकता है। अतएव शब्दार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत मे बोली जाने वाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है।

हिन्दी का व्यावहारिक तथा साहित्यिक अर्थ—व्यवहार में हिन्दी उस बड़े भू-भाग की भाषा है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक पहाड़ी प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रामपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खण्डवा तक पहुचाती है। इस भू-भाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका, शिक्षा-दीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिन्दी है। यह उक्त भू-भाग की बोलचाल की एवं साहित्य की भाषा है। स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि जिसे पहले खड़ी बोली कहते थे, वही हिन्दी

भाषा का वह प्रधान रूप है जो हम समस्त क्षेत्र में पूर्वोक्त कार्य में प्रयुक्त होती है। इस अर्थ में विहारी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, राजस्थानी मारवाड़ी मेवाती, पूर्वी हिन्दो अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, पहाड़ी आदि हिन्दी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं।

हिन्दी का भाषा शास्त्रीय अर्थ—भाषाशास्त्र के विद्वानों को हिन्दी का व्यावहारिक एवं साहित्यिक अर्थ स्वीकार नहीं है। भाषाशास्त्रियों ने पश्चिमी हिन्दी को ही हिन्दी माना है। इस प्रकार भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी) भी हिन्दी से पृथक् मानी जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी अपभ्रंश की वंशज है और पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी अपभ्रंश की। हिन्दी को शौरसेनी की ही वंश परम्परा माना गया है। ग्रियर्सन, चटर्जी आदि भाषाशास्त्रियों ने 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग पश्चिमी हिन्दी के ही अर्थ में किया है और ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, बाँगरू एवं खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) को हिन्दी की विभाषाएँ माना है—अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि पूर्वी बोलियों को नहीं।

o

अध्याय | 2

भारतीय आर्य भाषा का विकास

प्रश्न 3—आर्य-भाषा के विकास के विभिन्न सोपानों का परिचय व्यावर्तक विशेषताओं के साथ दीजिए।

प्रश्न 4—भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की संक्षिप्त रूप रेखा बतलाइए।

प्रश्न 5—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

प्रश्न 6—'पालि' शब्द का व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत देते हुए उसकी प्रमुख विशषताएँ बताइए।

प्रश्न 7—'प्राकृत' से क्या तात्पर्य है? साहित्यिक प्राकृतों के भेद बताकर उनमें से किन्हीं दो का परिचय दीजिए।

प्रश्न 8—अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ बतलाते हुए यह दिखलाइए कि उनसे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास किस प्रकार हुआ।

प्रश्न 9—हिन्दी का सम्बन्ध जिस भाषा परिवार से है, उसका उल्लेख करते हुए आरम्भ से हिन्दी तक की स्थिति का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

उत्तर—अनेक विद्वान यह मानते हैं कि आर्य लोग भारत में बाहर से आए। उनका मूल-स्थान चाहे जहाँ रहा हो, प्राचीन काल में वे लोग ईरान में कुछ समय रह कर अफ़गानिस्तान के पहाड़ी प्रदेशों तथा दर्रों से होते हुए सप्तसिंधु (आधुनिक पंजाब) के मैदानों में प्रविष्ट हुए तभी से भारतीय आर्य भाषा का प्रारम्भ मानना चाहिए। आर्यों के भारत प्रवेश का यह समय अनुमानत: 2000 ई० पू० से 1500 ई० पू० तक माना जाता है। इसके विपरीत अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि आर्य लोग भारत के ही मूल निवासी थे और वे यहीं से ईरान, अफ़गानिस्तान आदि की ओर गए। जो भी हो, भारतीय आर्य भाषा के विकास को सुविधापूर्वक समझने की दृष्टि से उसे तीन स्थितियों में बाँटा जाता है—

(1500 ई० पू० से 500 ई० पू०), 1—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा० भा० आ०)

(500 ई० पू० से 1000 ई०), 2—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा (म० भा० आ०)

(1000 ई० से अब तक), 3—आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (आ० भा० आ०)

भारत में आर्य एक सुसंगठित दल के रूप में नहीं प्रविष्ट हुए थे बल्कि वे विभिन्न टोलियों में आकर बसने गए और यहाँ के द्रविड़, मुंडा आदि मूल निवासियों के संघर्ष में भाषा, रहन-सहन आदि में आवश्यक परिवर्तन करते रहे। पहले-पहल जब आर्य भारत में प्रविष्ट हुए होंगे तो यह सम्भव है कि उनकी भाषा ईरानी भाषा के बहुत अधिक निकट हो, परन्तु धीरे-धीरे वह ईरानी भाषा से पृथक् अपना स्वतंत्र अस्तित्व धारण करने लगी।

(1 प्राचीन भारतीय आर्यभाषा अथवा संस्कृत का विकास

प्राचीन भारतीय भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण ऋग्वेदसंहिता में मिलता है। उसके सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ कहीं बोली-भेद भी है। उत्तर भारत में आर्यों के प्रसार के तीन स्तर मिलते हैं (1) जब आर्य सप्त-सिन्धु में बसे, (2) जब आर्य मध्यप्रदेश में फैले, (3) जब आर्य अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रचारार्थ मध्य देश के पूर्व भी गए। इसके साथ ही अनार्य तत्त्वों के भी तीन स्तर माने जा जा सकते हैं—(1) जब अनार्य प्रभाव बहुत कम था (जबकि आर्य लोग सप्तसिन्धु में ही रहते थे), (2) जब अनार्य प्रभाव बढ़ने लगा (मध्यप्रदेश), (3) जब अनार्य तत्त्वों को आत्मसात किया गया। इन तीनों स्तरों के ही अनुकूल वैदिक युग के समाप्त होते-होते बोल-चाल में प्रयुक्त विभाषाओं के भी तीन रूप मिलते हैं—

(1) उदीच्य—यह बोली अत्यन्त शुद्ध और परिनिष्ठित मानी जाती है। प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उदीच्य भाषा को लोग गौरव की दृष्टि से देखते हैं। यही भाषा वेदों के भाष्य, टीका तथा धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन में प्रयुक्त होती थी। इसी भाषा का व्या-

करण कुछ समय बाद महर्षि पाणिनि द्वारा लिखा गया। पाणिनि पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाले विद्वान थे और उनका परिचय उदीच्य बोली से भलीभाँति था।

(2) मध्यदेशीय बोली—यह बोली गंगा-यमुना के दोआब में बोली जाती थी। इसमें कुछ अनार्य तत्त्वों का मिश्रण हो गया था, फिर भी यह परवर्ती वैदिक भाषा के अधिक समीप थी।

(3) प्राच्य बोली—यह पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा अन्य पूर्वी भागों की विभाषा थी। पतंजलि ने महाकाव्य में इसे 'आसुरी' बोली कहा है और बताया है कि ये असुर लोग सरल वाक्य को भी ग़लत बोलते हैं, अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की भाषा बोलते हैं। 'हेऽअरयः' के स्थान पर 'हेऽलयः' का उच्चारण करते हैं।

केवल 'र' और 'ल' के ही आधार पर तत्कालीन बोलियों का यह विभाजन स्पष्टतः समझा जा सकता है। पहले ही भारत-ईरानी शाखा में 'र' और 'ल' एक रूप हो गए थे—अर्थात् केवल 'र' का ही अस्तित्व रह गया था। मूल भारतीय आर्य भाषा में ईरानी के समान ही केवल 'र' था। इसे उदीच्य बोली कहा जा सकता है। दूसरी बोली मध्यदेशीय ऐसी थी जिसमें 'र' और 'ल' दोनों थे। तीसरी बोली प्राच्य ऐसी थी जिसमें केवल 'ल' था। इस प्रकार भारत-यूरोपीय भाषा का 'श्रीलो' शब्द भारतीय आर्य भाषा में, तीन विभिन्न बोलियों में तीन रूपों में परिवर्तित हुआ श्रीर-श्रील, श्लील।

वेद में जिस सुसंस्कृत तथा परिमिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ वह मुख्यतया उदीच्य भाषा पर आधारित थी। इसे छान्दस् भाषा का नाम दिया गया।

वैदिक मन्त्रों के बाद ब्राह्मण काल आता है ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा वैदिक मंत्रों की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। इसकी भाषा बहुत कुछ बाद की लौकिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ ही उपनिषदों का भी उल्लेख होता है। इस समय तक अनेकवैदिक शब्द लुप्त होने लगे थे और भाषा में जटिलता के स्थान पर सरलता आने लगी। भाषा में इस परिवर्तन के कारण अनेक वैदिक शब्द प्रचलन मे न आ सकने पर दुर्बोध होने लगे। इसी दुर्बोध अंश को स्पष्ट करने के लिए निरुक्त की रचना हुई जिसमें यास्ककृत 'निरुक्त' का विशिष्ट स्थान है। निरुक्त की भाषा वैदिक संस्कृत में अर्वाचीन है किन्तु लौकिक संस्कृत की अपेक्षा प्राचीन है। इसी के पश्चात् सूत्रकाल भी आता है जबकि श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र आदि अनेक सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें संस्कृत की अनेक शैलियों को जन्म मिला। इसी समय पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' नामक सुव्यवस्थित तथा सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ लिखा।

इन्होंने उदीच्य भाषा को ही प्रधानता दी और उसका एक ऐसा वैज्ञानिक तथा सर्वांगपूर्ण व्याकरण लिखा जैसा आज तक किसी भी भाषा का नहीं लिखा गया। किन्तु पाणिनी के कठोर शब्दानुशासन से संस्कृत का स्वरूप स्थिर हो गया और वह धीरे-धीरे बोल-चाल के व्यवहार से दूर हटने लगी। पाणिनि के बाद भी व्याकरण ग्रंथ लिखे गए जिनमें कात्यायनकृत वार्तिक तथा पतंजलिकृत महाभाष्य का विशिष्ट स्थान है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि को संस्कृत व्याकरण का मुनित्रय कहा जाता है। पतंजलि के समय तक आते-आते संस्कृत का व्यवहार बोल-चाल के क्षेत्र से बाहर हो गया और वह केवल विद्वानों की ही भाषा रह गई। इस प्रकार प्राचीन भारतीय

आर्य भाषा के मुख्य दो भाग हो जाते हैं—(1) वैदिक संस्कृत —आरम्भ से पाणिनि के युग तक (2) लौकिक संस्कृत – पाणिनि से पतंजलि तक। संस्कृत शब्द से कभी-कभी दोनों भागों का और कभी-कभी केवल लौकिक संस्कृत का बोध होता है।

संस्कृत की रूप-रचना

वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत दोनों में पद-विभाग संज्ञा और क्रिया की दृष्टि से किया गया। संज्ञा शब्दों के दो विभाग हैं। (1) अजंत अर्थात् वे संज्ञा शब्द जिनके अन्त में स्वर हों, (2) हलन्त। अर्थात् वे संज्ञा शब्द जिनके अन्त में व्यंजन हों। इस भाषा में तीन लिंग, तीन वचन तथा आठ कारक या विभक्तियाँ हैं। दो या अधिक शब्दों की सन्धि भी होती है। विशेषण तथा संख्यावाची शब्दों के रूप अधिकतर संज्ञा शब्दों के समान चलते हैं। विशेषण के लिंग, वचन तथा विभक्तियाँ विशेष्य के अनुसार चलती हैं। सर्वनाम में विभक्तियाँ सात ही होती हैं (सम्बोधन नहीं होता)।

संस्कृत के क्रिया रूपों में और भी अधिक जटिलता है। उसके कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य आदि छह प्रयोग होते हैं, लट्, लिट् लोट् इत्यादि दस लकार तथा तीन पुरुष और तीन वचन होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृत क्रिया के 6 (प्रयोग) × 10 (लकार) × 3 (पुरुष) × 3 (वचन) = 540 रूप बनते हैं। इसके अतिरिक्त सभी धातुओं के रूप समान नहीं हैं। इसीलिए उन्हें भ्वादिगण, अदादिगण आदि 10 गणों में विभाजित किया गया है। इनके अतिरिक्त सकर्मक और अकर्मक दृष्टि से भी क्रियाओं के भेद होते हैं।

संस्कृत योगात्मक भाषा है। इसमें समास-रचना का अपना अलग ही महत्त्व है, अनेक अव्यय और उपसर्ग हैं। वाक्य रचना सुनिश्चित नहीं, कोई पद कहीं भी आ सकता है।

(2) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का विकास

जैसा पहले बताया जा चुका है, संस्कृत मुख्य रूप से उदीच्य भाषा के आधार पर विकसित हुई थी और पूर्वी विभाषाओं को बोलने वाले लोग इस परिनिष्ठित भाषा का सरलता से ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर पाते थे। आगे चलकर संस्कृत भाषा व्याकरण के जटिल नियमों द्वारा बाँध दी गई, जिससे वह केवल विद्वत् वर्ग तक ही सीमित रह गई। इसलिए जनभाषाओं का विकास और भी तेज़ी से होने लगा। भाषा के क्षेत्र में नये युग का विकास पूर्वी बोलियों के प्रभाव से ही हुआ और मध्य भारतीय आर्य भाषाओं का उदय हुआ। इन भाषाओं का वैसे तो पहले से ही जन्म हो चुका था किन्तु गौतम (बुद्ध) 500 ई० पू०) के समय के आस-पास इन भाषाओं का निश्चित प्रमाण मिलने लगता है। बुद्ध तथा महावीर के पूर्व प्राय: साहित्यिक भाषा का ही अधिक आदर था। सामान्य जनता की भाषा उपेक्षित थी किन्तु उक्त दोनों महात्माओं ने जनभाषा में अपने उपदेश देकर इनका महत्त्व बढ़ा दिया। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आती हैं। इन्हें सुविधा की दृष्टि से तीन कालों में बाँटा जाता है—

(1) आदिकाल (500 ई० पू० से ई० के आरम्भ तक),
(2) मध्यकाल (ई० के आरम्भ से 500 ई० तक),

(3) उत्तरकाल (500 ई० से 1000 ई० तक)।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के 500 वर्षों के आदिकाल को 2 वर्गों में बाँटा जाता है : (1) पालि, (2) अशोकी प्राकृत।

पालि

बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया उसी को पालि माना जाता है। पालि को दूसरे शब्दों में धार्मिक प्राकृत कह सकते हैं। पालि शब्द का प्रयोग पहले बुद्ध वचनों के लिए किया जाता था बाद में जिस भाषा में ये वाणियाँ लिखी गईं उसे भी पालि ही कहा जाने लगा।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति—'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं—(1) पं० विधुशेखर भट्टाचार्य 'पालि' को संस्कृत के 'पंक्ति' शब्द से निकला मानते हैं—पंक्ति > पन्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि > पालि ! किन्तु ध्वनि-परिवर्तन के नियमों की दृष्टि से यह विकास मान्य नहीं सिद्ध होता।

(2) कुछ लोग मानते हैं कि यह 'पल्लि' अर्थात् गाँव की भाषा थी, इसलिए पालि कहलाई। किन्तु पालि केवल गाँव तक ही सीमित नहीं थी बल्कि एक श्रेष्ठ धार्मिक भाषा थी, जिसका प्रयोग नगरों में भी होता था।

(3) मैक्स वेलेसर का मत है कि पालि शब्द का सम्बन्ध पाटलिपुत्र, (ग्रीक 'पालिबोथ्') से है—अर्थात् पाटलिपुत्र (पटना) की भाषा। किन्तु 'पाटलि' का 'पाडलि' हो सकता है 'पालि' नहीं।

(4) भिक्षु सिद्धार्थ 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'पा' धातु से मानते हैं। प्राचीन विद्वानों ने भी ऐसी ही व्युत्पत्ति दी है अर्थात् 'पाति रक्खतीति तस्मात् पालि' अर्थात् अर्थों की रक्षा करती है अतः इसे पालि कहा जाता है।

(5) भिक्षु जगदीश कश्यप ने अपने पालि महाव्याकरण नामक ग्रन्थ में संस्कृत के 'पर्याय' शब्द स इसकी व्युत्पत्ति मानी है—जैसे पर्याय > परियाय > पालियाय पलियाय > पालि। अशोक के शिलालेखों में भी युद्ध के उपदेशों के अर्थ में 'पालियाय' शब्द का प्रयोग मिलता है। अर्थात् पालि का अर्थ है—बुद्धवाणी का पर्याय। यही मत सबसे अधिक समीचीन जान पड़ता है।

मूल स्थान—पालि भाषा का सम्बन्ध अनेक प्रदेशों से जोड़ा जाता है। सिंघल के बौद्धों का विचार रहा है कि पालि मगध देश की भाषा थी। किन्तु यह मत ठीक नहीं। मगधी पूर्वी भाषा है और उसमें संस्कृत की श, ष, स् तीनों ध्वनियों में से केवल 'श्' ध्वनि है। दूसरी ओर उसमें केवल 'ल्' ध्वनि है 'र्' नहीं है। पालि में इनके स्थान पर क्रमशः 'स्' और 'र्' मिलता है 'श्' और 'ल्' नहीं। रूप-रचना में भी दोनों में भेद है। पालि में कर्ता एकवचन में 'ओ' विभक्ति लगती है जबकि मागधी में 'ए' विभक्ति लगती है जैसे 'धर्म' शब्द पालि में 'धम्मो' और मागधी में 'धम्म' हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी इसका सम्बन्ध विभिन्न प्रदेशों से माना है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसमें मागधी और पैशाची दोनों के लक्षण देखकर इसे मूलतः मगध की जनभाषा माना जिसे बाद में धर्मप्रचार के लिए तक्षशिला लाया गया। यहाँ यह पैशाची से प्रभावित हुई। कुछ विद्वानों ने इसे कोशल प्रदेश की भाषा माना क्योंकि

बुद्ध ने स्वयं अपने को 'कोसल खत्तिय' कहा है। एक विद्वान् ने इसे उज्जैन की, एक ने विन्ध्यप्रदेश की और एक ने कलिंग की भाषा माना है। किन्तु वस्तुतः पालि किसी एक प्रदेश की भाषा नहीं बल्कि वह एक मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। अधिकांश विद्वानों का अनुमान है कि मूल बुद्धवचन मागधी बोली में भी रहे होंगे परन्तु जब उनके संकलन के लिए सभा एकत्र हुई तो उसमें प्रमुख संकलनकर्ता महाकश्यप हुए जो सूरसेन प्रदेश (आधुनिक मथुरा) के रहने वाले थे और उन्होंने मध्यदेशीय बोली में त्रिपिटक का संकलन किया। यही कारण है कि पालि का सबसे अधिक साम्य शौरसेनी से है और इसीलिए उसमें पैशाची का भी प्रभाव मिलता है। मागधी से अनूदित होने के कारण उसकी भी अनेक विशेषताएँ रह गईं। बाद में यही भाषा कलिंग में प्रचलित हुई और वहाँ त्रिपटिक का प्रचार इसी भाषा में हुआ। सच बात यह है कि पालि बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रमुख माध्यम होने के कारण अनेक प्रदेशों में गई और प्रत्येक की बोलियों के कुछ तत्त्व इसमें आते गए।

विशेषताएँ—पालि की ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता यह है कि उसमें संस्कृत के ऋ, लृ, ऐ, औ स्वरों का लोप हो गया और दो नये स्वरों (ह्रस्व ए तथा ओ) का विकास हुआ जैसे संस्कृत 'ओष्ठ', पालि 'ओँट्ठ'। व्यंजनों में श् ष् का लोप हो गया उनके स्थान पर केवल स् रह गया। रूप-रचना की दृष्टि से इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) पालि की रूप-रचना में सरलता की प्रवृत्ति आरम्भ हो गई थी किन्तु कई विशेषताएँ वैदिक संस्कृत की भी रह गईं। पालि में पद के अन्त में आने वाले व्यंजन का प्रायः लोप हो गया अथवा इसके साथ जुड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत में अजन्त (स्वरान्त) और हलन्त (व्यंजनान्त) का जो संज्ञा के शब्दों का विभाजन था वह पालि में लुप्त हो गया और फिर स्वरान्त हो जाने पर उसके रूप भी स्वरांत शब्दों की तरह चलने लगे जैसे 'रामस्थ' की तरह 'अग्गिस्स'। क्रिया रूपों में भी सरलता आ गई किन्तु एक बात विशेष रूप से विचारणीय है कि पालि में लौकिक संस्कृत के पूर्ववर्ती अनेक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं अतः उसका विकास लौकिक संस्कृत से न मानकर प्राचीन वैदिककालीन बोलियों से माना जाता है।

(2) रूप-रचना की दृष्टि से पालि की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उसमें संयुक्त व्यंजनों के पूर्व केवल ह्रस्व ध्वनि का ही प्रयोग होता है जैसे संस्कृत में मार्ग > पालि में मग्ग। संस्कृत में कार्य > पालि में कज्ज।

(3) कहीं-कहीं संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के स्थान पर स्वर-भक्ति भी पालि में मिलती है जैसे संस्कृत के पद्म के स्थान पर पालि में पदुम, संस्कृत में स्नेह-पालि में सिनेह।

(4) द्विवचन का लोप हो गया।

(5) स्वराघात के स्थान पर बलाघात का विकास हुआ।

अशोकी प्राकृत

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के प्रथम युग की दूसरी महत्त्वपूर्ण सामग्री

अशोक द्वारा खुदवाए गए शिलालेखों में मिली है। इन अभिलेखों में निश्चित समय भी खुदा है, जिससे यह सभी 262-250 ई० पू० के ठहरते हैं। ये लेख शासन तथा धर्म सम्बन्धी हैं और इसमें से कुछ के द्वारा अशोक की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ता है। हिमालय से मैसूर तक और बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक के विस्तृत भूभाग में फैले हुए इन लेखों की विशेषता यह भी है कि ये विभिन्न प्रदेशों की स्थानीय बोलियों में ही खुदवाए गए थे। इस प्रकार अशोकी प्राकृत कोई एक सुसंगठित या सुव्यवस्थित भाषा नहीं बल्कि ई० पू० तीसरी शताब्दी की अनेक स्थानीय बोलियों का समूह मात्र है। भाषा की दृष्टि से इन शिलालेखों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(1) उत्तर पश्चिमी (2) दक्षिण पश्चिमी और (3) पूर्वी। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय मध्यदेशीय जनभाषा के अतिरिक्त तीन विभिन्न जनभाषाएँ थीं। उत्तर-पश्चिमी भाषा का रूप शाहबाजगढ़ी तथा मनसेहरा (पश्चिमी पाकिस्तान) आदि के शिलालेखों में मिलता है। ये दोनों शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं और वहाँ पहाड़ों पर खुदे हैं। दक्षिण-पश्चिमी भाषा का स्वरूप गिरिनार (गुजरत) आदि के शिलालेखों में देखने को मिलता है। यह लेख भी पहाड़ों पर खुदा हैं और ब्राह्मी लिपि में है। प्राच्य भाषा का रूप है उड़ीसा के लेखों में देखा जा सकता है। यह लेख भी ब्राह्मी लिपि में है। पूर्वी भाषा का प्रभाव सभी शिलालेखों पर देखने को मिलता है, कारण यह है कि सबसे पहले ये लेख प्राच्य भाषा में ही लिखे जाते होंगे। बाद में इनका अनुवाद दूसरी स्थानीय बोलियों में किया जाता रहा होगा।

विशेषताएँ—रूप-रचना की दृष्टि से अशोकी प्राकृत में भी सरलता की प्रवृत्ति मिलती है। ध्वनि-समूह पालि के ही समान है। संयुक्त व्यंजनों का प्रायः सरलीकरण हो गया। जैसे अभिषिक्त >अभिसित। क्रिया-रूपों में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। लिंग-भेद में गड़बड़ी आने लगी।

अशोककालीन शिलालेखों के बाद के शिलालेखों पर संस्कृत का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है, जिससे ज्ञात होता है कि बुद्ध और महावीर के प्रयत्नों से जनभाषाओं का जो महत्त्व बढ़ गया था वह ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास तक मन्द पड़ गया और इसका स्थान फिर संस्कृत लेने लगी।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का मध्यकाल (साहित्यिक प्राकृत)

ईसवी सन् के आरम्भ तक प्राकृतों का प्रयोग साहित्यिक भाषाओं के रूप में होने लगा, इसी से इन्हें साहित्यिक प्राकृत कहा जाता है और इनका समय ईसवी के आरम्भ से 500 ई० तक माना जाता है। यहीं मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का मध्यकाल है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के आदिकाल का स्वरूप शीघ्रता से मध्यकालीन स्वरूप में परिवर्तित नहीं हो गया। इस परिवर्तन में लगभग 200 वर्ष लगे होंगे जिसे संक्रान्तिकाल कहा जा सकता है। इस काल की भाषा के उदाहरणों के लिए दो सामग्रियाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—अश्वघोष (लगभग 100 ई०) के नाटक तथा 'धम्मपद' का प्राकृत रूपान्तर जो खरोष्ठी लिपि में लिखा गया था। यह दोनों सामग्रियाँ मध्य एशिया में मिली थीं।

प्राकृत के साहित्यिक भाषा हो जाने के कारण इसके व्याकरणकी ओर भी

ध्यान गया। प्राकृत व्याकरणों में सर्वप्रथम वररुचि का नाम लिया जाता है। उन्होंने अपने 'प्राकृत प्रकाश' में प्राकृत के चार भेद माने—(1) महाराष्ट्री, (2) पैशाची' (3) मागधी, (4) शौरसेनी। प्राकृत व्याकरणों की परम्परा आगे भी चलती रही। इनमें 12वीं शताब्दी के जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न नाटकों में भी अनेक प्राकृतों के उल्लेख मिलते हैं जैसे टक्की, शावरी, चांडाली, आभीरिका आदि।

साहित्यिक प्राकृत के मुख्यतया पाँच भेद माने जाते हैं—(1) शौरसेनी, (2) महाराष्ट्री, (5) मागधी, (4) अर्द्धमागधी और (5) पैशाची।

शौरसेनी

शौरसेनी प्राकृत का सम्बन्ध मुख्यतया 'शूरसेन प्रदेश' (मथुरा के आस-पास) से था। इसी प्रदेश को पहले मध्य देश भी कहा जाता था। यहीं की भाषा वैदिक काल में उदीच्य और प्राच्य के बीच एक कड़ी का काम दे रही थी और इसी से विकसित पालि ने मुख्य भाषा का स्थान ग्रहण किया। शौरसेनी भी इसी का विकसित रूप है। संस्कृत के नाटकों में इसका अत्यधिक प्रयोग मिलता है। उनमें स्त्री पात्र, मध्य वर्ग के अधिकांश पात्र और विदूषक प्रायः शौरसेनी प्राकृत ही बोलते दिखाए गए हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इसका महत्त्व संस्कृत से कम नहीं था। इसका क्षेत्र भी अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अधिक विस्तृत था।

विशेषताएँ—इस भाषा की ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता यह है कि (1) दो स्वरों के मध्य में आने वाली त् और थ् ध्वनियाँ क्रमशः द् और ध् में परिवर्तित हो जाती हैं जैसे सं० गच्छति > शौर० गच्छदि, सं० कथय > शौर० कधेहि (2) संस्कृत 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी में क्ख हो जाता है जैसे सं० कुक्षि > शौर० कुक्खि।

शौरसेनी का प्रयोग अनेक जैन रचनाओं में मिलता है। इन्हें जैन शौरसेनी कहा गया है।

महाराष्ट्री

प्राकृत के सभी प्राचीन व्याकरणों में महाराष्ट्री को ही प्रमुख प्राकृत माना है। महाराष्ट्री नाम से यह ज्ञात होता है कि अपने समय में यह इस महान् राष्ट्र की राष्ट्रीय भाषा थी। इसी भाषा में लिखे गए हालकृत 'गाहा सतसई' और प्रवरसेन-कृत 'रावणवहो' इतने उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ हैं कि संस्कृत की उत्कृष्ट रचनाओं की श्रेणी में इन्हें आसानी से रखा जा सकता है।

विशेषताएँ—भाषा-तत्त्व की दृष्टि से महाराष्ट्री की प्रमुख विशेषता यह है कि यदि दो स्वरों के बीच अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन (क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, व) आता है तो उसका लोप हो जाता है और यदि महाप्राण स्पर्श व्यंजन आता है उसके स्थान पर केवल ह् रह जाता है जैसे—सं० कृति > महा० कइ, सं० कथा > महा० कहा, सं० गाथा > महा० गाहा। महाराष्ट्री और शौरसेनी में प्रमुख भेदक लक्षण यही है, वैसे इन दोनों में बहुत अधिक समानता है। महाराष्ट्री में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की कुछ जैन रचनाएँ भी मिलती हैं। इस भाषा को जैन महाराष्ट्री कहा जाता है।

मागधी

मगध देश की भाषा होने के कारण इसे मागधी कहा जाता है। यह भाषा शौरसेनी प्राकृत से बहुत अधिक प्रभावित है। संस्कृत के नाटकों में केवल निम्न वर्ग के पात्रों द्वारा ही यह भाषा बोली जाती है।

विशेषताएँ—मागधी में प्राचीन प्राच्य भाषा के समान केवल 'ल्' ध्वनि है। 'र्' ध्वनि का सर्वथा अभाव है। इसीलिए संस्कृत 'र्' के स्थान पर 'ल्' हो जाता है जैसे सं० राजा, मागधी—लाजा। ऊष्म ध्वनियों में केवल 'श्' ध्वनि है; 'स्' और ष् नहीं हैं—जैसे सं० समर > मा० शमल, 'ज' के स्थान पर 'य' हो जाता है जैसे जानाति से यणादि और संयुक्त व्यंजनों द्य, र्य, और र्ज के स्थान पर य्य हो जाता है जैसे अद्य से अय्य, कार्य से कय्य, दुर्जन से दुय्यण।

रूप-रचना की दृष्टि से मागधी की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि कर्ता कारक एकवचन में शब्दों के एकारान्त रूप मिलते हैं, अन्य प्राकृतों की तरह ओकारान्त नहीं जैसे सं० धर्मः का मागधी में धम्मे।

अर्धमागधी

अर्द्धमागधी कोशल प्रदेश की भाषा थी। जैन-शास्त्रों की रचना इसी भाषा में हुई है। वे इस भाषा को आर्षी अर्थात् ऋषियों की भाषा कहते थे और उनका विचार है कि यह आदि भाषा है। इसका मागधी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु यह बहुत कुछ अंशों में महाराष्ट्री या शौरसेनी से मिलती है। इसलिए इसे अर्द्ध-मागधी कहा जाता है अर्थात् यह आंशिक रूप में ही मागधी है। धार्मिक तथा साहित्यिक इसके दो रूप हैं। धार्मिक रूप को जैन प्राकृत भी कहा जाता है।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से यह शौरसेनी से काफी मिलती-जुलती है। श् ष् के स्थान पर इसमें स् ही मिलता है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि जहाँ दो स्वरों के मध्य में स्पर्श व्यंजन का लोप हो जाता है, वहाँ लुप्त व्यंजन का स्थान य ले लेता है जैसे सं० सागर से अर्द्धमागधी में सायर। अर्द्धमागधी में र् और ल् दोनों ध्वनियाँ हैं।

रूप-रचना की दृष्टि से कर्ता एकवचन में मागधी के समान अर्द्धमागधी में एकारान्त रूप भी मिलते हैं और शौरसेनी के समान ओकारान्त रूप भी।

पैशाची

इस समय पैशाची का कोई साहित्य नहीं मिलता। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' इसी भाषा में लिखी बताई जाती है, किन्तु अब उसका मूल रूप उपलब्ध नहीं। यद्यपि पैशाची का कोई स्वरूप देखने को नहीं मिलता लेकिन प्राचीन वैयाकरणों द्वारा उसकी जो विशेषताएँ दी गई हैं, उनसे उसका कुछ परिचय मिलता है। इसकी ध्वनि-सम्बन्धी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इसमें सघोष स्पर्श व्यंजन (ग घ, ज झ, ड, ढ, द, ध, ब, भ) अघोष (क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ) हो जाते हैं, जैसे सं० गगनं—पैशाची गकनं, सं० राजा—पै० राचा। पैशाची में श, ष नहीं केवल स् ध्वनि है। ण के स्थान पर न और र् के स्थान पर ल् मिलता है जैसे सं० तरुणी—पै० तलुनी।

सामान्य विशेषताएँ—उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि साहित्यिक

प्राकृतों और पालि में ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। शौरसेनी प्राकृत तो पालि से बहुत अधिक समान है। मुख्य अन्तर यही है कि शौरसेनी में न् और य् ध्वनियाँ नहीं हैं उनके स्थान पर क्रमशः ण और ज् मिलता है। इन प्राकृतों की विशेषता यह है कि सामान्य तौर पर संयुक्त व्यंजनों का अभाव हो गया, द्विवचन का लोप हो गया, कारकों की संख्या कम हो गई, अनेक सर्वनामों की विभक्तियाँ संज्ञा रूपों के साथ जुड़ने लगीं, रूप-रचना की जटिलता कम हो गई। केवल स्वरान्त शब्द ही रह गए। व्यंजनान्त शब्दों का प्रचलन समाप्त हो गया। आठ विभक्तियों में से चतुर्थी और षष्ठी एकरूप हो गईं। क्रियारूपों में भी सरलता और एकरूपता आने लगी। सभी धातुएँ स्वरान्त हो गईं। दस गणों का वर्गीकरण लुप्त होने लगा। लकारों की संख्या भी कम हो गई।

शब्द-भंडार की दृष्टि से प्राकृतों में अधिकांश संस्कृत के तद्भव शब्द ही हैं यद्यपि तत्सम शब्द भी मिलते हैं किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं। प्राकृतों में अनेक देशज शब्द भी मिलने लगे—अनेक आर्येतर शब्द (मुंडा, द्राविड़ परिवार के) भी प्राकृतों में समाविष्ट हो गए।

अपभ्रंश

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का अंतिम युग अपभ्रंश का है जो 500 या 600 ई० से 10 0 या 1100 ई० तक का माना जाता है। जैसे संस्कृत के साहित्यिक रूप को व्याकरणबद्ध कर देने पर जनभाषा ने प्राकृतों का रूप धारण कर लिया वैसे ही प्राकृतों का भी जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग होने लगा और वे नियमबद्ध कर दी गईं तब देशी बोलियों का नया विकास होने लगा जिससे विकसित स्वरूप को अपभ्रंश कहा गया।

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग सबसे पहले पतंजलि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) के महाभाष्य में मिलता है। प्रसंग के अनुसार पतंजलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अपाणिनीय प्रयोग अथवा अशुद्ध प्रयोग के लिए किया है, किसी भाषा के नाम के रूप में नहीं। इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग दंडी आदि प्राचीन आचार्यों ने भी किया है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में उसे आभीर या अहीरों की भाषा कहा और उसे उकारबहुला बताया है। भाषा के अर्थ में अपभ्रंश का प्रयोग आचार्य भामह (7वीं शताब्दी) ने किया है और फिर कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक के श्लोकों में न केवल अपभ्रंश का प्रभाव है बल्कि छंद भी अपभ्रंश के ही हैं, प्राकृत के नहीं, इससे हम यह मान सकते हैं कि छठीं-सातवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा का स्वरूप स्पष्ट रूप से निर्मित हो चुका था। आगे चलकर बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने उसमें व्याकरण की रचना कर अपभ्रंश तथा ग्राम्य भाषा में भेद दिखलाया है, जिससे आभास होता है कि उस समय तक अपभ्रंश को भी व्याकरण के नियमों में बाँध दिया गया था और परिणामस्वरूप नयी भाषाओं को जन्म मिला जिन्हें आ० भा० आर्य भाषाएँ कहा गया। इस प्रकार अपभ्रंश युग का आरम्भिक छोर 600 ई० और अंतिम छोर 1100 ई० तक माना जा सकता है। यद्यपि इसके बहुत पहले और बहुत बाद तक भी गौण रूप से अपभ्रंश का प्रयोग लोकभाषा अथवा साहित्य में होता रहा।

प्राकृत और अपभ्रंश में इतना साम्य है कि कभी-कभी दोनों में भेद करना कठिन हो जाता है। रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में नमिसाधु ने प्राकृत को ही अपभ्रंश बतलाया है (प्राकृत एवापभ्रंशः)। हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश प्रकरण में कई दोहे शुद्ध प्राकृत के दिए हैं। किन्तु दोनों में कुछ स्पष्ट विभिन्नताएँ हैं। वे प्रधानतया परसर्गों, क्रियापदों तथा शब्द-भंडार सम्बन्धी हैं। अपभ्रंश में प्रायः 3 ही कारक समूह रह गए, कुछ नये कारकचिह्न भी विकसित हुए (तें, से, पर)। तद्भव और देशज शब्दों का विस्तार बढ़ा।

अपभ्रंश के भेद—प्राचीन ग्रंथों में अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख अनेक प्रकार से मिलता है किन्तु उसके तीन भेदों का उल्लेख अलंकार सूत्रों से प्राप्त होता है—नमिसाधु ने उपनागर आभीर और ग्राम्य तीन भेद अपभ्रंश के बतलाए हैं। हेमचन्द्र ने भी नागर, उपनागर और व्राचड़ तीन भेद बतलाए। नमिसाधु के उपनागर अपभ्रंश को ही मार्कण्डेय ने नागर माना है। यह स्टैंडर्ड अपभ्रंश थी। व्राचड को मार्कण्डेय ने सिन्धु देश का माना है और उपनागर को नागर और व्राचड़ का सम्मिलित रूप माना है। लेकिन इन भेदों से अपभ्रंश के मौलिक भेदों का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इसलिए कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि प्रत्येक म० भा० आर्यभाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है अर्थात् जितने प्रकार की प्राकृतें हैं उतनी ही अपभ्रंश भाषाएँ भी रही होंगी। वस्तुतः उपर्युक्त तीन भाषाएँ केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश की ही हैं। वस्तुतः प्रचीनकाल में पश्चिमी अपभ्रंश का ही महत्त्व अधिक था। प्राकृतकाल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा शौरसेनी से ही इसका विकाश हुआ था। यह भाषा साहित्यिक दृष्टि से सारे उत्तरी भारत में प्रधान रूप से प्रयुक्त थी। यही कारण है कि प्राचीन वैयाकरणों ने इसी का प्रधानरूप से विवेचन किया है। वैसे स्थान भेद से पांचाली, वैदर्भी, कैकेयी, गौड़ी आदि 27 अपभ्रंशों के नाम मार्कण्डेय ने बतलाया है।

डॉ० यकोबी ने अपभ्रंश के चार भेद माने हैं—उत्तरी, पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी। दूसरी ओर डॉ० तगारे ने उत्तरी न मानकर केवल तीन भेद, पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी माना। उन्होंने दक्षिणी अपभ्रंश के लिए पुष्पदंतकृत 'महापुराण', पश्चिमी के लिए 'भविस्सयत्त कहा' और पूर्वी अपभ्रंश के लिए बौद्ध सिद्धों के दोहों को अपभ्रंश बतलाया। किन्तु इन सभी सामग्रियों का अध्यन कर डॉ० नामवर सिंह ने अपभ्रंश के केवल दो भेद पश्चिमी और पूर्वी माने। उनके अनुसार इनमें से पश्चिमी अपभ्रंश, परिनिष्ठित या स्टैन्डर्ड अपभ्रंश थी और पूर्वी उसकी स्थानीय विभाषा थी।

अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी भी कहा जाता है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि फिर पालि, प्राकृत को भी क्यों न पुरानी हिन्दी कहा जाए और दूसरी बात यह कि जब सभी आ० भा० आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश से ही हुआ तो फिर अकेले हिन्दी का ही अधिकार उस पर क्यों माना जाए।

विशेषताएँ—ध्वनियों की दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश में कोई विशेष अंतर नहीं है। प्रायः प्राकृत के सभी स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ अपभ्रंश में हैं। प्राकृत में जिस ए और ओ का विकास हुआ था, वे अपभ्रंश में भी उसी रूप में हैं।

अपभ्रंश में स्वर सम्बन्धी परिवर्तन मुख्यरूप से यह है कि अंतिम स्वर का या

तो लोप हो जाता है या वह ह्रस्व हो जाता है, जैसे सं० — संध्या > अपभ्रंश — साँझ; सं० अस्मै > अप० अम्हि, सं०— तुभ्मै > अप० तुम्हि।

(1) व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों में प्रमुख परिवर्तन ये हैं कि शब्दों के मध्यावर्ती अल्प-प्राण व्यंजन प्राय: लुप्त हो जाते हैं और महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर प्राय: 'अ' हो जाता है। जैसे—राजन = राअ, समल = सअल, पाद = पाअ।

मध्यवर्ती 'स' के स्थान पर 'ह' भी मिलता है; पाषाण > पाहाण। अपभ्रंश में व्यंजन विपर्यय द्वित्व तथा सानुनासिकता के अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे — दीर्घ < दीहर, काच > कच्च, वक्र > वंक आदि।

रूप-रचना सम्बन्धी विशेषताएँ —

(1) शब्दरूपों की दृष्टि से यह बात स्मरणीय है कि पालि में ही स्वरांत और व्यंजनात संज्ञा शब्दों का भेद लुप्त हो गया था। अपभ्रंश में भी सभी शब्द स्वरांत हैं। जैसे — सं० मनव > अपभ्रंश — मय; अधिकांश में अंतिम स्वर ध्वनियाँ छह हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ इनमें से भी अपभ्रंश में अंतिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व करने की प्रावृत्ति मिलती है, जैसे—पूजा > पुज्जा इनमें भी प्रधानता अकारांत शब्दों की है इसीलिए प्राय: सभी रूप अकारान्त पुल्लिग से प्रभावित होकर बनने लगे।

(2) व्याकरणिक लिंग भेद प्राय: समाप्त हो गया। नपुंसक लिंग का भी लोप हो गया। (3) विभक्तिरूपों में भी सरलता आ गई। चतुर्थी तथा शष्ठी संप्रदान सम्बन्ध) का भेद तो पहले ही समाप्त हो चुका था। अपभ्रंश में पंचमी तथा षष्ठी में भी अभिन्नता आने लगी। प्रथमा और द्वितीया का भेद समाप्त होने लगा। इस प्रकार संस्कृत के 24 कारक रूप जो प्राकृत में 12 के लगभग रह गए थे अपभ्रंश में तीन समूहों में बँट गए—(क) कर्ता-कर्म-संशोधन समूह (ख) करण—अधिकरण समूह (ग) संप्रदान—अपादान—सम्बन्ध समूह।

(4) प्राकृत में लट् के रूप प्राय: संस्कृत से मिलते-जुलते हैं किन्तु अपभ्रंश तक आते-आते ये और भी घिस गए, जैसे कृ धातु (= करना)।

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	करउं	करहुँ
म० पु०	करहि	करह
अ० पु०	करइ	करइं

(5) आज्ञासूचक रूप प्राय: अ–इ–या– उ अंत वाले हो गए, जैसे—कर, करि, करु भविष्यत में प्राय: स ह दोनों के योग से बने रूप मिलते हैं—जैसे—करिसइकरिहई। भूतकाल में पदरचना कृदन्तों के योग से होने लगे, जैसे—सं०—गम् + क्त = गत: से अपभ्रंश गअ (तुलनीय हि० गया)

(3) आधुनिक भारतीय आर्य भाषा

अपभ्रंश ने भी जब साहित्यक रूप धारण कर लिया और हेमचन्द्र आदि ने उसे व्याकरण बद्ध कर दिया तो जनभाषाएँ जो बन्धनमुक्त थीं, स्वतन्त्र रूप से पनपने लगीं। यही अधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ हैं जिनका विकास लगभग 1000 ई० से माना जाता है। इन्हें नव भारतीय आर्य भाषाएँ भी कहा जाता है।

आधुनिक आर्य भाषाओं का प्रारम्भिक काल अनेक युग परिवर्तनकारी घटनाओं से भरा है, भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह एक नया अध्याय था। भारतीय संस्कृति इतनी विशाल और सर्वग्राहिणी है कि अब तक जितने भी विदेशी आए सब की संस्कृतियों को यह आत्मसात करती गई लेकिन ग्यारहवीं शताब्दी में कट्टर और अनुदार इस्लामी संस्कृति ऐसी आई जिसे भारतीय संस्कृति पचा न सकी। इसके अनेक व्यावहारिक सिद्धांत इस देश के परम्परागत सिद्धान्तों के विरोधी हैं। इसी लिये इन नृशंस आक्रमणकारियों ने यहाँ की संस्कृति और धर्म को सर्वथा नष्ट करना आरम्भ किया।

भाषा के दृष्टिकोण से भी इस राजनीतिक उथल-पुथल का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। पहली बात तो यह है कि मुसलमानों के आगमन ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के विकास में शीघ्रता उपस्थित कर दी। अगर मुसलमान न आए होते तब भी नयी भाषाओं का विकास होता, लेकिन वह कदाचित् दूसरे रूप में होता और साथ ही वह कम-से-कम दो तीन सौ वर्ष बाद होता। दूसरी बात यह है कि भारत में प्राचीनता का मोह सदा से बहुत अधिक रहा है। यद्यपि जन-भाषाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था किन्तु संस्कृत के प्रति लोगों का मोह अब भी उसी तरह बना हुआ था। लेकिन विदेशी आक्रमण से स्थिति में परिवर्तन आने लगा। भारतीय धर्म, समाज और संस्कृति की रक्षा के लिए विद्वानों का ध्यान सामान्य जनता की ओर जाने लगा। सामान्य जनता में संस्कृत के माध्यम से प्रचार किया नहीं जा सकता था, इसलिए जन भाषाओं को ही माध्यम बनाया गया। मुख्य उद्देश्य यही था कि इस्लाम की विभीषिका से सुरक्षा के लिए भारतीय संस्कृति का ऐसा उच्च आदर्श रखा जाए जिसके सामने संसार का बड़ा-से-बड़ा वैभव भी फीका लगने लगे। यही कारण है कि प्रारम्भिक काल में अधिकांश साहित्य आध्यात्मिक और धार्मिक श्रेणी का है। इस मनोवृत्ति से नयी भाषा के निर्माण में एक विशेषता यह हुई कि यद्यपि जनभाषाओं को प्रधानता दी गई किन्तु विद्वानों द्वारा अपनाए जाने के कारण उनमें संस्कृत शब्दावली का समावेश विशेष रूप से हुआ। अपभ्रंश की अपेक्षा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में संस्कृत शब्दावली के अधिकाधिक प्रयोग का मूल कारण यही है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा अपभ्रंश से सर्वथा किस समय से पृथक् हुई, यह विवादास्पद विषय है। अपभ्रंशकाल यद्यपि 1000 ई० तक माना जाता है तथापि उसके बाद अपभ्रंश का अस्तित्व समाप्त नहीं हो गया। वस्तुतः साहित्यिक दृष्टि से अपभ्रंश की रचनाएँ पन्द्रहवीं शती तक की मिल जाती हैं। यही कारण है कि अपभ्रंश को संक्रान्ति-कालीन भाषा कहा जाता है। संदेशरासक पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, वर्ण-रत्नाकर, कीर्तिलता, उक्तिव्यक्ति-प्रकरण तथा बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ इस सक्रांति-कालीन भाषा की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनमें हम साहित्यिक अपभ्रंश तथा नयी विकसित लोकभाषाओं का मिलाजुला रूप पाते हैं। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की भाषा को 'अवहट्ट' कहा है जो 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' का ही रूपान्तर है, किन्तु कीर्तिलता की भाषा शुद्ध रूप से साहित्यिक अपभ्रंश नहीं है बल्कि उसमें मैथिली का पर्याप्त पुट है। सामान्य तौर पर मिली-जुली भाषा का यह रूप 1000 ई० से 1500 ई० तक अर्थात् 500 वर्षों तक चलता रहा जिसके बाद आधुनिक आर्य

भाषाओं का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट होने लगा और अपभ्रंश से पृथक् उनका स्वतंत्र अस्तित्व दिखाई देने लगा।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की सामान्य विशेषताएँ

ध्वनि—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन हुए जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण इस प्रकार हैं—

(1) सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्राकृतकाल में जो संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ जैसे क्क, क्ख, ग्ग आदि थीं उनके स्थान पर केवल एक ही ध्वनि आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में रह जाती है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे संस्कृत सप्त से प्राकृत में सत्त तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में सात, संस्कृत अष्ट से प्राकृत में अट्ठ तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में आठ। किन्तु इस दृष्टि से सिन्धी तथा पंजाबी अपवाद हैं क्योंकि उनमें इस प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता (अर्थात् सिन्धी और पंजाबी में अब भी सत्त, अट्ठ आदि मिलता है)।

(2) दूसरी विशेषता यह है कि यदि अनुनासिक व्यंजन के पश्चात् कोई अन्य व्यंजन आए तो अनुनासिक व्यंजन क्षीण होकर लुप्त हो जाता है परन्तु पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है जैसे संस्कृत—दन्त, हिं०—दाँत, संस्कृत चन्द्र, प्राकृत चन्द, हिन्दी चाँद। इस दृष्टिकोण से भी पंजाबी-सिन्धी अपवाद हैं।

(3) तीसरी विशेषता यह है कि दो स्वरों के बीच आने वाली ड, ढ ध्वनियाँ अधिकतर ड़ ढ़ मे परिवर्तित हो जाती हैं जैसे संस्कृत में, दण्ड हिन्दी में डाँड़।

(4) पद के अन्त में या मध्य में यदि इ या ई के बाद अ हो तो दोनों मिलकर ई हो जाते हैं जैसे संस्कृत घृत, प्राकृत—घिअ—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा घी।

शब्द रूप—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में आठ विभक्तियाँ और तीन वचन होने के कारण प्रत्येक शब्द के चौबीस रूप होते थे। मध्य भारतीय आर्यभाषा में इनकी संख्या बहुत कम रह गई यहाँ तक कि केवल पाँच छह रूप ही रह गए। आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में यह संख्या घटकर और कम हो गई। अब शब्दों के केवल दो रूप मिलते हैं विकारी और अविकारी रूप। अधिकांश आधुनिक आर्यभाषाओं में कर्ता कारक के एकवचन और बहुवचन रूपों में भेद नहीं रहा। केवल सिन्धी, मराठी और पश्चिमी हिन्दी में बहुवचन के भिन्न रूप मिलते हैं। अनेक विभक्तियों के लोप हो जाने से अपभ्रंश के समान अनेक परसर्गों का प्रयोग होने लगा। इस सम्बन्ध में आर्येतर भाषाओं का भी प्रभाव विचारणीय है। संस्कृत में संज्ञा और क्रिया में मौलिक अन्तर है, इसलिए दोनों में लगने वाले प्रत्यय भी भिन्न है, लेकिन आर्येत्तर भाषाओं में यह बात नहीं है। इसका प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्यभाषा पर पड़ा है। अनेक क्रियारूप भी संज्ञा शब्दों के साथ जुड़ने लगे। इसी तरह द्राविड़ प्रभाव के कारण बहुवचन रूप बनाने के लिए कुछ स्वतन्त्र शब्दों जैसे सब, लोग आदि का प्रयोग होने लगा, जैसे हिन्दी—हम सब, हम लोग। सर्वनामों में आदरसूचक सर्वनाम आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की एक प्रमुख विशेषता है जैसे हिन्दी—आप संस्कृत के आत्मन् शब्द से विकसित हुआ है। लिंग की दृष्टि से दो लिंग रह गए—पुंलिंग और स्त्रीलिंग। केवल गुजराती व मराठी में नंपुसक लिंग रह

गया। शब्दों के लिंग में संस्कृत का पूर्ण अनुसरण नहीं मिलता, जैसे संस्कृत में आत्मन् और अग्नि पुल्लिग हैं लेकिन हिन्दी में आत्मा और अग्नि स्त्रीलिंग।

क्रिया रूप—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के क्रियारूपों का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के साथ इसका बहुत कुछ सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है। भूतकाल में तीन प्रकार के प्रयोग प्रचलित हैं—(1) कर्तरि, (2) कर्मणि, (3) भावे। कर्तरि प्रयोग में क्रिया कर्ता के विशेषण रूप में प्रयुक्त होती है, कर्मणि में क्रिया कर्म का विशेषण बन जाती है और भावे प्रयोग में वह स्वतन्त्र रहती है, जैसे—वह गया, उसने चाय पी, उसने राजा को देखा क्रमशः कर्तरि, कर्मणि और भावे प्रयोग के उदाहरण हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में इनके स्वरूप में विशिष्ट अन्तर देखने को मिलते हैं। सामान्य कालों के साथ आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में यौगिक कालों का भी विकास हुआ। अधिकांश रूप से प्रवृत्ति संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाने की है।

प्रश्न 10—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी सामान्य विशेषताएँ बतलाइए।

प्रश्न 11—प्रमुख आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के नाम बतलाइए और उनमें से किसी एक की प्रधान विशेषताएँ बतलाइए।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय एवं विशेषताएँ

(1) सिंधी

इस भाषा की उत्पत्ति व्राचड अपभ्रंश से हुई है। स्वतंत्रता के पूर्व यह भाषा भारत में सिन्ध प्रांत की भाषा थी। भारत-पाकिस्तान विभाजन के पश्चात् इसके बोलने वाले पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त तथा भारत में कच्छ, अजमेर, बम्बई तथा दिल्ली आदि में हैं। सिन्धी की अपनी लिपि 'लंडा' है, लेकिन गुरुमुखी लिपि का भी प्रयोग होता है। इसकी पाँच बोलियाँ मुख्य हैं—विचोली, सिरैकी, लासी, थरेली, कच्छी। इसमें से विचोली बोली ही साहित्यिक भाषा बन गई है। सिन्धी का साहित्य बहुत समृद्ध नहीं है, फिर भी गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार का साहित्य मिलता है। सिन्धी के शब्द-भंडार में अरबी-फ़ारसी के शब्दों की अधिकता है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) सिन्धी के सभी शब्द स्वरांत होते हैं। ग, ज, ड, ब व्यंजन ध्वनियाँ सिन्धी की विशिष्ट ध्वनियाँ हैं, जिनका उच्चारण कण्ठपिटक को बंद करके द्वित्व रूप में होना है। (2) पुँल्लिंग संज्ञाएँ प्राय: उकारांत तथा ओकारांत और स्त्रीलिंग संज्ञाएँ अकारान्त तथा आकारान्त होती हैं। (3) लिग तथा वचन दो हैं। (4) कर्मकारक में 'के' तथा अधिकरण कारक में 'माँ' परसर्ग का प्रयोग होता है जो अवधी से आश्चर्यजनक रूप में साम्य रखता है।

(२) लहँदा

इसकी उत्पत्ति पैशाची या कैकेय अपभ्रंश से हुई है। 'लहँदा' का अर्थ है सूर्यास्त-सूर्यास्त की दिशा के कारण ही इसका अर्थ है—पश्चिमी भाषा।

यह लाहौर तथा स्यालकोट के ज़िलों को छोड़कर शेष पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। अब यह क्षेत्र पाकिस्तान में है। मुल्तानी खेत्रानी, जाफरी, थळी या ज़टकी, तिनाडली पुंछी आदि इसकी बोलियाँ हैं। इसकी लिपि 'लंडा' है, जिसमें स्वर-मात्राओं के चिह्न नहीं होते हैं। यह भाषा फ़ारसी लिपि में भी लिखी जाती है। इसमें उल्लेखनीय साहित्य नहीं मिलता है। सिक्ख धर्म से सम्बद्ध कुछ रचनाएँ (जैसे-जनमसाखी) मिलती है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 1 करोड़ 22 लाख है।

सामान्य विशेताएँ—(1) पंजाबी की अपेक्षा यह भाषा कर्कश तथा बलयुक्त है।

(2) सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण हिन्दी की तरह शुद्ध होता है, पंजाबी की तरह सुरयुक्त नहीं।

(3) इसकी कुछ बोलियों में 'ळ' का प्रयोग मिलता है।

(4) इस भाषा की प्रमुख विशेषता है इसका स्पष्ट बलात्मक स्वाराघात एवं उच्चावरोही सुर जिसका उच्चारण विसर्ग अथवा हलन्त 'ह' की तरह होता है।

(3) पंजाबी

इसकी उत्पत्ति पैशाची या कैकेय अपभ्रंश से हुई है लेकिन इस पर शौरसेनी का भी प्रभाव है। कुछ भाषाविज्ञानी पंजाबी की उत्पत्ति 'टक्क' अपभ्रंश से मानते हैं तो कुछ इसे पूर्वी पंजाबी कहते हैं। उनके अनुसार पंजाबी की दो उपभाषाएँ हैं—पूर्वी पंजाबी, पश्चिमी पंजाबी। पूर्वी पंजाबी ही पंजाबी है तथा प० पंजाबी लहँदा है। लेकिन पाकिस्तान बनने के बाद इन दोनों भाषाओं के विकास की दिशा भिन्न हो गई है, अतः इन्हें पृथक् भाषा स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि भारत-पाकिस्तान विभाजन के पश्चात् पंजाबी भाषी लोग देश के सभी कोनों में बस गए हैं, फिर भी इस भाषा का प्रमुख क्षेत्र पूर्व से पश्चिम तक मध्य पंजाब में और उत्तर में हिमाचल-जम्मू से लेकर दक्षिण में सिंधी तथा राजस्थानी की सीमा तक है। इसकी प्रमुख बोलियाँ है—डोगरी, मलवई, पुआधी, माझी राठी आधुनिक पंजाबी साहित्य की आदर्श भाषा है। इसमें प्राचीन साहित्य कम मिलता है, लेकिन पिछले सौ वर्षों से प्रचुर साहित्य-रचना हो रही है। इसकी भी लिपि 'लंडा' थी। लेकिन इस लिपि का सुधरा रूप 'गुरुमुखी' लिपि है। पंजाबी बोलने वालों की कुल संख्या लगभग डेढ़ करोड़ है।

सामान्य विशेषताएं—(1) ध्वनि विकास की दृष्टि से यह भाषा अभी भी 'प्राकृत' भाषा के बहुत निकट है। यथा—हत्थ (हिन्दी-हाथ), कन्न (हिन्दी-कान)।

(2) पंजाबी की यह निजी विशेषता है कि इसमें सघोष महाप्राण ध्वनियों (घ, झ, ढ, ध, भ) का उच्चारण अघोष आरोही सुर के साथ होता है—

(3) संयुक्त स्वरों को स्वर भक्ति के साथ बोलने की प्रवृत्ति है। जैसे-क्रोध >करोध, मित्र >मित्तर, धर्म >धरम।

(4) बहुवचन स्त्रीलिंग में सभी संज्ञाओं के अंत में 'आँ' लगता है। जैसे-कुड़ियाँ, वाताँ, राणिआँ।

(4) गुजराती

इस भाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। इसका क्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, बंबई का सीमावर्ती प्रदेश तथा राजस्थान का दक्षिणी पश्चिमी भाग है। इस भाषा की बोलियाँ बहुत कम हैं। पश्चिम की केवल एक बोली 'काठियावाड़ी' ही उल्लेखनीय हैं। अहमदाबाद के आस-पास की बोली ही परिनिष्ठित भाषा है, जो संपूर्ण क्षेत्र में समान रूप से बोली जाती है। गुजराती तथा राजस्थानी भाषा में बड़ी समानता है। 17वीं शती तक यह भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी। इसके बाद गुजराती की अपनी लिपि मिलती है, जो 'कैथी' लिपि से मिलती-जुलती है तथा जिसमें शिरोरेखा नहीं लगती है। गुजराती का साहित्य 12वीं शती से मिलता है। इसका प्राचीन तथा आधुनिक काल का भी साहित्य बहुत सम्पन्न है। इसके बोलने वालों की संख्या 1 करोड़ 10 लाख के करीब है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) गुजराती में विवृत 'अ' तथा 'आ' का उच्चारण अच्छी तरह होता है।

(2) इसमें 'ज्ञ' का उच्चारण 'ग्न' होता है। जैसे 'ज्ञान' का उच्चारण "ग्नान" के रूप में होता है।

(3) इसमें भी हिन्दी की तरह संस्कृत-प्राकृत के संयुक्त तथा द्वित्व व्यंजन का ह्रस्व हो जाता है तथा उसके पूर्व का स्वर दीर्घ हो जाता है। जैसे—पृष्ठ=पीठु, चक्र=चाक।

(4) इसमें लिंग तीन हैं। सामान्यतः ओकारांत शब्द पुल्लिग, इकारान्त स्त्रीलिंग तथा उकारान्त शब्द नपुंसकलिंग होता है।

(5) इसमें वचन दो हैं। सामान्यतः 'ओ' लगाने से एकवचन का बहुवचन हो जाता है।

(5) मराठी

इस भाषा की उत्पत्ति महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुई है। यह महाराष्ट्र राज्य की भाषा है। पूना के आस-पास बोली जाने वाली भाषा ही टकसाली भाषा है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—कोंकणी, हलबी, बखरी। मराठी भाषा में शिला-लेख तथा ताम्रपत्र 983 ई० से मिलने लगते हैं। 12वीं सदी से इसका साहित्य प्राप्त होने लगता है। इसका प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही काल का साहित्य बहुत सम्पन्न है। इसकी लिपि देवनागरी है जिसे 'बालबोध' कहा जाता है। नित्य व्यवहार में 'मोड़ी' लिपि का व्यवहार होता है। मराठी शब्द भंडार में तत्सम्, तद्भव, फ़ारसी तथा द्रविड़ शब्दों की अधिकता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 3 करोड़ 52 लाख है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) 'ळ' ध्वनि मिलती है।

(2) 'ऋ' का 'रु' हो जाता है।

(3) पदान्त 'न' का 'ण' हो जाता है।

(4) लिंग तीन तथा वचन दो हैं। लिंगभेद बड़ा जटिल है। प्रायः सभी आकारांत संज्ञाएँ पुँल्लिग, ईकारान्त स्त्रीलिंग तथा सानुनासिक एकारांत संज्ञाएँ नपुंसक लिंग होती हैं।

(6) उड़िया

इसकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई है। यह वर्तमान उड़ीसा राज्य की भाषा है। यह भाषा बँगला से इतना अधिक साम्य रखती है कि बहुत दिनों तक इसे बँगला की बोली कहा जाता रहा है लेकिन यह बँगला भाषा की बोली न होकर उसकी सहोदरा (बहन) भाषा है। उड़ीसा पर बहुत दिनों तक तैलगों तथा मराठों का अधिकार रहा है इसीलिए सामान्य भाषा में तेलुगु तथा मराठी शब्दों का प्रयोग होता है। इसकी एक बोली "भत्री" है जो उड़िया, मराठी तथा तेलुगु भाषा का सम्मिलित रूप है। इनके अतिरिक्त गंजामी, कटकी, संभलपुरी या लरिया इसकी बोलियाँ हैं। मुसलमानों तथा अँग्रेजों के कारण इस भाषा में फ़ारसी तथा अँगरेजी के शब्द भी मिलते हैं। उड़िया का साहित्य बहुत सम्पन्न है—विशेषतः कृष्णकाव्य। 11 वीं-12 वीं सदी से ही इस भाषा के शिलालेख प्राप्त होते हैं। उड़िया की अपनी लिपि है जो देवनागरी लिपि से मिलती-जुलती है। कुछ समय पूर्व तक यह भाषा ताड़पत्रों पर लिखी जाती रही है, अतः वर्णों को बाईं ओर ऊपर को गोलाकार करके लिखा जाता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 1 करोड़ 75 लाख है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) बँगला भाषा की तरह अन्त्य 'अ' का उच्चारण वृत्ताकार होता है। इसमें तालव्य 'श' का उच्चारण होता है। र-ल तथा न-ण चारों ध्वनियाँ पाई जाती हैं।

(2) इसमें भी प्रायः संयुक्त व्यंजन द्वित्व हो जाते हैं।

(3) 'ऋ' का 'रु' हो जाता है तथा ऊष्म 'श' तथा 'ष' का उच्चारण दन्त्य 'स' होता है।

(4) इसमें व्याकरणगत लिंग न होकर स्वाभाविक हैं।

(7) असमी

इसकी उत्पत्ति मागधी से हुई है। यह वर्तमान असम राज्य की भाषा है जिसका पुराना नाम प्राग्ज्योतिष तथा कामरूप था। इस भाषा का क्षेत्र बहुत छोटा है। अतः इसकी बोलियाँ नहीं हैं तथा भाषा भी सर्वत्र एक समान है। इसका साहित्य 14वीं-15वीं शताब्दी से प्राप्त होता है। असमी भाषा में इतिहास, रसायन तथा वैद्यक के ग्रंथ मिलते हैं। इस दृष्टि से यह भाषा भारत की अन्य भाषाओं से सम्पन्न है। असमी में पहले कई लिपियाँ प्रचलित थीं। अब थोड़े संशोधन के साथ बँगला लिपि को स्वीकार कर लिया है। इसके केवल दो अक्षर 'र' तथा 'व' बँगला लिपि से भिन्न हैं। देवनागरी लिपि का भी प्रयोग होता है। बँगला तथा असमी का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतना अन्तर अवश्य है कि बँगला की अपेक्षा असमी भाषा अधिक वियोगात्मक है। इसके बोलने वालों की संख्या 68 लाख के आस-पास है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) असमी में च, छ का 'स' तथा 'स' का 'ह' या 'ख' हो जाता है।

(2) बँगला की तरह संयुक्त व्यंजनों का द्वित्व हो जाता है।

(3) इसमें मूर्धन्य ध्वनियों की मूर्धन्यता निर्बल होती है।
(4) क्रियाओं में लिंग तथा वचन का भेद नहीं है।

(8) बँगला

मागधी अपभ्रंश के पूर्व रूप से इसकी उत्पत्ति हुई है। बँगला भाषा की दो शाखाएँ हैं—(1) पूर्वी बँगला—जिसका क्षेत्र वर्तमान बँगाला देश है और जिसका केन्द्र ढाका है। (2) पश्चिमी बँगला—जिसका क्षेत्र पश्चिमी बँगाल है तथा जिसका केन्द्र कलकत्ता है। कलकत्ता की ही भाषा टकसाली है। बँगला का साहित्य बहुत प्राचीन नहीं है, लेकिन आधुनिक काल का साहित्य बहुत समृद्ध है। बँगला साहित्य पर अँगरेजी तथा संस्कृत साहित्य का बहुत प्रभाव है। बँगला भाषा की अपनी लिपि है जो देवनागरी लिपि की बहन है। बँगला भाषा के शब्द-भंडार में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है। इसके बोलने वालों की संख्या (बंगला देश मिलाकर) लगभग 6 करोड़ 10 लाख है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) बँगला में 'अ' का उच्चारण ह्रस्व 'ओ' की तरह होता है। जैसे – रवि=रोवि, भला=भालो।

(2) 'ऐ' तथा 'औ' का उच्चारण संयुक्त स्वर 'आए' तथा 'ओइ' की तरह होता है।

(3) इसमें 'य' का 'ज', 'व' का 'ब' (या कभी-कभी 'व' का 'भ' तथा 'उ') उच्चारण होता है।

(4) 'ण' का 'न' तथा 'स', 'ष' का उच्चारण 'श' होता है।

(5) संस्कृत के संयुक्त व्यंजन द्वित्व की तरह उच्चरित होते हैं। यथा लक्ष्मी =लक्खी, परीक्षा=परीक्खा।

(6) इस भाषा की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें विशेषण और क्रियाएँ लिंगानुसार बदलती नहीं हैं। निर्जीव पदार्थों में लिंगभेद नहीं होता है।

(7) अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं की अपेक्षा यह भाषा संयोगात्मक है।

(9) सिंहली

यह आधुनिक लंका देश की भाषा है। इस भाषा की प्रकृति से ऐसा स्पष्ट होता है कि इस भाषा का सम्बन्ध गुजराती से है। ईसा शती के पूर्व गुजरातवासियों ने लंका को अपना उपनिवेश बनाया था। उनके साथ ही यह भाषा लंका गई। सिंहली में 10वीं शताब्दी से साहित्य प्राप्त होता है। इसके बोलने वालों की संख्या 57 लाख के करीब है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) इसमें 'ऋ' का उच्चारण 'रु' तथा सभी ऊष्मों के स्थान पर 'स' का उच्चारण होता है।

(2) इसमें अन्त्य वर्ण का लोप हो जाता है। जैसे—पंडित=पंडि।

(3) इसमें सभी अल्पप्राण ध्वनियों का महाप्राण हो गया है अर्थात् अल्पप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं।

अध्याय | 3

हिन्दी-भाषा का उद्भव और विकास

प्रश्न 12—हिन्दी-भाषा के ऐतिहासिक विकास क्रम पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 13—हिन्दी-भाषा के विकास की संक्षिप्त रूप रेखा खींचिए।

प्रश्न 14—हिन्दी-भाषा के उद्भव और विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—सन् 1000 ई० तक हिन्दी साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी — यह हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं कि 1000 ई० के बाद मध्यकालीन आर्यभाषा के अन्तिम रूप अपभ्रंश भाषाओं ने धीरे-धीरे बदलकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया था और गंगा की घाटी में प्रयाग या काशी तक बोली जाने वाली शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी की अपभ्रंशों ने हिन्दी-भाषा के समस्त प्रधान रूपों को जन्म दिया।

परन्तु विचारणीय है कि हिन्दी ने एकाएक साहित्यिक रूप धारण नहीं किया होगा। पहले वह साधारण बोल-चाल की भाषा रही होगी। फिर धीरे-धीरे उसका साहित्य में प्रयोग हुआ होगा और तब कालान्तर में यथासमय वह साहित्य की भाषा बन गई होगी।

हिन्दी का बोल-चाल का रूप क्या था, इसका कोई निश्चित या लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के मतानुसार 'हिन्दी सम्भवतः ईसवी सन् 782 से पहले बोली जाती रही होगी।' इसके समर्थन में उन्होंने 'कुवलय माला' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसी ग्रन्थ में हमको बोल-चाल की हिन्दी का सर्वप्रथम रूप उपलब्ध होता है।

कुछ इतिहासकारों ने 7वीं शताब्दी के पुष्य नामक एक कवि की चर्चा की है और उसको हिन्दी का प्रथम कवि माना गया है, परन्तु इसकी भाषा का नमूना उपलब्ध नहीं है। 9वीं और 10वीं शताब्दी में धर्म-प्रचारकों ने हिन्दी को प्राचीन अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इससे हिन्दी पनपने लगी। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'पश्चिम के जैन लोगों और पूरब में वज्रयानों की अपभ्रंश की रचनाओं में जहाँ-तहाँ हिन्दी बोली झलकने लगी।' इस समय के एक कवि सरहपा की रचना मिलती है जिनका समय सन् 990 के आस-पास माना जाता है।

विभिन्न विद्वानों ने घुमा फिराकर हिन्दी के आरम्भ-काल को प्रायः यही माना है। अतः हम कह सकते हैं कि सन् 1000 ईसवी के लगभग हिन्दी साहित्यिक रूप धारण कर रही थी। इस अनुमान की संगति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता के साथ बैठ जाती है, जो हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ संवत् 750 से मानते हैं।

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा है कि 'हेमचन्द्र के समय से पूर्व हिन्दी का विकास होने लगा था और चन्द के समय तक उसका रूप कुछ स्थिर हो गया था। अतएव हिन्दी का आदिकाल हम संवत् 1050 के लगभग मान सकते हैं। हिन्दी का आरम्भ काल अब सामान्यतः यही मान लिया गया है।

हिन्दी भाषा के इतिहास का काल-विभाजन—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास क्रम प्रायः समानान्तर चलता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी भाषा के इतिहास को तीन मुख्य कालों में विभक्त किया है। यथा—

(क) प्राचीन काल (सन् 1300 ई० से सन् 1500 ई० तक)—उस समय अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिन्दी-भाषा पर मौजूद था, साथ ही हिन्दी की बोलियों के निश्चित अथवा स्पष्ट रूप विकसित नहीं हुए थे।

(ख) मध्य काल (सन् 1500 ई० से 1800 ई० तक) अब हिन्दी उक्त प्रभार से मुक्त हो गई थी और हिन्दी की बोलियाँ–विशेषकर ब्रजभाषा और अवधी, अपने पैरों पर खड़ी हो गई थीं।

(ग) आधुनिक काल (सन् 1800 ई० से अब तक)—हिन्दी की बोलियों के रूपों का मध्यकाल में परिवर्तन आरम्भ हो गया है तथा साहित्यिक प्रयोगों की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिन्दी की अन्य बोलियों को दबा लिया है।

हिन्दी भाषा के विभिन्न कालों का संक्षिप्त परिचय

(क) प्राचीन काल— दसवीं शताब्दी से पूर्व रचित कई ग्रन्थों के उल्लेख मात्र तो मिलते हैं परन्तु उनके नमूने उपलब्ध नहीं हैं। हिन्दी का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ चन्द्रबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो है। इस ग्रन्थ में हमको हिन्दी भाषा के सर्वप्रथम दर्शन होते हैं, परन्तु उक्त ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं भाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। इस ग्रन्थ का स्वरूप इतना मिश्रित एवं वैविध्यपूर्ण है कि उसके मूल रूप का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो रहा है।

जिस समय हिन्दी भाषा का इतिहास आरम्भ होता है, उस समय हिन्दी प्रदेश तीन राज्यों में विभक्त था— (i) दिल्ली अजमेर का चौहान वंश, (ii) कन्नौज का राठौर वंश (iii) महोबा का परमार वंश। ये राज्य सन् 1191 तक बने हुए थे। उसके बाद 17-18 वर्ष के भीतर नष्ट हो गए। ये तीनों ही हिन्दू राज्य थे। इनके संरक्षण में हिन्दी पनप रही थी। कन्नौज के अन्तिम सम्राट जयचन्द्र का दरबार साहित्य-चर्चा का मुख्य केन्द्र था, परन्तु वहाँ हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत और प्राकृत का अधिक बोलबाला था। संस्कृत के अन्तिम 'नैषध' के रचयिता हर्ष जयचन्द्र के दरबार के राजकवि थे। महोबा के राजकवि जगनिक का नाम अपने ग्रन्थ 'आल्हखण्ड' के कारण सर्वविदित है। दिल्ली के किसी प्रसिद्ध राजकवि का नाम विदित नहीं है।

13वीं शताब्दी के आरम्भ तक समस्त हिन्दी-प्रदेश पर मुसलमानों का अधिपत्य स्थापित हो गया था। इन विदेशी शासकों की रुचि हिन्दी के प्रति बिलकुल नहीं थी। तीन सौ वर्षों से अधिक विदेशी शासन की कालावधि में दिल्ली के राजनीतिक केन्द्र से हिन्दी-भाषा की उन्नति में बिलकुल सहायता प्राप्त नहीं हुई। इस कालावधि में दिल्ली में केवल अमीर खुसरो ने मनोरंजन के लिए भाषा के प्रति

कुछ रुचि दिखाई। इसके अतिरिक्त उक्त कालावधि के अन्तिम दिनों में धार्मिक आन्दोलनों के कारण भाषा में कुछ काम हुआ। इस प्रकार के आन्दोलन में गोरखनाथ, रामानन्द तथा उनके प्रमुख शिष्य कबीर-सम्प्रदाय के प्रयास उल्लेखनीय हैं। हिन्दी-भाषा के इस प्राचीन काल की सामग्री प्रायः चार श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है–

(i) शिलालेख, ताम्रपत्र, प्राचीन पत्र आदि।

(i) अपभ्रंशकाल ।

(iii) चारण काव्य, जिनका आरम्भ गंगा की घाटी में हुआ था। किन्तु विकास राजस्थान में हुआ था। चारण राजनीति उथल-पुथल थी। तथा

(vi)धार्मिक ग्रन्थ अन्य काव्य-ग्रन्थ ।

इस युग के सम्बन्ध में ये बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं— (i) यह काल वस्तुतः विदेशी शासन का युग था तथा (ii) इसमें हिन्दू राजाओं द्वारा खुदवाए गए शिलालेखों की संख्या अत्यन्त स्वल्प है, (iii) इस युग में नाथ–पंथ एवं वज्रयानी सिद्ध-साहित्य की रचना हुई जिसके अनेक ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। (vi) इस युग के ग्रन्थों में किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः ये ग्रन्थ बहुत दिनों, मौखिक रूप में रहे हों। इसी कारण यह अनुमान किया जाता है कि इन ग्रन्थों की भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हो गया होगा।

इस काल के साहित्यकारों में विद्यापति का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। 'पदावली' इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। परन्तु 'पदावली' की भाषा को हिन्दी न मानकर मैथिली मानते हैं।

कबीर आदि संत कवियों की रचनाएँ भी प्राचीन काल के अन्तर्गत आती हैं। इनकी भाषा पंचमेल खिचड़ी है, अतः उसका स्वरूप भी अस्थिर है।

इस काल में केवल अमीर खुसरो की भाषा को हम हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्यिक रूप मान सकते हैं। इनकी कविता की भाषा मूल रूप से यही है जिसे हम आज हिन्दी कहते हैं', यथा—

श्याम बरन की एक है नारी। माथे ऊपर लागे प्यारी ।
याका अरथ जो कोई खोलै। कुत्ते की वह बोली बोले।

प्राचीन हिन्दी के ऊपर मुसलमानों की भाषाओं—अरबी, तुर्की और फ़ारसी का खूब प्रभाव पड़ा।

यह हिन्दी का शैशव काल है। इस काल की हिन्दी में अपभ्रंश के काफी रूप मिलते हैं। इसमें कई बोलियों का मिश्रण मिलता है। अपभ्रंश से लगभग सभी ध्वनियाँ हिन्दी ने लीं, किन्तु उसमें कुछ नयी ध्वनियों का विकास भी इसी काल में हुआ। अपभ्रंश में संयुक्त स्वर नहीं थे। हिन्दी में दो संयुक्त स्वर 'ऐ' और 'औ' इस काल में प्रयुक्त होने लगे।

'हिन्दी' का प्रथम कवि कौन है, इस सम्बन्ध में विवाद है। जहाँ तक मुसलमानों का सम्बन्ध है, 'हिन्दवी' या 'हिन्दी के प्रथम कवि ख्वाजा मसऊद साद सुलेमान (र० का० 1066 ई०) हैं। इनके हिन्दवी-संग्रह की चर्चा अमीर खुसरो ने की है। इनकी भाषा कदाचित् प्राचीन पंजाबी मिश्रित हिन्दवी थी।

सारांश यह है कि (क) आदि काल में हिन्दी भाषा विभिन्न प्रभावों से शक्ति ग्रहण करके विकसित हो रही थी। संस्कृत के समान वह व्याकरण के काठोर नियमों द्वारा जकड़ी न थी। आदान-प्रदान के द्वारा वह निरन्तर विकास को प्राप्त हो रही थी। (ख) खड़ी बोली, ब्रजभाषा, और अवधी अपने-अपने क्षेत्र की बोलचाल की भाषा रही होगी। धीरे-धीरे इनका प्रयोग साहित्यिक रचनाओं के लिए होने लगा होगा। (ग) इस काल के उल्लेखनीय कवि हैं—शालिभद्र सूरि, रोड, विजयसेन सूरि, शेख़ फ़रीदुद्दीन शकरगंजी, चक्रधर स्वामी, कबीर, शाह, मीराँ, ख्वाजा बन्दा नवाज।

(ख) मध्यकाल (1500 ई० से 1800 ई० तक)—मध्यकाल तक आते-आते तुर्कों का महत्त्व समाप्त हो गया था और मुग़लों का साम्राज्य स्थापित होने लगा था। इस संक्रांति काल में कुछ समय तक राजपूतों का भी प्रमुत्व रहा। इन राजपूत राजों की हिंदी के प्रति सहानुभूति थी। जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए मुग़ल शासकों ने भी जनता की भाषा हिंदी को अपनाया।

आदिकाल में हिंदी का सर्वमान्य साहित्यिक रूप बन चुका था। इस काल में ब्रजभाषा और अवधी साहित्यिक भाषाएँ बन चुकी थीं तथा खड़ी बोली साधारण नागरिक व्यवहार, शासन आदि की भाषा थी।

इस काल तक आते-आते हिंदी का स्पष्ट स्वरूप निखर आया। उसकी प्रमुख बोलियाँ भी विकसित हो गईं। पढ़े-लिखे लोगों की हिंदी में क़, ख़ ग़, ज़ ,फ़—ये पाँच व्यंजन ध्वनियाँ सम्मिलित हो गईं। उस समय लगभग 3500 फ़ार्सी 2500 अरबी तथा सौ से कम तुर्की शब्द प्रयुक्त हो रहे थे। इस काल के उत्तरार्द्ध में यूरोप से भी हमारा पर्याप्त सम्पर्क हो गया था, अत: 100 से कम पुर्त्तगाली, कुछ फ्रांसीसी एवं डच, तथा कुछ सौ अँरेज़ी शब्द भी हिंदी में प्रविष्ट हो गए।

ब्रजभाषा और अवधी के प्रचार का कारण धार्मिक आन्दोलन थे। अवधी में सूफ़ियों ने ग्रन्थ रचना करके सूफ़ी-धर्म का प्रचार किया। 'रामचरितमानस' की रचना अवधी में ही हुई। कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया। 'रामचरितमानस' सदृश ग्रन्थ की रचना के होने पर भी अवधी का विशेष प्रचार नहीं हुआ और न उसमें किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना ही हुई। ब्रजभाषा समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई थी। 17वीं-18वीं शताब्दी में प्राय: समस्त हिंदी साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया। ब्रजभाषा का रूप दिन-दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत होता गया। बुन्देलखण्ड तथा राजस्थान के देशी राज्यों से संपर्क में आने के कारण इस कालावधि के बहुत से कवियों की भाषा में जहाँ-तहाँ बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है।

इस युग में खड़ी बोली मुसलमानों की बोली समझी जाने लगी थी। उन दिनों खड़ी बोली का अस्तित्व तो था, परन्तु कवि गण एवं लेखक उसका प्रयोग नहीं करते थे। मुसलमान कवि भी कविता करने के लिए ब्रजभाषा और अवधी का प्रयोग करते थे। इस युग में खड़ी बोली का प्रयोग दक्षिण में हुआ। 19वीं शताब्दी में उत्तर भारत में भी कई मुसलमान कवि हुए जिन्होंने खड़ी बोली उर्दू को परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया। इनमें मीर, सौदा, इंशा, गालिब, जौक़ और दाग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सारांश यह है कि मध्यकाल के प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियों ने विकासित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण कर लिया। ब्रज और

अवधी धार्मिक आश्रय प्राप्त करके साहित्यिक बन गई और आगे बढ़ी। खड़ी बोली आंशिक रूप से राजनीतिक आश्रय प्राप्त करके विकसित होती रही। उसकी विकास-गति बहुत धीमी रही। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यकाल में ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली के अनेक हिंदू-मुसलमान कवि हुए। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'वास्तव में यह काल हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।'

(ग) आधुनिक काल (सन् 1800 ई० से अब तक)-सन् 1802 के लगभग आगरा उपरान्त तथा सन् 1856 में अवध पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। नवीन राजनीतिक परिस्थितियों ने खड़ी बोली को प्रोत्साहन प्रदान किया और खड़ी बोली उर्दू के रूप में चारों ओर फैल गई।

19वीं शताब्दी तक कविता की भाषा ब्रजभाषा रही और गद्य की भाषा खड़ी बोली रही। बीसवीं शताब्दी के आते-आते खड़ी बोली गद्य-पद्य दोनों की साहित्यिक भाषा बन गई। धीरे-धीरे खड़ी बोली के ऊपर से ब्रजभाषा का प्रभाव कम होता गया है।

खड़ी बोली का साहित्य बहुत तेजी के साथ पनपा है। अवधी और ब्रजभाषा से उसको बहुत सहायता प्राप्त हुई है, क्योंकि थोड़े से रूप भेद के साथ तीनों की शब्द-सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत के अतिरिक्त उसने अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि विदेशी भाषाओं से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। नवीन युग की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु इसमें अनेकानेक नवीन शब्दों का निर्माण हो रहा है। उसमें वैज्ञानिक एवं आधुनिक विषयों से सम्बन्धित शब्दावली का निर्माण बहुत तेजी के साथ हो रहा है।

परिनिष्ठित हिंदी में एक नई ध्वनि आ गई है—ऑ। आदिकाल में हिन्दी ने दो संयुक्त स्वरों (ऐ, औ) को अपनाया था। पश्चिमी हिंदी प्रदेश में ये ध्वनियाँ संयुक्त स्वर के स्थान पर मूल स्वर हो गई हैं। पूर्वी प्रदेश में यह अब भी संयुक्त स्वर है।

एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है। खड़ी बोली के इतने व्यापक प्रभाव के होते हुए भी हिंदी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने-अपने प्रदेशों में विकसित हो रही हैं। बोलचल में भी ग्रामीण जनता स्थानीय बोलियों का प्रयोग करती है, नगर निवासी शिक्षित लोग प्रायः खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं। एक बात और, नवीन परिस्थितियों में ग्रामीण बोलियों के रूप में काफ़ी परिवर्तन हो गया है। जायसी के पद्मावत की अवधी और आजकल अवध में बोली जाने वाली अवधी में पर्याप्त अन्तर है। सूरदास की ब्रजभाषा से वह ब्रजभाषा एकदम भिन्न है जो व्रज प्रदेश में आजकल बोली जाती है।

निष्कर्ष—हिन्दी एक प्रवहमान एवं सशक्त भाषा है। वह आन्तरिक शक्ति को विकासित करने के लिए बाह्य प्रभावों एवं परिस्थितियों से शक्ति-संचय करती हुई निरन्तर विकासशील रही है। वह बाहर से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में संकोच नहीं करती है। उसका व्याकरण भी विशेष जटिल नहीं है। वस्तुतः हिन्दी संजीवनी शक्ति से ओत-प्रोत है।

अध्याय | 4

हिन्दी भाषा : क्षेत्र और विविध रूप (उपभाषाएँ)

प्रश्न 15—हिन्दी-भाषा का क्षेत्र निर्धारित कीजिए ।

उत्तर—भाषाशास्त्र के विद्वानों में हिन्दी-भाषा के क्षेत्रों के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है । डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का जो वर्गीकरण किया है उसे देखने पर विदित होता है कि राजस्थानी एवं बिहारी (मैथिली, मगही तथा भजपुरी) उपभाषाएँ हिन्दी-क्षेत्र के बाहर हैं । डॉ० सुनीत कुमार चटर्जी ने भी इनको हिन्दी-क्षेत्र में स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया है और डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी इन्हीं दोनों विद्वानों का अनुसरण करते हुए उक्त दोनों उपभाषों को हिन्दी-क्षेत्र के बाहर माना है ।

इन तीनों विद्वानों के अनुसार हिंदी-क्षेत्र में पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौज तथा बुन्देली) और पूर्वी हिन्दी (अवधी,बघेली और छत्तीसगढ़ी मानी जा सकती हैं ।

किन्तु, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने, औचित्य का ध्यान रखते हुए हिन्दी-क्षेत्र के विषय में यह मत प्रकट किया है कि 'इस भूमि-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भागा पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है ।'

वास्तव में देखा जाय तो डॉ० वर्मा का मत ही सर्वथा उचित और मान्य है । भारतीय संविधान में भी उक्त समस्त भू-भाग में हिन्दी को ही एकमात्र प्रथम साहित्यिक भाषा स्वीकार किया गया है । अभिप्राय यह है कि पूर्वी, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार इन सात राज्यों का सम्मिलित भू-भाग हिन्दी भाषा का क्षेत्र है । इस तरह पहाड़ी, राजस्थानी और बिहारी उपभाषाओं को हिन्दी-क्षेत्र में ही ग्रहण किया जाना चाहिए ।

परम्परागत रूप में पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत जिन उपभाषाओं की गणना की जाती है, उनके साथ ही राजस्थानी को भी सम्मिलित करना उचित प्रतीत होता है और इसी प्रकार पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं के वर्ग में बिहारी उपभाषाओं—मैथिली मगही, भोजपुरी को भी शामिल कर लेना तर्कसंगत लगता है ।

अतः हिन्दी-भाषा का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता है । अब इसका क्षेत्र इस प्रकार माना जाता है—पश्चिम में अम्बाला से बीकानेर और जैसलमेर, दक्षिण

में ताप्ती नदी, बालाघाट से दुर्ग, पूर्व में रायगढ़ से भागलपुर तथा उत्तर में नेपाल की सीमा को छूते हुए गंगोत्री-जमुनोत्री तक फैले 1050 मील लम्बा तथा लगभग 600 मील चौड़ा भूभाग। इस तरह उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान, हिमांचल प्रदेश, पूर्वी पंजाब के कुछ भाग तथा हरियाणा राज्य की भाषा हिन्दी है।

हिन्दी की उपभाषाएँ

प्रश्न 16—हिन्दी की उपभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए, उनकी सामान्य विशेषताएँ बतलाइए।

हिन्दी भाषा व्यापक क्षेत्र की भाषा है जिसमें थोड़े अन्तर के साथ पाँच उपभाषाएँ हैं। इन्हें उपभाषाएँ इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक उपभाषा की अपनी बोलियाँ तथा उपबोलियाँ हैं। इसके अतिरिक्त पहाड़ी हिन्दी को छोड़कर शेष सभी उपभाषाओं का किसी-न-किसी बोली में साहित्य भी प्राप्त होता है।

हिन्दी की उपभाषाएँ बोलियों सहित ये हैं—

(1) पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी;

(2) पश्चिमी हिन्दी—ब्रजभाषा, बाँगरू, खड़ी बोली, कन्नौजी, बुन्देली, ताज़ुज्वेकी, कौरवी, निमाड़ी;

(3) राजस्थानी—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी, हाड़ौती, किशनगढ़ी अजमेरी, डिंगल, सौराष्ट्री, आदि;

(4) बिहारी—भोजपुरी, मगही, मैथिली, वज्जिका;

(5) पहाड़ी—कुमाऊँनी, गढ़वाली, पश्चिमी पहाड़ी (कई बोलियाँ);

आगे इन उपभाषाओं का अलग-अलग सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

(1) पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिन्दी का विकास प्राचीन अर्द्धमागधी से हुआ है। इसका क्षेत्र है—फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, रायबरेली, उन्नाव, सीतापुर, लखनऊ, लखीमपुर, बहराइच, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर, फतेहपुर का कुछ भाग, बघेलखंड और छत्तीसगढ़। इसकी बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी। बोलने वालों की संख्या लगभग ढाई करोड़ है। अवधी पूर्वी हिन्दी की समस्त बोलियों में प्रधान है जिसमें विपुल तथा श्रेष्ठ साहित्य प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् भोजपुरी को भी पूर्वी हिन्दी की बोली मानते हैं। पर अधिकांश विद्वान् भोजपुरी को बिहारी उपभाषा की बोली मानते हैं। पूर्वी हिन्दी की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसकी बोलियों में जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, उतना अन्य उपभाषा की बोलियों में नहीं है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) 'ण' की जगह सदैव 'न' का प्रयोग होता है।

(2) 'श' तथा 'ष' की जगह दन्त्य 'स' का प्रयोग।

(3) 'ड' शब्द के आदि में आता है, शब्द के मध्य तथा अंत में नहीं आता है। इसी प्रकार 'ड़' शब्द के आदि में नहीं आता है। इसका प्रयोग शब्द के मध्य तथा अन्त में होता है।

(4) हिन्दी के शब्दों का 'ल' पूर्वी हिन्दी में 'र' हो जाता है।

यथा: थाली > थारी, फल > फर।

(5) 'य' का 'ज', अथवा 'इ', 'ई' 'व' का 'उ' हो जाता है। जैसे—यह > जेह, अथवा ई—वकील > उकील।

(6) महाप्राण ध्वनियाँ शुद्ध तथा स्पष्ट हैं।

(7) 'अ' का उच्चारण कुछ-कुछ संवृत तथा वृत्ताकार होता है।

(8) 'ऐ' तथा 'औ' संयुक्त स्वर होता है। यथा—मैल > मइल, कौन > कउन।

(9) परसर्गों में कर्तृकारक परसर्ग 'ने' नहीं होता है। सकर्मक-अकर्मक क्रिया के साथ कर्ता के रूप में कोई अन्तर नहीं पाया जाता है। अन्य कारकों के परसर्ग इस प्रकार हैं—

कर्मकारक—कें, सम्बन्ध—क, के, कर, केर, सम्प्रदान—के, बरे, करण—अपादान—से, ते, लें, ले, सन अधिकरण—मा, मैं मह, मों, पर, माँझ।

(10) सर्वनामों में हम-तुम का अर्थ एकवचन होता है।

(11) इसमें क्रिया का रूप जटिल होता है। इसका एक कारण यह है कि इसमें क्रिया के साथ सर्वनाम के प्रत्यय भी लगे रहते हैं। जैसे—'करत्या' में 'तू' सर्वनाम भी है। इसी प्रकार 'पूछिस' का अर्थ है—उसने पूछा।

(12) जैसे-जैसे पूर्व में बढ़ते जाते हैं—विशेषण और क्रिया में लिंग भेद लुप्त होता जाता है।

(13) विदेशी शब्दावली का प्रभाव कम है।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। इसका क्षेत्र है—पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी की सीमा से लेकर पूर्व में अवधी तथा बघेली की सीमा तक तथा उत्तर में पहाड़ी की सीमा से दक्षिण में मराठी की सीमा तक। इसकी पाँच बोलियाँ हैं—हरियानी, खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बुंदेली, कन्नौजी। इसमें ब्रजभाषा साहित्य की भाषा थी तथा इसमें प्रचुर और श्रेष्ठ साहित्य रचना हुई है। सम्प्रति इस वर्ग की ही एक बोली खड़ीबोली हिन्दी परिनिष्ठित तथा राष्ट्र-भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग चार करोड़ है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) इस भाषा के उच्चारण में थोड़ा खड़ापन है।

(2) इसमें 'अ' का उच्चारण विवृत है।

(3) 'ऐ', 'औ' मूल स्वर हैं। संयुक्त स्वर 'अइ' तथा 'अउ' इससे भिन्न है।

(4) ण, श, का उच्चारण स्पष्ट होता है।

(5) ख़, ग़, ज़, क़, जैसी विदेशी ध्वनियाँ भी प्रचलित हैं।

(6) इसमें 'य' तथा 'व' ध्वनियाँ सभी बोलियों में मिलती हैं।

(7) महाप्राण ध्वनियों की महाप्राणता कम कर दी जाती है। जैसे—भी का बी, नहीं का नई, भूख का भूक उच्चारण होता है।

(8) परसर्गों की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता है कर्ता-कारक में 'ने' परसर्ग का प्रयोग। अन्य कारकों के परसर्ग इस प्रकार हैं—

कर्म-सम्प्रदान=को, क, कु, कुँ, कू, कूँ, कौ
करण-अपादान=सूँ, सैं, तैं, से, सों
सम्बन्ध—का, की, के, कौ, को
अधिकरण—में, मैं, पे, पै, पर

(1) आकारान्त तथा ओकारान्त संज्ञा, विशेषण और क्रियापद लिंग तथा वचन के अनुसार बदलते रहते हैं। जैसे—पुं०—बडो छोरो गयो, (बड़ा लड़का गया)
स्त्रीलिंग—बड़ी छोरी गई (बड़ी लड़की गई)

राजस्थानी

राजस्थानी सारे राजस्थान, राजस्थान से बाहर सिंध के कोने में तथा मध्य-प्रदेश के मालवा जनपद में बोली जाती है। ब्रजभाषा के साहित्यिक क्षेत्र में आने के पूर्व, हिन्दी प्रदेश में डिंगल भाषा साहित्य की भाषा थी। यह डिंगल भाषा राजस्थानी का पूर्वरूप है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में अनेक रासो काव्य रचयिताओं ने इसी भाषा को स्वीकार किया है। इस भाषा के बोलने वालों की संख्या लगभग 2 करोड़ 15 लाख है। इसकी लगभग 30 बोलियाँ हैं, जिनमें चार मुख्य हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती तथा मालवी। राजस्थानी का अधिकांश साहित्य मारवाड़ी बोली में ही लिखा गया है। थोड़ा साहित्य जयपुरी में भी प्राप्त होता है। आधुनिक काल में राजस्थान में भी खड़ी बोली हिन्दी ही साहित्य की भाषा है। राजस्थानी के लिए नागरी लिपि के साथ कहीं-कहीं महाजनी लिपि का भी प्रयोग होता है।

सामान्य विशेषताएँ—राजस्थानी में 'ण' तथा 'ळ' ध्वनियों का विशेष महत्त्व है। दो स्वरों के बीच की 'ल' ध्वनि का उच्चारण 'ळ' होता है।

(2) इसमें ट वर्ग का प्रयोग बहुत होता है, विशेषत: 'ड़' तथा 'ड' का।
(3) अल्पप्राणीकरण का उदाहरण बहुत मिलता है, जैसे धोखा से धोका।
(4) 'य' तथा 'ज' का उच्चारण होता है।
(5) उत्तर पश्चिमी और दक्षिणी बोलियों में च का स, स का ह, ज का ज़, झ का ज्ह उच्चारण उल्लेखनीय है—
(6) इसके परसर्ग इस प्रकार हैं—
कर्म—सम्प्रदान—नै, नइं
करण अपादान—सूँ
सम्बन्ध—रो, रा, री (मारवाड़ी बोली में) को, का, की (अन्य बोलियों में)
(7) इसमें बहुवचन के अंत में 'ओं' होता है—तारा, बादलाँ।
(8) सर्वनामों तथा क्रियाओं के रूप ब्रजभाषा से मिलते हैं। अन्तर इतना है कि बहुवचन में ए, एँ, ऐं की जगह आँ होता है। यथा म्हे हाँ (हम हैं) इसमें था, थे, थी के लिए हो, हा, ही मिलता है। भविष्यत् काल में 'ग' की जगह 'स' रूप होता है जैसे—चलसूँ, चलसी।

बिहारी

बंगला, उड़िया तथा असमी की तरह इसमें भी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई है। बहुत दिनों तक बंगला भाषा का अंग माना जाता रहा है, लेकिन अब इसे

निश्चित रूप से हिन्दी की उपभाषा स्वीकार कर लिया गया है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—भोजपुरी, मगही तथा मैथिली। विहारी की सभी बोलियों में परस्पर बहुत अन्तर है। इसकी बोलियों में मैथिली में ही साहित्य मिलता है। अब भोजपुरी में भी साहित्य रचा जा रहा है। इस भाषा के लिए तीन लिपियों का प्रयोग होता है। छपाई में देव नागरी लिपि का तथा लिखने में प्रायः 'कैथी' लिपि का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त मैथिल ब्राह्मणों की पृथक् लिपि है जो 'मैथिली' कहलाती है। मैथिली लिपि बंगला लिपि से साम्य रखती है।

इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 4 करोड़ 54 लाख है।

सामान्य विशेषताएँ— (1) विहारी पूर्वी हिन्दी की तुलना में कुछ अधिक अकारबहुला उपभाषा है। जैसे—थोड़, भल।

(2) अक्षर के अंत में प्रायः 'अ' स्वर का उच्चारण होता है। यथा इसमें कमला का उच्चारण कमऽला होता है (कम्ला नहीं)

(3) इसमें 'अ' कुछ अधिक संवृत और वृत्ताकार होता है। इसकी शेष ध्वनियाँ पूर्वी हिन्दी के समान हैं।

(4) 'ड़' का 'र', 'ढ' का 'रह्' तथा 'ल' का 'र' हो जाता है। जैसे—सड़क > सरक, गाली = गारी।

(5) इसके परसर्ग हिन्दी से कुछ भिन्न हैं। कर्त्ता में 'ने' परसर्ग का प्रयोग नहीं होता है। अन्य कारकों के चिह्न इस प्रकार हैं—

कर्म—के,
करण—से, सें, ले
सम्प्रदान—बदे, खातिर, लागि, लेल, ले
अपादान—से, ले
अधिकरण—एँ, में, पर
सम्बन्ध—कर, केर

(6) बहुवचन में—न,—नि तथा समूहवाची शब्द लोकनि, सभ आदि प्रयुक्त होते हैं।

(7) सर्वनामों में बहुवचन के रूप खास ये हैं—हमनी, हमरनी, तोहनी, तोहरनी।

(8) क्रिया रूपों में जटिलता तथा अनेकरूपता है। सामान्यतः ये रूप अधिक प्रचलित हैं—

वर्तमान—त, भूतकालिक—ल-रहल, भविष्यत्—व-करब

(9) इसकी विभिन्न बोलियों में सहायक क्रियाओं का प्रयोग भिन्न-भिन्न है जैसे—भोजपुरी—बाटे, रहल; मगही—है, हल; मैथिली—छै, छल।

(10) क्रिया रूपों में सर्वनामों का संयुक्त रहना बिहारी भाषा की उल्लेखनीय विशेषता है। जैसे—'देखिला' में 'मैं' सर्वनाम भी अन्तर्मुक्त है जिसका अर्थ है—मैं देखता हूँ।

पहाड़ी

पहाड़ी भाषाओं का क्षेत्र हिमालय के निचले भाग नेपाल से लेकर शिमला तक फैला हुआ है। पहाड़ी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियों का समूह है—पूर्वी, मध्य, पश्चिमी। पूर्वी पहाड़ी की प्रमुख भाषा नेपाली है जिसे गोर्खाली भी कहते हैं। यह नेपाल की राजभाषा है। इसमें पिछली दो शताब्दियों से साहित्य-रचना हो रही है। मध्य पहाड़ी हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ कुमाऊँनी तथा गढ़वाली हैं। इसमें कुमाऊँनी अल्मोड़ा, नैनीताल तथा पिथौरागढ़ ज़िलों में बोली जाती है। इसमें साहित्य प्राप्त होता है। गढ़वाली बोली टेहरी, गढ़वाल, चमोली तथा उत्तरकाशी जिलों में बोली जाती है। पश्चिमी पहाड़ी अनेक बोलियों का समूह है। यह उत्तर प्रदेश के जौनसार झावर क्षेत्र से लेकर शिमला, कुलू, चंबा तथा काश्मीर के भदरवार क्षेत्र तक बोली जाती है। पश्चिमी पहाड़ी में लोकगीतों के अतिरिक्त साहित्य नहीं प्राप्त होता है। पूर्वी तथा मध्य पहाड़ी भाषा देवनागरी लिपि में तथा पश्चिमी पहाड़ी 'टकरी' अथवा 'तक्करी' लिपि में लिखी जाती है। पहाड़ी बोलियाँ राजस्थानी से बहुत मिलती-जुलती हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 25 लाख है।

सामान्य विशेषताएँ—(1) इसमें सानुनासिक स्वरों की अधिकता है।

(2) पुल्लिग संज्ञाएँ प्राय: ओकारांत होती हैं।

(3) इसकी विभिन्न बोलियों के परसर्गों में अन्तर है। क्रियारूपों में समानता है।

प्रश्न 17—पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी की भेदक विशेषताओं पर प्रकाश विकीर्ण कीजिए।

प्रश्न 19—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी के तात्त्विक अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 19—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी के गठन में क्या अन्तर है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—हिन्दी भाषा मंडल की सहभाषाएँ जिनका परस्पर एवं केन्द्रीय रूप (साधु हिन्दी) से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है, वे हैं—पश्चिमी हिन्दी (पहि०) और पूर्वी हिन्दी (पूहि०)। वस्तुतः: पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी एवं साधु हिन्दी के सम्मिलित रूप को ही हिन्दी कहा जाता है।

पश्चिमी हिन्दी एवं पूर्वी हिन्दी में तात्त्विक अन्तर

भौगोलिक अन्तर—पहि० पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी के बीच में है तथा पूहि० पहाड़ी, बिहारी, उड़िया, बँगला के बीच की है।

ऐतिहासिक अन्तर—पहि० शौरसेनी अपभ्रंश से उद्भूत है तथा पूर्वी हिन्दी अर्धमागधी से विकसित हुई है।

ध्वनि तात्त्विक अन्तर—(1) पहि० का 'अ' अधिक विवृत्त है, जबकि पूहि० का संवृत्त। पूहि० के 'अ' में पहि० की तुलना में कुछ ओष्ठ-वृत्तता है।

(2) पहि० में 'इ–उ' का उच्चारण 'ई–ऊ' के अधिक निकट है जबकि पूहि०

में 'इ-उ' इतने ह्रस्व हैं कि पहि० वालों को 'अ' जैसे सुनाई पड़ते हैं (विशेषतः अन्त में)।

(3) पूहि० में दो स्वर प्रायः एक साथ आते हैं, किन्तु पहि० में अपेक्षाकृत कम आते है। यथा—पहि० में कौन, और, बैल, ऐसा तथा पूहि० में कउन, अउर, बइल, अइसा।

(4) पहि० में ऐ-औ संयुक्त स्वर हैं, किन्तु अब वे धीरे-धीरे मूल स्वर होते जा रहे हैं। किन्तु, पूहि० में ये मूल स्वर तो बिलकुल नहीं हैं। कभी-कभी संयुक्त स्वर के रूप में आते हैं और प्रायः स्वर-संयोग के रूप में। उपर्युक्त उदाहरण में पूहि० के 'अइ' 'अउ' आदि के उच्चरित रूप का निदर्शन करते हैं।

(5) पहि० में 'ऋ' का उच्चारण प्रायः 'र्' होता है, यथा कृपा > क्रपा, हृदय > ह्रदय जबकि पूहि० में 'रि' (जैसे कृपा > क्रिया, हृदय > ह्रिदय)।

(6) पहि० में जिन शब्दों के आदि में 'य-व' आते हैं, किन्तु पूहि० में उन स्थानों में प्रायः इ, उ हो जाता है। यथा—पहि० यह, वह, यहाँ, वहाँ > पूहि० इ, ऊ, इहाँ, उहाँ। इसी तरह पहि० में या–, वा- के स्थान पर पूहि० में ए-,ओ- मिलता है। जैसे पहि० यामें, वामें > पूहि० एमें, ओमें। कभी-कभी पूर्वी हिन्दी में संध्यक्षर रूप में 'ह' भी मिलता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में एहमें, ओहमें।

(7) पहि० की कौरवी, बाँगरू तथा निमाड़ी में 'ळ' ध्वनि भी है, परन्तु पूहि० की किसी भी बोली मे यह नहीं है।

(8) पहि० में शब्दों में जहाँ 'ल्' आता है पूहि० में तहाँ 'र्' हो जाता है। यहा—पहि० हल०, हल्दी > पूहि० हर, हर्दी।

(9) पहि० के ड़-ढ़' के स्थान पर पूहि० में 'र्', 'रह्' का प्रयोग होता है। यथा पहि० तोड़े > पूहि० तोरे।

(10) पहि० में शब्द-मध्यम 'ह' का लोप हो जाता है जबकि पूहि० में वह प्रायः संध्यक्षर रूप में सुरक्षित है। यथा—पहि० दिया > पूहि० देहसि।

(11) पहि० के आकारान्त (ब्रज के ओकारान्त) शब्द पूहि० में अकारान्त या व्यंजनान्त हो जाते हैं। जैसे—पहि० बड़ा (ब्रज बड़ो) > पूहि० बड़।

(1) पहि० के उच्चारण में 'य' अपश्रुति की प्रवृत्ति मिलती हैं। जैसे—आया (ब्रज आयौ), गया (ब्रज गयौ)। इनके स्थान पर पूहि० मे 'व' मिलता है; जैसे—आवा, गवा आदि।

वैयाकरणिक अन्तर—(13) पहि० में शब्दों का मूलरूप एक ही होता है जबकि पूर्व मे उसके दीर्घ और दीर्घतर रूप भी होते हैं।

	मूल रूप	दीर्घ रूप	दीर्घतर रूप
पहि०	घोड़ा	×	×
पूहि०	घोड़, घोड़ा	घोड़वा	घोड़वना।

(14) कारक-रूपों में सर्वाधिक भेदक अन्तर यह है कि पहि० में आकारान्त पुंल्लिग एक वचन का विकारी रूप अधिकांश बोलियों में प्रायः एकारान्त (लड़के,

घोड़े) होता है, किन्तु पूर्वी में वह आकारान्त (लड़का—लइका—लरिका, घोड़ा) बना ही रहता है।

(15) परसर्गों में सबसे भेदक अन्तर कर्त्ता कारक में है। पहि० में 'नै', 'ने' या 'न' आदि आते हैं, किन्तु पूहि० में इनके स्थान पर कोई भी परसर्ग नहीं आता। जैसे—

पहि०—बाँगरू : उसने मार्‌या। खड़ी बोली : उसने मारा। ब्रज : वाने मार्‌यो। कन्नौजी : उइँ न मार्‌यो। बुन्देली : ऊ ने 'मारो। निमाड़ी : उन न मार्‌यो।

पूहि०—अवधी : ऊ मारिस। बघेली : वो मारलिसि। छत्तीसगढ़ी : वो मारिस।

(16) सर्वनामों में पहि० का मैं, में, मेरा, तेरी, हमारा, तुम्हारा, तिहारो, उसके स्थान पर पूहि० में क्रमशः मइँ, मैं, मोर, तोर, हमार, तुम्हार, तोहार, उइ या उओ हो जाता है। पूहि० में हौ, हऊँ, स अन्त वाले सर्वनाम नहीं हैं। पहि० के-ए-, आ-के स्थान पर पूहि० में—ओ-हो जाता है।

(17) क्रियार्थक-संज्ञा—पहि० में प्रायः—न-ण (ब्रज-बो) वाले रूप चलते हैं, किन्तु पूहि० में केवल—ब वाले रूप चलते हैं। पहि०—चलना, चलणा, चलबो; पूहि० चलब, देखब।

(18) भविष्य काल—पहि० में प्राय—ग वाले रूप, किन्तु पूहि० में ये रूप कभी नहीं आते। पहि० चलेगा, चलैगो, होगा; पूहि० चली, चलिहै, देखिहैं, होइ आदि।

(19) सहायक क्रिया—पहि० में वर्तमान काल में 'ह' वाले (जैसे है, हैं, हूँ, हौं) किन्तु पूहि० में 'ह' वाले रूपों के अतिरिक्त बाट—वाले रूप भी आते हैं (वाटैं, बाटे, बाटौं आदि)। भूतकाल में पहि० में 'थ' या 'ह', 'हत' वाले रूप (हिन्दी व कौरवी था, थी, थे, थीं; निमाड़ी था, थो; ब्रज : हो, हे, ही हते, हती आदि) किन्तु पूहि० में केवल रह—वाले रूप (अवधी : रहौं, रहै, रहन, रहा, रहन, छत्तीसगढ़ी रह्येउ, रहिन)।

(20) भूतकाल—पहि० के भूतकालिक कृदन्त-ओ, यो, यौ के स्थान पर (बाँगरू मार्‌या, खड़ी बोली मारा, ब्रज मार्‌यो; कन्नौजी मार्‌यो, बुन्देली मारो) के स्थान पर पूहि० में अन्त्य प्रत्यय-ऊँ,-स से युक्त क्रिया (मारेऊँ, मारिस, मारेस) से सम्बन्धित है।

पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में यही तात्त्विक अन्तर है।

प्रश्न 20—क्या राजस्थानी तथा बिहारी उपभाषाओं को हिन्दी-परिवार या हिन्दी-क्षेत्र में मानना उचित है? अपने विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 21—क्या राजस्थानी हिन्दी है? अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी-क्षेत्र का निर्माण करते हुए यह स्पष्ट किया है हिन्दी का क्षेत्र पश्चिम में राजस्थान से लेकर पूर्व में बिहार तक है। देखिए :

हिन्दी-क्षेत्र सम्बन्धी प्रश्न 13 का उत्तर, इस आधार पर राजस्थानी और विहारी हिन्दी के अन्तर्गत स्वयमेव आ जाती हैं ।]

राजस्थानी के विषय में डॉ० श्यामसुन्दर दास का विचार है कि—'साहित्य तथा राष्ट्र की दृष्टि से राजस्थानी को हिन्दी की विभाषा माना जा सकता है, पर भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र भाषा है। राजस्थानी हिन्दी की अपेक्षा गुजराती के अधिक निकट है । ये दोनों भाषाएँ वास्तव में परस्पर इतनी सम्बद्ध हैं कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना अनुचित न होगा । आजकल ये दो स्वतन्त्र भाषाएँ मानी जाती हैं । दोनों मे स्वतन्त्र साहित्य की रचना हो रही है। राजस्थानी की स्वयं चार बोलियाँ हैं—मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी । इस प्रकार भाषाशास्त्र की दृष्टि से हम राजस्थानी को हिन्दी की बोली नहीं मान सकते । साहित्यिक दृष्टि से अवश्य राजस्थानी साहित्य की गणना हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत होती है ।'

इसी प्रकार मैथिली के सम्बन्ध मे राजनाथ शर्मा का कथन है—'मैथिली बिहारी की एक बोली मानी जाती है। यह गंगा के उत्तर दरभंगा के आस-पास बोली जाती है । इसी बोली के प्रसिद्ध कवि मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपनी प्रसिद्ध पदावली लिखी थी। साहित्यिक दृष्टि से और विशेष रूप से अपनी पदावली के कारण विद्यापति को भी हिन्दी वाले अपना कवि मानते हैं, परन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से हिन्दी को केन्द्रीय अथवा मध्य देशीय वर्ग में माना जाता है और बिहारी को बहिरंग-वर्ग में । इस प्रकार इन दोनों में एकता असम्भव है ।' पुनः वे निष्कर्ष रूप में कहते हैं—'मैथिली भाषा का हिन्दी से तो तनिक भी घनिष्ट सम्बध नहीं है । अतः भाषाशास्त्र की दृष्टि से हम हिन्दी की बोली किसी भी दशा में नहीं मान सकते ।'

डॉ० जार्ज ग्रियर्सन राजस्थानी और मैथिली को हिन्दी-क्षेत्र के बाहर ही मानते हैं, उन्होंने राजस्थानी को पंजाबी और गुजराती के वर्ग में माना है तथा मैथिली आदि बिहारी बोलियों को उड़िया आदि के वर्ग में स्थान दिया है । उनका यह वर्गीकरण ध्वनि, व्याकरण या रूप तथा शब्द-समूह के आधार पर है । किन्तु डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने इन तीनों की आलोचना करते हुए अपने वर्गीकरण में पूर्वी हिन्दी और बिहारी-वर्ग की उपभाषाओं को एक ही वर्ग में मिला दिया है । डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'साहित्य-सन्देश'—भाषा-विज्ञान-विशेषांक (जुलाई-अगस्त 1957) में हिन्दी क्षेत्र की जो चर्चा की है । उससे स्पष्ट होता है कि उक्त दोनों उपभाषाओं को हिन्दी-क्षेत्र में ही स्वीकार करते है । डॉ० उदय नारायण तिवारी ने डॉ० ग्रियर्सन तथा डॉ० चटर्जी के ही विचारों को आधार मानकर राजस्थानी तथा मैथिली आदि को हिन्दी-परिवार में स्वीकार नहीं किया है । प्रो० विष्णु किशोर 'बेचन' ने कहा है कि 'मैथिली' को बँगला के समीप रखा जा सकता है, हिन्दी के नहीं । परन्तु, डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत है कि" 'स' का उच्चारण 'श' न होने के कारण ही इसे हिन्दी के अन्तर्गत माना जाता है ।" वस्तुतः डॉ० दास का मत अकाट्य है ।

अभी तक हमने राजस्थानी और मैथिली आदि के विषय में जिन उपर्युक्त

मतों का उल्लेख किया है, वे भी वर्गीकरण की दृष्टि से मान्य हो सकते हैं। किन्तु अब हम उन आधारों की चर्चा करेंगे, जो राजस्थानी और मैथिली को हिन्दी क्षेत्र में मानने के लिए बाध्य करते हैं।

(1) उत्पत्ति का आधार—यदि अर्द्धमागधी अपभ्रंश से उत्पन्न अवधी आदि हिन्दी-परिवार और हिन्दी-क्षेत्र में सम्मिलित हो सकती है, तो नागर अपभ्रंश (जो हिन्दी की जननी शौरसेनी से विशेष प्रभावित है) से उत्पन्न राजस्थानी को भी हिन्दी-परिवार में मानना उचित होगा और इसी प्रकार मागधी अपभ्रंश-प्रसूत मैथिली को भी उत्पत्ति के आधार पर पृथक् मानना अनुचित होगा।

(2) ध्वनि का आधार—डॉ० ग्रियर्सन के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए डॉ० चटर्जी ने जो विचार प्रकट किए हैं, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि 'स' ध्वनि मैथिली में ठीक उसी रूप में है जैसी वह हिन्दी-क्षेत्र की बोलियों में प्राप्त होती है, परन्तु बंगला में यह 'श' हो जाती है। डॉ० दास ने भी इसी आधार पर अपना उपर्युक्त मत प्रकट किया है। अन्य ध्वनियों के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि मैथिली और हिन्दी की अन्य बोलियों में कोई ऐसा 'भेदक तत्त्व' नहीं है जिसके आधार पर उसे हिन्दी से पृथक् मानें, किन्तु बंगला से वह अवश्य पृथक् हो जाती है। 'ण' छोड़कर राजस्थानी की ध्वनियों के उच्चारण में भी कोई अलग अन्तर नहीं प्राप्त होता। परन्तु 'ण' के आधार पर राजस्थानी को हम हिन्दी से से पृथक् नहीं कर सकते। वस्तुतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में भी 'ण' ध्वनि बोलने तथा लिखने में प्रयुक्त होती है।

(3) व्याकरण या रूप का आधार—इस दृष्टि से देखने पर तो हिन्दी की मानी हुई बोलियों में ही परस्पर अनेक अन्तर मिल जाते हैं। खड़ी बोली से ब्रज, अवधी आदि में रूपगत भिन्नताएँ कम नहीं हैं। अतः इस आधार को उक्त उद्देश्य के लिए ग्रहण करना समीचीन नहीं है। यदि इसे आधार मान लिया जाए, तो खड़ी बोली हिन्दी के साथ हिन्दी-क्षेत्र की अन्य कोई भी बोली नहीं रखी जा सकती। उदाहरणार्थ 'पु' विभक्ति को देखिए, यह कहीं 'अ', कहीं 'ओ' और कहीं 'उ' है। प्रश्न उठता है कि क्या इस आधार पर कोई निष्कर्ष निकल सकता है? उत्तर 'नहीं' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वैसे देखा जाए, तो कृदन्तीय प्रयोगों में पूर्वी बोलियों का प्रभाव भी मिलता है। स्पष्ट रूप से पुँल्लिंग रूपों में अन्तर इन सब में मिलेगा, किन्तु स्त्रीलिंग वाले रूपों में सर्वत्र समानता प्राप्त होगी।

इसी तरह खड़ी बोली और पंजाबी—दोनों में 'अकारान्त' रूप प्राप्त होते हैं, तो क्या पंजाबी को भी हिन्दी-क्षेत्र या हिन्दी-परिवार में माना जा सकता है? इसका एकमात्र उत्तर है 'नहीं'।

इसी प्रकार यदि कहा जाए कि ब्रजभाषा और राजस्थानी तथा गुजराती में 'ओकारान्त' रूप समान रूप में वर्तमान हैं, तो इन्हें एक ही वर्ग में रख दिया जाए —अनुचित और असंगत माना जाएगा। स्पष्ट रूप से ब्रजभाषा और राजस्थानी के पारस्परिक सम्बन्ध का यह आधार नहीं हो सकता तथा गुजराती और राजस्थानी के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होगी, यद्यपि ये दोनों भाषाएँ एक ही भाषा—नागर अपभ्रंश से ही उद्भूत हैं।

ऐसी स्थिति में हमें कोई ऐसा आधार ढूँढ़ना पड़ेगा जिससे हम स्पष्ट रूप से हिन्दी का एक परिवार बना सकें। इसी समस्या पर गौर करते हुए आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने बताया है कि 'हिन्दी की सब बोलियाँ तद्धितीय सम्बन्धी-प्रत्यय 'क' तथा 'के' विभक्ति की एक सूत्रता लिए हुए हैं और यही एक ऐसा तत्त्व है, जो इन सब (हिन्दी की बोलियों) को एक टोली में लाता है तथा हिन्दी की दूसरी बोलियों या भाषाओं से इनकी व्यावृत्ति भी करता है।' (हिन्दी शब्दानुशासन)

वस्तुतः आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का प्रस्तुत कथन अकाट्य है। अन्य विद्वान् इस तत्त्व पर सम्भवतः ध्यान नहीं दे सके हैं, इसीलिए उन्होंने खोखले तर्क प्रस्तुत किए हैं और हिन्दी-परिवार की एकता का ठीक अनुभव नहीं कर सके हैं।

यहाँ पर आचार्य किशोरीदास जी के कथन की व्याख्या कर देना भी उचित प्रतीत होता है। 'क' तद्धितीय प्रत्यय है, जिसमें खड़ी बोली की 'पुं०' विभक्ति में 'अ' लगाकर—मोहन का पिता—जैसा प्रयोग किया जाता है। राजस्थानी में भी इस 'क' का व्यवहार किया जाता है, उसमें 'पु०' विभक्ति 'ओ' लगायी जाती है और 'राम' को—जैसा प्रयोग होता है। ब्रजभाषा में भी इसी प्रकार का प्रयोग चलता है। इसी तरह अवधी, विहारी और मैथिली आदि में 'आ', 'ओ' विभक्ति तो नहीं, परन्तु केवल 'क', 'र', 'न' चलते हैं।

पंजाबी में 'क' के स्थान पर 'द' का प्रयोग होता है। यद्यपि 'पु०' विभक्ति, 'आ'—खड़ी बोली की—ही यहाँ भी है; गुजराती में भी 'पु०' विभक्ति 'क' नहीं बल्कि 'न' है। ऐसे ही मराठी से सम्बन्ध प्रत्यय 'च' है। अस्तु, पंजाबी, गुजराती तथा मराठी हिन्दी-परिवार से अलग हो जाती है।

वस्तुतः, हिन्दी ने विभक्ति की सम्बन्ध एकता या भिन्नता पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है। केवल सम्बन्ध प्रत्यय 'का' को देखकर ही उसने अन्य बोलियों या उपभाषाओं से अपना सम्बन्ध जोड़ा है। बस, जहाँ 'का' सम्बन्ध प्रत्यय है, वह बोली हिन्दी-परिवार में अवश्य ही है, संज्ञा-विभक्ति या 'पु०' विभक्ति चाहे 'आ', 'ओ', 'उ' में से कोई भी हो।

यही कारण है कि खड़ी बोली और राजस्थानी, भिन्न-भिन्न उद्गम की भाषाएँ परस्पर सम्बन्धित हो जाती हैं; पर गुजराती और राजस्थानी में सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। इसी 'का' सम्बन्ध प्रत्यय के अभाव में पंजाबी का भी सम्बन्ध खड़ी बोली में नहीं जुड़ पाता। मराठी भी इसी आधार पर हिन्दी से पृथक् ठहरती है। किन्तु, मैथिली में, चूँकि, यह 'का' विद्यमान है—'नन्दक नन्दन 'कदनक तरुवर' आदि इसीलिए हिन्दी-परिवार में हैं और मैथिली अपनी पृथक् लिपि वाली है। बँगला भाषा में भी यह सम्बन्ध-प्रत्यय नहीं है, जो हिन्दी का एक भाषा या परिवार या संघ बनाने के निमित्त एक सूत्र का कार्य करता है। अस्तु, बँगला भी हिन्दी-परिवार से छूट जाती है, पृथक् हो जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि राजस्थानी और मैथिली को हिन्दी भाषा परिवार की सदस्या मानने में कोई असंगति या अनौचित्य नहीं है। उक्त आधारों के अतिरिक्त अन्य आधार भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं।

(4) अन्य आधार—(क) हिन्दी-साहित्य से राजस्थानी के डिंगल साहित्य

और मैथिली के विद्यापति आदि का साहित्य निकाल देने पर हिन्दी की पूँजी घट जाएगी और वह इन दोनों के शब्द-भण्डार और मंजे हुए प्रयोगों की समृद्धि से वंचित रह जायगी। आधुनिक हिन्दी की साहित्यिक शैली में इन दोनों उपभाषाओं से सहायता ली जा रही है, सहयोग प्राप्त किया जा रहा है, जिसमें हिन्दी की अभिव्यक्ति-प्रणाली में विविध गुणों की अभिवृद्धि हो रही है। अतः इन दोनों को—राजस्थानी और मैथली को—हिन्दी-परिवार से स्वीकार कर लेना सर्वथा संगत और उचित ही है। इन दोनों का ही साहित्य हिन्दी को उत्तराधिकार में प्राप्त है, जिसका अध्ययन-अध्यापन हिन्दी उच्च कक्षाओं में किया ही जाता है।

स्मरण रहे, आजकल राजस्थानी के कतिपय विद्वान् इसे स्वतन्त्र भाषा की मान्यता दिलाने का आन्दोलन चला रहे हैं। वैसे भी यह खड़ी बोली के पूर्व स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा के रूप में व्यवहृत होती रही है, आज भी इसमें पर्याप्त साहित्य-रचना हो रही है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी यह स्वतन्त्र भाषा घोषित हो चुकी है। किन्तु इन स्थितियों से न तो हिन्दी वालों को घबराना ही चाहिए और न ही कोई अनावश्यक विवाद उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि राजस्थानी के स्वतन्त्र अस्तित्व से हिन्दी को कोई खतरा नहीं है। स्वतन्त्र भाषा होते हुए भी वह हिंदी-भाषा परिवार की उसी तरह एक सदस्या के रूप में रहेगी, जिस तरह अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली हैं, इन सबको मिलाकर ही हिन्दी भाषा का व्यापक अर्थ बोध होता है।

(ख) भारतीय संविधान की दृष्टि से भी राजस्थानी और बिहारी (मैथिली आदि) को अलग मान्यता देकर हिन्दी-क्षेत्र के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है। वास्तव में संविधान का यह दृष्टिकोण हिन्दी-प्रदेश की एकता अक्षुण्ण बनाए रखने के निमित्त सर्वथा श्लाघ्य और समादरणीय है।

(ग) सम्पूर्ण बिहार और राजस्थान में राज्य-भाषा के रूप में हिन्दी ही ग्रहण की गई है। इतना ही नहीं, अधिकांशतः साहित्य-रचना भी हिन्दी में ही होती है तथा स्कूली शिक्षा-माध्यम भी हिन्दी ही है, समाचार-पत्र आदि की भाषा के रूप में भी वहाँ हिन्दी ही स्वीकृत है।

साथ ही राजस्थानी का समस्त साहित्य 'देवनागरी' लिपि में ही लिखा गया है और लिखा जा रहा है, मैथिली का साहित्य भी अब 'देवनागरी' लिपि में ही प्रकाशित हो रहा है—समस्त बिहार में हिन्दी नागरी की स्वीकृति शिक्षित जनता और सरकार द्वारा सामान्य रूप से प्राप्त हो चुकी है।

अब संकुचित प्रवृत्ति, हठधर्मिता और अहंकारपूर्ण बौद्धिकता को ही त्यागकर अपने राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के प्रति एकता और समादर का दृष्टिकोण अपनाकर राजस्थानी और बिहारी को हिन्दी-परिवार में स्वीकार कर लेने की सबसे बड़ी आवश्यकता है—यही ईमानदारी है। यही उचित भी है।

अध्याय | 5

हिन्दी : विभाषाएँ तथा बोलियाँ (ग्रामीण बोलियाँ)

प्रश्न 22— खड़ी बोली के उद्भव और विकास पर संक्षेप में एक लेख लिखिए।

प्रश्न 23— खड़ी बोली हिन्दी के विकास का परिचय दिजिए।

उत्तर— **खड़ी बोली के प्रथम दर्शन**—यह सही है कि खड़ी बोली के साहित्यिक रूप का विकास आधुनिक काल में हुआ है, परन्तु उसके दर्शन 12वीं शब्तादी में ही हो जाते हैं। दाक्षिण्य चिह्न उद्योतन सूरि के ग्रन्थ 'कुवलय माला' में इसके रूप की प्रथम झांकी मिलती है। 12 वीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्य में भी हमको खड़ी बोली के कुछ क्रियापदों के दर्शन होते हैं। देखिए हेमचन्द्र का यह दोहा—

भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि म्हारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसिअइ जइ भग्गा घरु एन्तु॥

इस दोहे में प्रयुक्त शब्द मारिया, म्हारा तथा भग्गा खड़ी बोली के ही शब्द हैं। इनके अतिरिक्त मराठी कवि नामदेव के काव्य में भी हमको खड़ी बोली के दर्शन होते हैं—

पांडे तुम्हारी गायत्री लोके का खेत खाती थी।
लेकर ठेंगा टंकरी तोरी लांगत-लांगत जाती थी॥

सारांश यह है कि हमको 12 वीं शताब्दी में सुनिश्चित रूप से खड़ी बोली के दर्शन हो जाते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रथम प्रयोग— खड़ी बोली जनसाधारण की बोलचाल की भाषा बहुत दिनों से रही है। प्राचीन काल में इसके तीन नाम प्रचलित थे—हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। मुसलमानों के फैलाव और प्रोत्साहन के द्वारा ही इसका व्यवहार बढ़ा है, अन्यथा यह केवल मेरठ-दिल्ली के आस-पास के भू-भाग में ही बोली जाती थी।

खड़ी बोली का साहित्यिक एवं स्वस्थ रूप हमको अमीर खुसरो की कविता में सर्वप्रथम मिलता है। इसी काव्य में हमको दक्षिण भारत में 'दक्खिनी' के रूप में इसके साहित्यिक रूप के दर्शन होते हैं। तदुपरान्त कबीर की कविता में हमको खड़ी बोली के भाषिक रूप मिलते हैं। सारांश यह है कि साहित्य के क्षेत्र में मुसलमानों ने 13 वीं शताब्दी में खड़ी बोली सर्वप्रथम प्रयुक्त किया।

खड़ी बोली का गद्य—अकबर के समय में हमको खड़ी बोली गद्य के सर्व-

प्रथम दर्शन होते हैं। भाट ने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक गद्य ग्रन्थ लिखा। इसकी भाषा आधुनिक हिन्दी के एकदम निकट है। प्रारम्भ में मुसलमान औलियाओं ने खड़ी बोली में गद्य लिखा जिसको वे 'हिन्दवी' भाषा कहते थे। संवत् 1798 में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग-वासिष्ठ' नामक ग्रन्थ लिखा जिसका गद्य शुद्ध खड़ी बोली में है। इसके पश्चात् एक-दो गद्य ग्रन्थ और लिखे गए और कुछ समय तक यह क्षेत्र खाली या उपेक्षित पड़ा रहा।

तदुपरान्त आधुनिक काल में खड़ी बोली में गद्य रचना आरम्भ हुई और उसका आजकाल अबाध गति से निरन्तर विकास होता चला आ रहा है। आधुनिक काल के खड़ी बोली गद्य के प्रारम्भिक लेखक हैं—लल्लू लाल, इंशाअल्ला खाँ, सदल मिश्र, सदासुखलाल, राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द। इनके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली गद्य को व्यवस्थित रूप दिया और तब से लेकर अब तक निरन्तर विकास हो ही रहा है।

खड़ी बोली का पद्य—खुसरो ने सर्वप्रथम खड़ी बोली में पद्य-रचना की। वह मुसलमानों के साथ दक्षिण चली गई। खड़ी बोली की कविता उत्तर भारत में न पनपी। वह मुस्लिम सल्तनत में दक्षिण में ही पनपी।

भारतेन्दु के समय में खड़ी बोली पद्य की भी भाषा बन गई। द्विवेदी युग में उसको कविता की भाषा बनाने के लिए विधिवत् आन्दोलन ही हुआ और उसने शीघ्र ही ब्रजभाषा को काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया। तब से विकास करती हुई खड़ी बोली हिन्दी साहित्य की एकमात्र भाषा बन गई।

वली औरंगाबादी की दक्षिण यात्रा के समय तक तो खड़ी बोली का रूप पूर्णतः भारतीय था, परन्तु वली साहब की यात्रा के बाद इसका रूप ही बदल गया। उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य हो गया और वह उर्दू का रूप धारण करने लगी।

अब वह विकसित हो कर उत्तर भारत की सर्वप्रिय भाषा तथा भारत की राष्ट्र भाषा बन गई है। सारांश यह है कि हिन्दी और उर्दू वस्तुतः दो भिन्न भाषाएँ न होकर खड़ी बोली हिन्दी की ही दो शैलियाँ हैं।

अमीर खुसरो और कबीर के पश्चात् खड़ी बोली की काव्य-रचना अवरुद्ध हो गई। इसके पश्चात् आधुनिक काल में हमको खड़ी बोली कविता के दर्शन होते हैं। सर्वप्रथम भारतेन्दु ने कविता को लोकप्रिय बनाने के विचार से खड़ी बोली में काव्य-रचना की। उनके पश्चात् आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रभृति साहित्यकारों ने इसको कविता की भाषा बनाने के लिए विधिवत् आन्दोलन किया। अब खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य के समस्त काव्य-क्षेत्र पर छाई हुई है। उसमें विभिन्न विचारधाराओं का आगमन हुआ है तथा अनेक वादों—छायावाद, प्रगतिवाद, प्रपद्यवाद, प्रयोगवाद अस्तित्ववाद आदि—का जन्म हुआ है। खड़ी बोली कविता की आधुनिकतम प्रवृत्ति 'नई कविता' के नाम से अभिहित की जाती है।

उपसंहार—खड़ी बोली के विकास में निम्नलिखित राजनीतिक कारण रहे हैं—

पठानों के राज्य में खड़ी बोली का विकास हुआ और मुग़लों के शासन-काल

में खड़ी बोली के स्थान पर फ़ारसी का प्रभाव बढ़ गया। पठनों का गढ़ रुहेलखण्ड रहा, जो खड़ी बोली की जन्मभूमि है। साथ ही पठान मूलतः योद्धा थे। ये भाषा आदि के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहते थे। इसके विपरीत मुग़लों के साथ भारत में ईरानी संस्कृति और चिन्तन पद्धति आई। अतः उनके लिए भाषा का सांस्कृतिक महत्त्व था। इसके अतिरिक्त मुग़ल भारत में स्थायी प्रभुत्व स्थापित करने के विचार से आए थे। इन्हीं कारणों से मुग़ल शासकों ने फ़ारसी को राजभाषा बनाया और खड़ी बोली की उपेक्षा हो गई।

पद्य के क्षेत्र में ब्रज और अवधी का बोलबाला था। वे इतनी लोकप्रिय भाषाएँ थीं कि खड़ी बोली में कविता करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था।

आधुनिक काल में भी काफ़ी समय तक उर्दू का महत्त्व रहा—वह सरकारी कामकाज की भाषा रही। स्वतन्त्रता संग्राम की सफलता के लिए हिन्दी की आवश्यकता का अनुभव किया गया और स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं ने खड़ी बोली को महत्त्व दिया तथा उसका प्रचार किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् खड़ी बोली राजभाषा बन गई है और वह हमारी राष्ट्रीयता की प्रतीक है।

खड़ी बोली को यदि सरकारी कृपा प्राप्त न होती तो वह बहुत पीछे होती। विदेशों में अपने परिचय-पत्र आदि देने के लिए हमारे कर्णधारों को अनिवार्यतः हिन्दी का प्रयोग करना पड़ता है। हिन्दी के अभाव में विदेशी हमको भारतवासी स्वीकार करने में झिझकते हैं तथा कई बार हमारे काले साहबों की इस कारण भर्त्सना भी कर चुके हैं कि वे लोग हिन्दी से परिचित नहीं थे। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि खड़ी बोली के विकास में राजनीतिक कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते रहे हैं।

प्रश्न 24—दक्खिनी हिन्दी पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 25—दक्खिनी हिन्दी की उत्पत्ति, विकास एवं उसकी शैली पर पड़ने वाले प्रभाव, काव्य रूप का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—दक्खिनी उर्दू काव्यधारा में जिस संस्कृति का रंग झलकता है, उस पर भारतीयता की गहरी छाप है। वहाँ के कवियों की रचनाएँ स्थानीय रंग से मालामाल हैं: दकनी राज्यों के सम्राट दिल्ली से दूर रहकर केवल एक स्वतंत्र स्वाधीन राज्य की स्थापना करने के लिए उत्सुक न थे वरन् कला-कौशल, रहन-सहन और जीवन के अन्य क्षेत्रों में अपना-अलग मार्ग बनाना चाहते थे। अतएव वे साधारण जीवन के निकट गए। कई बादशाहों ने स्वयं उर्दू और तेलुगु में लिखना अपने गर्व की बात समझी। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के कवियों ने भी भारतीय भाषाओं में अपने विचार प्रकट किए।

15वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के आरम्भ तक दकनी उर्दू अधिकतर उत्तर-भारत से पृथक् स्वतंत्र रूप में उन्नति करती रही। प्रारम्भ में तो केवल सूफ़ी कवियों और लेखकों ने उस भाषा को अपनाया जो उत्तर भारत से द्रविड़ और महाराष्ट्र की भाषाओं के बीच आ पहुँची थी, किन्तु कालान्तर में उस भाषा ने जड़ पकड़ ली। यद्यपि इस समय तक यह भाषा अधिकांशतया मुसलमानों में प्रचलित थी परन्तु

वह एक ऐसी भारतीय भाषा थी, जो हिन्दू-मुसलमान तथा अन्य जातियों के मेल-जोल की प्रतीक थी, जिसका समावेश कला एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में हो चुका था।

दरबारी संरक्षण एवं जनप्रियता के कारण बीजापुर और गोलकुण्डा में बहुत से कवि पैदा हो गए थे। ध्यातव्य है कि दकनी-उर्दू जो उस समय खड़ी बोली की अभिव्यक्ति का साहित्यिक माध्यम थी भारतीय भाषाओं के खज़ाने में बहुत-कुछ बढ़ा चुकी थी। इसमें संदेह नहीं कि उसके साहित्य पर फ़ार्सी का भी प्रभाव था, परन्तु यह बात स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की जो लहर मुग़ल-युग में उत्तर-भारत से उठ रही थी, उसका विकास साहित्यिक रूप में दक्षिण भारत में ही हो रहा था। इसके अतिरिक्त एक ओर प्रेम-मार्ग पर चलने वाले भक्त कवि इस्लामी तसव्वुफ़ को अपना विषय बनाकर गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ कर रहे थे और दूसरी ओर इमाम हुसैन के प्रति श्रद्धा प्रकट करने वाले कवि कर्बला की उत्सर्ग-वेदी का शोकपूर्ण चित्रण मर्सियों और दूसरी धार्मिक कविताओं में कर रहे थे।

शब्दावली के द्वारा भाषा का रूप बदल जाता है। पर शब्दावली के अतिरिक्त व्याकरण रूपों पर भी भाषा का स्वरूप आश्रित है। दक्खिनी के ग्रन्थकारों ने विदेशी शब्दों को लिया तो है परन्तु उनमें कई स्थानों पर स्वदेशी ध्वनियों को अपरिचित विदेशी ध्वनियों के स्थान पर रख दिया है—बकरदी, तगादा आदि। इसी तरह बहुवचन बनाने में स्वदेशी प्रत्ययों को अपनाया है न कि अरबी के-'बाज़' का बहुवचन 'बाज़े कहते हैं'। फ़ार्सी संज्ञा अथवा विशेषण लेकर उनसे क्रियाएँ हिन्दी के नियमों के अनुकूल बनाई गई हैं—'गुम से 'गुमना = खोना', 'तलाश' से 'तलासना = तलाश करना'।

कभी-कभी परम्परागत एवं चिरपरिचित एक-आध शब्द से ही पद्य की शक्ल भारतीय हो गई है। महबूबा या माशूक़ के लिए 'लालन' शब्द ऐसा है। इसी तरह लौन = लावण्य भी इन ग्रन्थों में प्रयोग में आया है।

दक्षिण की उर्दू पर तेलुगु, कन्नड़ और महाराष्ट्रीय भाषाओं का भी कुछ प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ—सकर्मक क्रिया के भूतकालीन रूप के पहले कर्त्ता कारक 'ने' का प्रयोग नहीं होता था। इसी प्रकार 'मुझको' का दक्षिणी रूप 'मेरे को' है। 'हम' 'तुमको' बजाय वे लोग 'हमन' 'तुमन' का प्रयोग करते हैं। 'से' के बजाय 'सेती' का प्रयोग मिलता है।

शब्दावली और व्याकरण रूपों के अतिरिक्त प्रत्येक देश में अन्य परम्पराएँ भी रहती हैं, उदाहरणार्थ किसी को मनाने के लिए अथवा आदर मान दिखाने के लिए पैर छूना, पैर पड़ना, पैर दबाना आदि के प्रयोग बराबर ग्रन्थों में मिलते हैं। प्रसन्न करने के लिए पाँव पड़ने का यह मुहावरा कई दकनी ग्रन्थों में मिलता है, जो सर्वथा भारतीय पुट है।

वली के ये दो पद्य देखिए जिनमें भारतीय अलंकारों और पान खाने की परम्परा को किस प्रकार साहित्य में अंगीकार किया गया है—

यह नैन तेरे मेरे को दिसें जंजाली।
और कान में बाला के नजिक यह बाली॥
करता हूँ जाँ सुपारी कथई हैं हाथ जिसके।
करने को दिल का चूना आता है पान खाकर॥

काव्य-रूढ़ि तथा कवि-समय

कवियों द्वारा अधिक प्रभाव डालने वाले प्राचीन कथानकों के उल्लेख होते हैं। उनमें अनेक प्रकार की काव्य रूढ़ियों—वर्णनात्मक रूढ़ि, कथानक रूढ़ि—तथा कवि-समय का उल्लेख होता है। यद्यपि दक्षिण के अधिकांश ग्रन्थ फ़ार्सी-अरबी ग्रन्थों के अनुवाद हैं या उनके प्रभाव से लिखे हुए हैं तथापि राम, सिया (सीता), हनुवन्त (हनुमान्) का उल्लेख इन ग्रन्थों में मिल जाता है। इसी तरह भारतीय नदियों, पर्वतों आदि का वर्णन और उनसे दी हुई उपमाएँ मिलती हैं। वली ने उज्जैन के वर्णन में सिप्रा नदी का सुन्दर वर्णन किया है।

कवि-समय में गुल-बुल्बुल, शमा-परवाना, कमल-भौंरे, चन्द्र-चकोर आदि का वर्णन होता है। दक्खिनी के ग्रन्थों में इनका बहुल-प्रयोग मिलता है।

> बिरह के बाग में दे आबदारी । हमेशा सब भड़ी नैनां की नारी ॥
> कि खुरशेदें नबूअत की मदहमें । कँवल का दिल खिला सीनः की दह में ॥

दक्खिनी के अन्य कवि की यह उक्ति लीजिए—

> अगर नै है आशिक़ चकोर चाँद का ।
> तो रातों को वो क्या सबब जगाता ॥

भारतीय परम्परा में प्रियतम प्रेयसी का भेद और वर्णन स्पष्ट है। पुरुष की प्रेम-यात्रा स्त्री तथा स्त्री का प्रेम-भाजन पुरुष यह भारतीय परम्परा समस्त भारतीय साहित्य में अक्षुण्ण मिलती है। दक्खिनी के बहुतेरे ग्रन्थों में यही धारा मिलती है। मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने अपनी प्रत्येक प्रेयसी पर कविता लिखी है। वली के ग्रन्थ में उनके उत्तर में यात्रा करने के पूर्व के पद्यों में भी माशूक़ स्त्री ही हैं। यह कविता देखिए—

> मत गुस्से के शोले सों जलते कों जलाती जा ।
> टुक मेहर के पानी सों यह आग बुझाती जा ॥
> तुज चाल की क़ीमत सो नहीं दिल है मेरा वाक़िफ़ ।
> ऐ नाज भरी चंचल टुक भाव बताती जा ॥

वली के दिल्ली लौटने पर यह वर्णन-क्रम बदल गया और कवियों का माशूक़ पुंल्लिग में चित्रित होने लगा। मीर का यह शे'र देखिए—

> ख़ूगर नहीं कुछ यूँही हम रेख़्तः गोई के ।
> माशूक़ जो था अपना बाशिन्दः दक्किन का था ॥

काव्य-रूप

(1) ग़ज़ल—दक्षिण में ग़ज़ल एक ऐसी चीज है जिस पर लगभग प्रत्येक शाइर ने अपनी क़लम चलाई है।

(2) क़सीदः—क़सीदे की दक्षिण में कमी है। बहुत कम लोगों ने क़सीदः कहा। केवल नुस्रती ही एक ऐसे शाइर हैं। जिन्हें एक उच्च श्रेणी का क़सीदःगो कहा जा सकता है। फिर भी दक्षिण में क़सीदे की बहुत शानदार बुनियाद पड़ चुकी थी।

(3) मस्नवी—प्रायः सभी शाइरों ने मस्नवी लिखी। दक्षिण में प्रत्येक प्रकार की मस्नवी लिखी गई। 'हुस्न और इश्क', 'शमा और परवाना', 'आप-बीती', 'नीति-विषयक', 'जीवन परक' आदि सभी प्रकार की मस्नवियाँ मिलती हैं। विषय की दृष्टि से दकन में मज़्हबी, दार्शनिक, आशिक़ाना, वीर-रस एवं राग-रंग की—सब तरह की मस्नवियाँ लिखी गई हैं। इनमें कतिपय मौलिक हैं और कुछ में भावनाओं की सीधी-सच्ची तस्वीरें हैं, किसी में प्रकृति के दृश्यों की झलक है तो किसी में इंसानी रूप-रंग के कला में ढले हुए नमूने। इन मस्नवियों की भाषा सुस्पष्ट एवं प्रांजल है एवं कतिपय स्थलों पर एक आध शब्द बदलने पर आधुनिक युग के मालूम देते हैं।

(4) मर्सियः—दकन के मर्सियः से शुरू में, मर्सियःगोई एक मज़्हबी चीज समझी जाती थी। 'उजलत' के समय से इस परम्परा में परिवर्तन हुआ। मर्सियः साहित्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(क) जो लोग ग़ज़ल के ढंग में मर्सिये कहते थे उन्होंने उसमें अन्य तरीकों से साहित्यिक सौन्दर्य लाने की कोशिश की। कहीं रंगीनी को जगह दी, कहीं ग़ज़ल के मिज़ाज को, कहीं सिर्फ़ बयान या शैली के लुत्फ़ को।

(ख) इसमें भावों की सच्ची तस्वीर है जिस पर हिन्दुस्तान के वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा है—

अब मैं झुलाऊँ किसे, छाती लगाऊँ किसे,
दूध पिलाऊँ किसे, हैं, है, फ़लक, क्या किया। (ग़ुलामी)

(ग) मर्सिये में चरित्र को उभारने का सर्वोत्तम ढंग कथोपकथन है। दकनी मर्सियों में प्रायः कथोपकथन के द्वारा चरित्र उभारे गए हैं।

(च) घरों के तौर-तरीकों को नज़्म करने की शुरूआत भी दकन में ही हो चुकी थी किन्तु इसके बहुत कम उदाहरण मिलते हैं—

सेज झूले की मैं बनाती थी, बाले असग़र को तब झुलाती थी।
जब दुलारा वो नींद भर सोता, दूध पीने को मैं जगाती थी॥ (अशरफ़)

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दक्खिनी रचनाओं में स्थानीय रंग बहुत गहरा है। भाषा में अरबी फ़ार्सी की भरमार नहीं है। कविता पर राज-दरबार का प्रभाव तो अवश्य है परन्तु वे अपने बादशाहों की प्रशंसा करने पर मज्बूर न थे। इसके अतिरिक्त उनमें धर्म और भक्ति से पैदा होने वाली स्वतंत्रता की भावना प्रबल थी। इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में जो कुछ लिखा गया उसका एक बड़ा भाग आज कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता किन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से उर्दू-साहित्य के इतिहास में उच्च स्थान प्राप्त है।

प्रश्न 26—हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, दक्खिनी, रेख़्तः, उर्दू तथा खड़ी बोली के रूप पर प्रकाश डालिए।

हिन्दवी—विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' दिल्ली के आस-पास की वह बोली अथवा भाषा थी, जो हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होती थी तथा जिसमें अरबी-फ़ार्सी के शब्दों का अभाव था।

विद्वानों का दूसरा वर्ग यह मानता है 'हिन्दवी' को केवल हिन्दुओं की भाषा मानना तर्कसगत नहीं है। उनके विचार से 'हिन्दवी' हिन्दी की भाँति शिक्षित मुसल-

मानों की भाषा थी। प्रमाणस्वरूप इंशाअल्ला द्वारा लिखित 'रानी केतकी की कहानी' का यह उद्धरण देते हैं—'हिन्दवी छुट है और इसमे किसी बोली का पुट नहीं'।

सैयद इंशा की भाषा की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए चन्द्रबली पाण्डेय ने लिखा है कि अन्य भाषा से इंशा का तात्पर्य 'बाहर की बोली' है, जिसका अर्थ है हिन्दी के बाहर की बोली अर्थात् अरबी, फ़ार्सी, तुर्की आदि। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इंशा नें इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इसी प्रकार 'भाषा पन' में इंशा का तात्पर्य उन गँवारू बोलियों से है, जो उस समय प्रचलित थीं।

पाण्डेय जी ने 'दरियाए लताफत' से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि इंशा के अनुसार दिल्ली के चुने हुए आदमियों की भाषा ही प्रामाणिक है और ये चुने हुए व्यक्ति प्रायः मुसलमान ही थे। इस प्रकार सैयद इंशाअल्ला, जिस भाषा के प्रयोग का संकल्प लेकर चले थे, वह वस्तुतः शिष्ट मुसलमानों की भाषा थी। अतः 'हिन्दुई' अथवा 'हिन्दवी' को केवल हिन्दुओं की भाषा मानना ठीक नहीं। यह वस्तुतः वह भाषा थी जिसका प्रयोग दिल्ली के आस-पास रहने वाले शिष्ट हिन्दू और मुसलमान करते थे।

हिन्दुस्तानी या हिन्दोस्तानी—'हिन्दुस्तानी' शब्द की व्याख्या एक जटिल समस्या है। सामान्य धारणा यह है कि यह नाम अँगरेजों की देन है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह नाम बाबर के समय में प्रचलित था। बाबर के आत्मचरित का यह उद्धरण द्रष्टव्य है—'I have made him sit down before me and desired a man who understood the Hindustani language to explain to him what I said sentence by sentence in order to reassure him.' स्पष्ट है कि बाबर ने दौलत खाँ लोदी को विश्वास दिलाने के लिए एक दुभाषिये की सहायता से हिन्दुस्तानी भाषा में बात-चीत की थी। बाद में अँगरेज़ शासकों ने इसको राजनीतिक रंग दे दिया और इसको विशेष प्रचारित किया। पहले यह नाम 'हिन्दी' का वाचक था। बाद में 19वीं शताब्दी में यह 'उर्दू' का वाचक बन गया।

जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने मुसलमानों की माँग पूरी की, इसी प्रकार हिन्दुस्तानी के रूप में खड़ी बोली ने अँगरेज़ों की माँग पूरी की। यह तो निश्चित है कि हिन्दुस्तानी खड़ी बोली का वह रूप है जिसमें अरबी-फ़ारसी के अतिरिक्त अँगरेज़ी के शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया जाता है।

जॉर्ज ग्रियर्सन ने इसे वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी के नाम से सम्बोधित किया है। वर्नाक्युलर का अर्थ होता है 'गुलामों' की भाषा। इस दृष्टि से 'हिन्दुस्तानी' पूरे हिन्दुस्तान की भाषा ठहरती है। इस प्रकार इनको हिन्दी का पर्याय मानना ही उचित है।

ग्रियर्सन ने ग्राइजङ्गत हिन्दुस्तानी की परिभाषा को आधार मान कर अपना जो मत व्यक्ति किया है उसके अनुसार हिन्दुस्तानी मुख्य रूप से गंगा के ऊपरी दोआब की भाषा है। यह हिन्दुस्तान के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम है। यह फ़ार्सी तथा देवनागरी दोनों लिपियों में लिखी जाती है।

कालान्तर में कांग्रेस ने राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखते हुए इसे अपने व्यवहार का माध्यम घोषित किया। महात्मा गाँधी ने हिन्दुस्तानी के व्यवहार पर विशेष बल दिया। सारांश रूप में यह समझ लेना चाहिए कि हिन्दुस्तानी हिन्दी-उर्दू से एक पृथक् भाषा है। यह हिन्दी खड़ी बोली का ही एक सरल एवं व्यावहारिक रूप है।

दक्खिनी—भाषा तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से इस शब्द का प्रयोग उस भाषा के लिए किया जाता है, जिसका प्रयोग दक्षिण के बहमनी वंश तथा बीजापुर गोलकुण्डा और अहमदनगर से सम्बन्धित मुसलमान साहित्यकारों ने साहित्य के क्षेत्र में 15वीं शती से 18वीं तक किया था।

दक्खिन का साहित्य हिन्दी-साहित्य की बहुत बड़ी निधि है। ख्वाजा बंदा-नवाज़ (1318-1432 ई०) का गद्य 'मिराजुल् आशिकीन,' निज़ामी की 'कदमराव व पदम', मुल्ला वजही का 'सबरस' (रचना काल 1635 ई०), गौव्वासी की 'मस्नवी' 'सैफ़ुल्-मुल्को-बदी-उल्-जमाल' (1626 ई०), 'तूतीनामः' (1639 ई०); निशाती की मस्नवी 'फूलबन' (1655 ई०) आदि दक्षिणी हिन्दी की प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त वली, क़ुली, कुतुबशाह, शाह मीराजी, वली वेल्लोरी, अब्दुल्ला, गुलाम अली आदि प्रमुख कवि हैं।

दाक्खिनी के कवि यद्यपि सभी मुसलमान थे, किन्तु किसी ने क्या भाषा, क्या भाव, प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयता नहीं छोड़ी। लिपि केवल फ़ार्सी है। धार्मिक साहित्य में अवश्य फ़ार्सी-अरबी के शब्द हैं, किन्तु आज की उर्दू से बहुत ही कम, जो शब्द हैं वे भी तद्भव रूप में मिलते हैं। अनेक संस्कृत शब्द तत्सम और तद्भव रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राज्य-संरक्षण पाकर यह सब प्रकार से प्रामाणिक साहित्य है।

इसमें 'न्द' या 'म्ब' के स्थान पर 'न' और 'म्म' के स्थान पर 'म्ब' बोला जाता था। उदाहरणार्थ—चानन्नी (चान्दनी), फूनना (फुन्दना), गूनना (गूँधना), बानना (बाँधना), गुम्मज (गुम्बज), कम्मल (कम्बल) में। 'ड़' के अपेक्षा 'ड' का प्रयोग अधिक व्यापक था। बहुवचन हरियाणवी के अनुरूप बनते थे। कारकीय परसर्गों में हरियाणवी के रूपों के अतिरिक्त कर्म में 'कूं', सम्प्रदान में 'के तईं', करण में 'सूं' सम्बन्ध में 'क्याँ, केरां' और अधिकरण में 'मने, पो' आदि भी चलते थे। सर्वनाम तो वही हैं किन्तु रूपों में 'मुंजे, हम, हमन, हमना, तुमना' उल्लेखनीय हैं। विशेषणों में स्त्रीलिङ्ग बहुवचन भी होता है, जैसे—ऐसियाँ, औरताँ, अच्छियाँ, लड़कियाँ। संज्ञार्थक क्रिया—बोलन—बोलना, करन—करना। वर्तमान कृदन्त—देखता, देखत; पूर्वकालिक क्रिया—चलि, चलके, चलकर; सहायक क्रिया—अछे, हैं, भविष्यत् रूप—होंगे, होसन विशेषतः विचारणीय हैं।

रेख़्तः—शेरानी के अनुसार जहाँ ख़ुसरो ने ईरानी और भारतीय छन्द-शास्त्र के समन्वय से अनेक नयी चीजें तैयार कीं, वहाँ उन्होंने रेख़्तः का भी आविष्कार किया। जिसमें फ़ार्सी ख़याल हिन्दी के मुताबिक हों और जिसमें दोनों ज़बानों के सरूद एक राग और एक ताल में बँधे हों, उसको रेख़्तः कहते हैं। इस प्रकार रेख़्तः छन्द या गीत की एक नयी शैली थी, जिसमें फ़ार्सी और हिन्दी मिस्र ताल और राग के ऐतबार से छन्दबद्ध होते थे। धीरे-धीरे छन्द के क्षेत्र से निकल कर यह शब्द एक

ऐसी शैली के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें दो भाषाओं का मिश्रण हो। कालान्तर में फ़ार्सी-तुर्की मिश्रित पद्य के लिए रेख़्तः शब्द का प्रयोग होने लगा—'वली तुझ हुस्न की तारीफ में जब रेख़्तः बोले'। यही अर्थ लेकर रेख़्तः दकन से उत्तर आया और फिर उर्दू का समानार्थक बन गया। मूलतः रेख़्तः खड़ी बोली का ही विकसित रूप है। 17वीं शती के बाद के उत्तरी मुसलमानों के रेख़्तः खड़ी बोली और फ़ार्सी तर्कीब के मिश्रित रूप में हैं। प्रो० आज़ाद के अनुसार 'रेख़्तः के माने हैं गिरी-पड़ी परेशान चीज़, क्योंकि इसमें अल्फ़ाज़ परेशान जमा है, इसलिए इसे रेख़्तः कहते हैं।'

उर्दू—'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है जिसका अर्थ होता है—पड़ाव, लश्कर, अथवा बाज़ार। इस प्रकार शब्दार्थ की दृष्टि में उर्दू द्वारा उस भाषा का बोध होता है जिसका सम्बन्ध शिविर, सेना अथवा बाजार से है। इन विभिन्न शाब्दिक, अर्थों को लेकर विद्वानों ने कई प्रकार से उर्दू की उत्पत्ति पर विचार किया है। यथा—

(i) इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी जबान ब्रजभाषा से निकली है और ब्रजभाषा खास हिन्दुस्तानी जबान है। (मुहम्मद हुसैन आजाद).

(ii) 'उर्दू बाजारी और लश्करी भाषा है।' (मीर हसन देहलवी)

(iii) सैयद इंशाअल्ला प्रभृति विद्वानों के मतानुसार दिल्ली के किले में जिस भाषा का निर्माण हुआ उसका नाम 'जबाने-उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् महान् शिविर की भाषा। इंशा अल्ला खाँ के वर्ग के विचारकों का मत सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उसका सारांश यह है कि शाहजहाँनाबाद के साधु वक्ताओं ने एकमत होकर परिगणित भाषाओं से अच्छे-अच्छे वर्ण निकाले और कतिपय वाक्यों और शब्दों में परिवर्तन करके और भाषाओं से पृथक् एवं नवीन भाषा को जन्म दिया, जिसका नाम उर्दू पड़ा।

इस मत के अनुसार उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँनाबाद में हुई तथा इस भाषा में विभिन्न भाषाओं की शब्दावलियाँ तथा वाक्य लिए गए। उन दिनों दिल्ली में विभिन्न भाषा-भाषी लोग निवास करते थे। एक सम्पर्क भाषा की आवश्यकता थी। उर्दू ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। उर्दू में अरबी-फ़ार्सी के शब्दों की अधिकता रही।

पं० चन्द्रबली पांडेय तथा हेनरी जूल एवं कोक बर्नेल के मतानुसार भी उर्दू वास्तव में दरबारी भाषा है और जनसाधारण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'हॉब्सन जॉब्सन' में स्पष्ट लिखा है कि दरबार तथा शिविर में एक मिश्रित भाषा का आविर्भाव हुआ, जो जबाने उर्दू कहलाई। इसी का संक्षिप्त रूप आगे चल कर उर्दू हुआ।

देश में जनसत्तात्मक शासन-प्रणाली का सूत्रपात होने की स्थिति में आज यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि उर्दू जनसाधारण की भाषा है और उसके निर्माण में साधुओं, संन्यासियों एवं देश भक्तों का हाथ रहा है। परन्तु उक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू लाल किले के बादशाही शाहजादों तथा आस-पास के अन्य लोगों की जबान थी।

डॉ० बेली के अनुसार भाषा के अर्थ में उर्दू का प्रयोग अनुमानतः सर्वप्रथम

सन् 1824 से आरम्भ हुआ है। डॉ० बेली ने यह निष्कर्ष मसहफी के इस आधार पर प्रस्तुत किया है—

खुदा रक्खे जबाँ हमने सुनी है मीर ओ मिरजा की।
कहें किस मुँह से हम ऐ 'मसहफी' उर्दू हमारी है।

बेली के अनुसार मीर की मृत्यु सन् 1779 में हुई। मसहफी ने यह रचना सन् 1800 के बाद किसी समय की होगी।

खड़ी-बोली 'खड़ी बोली' आज राष्ट्रभाषा है। साहित्य और व्यवहार के क्षेत्र में उसका सर्वत्र बोलबाला है। सामान्य अर्थ में उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। हिन्दुस्तानी, उर्दू, हिन्दी शब्दों को भी खड़ी बोली के अर्थ में ही प्रयुक्त कर देते हैं। अर्थ में खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा पटियाला के पूर्वी भागों में बोली जाती है।

खड़ी-बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य रहता है। इसमें अरबी-फ़ार्सी के शब्दों का प्रयोग खुल कर होता है, परन्तु वे शब्द प्रायः तद्भव होते हैं। खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से मानी गई है। इसके ऊपर पंजाबी का भी कुछ प्रभाव है।

यह खड़ी बोली ही हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों का मूलाधार है। खड़ी बोली शुद्ध रूप में हिन्दी की एक बोली मात्र है। वह जब साहित्यिक रूप धारण कर लेती है तब वह कभी हिन्दी कहलाती है और कभी उर्दू। जिस खड़ी बोली में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का व्यवहार होता है, वह हिन्दी या उच्च हिन्दी कही जाती है। इसी उच्च हिन्दी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। खड़ी बोली का यही साहित्यिक रूप हिन्दी के नाम से राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर प्रतिष्ठित है।

जब यही खड़ी बोली फ़ार्सी-अरबी के तत्सम और तद्भव शब्दों को इतना अपना लेती है कि इसकी वाक्य-रचना पर कुछ विदेशी रंग चढ़ा मालूम पड़ने लगता है, तब इसे उर्दू कहते हैं।

खड़ी बोली का एक तीसरा रूप भी है, वह है—हिन्दुस्तानी। उसको न तो शुद्ध साहित्यिक भाषा ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही। डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दों मे 'पुरानी, हिन्दी, उर्दू और अंगरेजी' के मिश्रण से जो एक नयी जबान आपसे-आप बन गई है वह हिन्दुस्तानी के नाम से मशहूर है।

निष्कर्ष—रेख्ता: खड़ी बोली का पूर्व रूप है। दक्खिनी उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहृत हिन्दी का नाम था। दक्षिण की किसी बोली के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। खड़ी बोली ही हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों का मूलाधार है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप मात्र हैं। एक का स्वरूप भारतीय परम्परा से प्राप्त है और दूसरे का विकास फ़ार्सी के आधार पर हुआ है।

प्रश्न 27—ब्रजभाषा का उद्भव और विकास दिखाते हुए, उसका भाषा-वैज्ञानिक परिचय दीजिए।

उत्तर—यह पश्चिमी हिन्दी की अत्यन्त प्रमुख तथा प्रतिनिधि बोली है। 'ब्रज' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'व्रज' से है, जिसका ऋग्वेद (2.38.8) आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'चरागाह' अथवा 'पशु-समूह' आदि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ब्रजमण्डल में, पशुपालन ही प्रमुख पेशा होने के कारण, सम्भवतः इस प्रदेश को 'ब्रज' कहा गया, और प्रदेश के आधार पर यहाँ की भाषा भी 'ब्रज' या 'ब्रजभाषा' कहलाई। हिन्दी या हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह पहले ब्रजभाषा को भी 'भाषा' या 'भाखा' (मुसलमानों द्वारा) कहते थे। 'ब्रजभाषा' नाम का प्राचीनतम प्रयोग 1587 ई० में गोपाल कृत रसविलासटीका में—'मरुभाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषा चोज' पंक्ति में हुआ है। इसे ब्रजी, ब्रिज, ब्रिजकी, भाषामणि, माथुरी, मथुरही, पुरुषोत्तम-भाषा, अन्तर्वेदी, नागभाषा तथा ग्वालियरी भी कहा गया है।

ब्रजभाषा का विकास—ब्रजभाषा का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश, एवं यदि कहना चाहें तो शौरसेनी अवहट्ठ से है। इसका जन्म 1000 के आसपास माना जा सकता है। ब्रजभाषा का इतिहास या विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :—आदिकाल (प्रारम्भ से 1525) मध्यकाल (1525—1800) आधुनिक काल (1800—अब तक)।

आदिकालीन ब्रजभाषा जैसा कि स्वाभाविक है, अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है तथा उसके सभी रूपों का समुचित विकास नहीं हुआ है। हेमचन्द्र के व्याकरण में जो उदाहरण हैं, उनकी भाषा में ब्रजभाषा का पूर्वरूप सुरक्षित है। सन्देशरासक, प्राकृतपैंगलम् आदि संधिकालीन रचनाओं में भी ब्रज के रूप हैं। लगभग 1350 से ब्रज का अधिक स्पष्ट रूप मिलने लगता है। इस दृष्टि से अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न-चरित (1354 ई०), विष्णुदास (15वीं सदी पूर्वार्ध) की महाभारतकथा, रुक्मिणी-मंगल, स्वर्गारोहण, स्नेहलीला, मानिक की वैतालपचीसी (1489 ई०), छिताईवार्ता, थेघनाथ की गीताभाषा (1500 ई०) आदि प्रमुख हैं।

मध्यकालीन ब्रजभाषा सूर, नन्द, नरोत्तमदास, नाभादास, केशवदास, रस-खान, सेनापति, बिहारी, भूषण, देव घनानन्द आदि में सुरक्षित है। इस काल की ब्रज का रूप परिनिष्ठित हो गया है। शब्दसमूह की दृष्टि से, इस काल की ब्रजभाषा में अरबी-फारसी-तुर्की के काफी शब्द आ गए हैं।

अन्तिम काल में लल्लूलाल, भारतेन्दु, रत्नाकर, कविरत्न आदि प्रमुख हैं। इस काल की साहित्यिक ब्रज पर खड़ीबोली का कुछ प्रभाव है। शब्द-समूह में आधुनिक ब्रज में अँगरेज़ी के अनेक शब्द आ गए हैं। आगे इसकी ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक विशेषताएँ दी जा रही हैं।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—ब्रजभाषा में 12 स्वर-ध्वनियों का प्रयोग होता है : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ए, ऑ, ओ, ऐ, औ। इनमें 'अ' का उदासीन-रूप भी प्रयुक्त होता है। यह प्रायः शब्दांत में आता है : बहुअ, बड़अ। ए, तथा ओ के ह्रस्व रूप भी प्रयुक्त होते हैं। इ, उ के जपित या फुसफुसाहटवाले रूप भी प्रयोग में आते हैं : रानि, ब्याइइ; हालु, दिनु। ऐ, औ, संयुक्त स्वर हैं। इनका उच्चारण प्रायः अएँ, अओं जैसा होता है। कभी-कभी ये अइ, अउ जैसे भी उच्चरित होते हैं, और कभी-कभी मूलस्वर (अर्ध विवृत अग्रस्वर तथा अर्ध विवृत पश्च स्वर) के रूप में भी इनका

उच्चारण सुनाई पड़ता है। ऐसा उच्चारण नई पीढ़ी में ही अधिक सुनाई पड़ता है। उदासीन तथा जपित स्वरों के अतिरिक्त सभी स्वर अनुनासिक रूप में भी आते हैं: फँसत, आँगन, नाँहि, गईं, कुँवर, ऊँट, नाँएँ, सेंदुर, मोंको, पराँउँठों, नैंकु, क्यौं। 'ऋ' का प्रयोग लेखन में है, किन्तु उच्चारण में यह 'र' या 'रि' है। ब्रजभाषा के व्यंजन ये हैं: क्, ख, ग, घ, च्, छ, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड, ढ, त्, थ्, द् ध्, प्, फ्, ब्, भ् ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, न्ह म्ह, ड़् ढ़् ऱ्, र्ह्, ल्, ल्ह्, ब्, य्, स्, ह्। इनमें ञ् तथा ण् का शुद्ध उच्चारण विवादास्पद है। ञ् का उच्चारण प्रायः यँ तथा ण् का ड़ँ जैसा होता है।

परसर्ग: कर्त्ता—ने, नें, नै, नैं, न्

सम्बन्ध—को. कौ (पुल्लिग एक० अविकारी), कि, की (स्त्रीलिंग) के पुल्लिग विकारी, बहु०)

कारक-रूप:	एक०	बहु०
पुल्लिग: अविकारी रूप—	आम्, आमु	आम्, आमु
स्त्रीलिंग: अविकारी रूप—	किताव	कितावें, कितावन्, किताबैं

स्त्रीलिंग प्रत्यय—प्रमुख स्त्री प्रत्यय–ई (छोरा-छोरी, घोड़ा-घोड़ी),–नी मास्टर-मास्टरनी, सिंह-सिंहनी), —आनी (देवर-दौरानी, जेठ-जेठानी) —इनी (हाथी हथिनी), —आइन (ठाकुर-ठकुराइन) हैं।

सर्वनाम: उत्तम पुरुष:	एक०	बहु०
अविकारी रूप—	मैं, में. हौं हों, हूँ	हम्

आदरवाचक—आप, आपु; रावरो, रावरे, राउरे, रावरी (ये परवर्ती रूप अवधी के माध्यम से भोजपुरी में आए हैं।)

विशेषण—संख्यावाचक शब्द हिन्दी जैसे ही हैं। कुछ विशेष उच्चारण हैं: एकु, द्वै, तीनि, चारि, छैं, ग्यारहै, ग्यारा, बारहै बारा, तेरहै, तेरा, चउदै, चउदा, पन्द्रा, सोहा सत्रा, सत्रै, अठारै, अठारा, असिय, किरोड़।

कृदन्त: (1) वर्तमानकालिक:–त् (जात्, माँजत्, खात्, चलत्); (2) भूतकालिक: —औ अथवा—यौ (पुल्लिग, चलौ, चल्यौ).—ई —ईं (स्त्रीलिंग एक० चली, बहु० चलीं),—ए (बहु० चले); (3) पूर्वकालिक कृदन्त:—इ (देखि, सुनि) —इ कै (जाइ कै, आइ कै, लिखि कै); (4) क्रियार्थक संज्ञा:—नो.—इबो; विकृत रूप —ने, -- इवे (होनो, करिवो. चलिवो. बैठिवो; चलने, करिवे. चलिवे); (5) पूर्ण क्रियाद्योतक: —ए (मूँदे, बाँधे, दवाए); (6) अपूर्णक्रियाद्योतक:—ते (चलते, करते); (7) कर्तृ वाचक:—नवारौ, स्त्री--नवारी (देखनवारी, चलनवारी)।

यह उल्लेख्य है कि भविष्य के लिए ब्रजभाषा में दो प्रत्ययों का प्रयोग होता है:–ग–,–ह—।

प्रेरणार्थक—ब्रजभाषा में प्रेरणार्थक क्रियाओं के निर्माण में दो प्रत्ययों का प्रयोग होता है: —आ,—वा। —आ प्रथम प्रेरणार्थक के लिए और —वा द्वितीय प्रेरणार्थक के लिए: चल्, चला, चल्वा। यह हिन्दी के चल, चला, चलवा के समानान्तर है।

वाच्य—तीनों वाच्यों का प्रयोग होता है। कर्मवाच्य के लिए 'जा' क्रिया का

प्रयोग होता है : पाती लिखी गई। पुरानी ब्रजभाषा में —य —का प्रयोग भी मिलता है : मान जानियत।

क्रियाविशेषण : अब, अबै; तब, तबै; जब, जबै; कब, कबै; आज, आजु; कल, काल, हियाँ, ह्याँ, हियन, हतै।

उपबोलियाँ—अपने शुद्ध रूप में 'ब्रजभाषा' मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर आदि में बोली जाती है। 'ब्रजभाषा' के प्रधान उपरूप तीन हैं—पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी। पूर्वी ब्रजभाषा का क्षेत्र मैनपुरी, एटा, बदायूँ, बरेली, हरदोई (कुछ भाग) और कानपुर (कुछ भाग); पश्चिमी अथवा केन्द्रीय ब्रजभाषा का मथुरा, आगरा, अलीगढ़, और बुलन्दशहर, तथा दक्षिणी ब्रजभाषा का भरतपुर, धौलपुर, करौली, पश्चिमी ग्वालियर और पूर्वी जयपुर है। 'ब्रज' के स्थानीय रूप गाँववारी, ढोलपुरी, भरतपुरी, जादोबाटी, सिकरवाड़ी, कठेरिया, तथा डाँगी आदि—

ब्रजभाषा का नमूना

एक मथुरा जी के चौबे हे, जो डिल्ली सैहर कौ चलै। तौ पैले रेल तौ ही नईं, पैदल रास्ता हो। तौ एक डिल्ली को जो बनिया हो सो माल लैकै आयो बेचिबे कौं। जब माल बिक गयौ, जब खालीं गाड़ियै लैकै डिल्ली कौ चलौ। जो सैर के किनारे आयौ सो चौबे जी सैं भेंट है गई। तौ वे चौबे बोले गाड़ी वारे सैं, अरे भइया सेठ, कहाँ जायगो ? कहाँ की गाड़ी है ? वौ बोलो, महाराज मेरी डिल्ली की गाड़ी है और डिल्ली जाउँगौ। तौ चौबे बोलो, भइया हमऊँ बैठाल्लेय। बनिया बोलो, चार रुपा लागिंगे भाड़े के। चौबे बोले, अच्छौ भइया चारी दिगे।

प्रश्न 28—कन्नौजी का भाषावैज्ञानिक परिचय दीजिए। इसकी उपबोलियों का नाम बतलाते हुए, इस बोली का एक नमूना भी दीजिए।

उत्तर—पश्चिमी हिन्दी की इस बोली के नाम का सम्बन्ध फ़र्रुखाबाद ज़िले के कन्नौज (सं० कान्यकुब्ज; कन्याः कुब्जाः यस्मिन् सः कान्यकुब्जः) नगर के नाम से है। इसे 'कन्नौजी' या 'कनउजी' भी कहते हैं। इस समय कन्नौजी बोलने वालों की संख्या 75 लाख के लगभग है। इनमें आदर्श कन्नौजी बोलने वाले प्रायः 12 लाख हैं। कन्नौजी का क्षेत्र इटावा, फ़र्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर (कुछ भाग); हरदोई, पीलीभीत है। आदर्श या शुद्ध कन्नौजी इटावा एवं फ़र्रुखाबाद के द्वाबे में तथा शाहजहाँपुर में गंगा के उत्तर में प्रयुक्त होती है। अन्य स्थानों पर ब्रज, बुंदेली, अवधी आदि का मिश्रण हो जाता है। कनौजी के चारों ओर ब्रज, बुंदेली, अवधी, नैपाली तथा कुमायूनी बोली जाती हैं। साहित्य की दृष्टि से कनौजी का विशेष महत्त्व नहीं है। यहाँ के कवियों ने (मतिराम, चिंतामणि आदि) ब्रजभाषा में ही रचना की है, यद्यपि उनकी ब्रजभाषा, कनौजी से प्रभावित है। कनौजी मे लोक-साहित्य पर्याप्त है। हाँ इधर कमलूदास कांधी आदि कुछ लोगों ने 'अभिमन्यु वध' आदि कुछ पुस्तकें लिखी हैं।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—कनौजी की ध्वनियाँ ये हैं : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ए, ऐ, ऑ, ओ, औ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य्, र्, ल्, व्, स, ह्, ड़्, ढ़्, न्ह्,

म्ह्, र्ह, ल्ह् । अ का उदासीन तथा इ, उ के जपित रूप भी इसमें प्रयुक्त होते हैं। ल्ह् (ल्हसुन), र्ह (र्ह्टा) तथा म्ह (म्हगाई) शब्दारम्भ में भी आते हैं।

परसर्ग

कर्ता—ने, नें, नैं।

संबंध—को, के (विकारी तथा बहु०), की, कर।

कारक-रूप	एक०	बहु०
अविकारी	काँटो; घोड़ा; लरिका	काँटे; घोड़े, घोड़ा; लरिका
विकारी	काँटे; घोड़ा, घोड़े, लरिका	काँटन; घोडन्; लरिकन्

संज्ञा एवं सर्वनाम के बहुवचन के रूपों के साथ कभी-कभी 'ह्वार' या ह्वारु' का प्रयोग होना है, जैसे 'हमह्वार'। यह वैसे ही है जैसे हिन्दी में 'हम लोग' आता है। ये दुहरे बहुवचन हैं।

स्वार्थे प्रत्यय—कनोजी में—इया (जीभ-जिभिया, दाँत-दतियाँ, छोकरी-छोकरिया) तथा -वा (बच्चा-बचवा, बेटा-बेटवा, टट्टू-टटुवा) का प्रयोग होता है। कभी-कभी इनका प्रयोग अल्पार्थी या हेयार्थी प्रत्यय के रूप में भी होना है।

स्त्रीलिंग-प्रत्यय—कनौजी के प्रमुख स्त्रीलिंग प्रत्यय --ई (घोड़ा-घोड़ी, हिरनु-हिरनी, लड़िका-लड़िकी) --न (धोबी-धोबिन), --इन (जाट्-जाटिन्), --नी (मास्टर-मास्टन्नी) तथा --इया (कूकुर-कुकरिया, चमार-चमरिया, बोकरा-बोकरिया) आदि हैं।

विशेषण—हिन्दी में आकारांत विशेषण, ब्रज में प्रायः औकारांत होते हैं, किन्तु कनौजी में ये प्रायः ओकारांत : बड़ो, छोटो। तुलना में हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह ही 'उन्नीस' का प्रयोग 'कम' क लिए, 'बीस' का 'अधिक' के लिए तथा 'इक्कीस' का बहुत अधिक के लिए होता है। इनके साथ 'ते' आता है : 'तू पढ़न में उइ ते उन्नीस है।' संख्याएँ प्रायः हिन्दी जैसी ही हैं। कुछ के उच्चारण भिन्न हैं : इकु, एकु, दुइ, तीनि, चारि, छा, नउ, ग्यारहा, बारहा, चौदहा, पन्द्रहा, सोलहा, सत्तरहा अठारहा, उनईस, तेतालिस, चौवालिस, संहतालीस, पंचास' इक्यावन, वावन, तिरेपन।

सर्वनाम : पुरुषवाचक		एक०	बहु०
उत्तम पुरुष :	अविकारी	मैं, मइँ, हम्	हम्, हमु
	विकारी	मो	हम्, हमु

आदरार्थ में 'आप' का प्रयोग होता है। निजवाचक में आप, आपु प्रयुक्त होते हैं। सम्बन्ध में इनके 'अपन, अपनु, अपनो, आपनो, आपनु' रूप मिलते हैं।

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक क्रिया :

वर्तमान	एक०	बहु०
उ० पु०	हूँ, हौं, हउँ, हों	हैं, हइँ, हैंगे, हइँगे

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
भूतकाल :	एक०	बहु०	एक०	बहु०
उ० पु०	थो, हतो, रहो, रहउँ	थे, हते, रहें, रहइँ	थी, हती, रही	थीं, हतीं रहीं

भविष्य :	एक०	बहु०
उ० पु०	हुइहौं, हुइहों, हुइहउँ, हैहूँ	हुइहैं, हुइहइँ, हुइहें

कृदन्त : (1) वर्तमानकालिक कृदन्त—त् या तु जोड़कर (चलत्, चलतु)। भूतकालिक कृदन्त—पुल्लिग के लिए -ओ (चलो, मारो) जोड़कर तथा स्त्रीलिंग के -ई (चली, मारी) जोड़कर। (3) क्रियार्थक संज्ञा— -न्, -नु. -नो या -इबो जोड़कर (चलन्, चलनु, चलनो, बोलिवो, चलिबो; विकारी रूप चलिबे, मारिवे)। (4) पूर्व-कालिक कृदन्त—धातु में -के (चल् के, मार के, आ के) या -इ के (चलि के, मारि के, आइ के) जोड़कर।

कर्मवाच्य—इसके लिए मूल धातु मे -ओ के साथ 'जा' के रूपों का प्रयोग करते हैं : दखज्जा खोलो जातु है। -ओ के स्थान पर स्त्रीलिंग में -ई, तथा वहुवचन में -ऐ हो जाता है।

प्रेरणार्थक—प्रथम के लिए -आ तथा द्वितीय के लिए -वा जोड़ते हैं : देख्, दिखा, दिखवा, चल्, चला, चल्वा।

क्रिया-विशेषण—ह्याँ, ह्वाँ, जहाँ, (ज्हाँ, झाँ भी) कहाँ, तहाँ; इत्तो, (इतनो भी), उत्तो (उतनो भी), कित्तो, (कितनो भी) जित्तो (जितनो भी); इतै, उतै, कितै, जितै, तितै; ऐसो, जैसो, बैसो, वैसो, तैसो, कैसो; ज्यों, त्यों, यों; आजु, काल्लि, अब, जब, तब, कब; अबहि, जबहि, तबहि, कबहि।

उपबोलियाँ—कनौजी की प्रमुख उपबोलियाँ तिरहारी, आदर्श कनौजी, पचरुआ, मुक्सा, संडीली, इटावी, बँगराही, शाहजहाँपुरी, पीलीभीती आदि हैं।

कन्नौजी बोली का नमूना

एक दिन का भओ कि हम अपने दुआरे ठाढ़े रहैं औ एक अँधेरो फकीर सड़क पर भीख माँगि रहो हतो कि एत्तेइ में एक मोटर निकसो। मोटर वाले ने आदमी क सामने देखि के फइयो दांइ भोंपा बजाओ लेकिन वउ, तउ अँधरो आदमी वहिका का सुझाई परै कि क छोर घांइ मोटर है? एसो कुछ भओ कि जिछोर जिछोर दर अपनी मोटर घुमावे वैछोरै वेछोर वहु फकीरउ घूमि परै। हिंया तक कि मोटर बिलकुल्लि वहि के तीर आई गई।

प्रश्न 29—बुन्देली बोली का भाषावैज्ञानिक परिचय दीजिए। इस बोली का एक नमूना भी पेश कीजिए।

उत्तर—इसका क्षेत्र बुन्देलखण्ड होने के कारण इसे 'बुन्देलखण्डी' भी कहते हैं। बुन्देल राजपूतों की प्रधानता के कारण ही यह प्रदेश बुन्देलखण्ड कहलाया। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 686,201 थी।

'बुन्देली' शुद्ध रूप में झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद मे बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप आगरा, दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा नागपुर आदि में प्रचलित हैं। इस प्रकार यह बोली दक्षिणी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश के मध्य भाग, तथा बम्बई के नागपुर के पास के उत्तरी-पूर्वी भाग मे प्रयुक्त होती है, और इसका क्षेत्र पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा मराठी के बीच में है। 'बुन्देली' का

परिनिष्ठित रूप ओड़छा और सागर के आसपास बोला जाता है। बुन्देली बोली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से हुआ है। बुन्देली के क्षेत्र में नागरी लिपि का ही प्रचार अधिक है। साहित्य की दृष्टि से बुन्देली का अधिक महत्त्व नहीं है। केवल एक लाल कवि ही ऐसे हैं, जिन्होंने प्रमुखतः इसी में साहित्य रचना की है। इनके ग्रन्थ का नाम 'छत्र-प्रकाश' है, जिसकी भाषा प्रमुखतः बुन्देली ही है।

ध्वनि और व्याकरण

ध्वनियाँ—बुन्देली में दस स्वर ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ—हैं। ऐ और औ कभी तो मूल स्वर के रूप में (पै, कौ) आते हैं, और कभी संयुक्त (ऐसो, कौन) स्वर के रूप में। सभी स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं। ए का ह्रस्व इ (बेटी-बिटिया) तथा ओ का ह्रस्व उ (घोरो-घुरवा) रूप में भी मिलता है। बुन्देली में प्रयुक्त होने वाले व्यंजन ये हैं: क्, ख्, ग्, घ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, त्, थ् द्, ध्, प्, फ्, ब्, भ्, च्, छ्, ज्, झ्, ङ्, ञ्, ण्, न्, न्ह, म्, म्ह, र्, र्ह, ल्, ल्ह, ड़्, ढ़्, य्, व् स्, ह।

परसर्ग : कर्ता—नैं, नें, ने, न्हैं
कर्म-सम्प्रदान – कौं, खों, खाँ, खैं, कुँ, कों
संबंध—कौ, की, के, खौं, खी, खे, खैं

कारक रूप : व्यंजनांत पुल्लिंग

	एक०	बहु०
अविकारी	साँप्	साँप्
विकारी	साँप्	साँपन्

स्त्री प्रत्यय—स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्रयुक्त प्रमुख प्रत्यय-न (काछी—काछिन, नाऊ—नाउन), -नी (तेली—तेलनी, ऊँट – उँटनी), -इन (सुनार—सुनारिन), -आनी (जेठ—जेठानी) तथा -ई (आजा—आजी, काका—काकी) हैं।

सर्वनाम

पुरुषवाचक : उत्तम पुरुष

	एक०	बहु०
अविकारी	मे, मैं, हम	हम, हम लोग
विकारी	मो,	हम, हम लोगन
सम्बन्ध	मोरो (-रे, -री)	हमारो (-रे, -री)
	मोओ (-ये, -ई)	हमाओ (-ये, -ई)
	मेरो, मोनो, मोको	हमको

संख्यावाचक विशेषण—एक से 20 तक के शब्द प्रायः हिन्दी जैसे ही हैं। केवल कुछ अलग हैं, जैसे छै, नौं, गेरा, बारा, तेरा, चउदा, पन्द्रा, सोरा, सत्रा, अठारा, उन्नैस। बीस के ऊपर प्राय 'बिसी' से गणना होती है। जैसे दो बिसी=40, तीन बिसी=60। चार कम तीन बिसी=56।

कृदंत : (1) वर्तमानकालिक :—त् (लिखत्, करत्, मारत)। (2) भूत-कालिक : -ओ (गओ, मारो, बैठो; स्त्री० -ई, बहु० -ए) (3) पूर्वकालिक :—के, कें, कैं (हँस कैं, मार के, किचकिचाइकें) कभी-कभी केवल धातु का भी पूर्व-कालिक रूप में प्रयोग सुना जाता है। जैसे निकर्, सुन्, चल्, खेल् आदि।

(4) क्रियार्थक-संज्ञा : -न (जानैं बतानैं, मारनैं) तथा -बो (मारबो)।

प्रेरणार्थक—धातु में 'आ' जोड़कर प्रथम प्रेरणार्थक तथा 'वा' जोड़कर द्वितीय प्रेरणार्थक बनाते हैं। जैसे चल्-चला-चल्वा; जल्-जला-जलवा; लग्-लगा-लगवा।

कर्मवाच्य—कर्तृवाच्य का कर्मवाच्य बनाने के लिए 'जा' धातु का प्रयोग करते हैं : सुहारी खाई जा रई (पूड़ी खाई जा रही है)।

क्रिया-विशेषण : यहाँ—याँ, याँईं, इतै, इतइ, नाँ; वहाँ—वाँ, वाँईं, उतै, उतइ, माँ; जहाँ—ज्याँ, जाँ, ज्याँईं, जितै, जितइ; तहाँ—ताँ, त्याँ, त्याँईं, तितै, तितइ; कहाँ—काँ, क्याँ, क्याँईं, कितै, कितइ (हिन्दी रूप यहाँ, वहाँ, जहाँ, तहाँ, कहाँ भी प्रयुक्त होते हैं)। इताँयँ (इस ओर), उताँयँ (उस ओर), आँगैं, आँगूं, पाछैं, पाछूं, ऐंगर (पास)। अबइ, जबइ, तबइ, कबइ आझइँ (आज ही), कल्ल (कल), काल (कल), परौं (परसों), अथएँ (शाम को), सकारैं (सवेरे), दुफाईं (दोपहर को), आसौं (इस वर्ष) औ, और, भी, फिन (फिर), पै (लेकिन)।

उपबोलियाँ—बुन्देली की बोलियों में प्रमुख पँवारी, लोधांती, खटोला, भदावरी, सहेरिया तथा किनार की बोली हैं। इसके क्षेत्र के उत्तरी पूर्वी भागों में कुछ मिश्रित (ब्रज तथा बघेली की सीमाओं पर, उनसे प्रभावित) उप-बोलियाँ हैं, जिनमें बनाफरी, कुँड्री, तिरहारी तथा निभट्टा, उल्लेख्य हैं। इसी प्रकार दक्षिण में भी इसके बहुत से मराठी-मिश्रित रूप हैं, जिनमें लोधी, बुन्देली-छिंदवाड़ा या छिंदवाड़ा-बुन्देली, कोष्टी, कुम्हारी तथा नागपुरी हिन्दी प्रधान हैं। इनमें छिंदवाड़ा-बुन्देली के भी कई स्थानीय रूप हैं जिनमें बघेली, बुन्देली, पोवारी, गाओली, राघोबंसी तथा किरारी आदि प्रमुख हैं।

बुन्देली बोली का नमूना—एक गाँव के माते की छीर के ढिगाँ एक गरीब किसान की खेती ठाढ़ी ती। ता खों लख कें माते बोलों कि काये रे, हमारी खेती अपने ढोरन सें चरा लयी, तो ख़ों देख नयी परत कि हम रखवारी करे हैं? किसान बोलो कि माते कक्का, ढोर तो मेरे मुन्सारे से हारे बरेदी लइ गओ।

प्रश्न 30—भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बाँगरू बोली की सोदाहरण मीमांसा कीजिए।

उत्तर—'पश्चिमी हिन्दी' की एक बोली जो पंजाब के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा, जींद एवं इनके आस-पास तथा दिल्ली राज्य (नगर छोड़कर) में बोली जाती हैं। 'बाँगरू' नाम का सम्बन्ध 'बाँगर' से है। 'बाँगर' विशेष प्रकार की कुछ ऊँची भूमि को कहते हैं, जो नदी की बाढ़ आदि से न डूबे। यह प्रदेश इसी प्रकार का होने से 'बाँगर' या 'बाँगड़' कहलाता है। इसी कारण इस प्रदेश की बोली को 'बाँगरू' कहा गया है। 'बाँगरू' के अन्य नाम 'बाँगड़ू', 'जाटू' या 'हरियानी' भी हैं। यों जाटू और हरियानी का सीमित अर्थों मे भी प्रयोग होता है। भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार बाँगड़ू के बोलने वालों की संख्या 21 लाख 66 हजार से कुछ कम थी। बाँगरू का परिनिष्ठित रूप इसके क्षेत्र के बीच में जींद के पास बोला जाता है।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ– बाँगरू में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ के अतिरिक्त एक मध्य इ और एक मध्य उ, दो और स्वर भी मिलते हैं। बाँगरू में ऐ, औ संयुक्त स्वर न होकर अर्द्धविवृत मूलस्वर हैं। इसमें एक भी संयुक्त स्वर नहीं है। ह्रस्व इ तथा ह्रस्व उ, इसमें अन्त में नहीं आते। व्यंजनों में क्, ख्, ग् घ्, च् छ्, ज् झ्, ट् ठ्, ड्, ढ्, त्, थ्, द्, ध्, प्, फ्, ब्, भ् ङ्, न्, ण्, म्, य्, र्, ल्, व्, स्, ह्, ड़् के अतिरिक्त ळ (प्रतिवेष्ठित पार्श्विक मूर्द्धन्य) भी है। स्वरों की अनुनासिकता (ना=नाव, नाँ=नाम) तथा संगम (juncture, उदाहरण तुम हारे, तुम्हारे) ध्वनिग्रामिक हैं।

परसर्ग : कर्ता—ने, नें, नै, नैं, न्नैं

कर्म, सम्प्रदान—ने, नैं, नै, नें, न्नैं, ते, तै, ती, कै, रै

सम्बन्ध—का, के, कै, की

कारक	एक०	बहु०
अविकारी	छोरा (लड़का), पिलूरा (पिल्ला)	छोरे, पिलूरे
विकारी	छोरे, पिलूरे	छोर्याँ, पिलूर्याँ

स्त्रीलिंग-प्रत्यय

प्रमुख स्त्रीलिंग प्रत्यय ई (घोड़ा—घोड़ी, मूसा—मूसी, छोरा—छोरी), -ण (माळी—माल्लँण, धोब्बी—धोब्बण, दरजी—दरजण) -णी (हात्थी—हत्थणी) तथा -न (माळी—माळन, कुछ क्षेत्रों में) हैं।

सर्वनाम : पुरुषवाचक : उत्तमपुरुष

कर्ता :	अपरसर्ग	मैं, में, मँ	हम्, हाम्
	परसर्ग	मन्नैं, मन्नै, मन्ने, मैने	हमने, म्हानै, म्हाने

विशेषण—गुणवाचक विशेषण हिन्दी की भाँति ही (वड़ा, वड़ी, वड़े) होते हैं। तुलना में 'तैं' का प्रयोग करते हैं। 'मैं तेरे तैं वडडा सूँ' (मैं तुझसे वड़ा हूँ)। यह भी उल्लेख्य है कि 'तुझसे' के स्थान पर इसमें अब 'तेरे से' की प्रवृत्ति अधिक है। हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग होने लगे हैं। वह सबसे वड़ा है—वो सबतैं वड्डा सै।

संख्यावाचक—ये प्रायः हिन्दी की तरह हैं। कुछ के विशेष उच्चारण ये हैं : च्यार, आट्, नो, ग्यारा, वारा, तेरा, चोदा चौदा, पंद्रा, पंदरा, सोळा, सत्रा, ठारा, चोविस, ठाइस, उँण्तीस, उगनी, कतिस, तेंतिस, चाळीस, ब्याळिस, च्वालिस

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक क्रिया—

	एक०	बहु०
वर्तमान	सूँ, साँ, हूँ	सैं, सें, साँ, हैं
भूत	था	थे

कर्मवाच्य—हिन्दी की तरह ही 'ज' धातु की सहायता के कर्मवाच्य के रूप बनते हैं : मैं मार्‍या जाऊँ सूँ (मैं मारा जाता हूँ।)

प्रेरणार्थक—हिन्दी की ही तरह प्रथम प्रेरणार्थक के लिए -आ, तथा द्वितीय प्रेरणार्थक के लिए -वा जोड़ते हैं : चालण-चलाणा-चलवाणा।

कृदन्त—(1) वर्तमानकालिक कृदन्त -त- (चालती चाक्की, बैता पाणी) जोड़ते हैं। पहले—द—का प्रयोग अधिक होता था (करदा, खाँदा, पींदा; आच्छा खांदा-पींदा (अच्छा खाता-पीता), मरदा)। (2) भूतकालिक कृदन्त पुल्लिग में -या (चाल्या, कर्‌या, दिया) तथा स्त्रीलिंग में -ई या -यी. (चाल्यी (य्‌ बहुत ही हलका), करी दी; दी के स्थान पर 'दई' भी मिलता है) जोड़ते हैं। 'जाना' से 'गया' एवं 'गिया' दो रूप बनते हैं। (3) क्रियार्थक संज्ञा—इसके लिए -णा (सोणा, जागणा, खाणा) या -ना (लड़ना, गिणना) जोड़ते हैं। विकारी में अंत्य आ का प्रायः लोप हो जाता है (लड़ने में क्या रखा है—लड़न मैं के धर्‌या सै)। (4) पूर्वकालिक कृदन्त—इसमें कै, यैं या वयैंह्‌ जोड़ते हैं : चालकै, खाक्यैं, आक्यैंह्‌, सोक्यैं आदि।

क्रिया-विशेषण—यहाँ—अठै, आड़ै, हाड़ै, याड़ै, इत, अड़ै, हड़ै, उरै। वहाँ—ओठै, उड़ै, उत, हुड़ै, उठै। जहाँ—ज्ञाँ, जठै, जड़ै, जित। कहाँ—कठै, कड़ै, कित। इधर—उरैनै, आड़ेनै, इंघानै, इंघैनै, इंधेनै, इत्‌होड़। उधर—उड़ैनै, उंघानै, उंघैनै, उंघेनै, उठैनै, परेनै, परैनै, उत्‌होड़। जिधर—जड़ै, जिघानै, जिघेनै, जित्‌होड़। किधर—किघैनै, कठैनै, किघानै, कितै, कितहोड़। अब—ईब्‌, इब्‌। जब—जिब्‌ जिद, जद। कब—किब, कद। जहाँ···वहाँ—जड़ै···उड़ै। आज, काल्ह, कुहाल, परसूं, पहले दिन (चौथे दिन), तरले दिन, (पाँचये दिन)। इस साल ईह्‌ साल, ईवकेनै। पिछले साल—पुरकै साल (कुछ क्षेत्रों में भूत एवं भावी दोनों वर्षों के लिए)। पुरारकै साल (पिछले-से-पिछले साल), आग्गेनै (अगले साल, आगे की ओर)। उप्पर, नीच्चै, तळै (नीचे), आग्गैनै, आग्गै, पाच्छै, पाच्छैनै, पीच्छै, साम्हीं (सामने), आम्हीं-साम्हीं (आमने-सामने)।

उपबोलियाँ—बाँगरू की प्रमुख उपबोलियाँ हरियानी, जाटू, ब्रमरवा बागड़ी हैं।

बाँगरू का नमूना

एक वाह्मण था और एक बाम्हणी थी। बाम्हण सून मैंग-कै लि आया करदा। बाम्हणी कैहण लाग्गी इस नगरी मैं राज्जा भोज सै। यू सलोक कोहा कै बाम्हणाँ नै एका मका सिओने का टे सै। इस राज्जा कै तौं भी जा कै कह दे। बाम्हण कैहण लाग्या मैं सलोक नी जाणदा। बाम्हणी कैहण लाग्गी सलोक तन्नै मैं सिख्या दींगी। फेर उन बाम्हण नै सलोक सिखा दिया, अक पैस्सा गाँठ में।

प्रश्न 31—क्षेत्र, ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से 'कौरवी' बोली का सोदाहरण परिचय दीजिए।

उत्तर—'कौरवी' से यहाँ आशय उस बोली से है, जिसे खड़ीबोली (मेरठ के आसपास की जनबोली), हिन्दुस्तानी, जनपदीय हिन्दुस्तानी (चटर्जी द्वारा प्रयुक्त) सरहिन्दी, सिरहिन्दी वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी (ग्रियर्सन द्वारा व्यवहृत) आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है, तथा जो साहित्यिक हिन्दी, उर्दू की आधार मानी जाती है।

'कौरवी' बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फ़रनगर, सहारन-

पुर, देहरादून का मैदानी भाग, अम्बाला (पूर्वी भाग) कलसिया और पटियाला के पूर्वी भाग में प्रयुक्त होती है। इसका शुद्ध या परिनिष्ठित रूप बिजनौर में बोला जाता है। अब इसके बोलने वाले लगभग डेढ़ करोड़ हैं कौरवी में लोक-साहित्य पर्याप्त मात्रा में है। दूसरे प्रकार के साहित्य की रचना इस बोली में नहीं हुई है। पहले यहाँ के लोग ब्रज आदि में लिखते थे, और अब साहित्यिक हिन्दी में लिखते हैं।

कौरवी बोली मध्यदेशीय या शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से विकसित हुई है। दिल्ली के पास होने के कारण, शब्द-समूह में, इस पर अरबी-फ़ारसी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—कौरवी में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ये आठ स्वर वे ही हैं, जो हिन्दी में हैं। इनके अतिरिक्त ह्रस्वार्ध अ (जैसे 'चक्ख' में प्रथम 'अ' सामान्य है और दूसरा ह्रस्वार्ध), ऑ (वृत्तमुखी आ जो अंग्रेजी 'ऑफ़िस' में) है। कौरवी में यह अंग्रेजी नहीं अपितु सामान्य हिन्दी शब्द जैसे ऑप, गॉय आदि में आता है), मूल स्वर औ (परिनिष्ठित हिन्दी तथा अवधी भोजपुरी आदि में औ (जैसे चौक, मौत् आदि में) संयुक्त स्वर है, किन्तु कौरवी में यह संयुक्त स्वर न होकर मूल स्वर औ (प्रमुखतः पश्चिमी में) हो गया है। अर्थात् इस क्षेत्र में चौक, मौत आदि का 'औ' मूल स्वर के रूप में होता है। यह अर्द्धविवृत दीर्घ पश्च स्वर है। कौरवी में ऐ (ै) को खुली ए तथा औ (ौ) को खुला ओ ही समझना चाहिए, सामान्य ऐ, औ नहीं। 'ऋ' का प्रयोग लेखन में होता है, किन्तु उच्चारण 'रि' ही होता है। व्यंजनों में क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड्, ढ, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, स, ह, ड़, ढ़, तो हैं ही साथ ही कुछ व्यंजनों के महाप्राण रूप ण्ह, न्ह, म्ह, ल्ह, र्ह, य्ह, व्ह भी प्रयुक्त होते हैं। मराठी बाँगड़ू आदि की तरह ळ (बळद, बाळक बाळ) का भी प्रयोग कौरवी में होता है। कौरवी के पूरे क्षेत्र में तो नहीं किन्तु बिजनौर तथा कुछ अन्यक्षेत्रों में एक ध्वनि है जो न तो ड़ है न ड़ बल्कि दोनों के बीच में।

स्त्रीलिंग प्रत्यय—कौरवी में -अन् (साँप-साँपन्, लुहार-लुहारन्, भटियारा-भटियारन, माली-मालन),—आई (लोग्-लुगाई),—आनी (देवर-द्योरानी, जेठ्-चेठानी),—ई (चमार्-चमारी),—नी (जाट्-जाटनी, साधु-साधुनी, ऊँट्-ऊँटनी) आदि लगाकर पुल्लिग शब्द से स्त्री शब्द बनाए जाते हैं।

परसर्ग : कर्ता—नै, णै, न्ने, न्नैं, नें
कर्म—कू, नै, ण, सै, को
सम्बन्ध—का, की, के।

कारक-रूप	एक०	बहु०
अविकारी	घोड़ा	घोड़े
विकारी	घोड़े	घोड़ों

सर्वनाम :

पुरुषवाचक : उत्तम पुरुष	एक०	बहु०
अविकारी रूप	में, मैं, हम्	हम्
विकारी रूप	म (मनैं) मुझ्, मुज्	हम्

संख्यावाचक विशेषण—ये प्रायः परिनिष्ठित हिन्दी जैसे ही हैं। कुछ के उच्चारण इस प्रकार हैं : चार्, च्यार, पाँच्, पाँन्, छे, ग्यारै, बारै, तेरै, चौदै पंद्रै पंद्रा, सोलै, सोलै, सतरै, ठारै, उन्नी, उन्निस, तेतिस्, चोतिस्, तितालिस्, छयालिस्, सन्चास।

कृदन्त : (1) वर्तमानकालिक : -ता (मरता) या -त्ता (जात्ता सोत्तय) जोड़कर। लिंग वचन के अनुरूप ये -ते, -त्ते, -ती -त्ती आदि हो जाते हैं। -ऊँ (देखूँ, करूँ) लगाकर भी वर्तमानकालिक कृदन्त बनता है। (2) भूतकालिक : -आ या -या (सुना, सुन्या, आया, दिया, लाया) जोड़कर। लिंग वचन के अनुरूप ये भी -ई या -ए हो जाते हैं। (3) विध्यर्थक या क्रियार्थक संज्ञा : -न, -ण, -ना या -णा (त्रोणा, खेलना, देणा, जाणा, करणा) जोड़कर। इसके भी -नी, -ने आदि रूप होते हैं। (4) पूर्वकालिक : के (जाके, वो के) जोड़कर। (5) तात्कालिक कृन्दत : -तेई या -त्तेई (जात्तेई, खात्तेई) जोड़कर।

सहायक तथा अस्तित्ववाची क्रिया—प्रमुखतः 'हो' क्रिया के रूपों का प्रयोग होता है, जो इस प्रकार हैं :

वर्तमान काल	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हूँ	हैं

'है' के स्थान पर 'हैगा' भी कभी-कभी कुछ क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है।

भूतकाल :	एक०	बहु०
उ० पु०	था, हा, ता	थे, हे, ते

स्त्रीलिंग में एकवचन में 'थी' 'ही' 'ती' तथा बहुवचन में 'थीं' 'हीं' 'तीं' का प्रयोग होता है।

भविष्य काल :	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हुँगा, हुँङा	होंगे, होङे

प्रेरणार्थक—व्यंजनांत धातुओं का प्रथम प्रेरणार्थक -आ जोड़कर तथा द्वितीय -बा जोड़कर बनता है। उदाहरणार्थ लिख्, लिखा, लिख्वा; चल्, चला, चल्वा; पढ् पढ़ा, पढ़्वा आदि। स्वरांत धातुओं से एक ही प्रकार का प्रेरणार्थक बनता है और उसके लिए -वा जोड़ते हैं। जैसे 'ले' से 'लिवा', 'दे' से 'दिवा', 'खा' से 'खवा' आदि।

कर्मवाच्य—कर्मवाच्य लगभग परिनिष्ठित हिन्दी जैसा ही है। कुछ क्षेत्रों में करण के परसर्ग के स्थान पर सम्बन्ध के रूप के साथ करण का प्रयोग होता है। जैसे 'मेरे से रोट्टी नईं खाई जात्ती' या 'तेरे से उठा नईं जात्ता' आदि। इनमें वस्तुतः मज्से तज्से का प्रयोग होना चाहिए। कहीं-कहीं दोनों का प्रयोग मिलता है : 'मेरे से रोट्टी नईं खाई जात्ती' या 'मुझसे रोट्टी नईं खाई जात्ती'।

क्रिया-विशेषण—अब, इब; इभी (अभी), इब जा, इब जाँ (अभी); कद कब; जब, जिब; तब, तो; परसों, तरसों; जिनो, किनो, उनो, इनो, य्हाँ, व्याँ, झाँ, जाँ, काँ, जैसे, जुक्कर (जैसे), कुक्कुर (कैसे), कैसै, ऐसै, तैसै, वैसे, उक्कर (वैसे), इदर, उदर, जिदर, विदर, किदर, इंगै, उंगै, जिंगै, किंगै, अर ओर), हर (और), होर (और) झोर (और)। नहीं के स्थान पर नईं 'नी' या 'ने' का प्रयोग होता है।

जैसे 'मन्नै नईं खाया' या 'मैं नी गया' आदि। अवधी आदि की तरह 'हर' का प्रयोग इत्यादि के अर्थ में यहाँ भी चलता है। जैसे 'आज रामलखन हर आयेंगे।'

वाक्य—वाक्य में पदक्रम प्रायः हिन्दी जैसा ही होता है। पहले कर्ता फिर क्रिया। अन्य कारक प्रायः बीच में। विशेषण संज्ञा के पूर्व आता है, तथा क्रियाविशेषण क्रिया के पूर्व। शब्दों की आपसी अन्विति भी परिनिष्ठित हिन्दी जैसी ही होती है।

उपबोलियाँ—कौरवी की प्रमुख उपबोलियाँ पश्चिमी कौरवी, पूर्वी कौरवी, पहाड़ताली और बिजनौरी हैं।

कौरवी का नमूना—एक दिन अकबर बादस्सा नें बीरबळ ते पूछा, ओ बीरबल तू हमें बलद का दुद्ध ला दे, ओर नहीं तेरी खाल कढवाईं जाग्गी। बीरबल कूँ बहोत रंज हुआ, ओर हुन्तर आण के अपने घरूँ पड रहा।

प्रश्न 32—भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से निमाड़ी का सोदाहरण परिचय दीजिए।

उत्तर—निमाड़ी का क्षेत्र मध्यप्रदेश का निमाड़ (खण्डवा-निमाड तथा खरगोन निमाड़) नामक प्रदेश है। निमाड़, मालवा राज्य का दक्षिणी भाग है। 'वाड़' का अर्थ (काठियावाड़, मेवाड़, मारवाड़) 'स्थान' होता है। अर्थात् मूलतः यह शब्द 'निम्नवाड़' था, उसी से 'निमाड़' बना। 1951 की जनगणना के अनुसार निमाड़ी-भाषियों की संख्या 2,92,261 थी। ग्रियर्सन के अनुसार निमाड़ी 'हिन्दी' की 'राजस्थानी उपभाषा' के दक्षिणी वर्ग में आती है, अर्थात् यह दक्षिणी राजस्थानी है। निमाड़ी में लोक साहित्य तो पर्याप्त मात्रा में है ही, कुछ साहित्य भी है। इसके प्रमुख कवि सिंगाजी कहे जाते हैं।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—अ, ऌ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ए, ऐ, ओं, ओ, औ; कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य, र, ल, न्ह, म्ह, ल्ह, ऱ्ह, व, स, ह, ड़, ढ़, ळ। इसमें 'क' का एक विशेष उच्चारण होता है।

स्त्रीलिंग प्रत्यय—इ (घोड़ों-घोड़ी, दास-दासी, कुदाल-कुदाली, बकरो-बकरी, मौसो-मौसी, कुत्तो-कुत्ती, हिरन-हिरनी), -नी (शेर-शेरनी), -एण (चमार-चमारेण, अहिर-अहिरेण), -न (भंगी-भंगन, तेली-तेलिन) -आणी (सेठ-सेठाणी, जेठ-जेठाणी) आदि प्रमुख हैं।

कारक-रूप—हिन्दी में जो अकारांत शब्द होते हैं, निमाड़ी में ओकारांत होते हैं: बकरो, छोरो, गधो, घोड़ो, चेलो। इनके रूप इस प्रकार बनते हैं:—

	एक०	बहु०
(1) अविकारी रूप	घोड़ो	घोड़ा, घोड़ान, घोड़ना
विकारी रूप	घोड़ा	घोड़ान्, घोड़ाना

परसर्ग : कर्ता—न
कर्म—ख, क
सम्बन्ध—को, का, की,

संख्यावाचक विशेषण—प्रायः हिन्दी जैसे ही हैं। कुछ विशेष हैं: पाच, चाळीस, आधो, ड्योड़ो, साड़ा तीन, पौना चार, छटवो आदि। तुलना के लिए तरार्थ

में 'जादो' तथा तमार्थ में 'वड़ो' का प्रयोग करते हैं। जैसे जादो आछो, जादा, ऊचो; 'बड़ो आछो' बड़ो ऊचो। तमार्थ में 'सब सी' का प्रयोग भी करते हैं। जैसे सबसी आछो, सबसी ऊचो आदि।

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तम पुरुष	एक०	बहु०
कर्ता—अपरसर्ग	हऊं,	हम
सपरसर्ग	मन	हनन
कर्म	मख, मक	हमख, हमक

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक क्रिया :

निमाड़ी में वर्तमान काल के लिए इस प्रकार की क्रिया प्रायः नहीं है। उसके स्थान पर रूपों में 'ज' प्रत्यय का प्रयोग होता है। भूतकाल में दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में 'थो' का प्रयोग होता है। वर्तमान के लिए 'छे' भी आता है।

प्रेरणार्थक—हिन्दी ही की तरह -आ-, -वा- जोड़कर प्रथम एवं द्वितीय प्रेरणार्थक बनाते हैं : चल-चला-चलवा, गिर-गिरा गिरवा आदि।

कृदंत—वर्तमानकालिक—-त- (चलतो, चलती, चलता); भूतकालिक—-यो, -ई (चल्यो, चली); पूर्वकालिक— -ईन- -इन (चलीन=चलकर, पढ़िन=पढ़कर); क्रियार्थक संज्ञा— -नो (चलनो, पढ़नो; विकारी रूप -ना होता है)।

कर्मवाच्य—'जा' धातु जोड़कर बनाते हैं : जामुण खाइ जावज (जामुन खाई जाती है)।

अव्यय—अब, अबें, जब, जबें, तब, तबें, कब, कबें; आज, काल, परसों; याँ, व्हाँ, जाँ, काँ; उप्पर, निच्चअ, भायर (=बाहर), भित्तर, अरयांग (इधर), बल्यांग (उधर), कल्यांग (किधर), जल्यांग (जिधर); असो, बसो, जसो, कसो।

उपबोलियाँ—बंजारी, कुनबी, गूजरी, नागरी।

निमाड़ी का नमूना—एक सरवण नाम करी ने आदमी थो। बणीरा मा बाप आँधा ऊँ आंदा था। सरवणदणा ने तोब्याँ फरतो थो।

प्रश्न 33—भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'ताज्जुबेकी' का परिचयात्मक विवरण दीजिए।

उत्तर—यह नवज्ञात बोली सोवियत संघ के ताजिकिस्तान एवं उजबेकिस्तान गणतन्त्रों के हिसार, शहरेनव, रेगार, सुर्खी, देनव, उज़ुन आदि क्षेत्रों में एक विशेष जाति के लोगों द्वारा बोली जाती है। इन लोगों को पता नहीं है, किन्तु ये लोग 13 वीं सदी के लगभग दिल्ली के आसपास से चलकर पंजाब पहुँचे और वहाँ कदाचित् काफ़ी समय तक रहे। फिर वहाँ से चलकर ये अफ़ग़ानिस्तान पहुँचे और वहाँ लग़मान के आसपास कई सौ वर्षों तक रहे। वहाँ जाने पर ये लोग इतनी पीढ़ियों तक रहे कि यह भी भूल गए कि ये मूलतः भारतीय हैं। फिर कुछ पीढ़ियों पूर्व ये सोवियत संघ में जा बसे। अब वहाँ ये 'अफ़ग़ान' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये स्वयं भी अपने को 'अफ़ग़ानी' या 'अफ़ग़ान' कहते हैं।

इनकी भाषा मूलतः पश्चिमी हिन्दी वर्ग की है। प्रवास-यात्रा में, उस पर

पंजाबी एवं अफ़ग़ानी का, तथा इधर ताजिकिस्तान-उज़्बेकिस्तान में बस जाने पर ताजिक एवं उज़्बेक का प्रभाव पड़ा है। इनमें सब से अधिक प्रभाव ताजिक एवं उज़्बेक का है। इन दोनों में भी ताजिक प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। ये प्रभाव ध्वनि संज्ञा' विशेषण के क्षेत्र में ही विशेष हैं। इनका आधार शब्द-समूह (Basic Vocabulary) प्राय: पूर्णत: हिन्दी का है। यह बोली मूलत: ब्रज, हरियानी, राजस्थानी के बीच की ज्ञात होती है। इसमें स्वर ध्वनियाँ अ, अ, आ, आँ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ हैं। इनमें ध्वनिग्रामिक मूल्य केवल अ, ऑ, इ, उ, ए, ओ का है। सभी का अनुनासिक रूप भी प्रयुक्त होता है। संयुक्त स्वर दस हैं : अइ, अओ, आइ, ऑइ, उइ, एइ, ओइ, अउ, ऑउ, ओउ। व्यंजन हैं : क, ख, ग, च, छ, ज, ट, ठ, ड, त, थ, द, प, फ, ब, ङ, ञ, ण, न, म, य, र, ल, व, क़, ख़, ग़, फ़, व़, स, ज़, श, ह, ड़,। इनमें केवल क, ग, च, ज, त, द, प, व, न, म, र, ल, य, व, स, श, ह, ही ध्वनिग्रामिक हैं।

परसर्ग	
कर्ता	न, ने, नो, नि
कर्म	त, ते, ति, को, के

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तम पुरुष		एक०	बहु०
कर्ता—अपरसर्ग		मे, मि, म, मन्	हम्
	सपरसर्ग	मिंज, मिज, मिज्य, मिन्य,' मिय	हम्न
कर्म—सम्प्रदान		म त	हम् त

संख्यावाचक विशेषण—एक्, दु, तिन, तिण्, चार्, पंज्, चे, छे, सात्, सत्, अठ्, नु, नो, दस, ग्यारा, बारा, तेरा, चव्दा, पन्द्रा, सव्ला, सत्राँ, अहारा, उन्नि, बीस्, विस्, बिस्त। ऊपर की संख्याएँ प्राय: 'बीस' के आधार पर बनती हैं। जैसे बिस ति एक=21; चालि ति दो=42 आदि। क्रमवाचक—यकुम, पेलो, अव्वल, दुजो, दुसरो, तिजो, तिसरो चउथो, पंजुम्, चेयुम्, सतुम् आदि। अपूर्णवाचक—डेड़, टाइ, पउन आदि।

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक क्रिया—

वर्तमान	एक०	बहु०
उ० पु०	छुं, छुंन्, छुम् चुं चुंन्, चुम	च, छ, श, छि
भूतकाल	एक०	बहु०
उ० पु०	छो, चो, चु	छे, चे

कृदन्त—वर्तमानकालिक:—त- (ओते=होते, देगति=देखतीं; देताँ=देता)। भूतकालिक—गियो (गया), अयो (आया), अइ (आई)। पूर्वकालिक— -के (मुड़के, के के=कह कर), -कि (अकि=आकर, लेकि=लेकर)। क्रियार्थक—संज्ञा— -ण, -न (देण, खान)। क्रिया रूपों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वर्तमान एवं भविष्य के रूप प्राय: समान होते हैं, और उनके काल का पता सन्दर्भ से ही चलता है।

अव्यय—यहाँ—ईंया, इंगा, इयें, इँ, इगि; वहाँ—उँया, उन्या, उइन, उंगा; जहाँ - जि, जिया; कहाँ—किया, किगा, किन्या। आज—अच्, ओच्, ऑच्। कल—फ़दर, कल, कल्ला। पिछले वर्ष—परुन्। अब—अबे, एबे : जब—जबे; कब—कद।

प्रश्न 34—'दक्खिनी हिन्दी' का भाषावैज्ञानिक परिचय दीजिए।

उत्तर—इसके अन्य नाम 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'दकनी,' 'दखनी', 'दक्खिनी', 'देहलवी', 'गूजरी' (शाह बुरहानुद्दीन—यह सब गूजरी किया जबान), 'हिन्दुस्तानी', 'जबाने हिन्दुस्तान', 'दक्खिनी हिन्दी,' 'दक्खिनी उर्दू', 'मुसलमानी', 'दक्खिनी हिन्दुस्तानी' आदि हैं। दक्खिनी मूलतः हिन्दी का ही एक रूप है। इसका मूल आधार, दिल्ली के आसपास प्रचलित 14वीं 15वीं सदी की 'खड़ी बोली' है। मुसलमानों ने भारत में आने पर उस बोली को अपनाया था। मसऊद, इब्नसाद, खुसरो तथा फ़रीदुद्दीन शंकरगंजी आदि ने अपनी हिन्दी कविताएँ इसी में लिखी थीं।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—अ, आ, ऑ, इ, इ़ (जपित), ई, उ, उ़ (जपित), ऊ, ए, ऐ, ओ, क्, ख्, ग् घ्, ङ्, क़् च्, छ्, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, वर्त्स्यतालव्य ट्, ठ्, ड्, ढ् त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ् म्, ड़् ढ़्, य्, र्, ल्, व्, श्, स्, ज़्, फ़्, ग़्, ख़्, ह्, हमज़ा (अलिजिह्वीय)।

कारक-रूप : पुंलिंग—व्यंजनान्त का अविकारी बहुवचन -आँ (तीर्—तीराँ), विकारी एकवचन शून्य (तीर्, तोप्) तथा विकारी बहुवचन -आँ, या -ओं या-अन (दोस्त्—दोस्ताँ, दिन्—दिनों, जन्—जनन्) जोड़कर बनाते हैं।

स्त्रीलिंग—अकारान्त, आकारान्त का विकारी एकवचन यथावत् रहता है। बहुवचन (अविकारी, विकारी) के लिए -आँ याँ (बात—बाताँ, चिड़िया—चिड़ियाँ, कभी-कभी चिड़ियों भी) जोड़ते हैं। ईकारान्त, ऊकारान्त में बहुवचन के लिए -आँ (लकड़ी—लकड़ियाँ, लकड़्याँ) जोड़ते हैं। कभी-कभी बहुवचन विकारी में -इआँ, -इन, -आँ (पुरी (पूरी)—पुरिआँ, पुरिन; भऊ (बहू)—भवाँ) भी जोड़ते हैं।

परसर्ग

कर्ता—ने, नै

कर्म—कूं, कू

सम्बन्ध—का, के, की, केर, कर, केरा, केरी, केरे, कियाँ

सर्वनाम

पुरुषवाचक : उत्तमपुरुष

अविकारी	मैं, मइँ	हम, हमन, हमें
विकारी	मुझ, मुज	हम, हमन, हमग

संख्यावाचक विशेषण—सामान्यतः हिन्दी जैसे ही हैं। कुछ के विशेष उच्चारण ये हैं : छै, आट, बन्नीस, साट, असी, नवद, नव्वद, सद (फ़ा॰), सहस, लाक, कडोर, देवड़ा (डेढ़ा)।

क्रियारूप

सहायक क्रिया : वर्तमान (हैं आदि)

अछूं अछें

भूतकाल	था, थ्या, अथा	थे, अथे
भविष्य	हूँगा	होंगे

प्रेरणार्थक—हिन्दी की भाँति ही -आ, -वा जोड़ते हैं : गिन-गिना-गिनवा। कुछ असामान्य रूप भी हैं, जैसे बैसना (=बैठना) -बिसलाना। ये हिन्दी 'बैठना-बिठलाना' जैसे हैं।

कर्मवाच्य—दक्खिनी में क्रिया कर्म के अनुसार नहीं होती। वह प्रायः सर्वदा कर्ता के अनुसार ही होती है।

कृदन्त—वर्तमानकालिक—त-(चलता, मरती)। भूतकालिक— -इया, -या, -आ (चलिया, चल्या, चला,, स्त्री० -इ (चली), बहु० -ए -इयाँ (चले, चलियाँ)। पूर्वकालिक—के, -कर, -इ, -य (चलके, आकर, करि, होय)। क्रियार्थक संज्ञा— -ना (चलना, विकारी—चलने)। कर्तृवाचक— -हार, -हारा (चलनहारा, अछनहार)।

अव्यय—याँ, यहाँ; वाँ, वहाँ; काँ, कहाँ, कधन; ताँ, तहाँ, तधाँ; इधर, उधर, जिधर, किधर, तिधर: चौधिर, चौंधिर; अनाल (अव), अद (अव) तद, कद, जद; आज, अजूँ, अभूँ, काल, कल।

प्रश्न 35— विशुद्ध भाषाविज्ञानी की दृष्टि से 'देहलवी' का परिचय दीजिए।

उत्तर—भाषा के अर्थ में 'देहलवी' नाम काफ़ी पुराना है। ख़ुसरो तथा अबुलफ़ज़ल में इसका उल्लेख है। उस समय कदाचित् इसका प्रयोग मात्र दिल्ली की भाषा के लिए न होकर आसपास के लिए भी था। किन्तु इस प्रसंग में 'देहलवी' से मेरा आशय मात्र 'दिल्ली की भाषा' है। दिल्ली में खड़ी बोली के एकाधिक रूप हैं। जामामस्जिद के आसपास के निम्न एवं निम्न मध्यवर्ग के मुसलमान तथा निम्न वर्ग के हिन्दू जिस बोली का प्रयोग करते हैं, उसे 'करखन्दारी' कहते हैं। इस नाम का सम्बन्ध 'कारख़ानेदार' से है। शिक्षा के प्रचार के साथ यह बोली मरती जा रही है। दिल्ली के उच्च तथा उच्च-मध्यवर्ग के एवं सुशिक्षित मुसलमान उर्दू बोलते हैं तथा मध्य एवं उच्चवर्ग के हिन्दू खड़ी बोली के विशेष रूपों का प्रयोग करते हैं। इनमें जैनियों की भाषा एक प्रकार की है, तो ब्राह्मणों की दूसरे प्रकार की, तथा कायस्थों की एक तीसरे प्रकार की। विभिन्न पेशेवालों तथा कश्मीरी, मारवाड़ी आदि की 'खड़ी बोली' में भी अन्तर है। इनमें विशेष अन्तर मुहावरों एवं शब्द-समूह में है। यों व्याकरणिक भेद भी हैं, किन्तु बहुत अधिक नहीं।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—दिल्ली की बोलचाल की खड़ी बोली में वे ही ध्वनियाँ हैं, जो हिन्दी-उर्दू आदि में हैं। अधिकांश हिन्दुओं में, जो उर्दूदाँ नहीं हैं, क़, ख़, ग़, ज़, फ़, के स्थान पर क, ख, ग, ज, फ, का प्रयोग होता है। मुसलमानों में प्रायः (कुछ अत्यन्त अनपढ़ लोग अपवाद हैं) इनका उच्चारण ठीक होता है। दिल्ली के मूल लोगों में ऐ, औ संयुक्त स्वर न होकर, मूल स्वर हैं। करखन्दारी में एक ध्वनि ड़ तथा ल के बीच में है। हिन्दी-उर्दू के प्रायः सभी ड़, तथा कभी-कभी र् करखन्दारी में उसी ध्वनि में परिणत हो जाते हैं।

लिंग-प्रत्यय—इसमें स्त्रीलिंग के प्रत्यय -अन् (धोबी-धोबन्, माली-मालन्),

-आनी (देवर-देवरानी), -इया (चूहा-चुहिया, कुत्ता-कुतिया), -ई (वेटा-वेटी, था-थी), -नी (किराएदार-किराएदारनी) आदि हैं। पुल्लिग बनाने के लिए -उवा (राँड रँडुवा), -ओई (नन्द-नन्दोई) आदि हैं, यद्यपि इनका प्रयोग वहुत सीमित है।

परसर्ग—कर्ता—ने
कर्म—को, ने
संबंध—का, के, की

कारक-रूप—करखन्दारी में कारक-रूप वही हैं, जो हिन्दी-उर्दू के परिनिष्ठित रूप में प्रयुक्त होते हैं।

सर्वनाम : पुरुषवाचक : उत्तम पुरुष

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी रूप	मैं	हम्, हम् लोग
विकारी रूप	मुझ्, मुंज्	हम्
सम्बन्ध	मेरा, मेरे, मेरी	हमारा, हमारे, हमारी

संख्यावाचक विशेषण—संख्यावाचक शब्द, सामान्यतः परिनिष्ठित हिन्दी जैसे ही हैं। जो, कुछ भिन्न हैं, उनमें प्रमुख निम्नांकित हैं : छै, नो, नौं, ग्यारा, ग्यारै, वारा, वाराँ, वारै, तेरा, तेराँ, तेरै, चौदा, चौदाँ, चौदे, पन्दरा, पन्दरै, सोलै, सोला। बीस से ऊपर की संख्याओं के लिए, हिन्दी की अन्य लोकभाषाओं की तरह 'बीसी' की सहायता ली जाती है। जैसे 64 के लिए 'तीन बीसी औ चार।'

सार्वनामिक विशेषण—इत्ला, इत्ता; उत्ला, वित्ला, उत्ता, वित्ता; जित्ला, जित्ता; कित्ता, कित्ला; कैसा, ऐसा, वैसा, जैसा।

क्रिया—क्रिया-रूप प्राय; परिनिष्ठित हिन्दी जैसे ही हैं। कुछ क्षेत्रों में 'है' के स्थान पर 'हैगा' तथा 'हैं' के स्थान पर 'हैंगे' का प्रयोग मिलता है। विशेषतः प्रश्नों के उत्तर में। जैसे 'क्या वो है?' उत्तर—'हैगा'। करखन्दारी में भी यह विशेषता है। दिल्ली की खड़ी बोली में 'हम जाती हैं' तथा 'हम जा रही हैं' जैसे सामान्य एवं अपूर्ण वर्तमान के स्त्रीलिंग रूपों के स्थान पर प्रायः 'हम जाते हैं' तथा 'हम जा रहे हैं' जैसे पुल्लिग रूप ही सुनाई पड़ते हैं। इस प्रकार ये पुल्लिग रूप अब यहाँ द्विलिंगी होते जा रहे है। यह बात केवल बहुवचन में मिलती है, एकवचन में नहीं। करखन्दारी में 'मैं जा रहा हूँ' जैसे रूपों के स्थान पर 'मैं जा रेया ऊं' अर्थात् ह्-शून्य रूप सुनाई पड़ते हैं। दिल्ली में कई क्षेत्रों में मध्यपुरुष एकवचन आज्ञा -इओ (जइयो, करियो, लइओ) अन्त्य प्रयुक्त होता है। स्त्रियों की भाषा में कई क्षेत्रों में 'लेता है', 'करता है' आदि के स्थान पर 'लै है' 'करइ है' जैसे रूप सुनाई पड़ते हैं। ये दोनों ही स्पष्टतः ब्रजभाषा के अवशेष हैं।

क्रिया-विशेषण—इव (अब), जिव (जब), जद (जब), कद (कब), अबी (अभी), जदी (जभी), कभू (कभी), कदी (कभी), याँ (यहाँ), यईं (यहीं), वाँ (वहाँ), वँईं (वहीं), जाँ (जहाँ), काँ (कहाँ), कईं (कहीं), इदर, उदर, विदर, जिदर, किदर, नूँ (यों), जूँ (ज्यों), ज्यूँ (ज्यो), त्यूँ (त्यों), उल्ली तरफ़, पल्ली तरफ़, नी (नहीं), नइं (नहीं)।

प्रश्न 36—'अवधी' के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अवधी, न केवल पूर्वी हिन्दी की अपितु हिन्दी की भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बोली है। 'अवधी' शब्द का सम्बन्ध सं० 'अयोध्या' से है। 'अयोध्या' शब्द का विकास 'अवध' रूप में हुआ है। अवधी-भाषी प्रदेश का नाम 'अवध' है, इसी आधार पर इस भाषा को 'अवधी' नाम दिया गया। 'अवधी' नाम का भाषा के अर्थ में प्राचीनतम प्रयोग अमीर खुसरो ने अपने 'नुहसिपर' में किया है। अबुल फ़ज़्ल की 'आईने अकबरी' में भी यह शब्द आता है। कुछ लोगों ने इसे उत्तरी, प्राचीन पूर्वी, उत्तरखण्डी, पूर्वी कोसली, बैसवाड़ी आदि नामों से भी अभिहित किया है। इनमें कोसली नाम का प्रयोग, जैसा कि आगे हम देखेंगे, इसके लिए उचित नहीं है। 'बैसवाड़ा', वस्तुतः, अवधी क्षेत्र का एक भाग मात्र है, अतः 'बैसवाड़ी' नाम को अवधी का समानार्थी न मानकर उसकी एक उपबोली का नाम मानना ही उचित है। 'पूर्वी' नाम स्थान-सापेक्ष है, केवल अवधी के लिए ही उसे नहीं स्वीकार किया जा सकता। 'अवधी' के अतिरिक्त अन्य नाम भी इसी प्रकार दोषपूर्ण हैं। यों 'अवधी' नाम भी बहुत उचित नहीं है। इससे लगता है कि इसका क्षेत्र अवध प्रदेश है, किंतु यथार्थतः इसकी सीमा तथा अवधप्रदेश की सीमा पूर्णतः एक नहीं कही जा सकती। एक ओर तो अवध प्रदेश के कुछ भागों (जिला हरदोई, खीरी और फैज़ाबाद के कुछ भाग) में 'अवधी' नहीं बोली जाती, और दूसरी ओर अवध प्रदेश के बाहर के फ़तेहपुर, इलाहाबाद, जौनपुर एवं मिर्जापुर (अन्तिम दो के कुछ भाग) ज़िले भी इसके क्षेत्र में आते हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त लखनऊ, उन्नाव, राय-बरेली, सीतापुर, फैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी ज़िलों, कानपुर ज़िले के कुछ भाग एवं बिहार के मुसलमानों (मुज़फ्फ़रपुर तक) तथा नैपाल की तराई के कुछ हिस्सों (रुम्मनदेई तथा बुटवल तक) की भी बोली यही है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ साढ़े इकसठ लाख थी।

अवधी की उत्पत्ति और उसका विकास—अवधी के पश्चिम में स्थित कनौजी, व्रज आदि बोलियाँ शौरसेनी से उद्भूत हैं, तथा पूर्व की भोजपुरी आदि मागधी से, इसी आधार पर ग्रियर्सन ने अवधी या पूर्वी हिन्दी को शौरसेनी एवं मागधी के बीच की अर्धमागधी से उत्पन्न माना था। बाबूराम सक्सेना ने अपने प्रबन्ध 'अवधी का विकास' में ग्रियर्सन से असहमति प्रकट की है, और यह कहा है कि 'अर्धमागधी का जो रूप जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है, उसकी तुलना में अवधी पालि से अधिक समानताएँ रखती है।' वस्तुतः अर्धमागधी का जो रूप जैन ग्रन्थों में है, वह मूल अर्धमागधी का प्रतिनिधित्व नहीं करता। ये ग्रन्थ बाद के पुनः सम्पादित हैं। अतः, मेरे विचार में पूर्वी हिन्दी या अवधी, अर्द्धमागधी से उद्भूत भी है, तो उस अर्धमागधी से, जो अवधी के पूर्व इस क्षेत्र में प्रयुक्त होती थी, न कि उससे जो जैन ग्रन्थों में सुरक्षित है। यों इसे 'कौसली' से उद्भूत कहना कदाचित् अधिक समीचीन है अवधी की उत्पत्ति अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ही 1000 या 1100 ई० के आस-पास हुई।

के स्वरूप से अधिक उसके नाम पर रहा है अस्तु।

अवधी के विकास को तीन कालों मे बाँटा जा सकता है :

(1) प्रारम्भ से 1400 तक

(2) 1400 से 1700 तक
(3) 1700 से अब तक

अवधी के प्राचीनतम रूपों के बीज हमें पहली सदी से भी पूर्व मिलने लगते हैं। पहली सदी से 200 वर्ष पूर्व एवं 200 वर्ष बाद के बीच के पिपरहवा, सोहगौरा, सारनाथ, रुम्मनदेई एवं खैरागढ़ के अभिलेख इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इनमें विशेष महत्त्व सोहगौरा का है। यद्यपि यह कहना ग़लत होगा कि इनमें केवल अवधी-प्रवृत्तियाँ ही हैं। साहित्यिक प्राकृतों के काल में ये बीज अंकुरित हुए, और अपभ्रंश के परवर्ती काल में उनमें पर्याप्त विकास हो गया। प्राकृत पैंगलम् के छंद मोटे रूप से 9वीं से 14वीं सदी तक के हैं, राउलवेल 11वीं की, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण 12वीं का, एवं कीर्तिलता 14वीं की, यद्यपि इन सभी में, जो भाषा रूप हैं, वे इतने परवर्ती न होकर काफ़ी पहले के हैं। साहित्य में भाषा का प्रयोग, समाज में प्रयोग के बहुत बाद में होता है। तथाकथित अवहट्ठ की उपर्युक्त सभी रचनाओं एवं हेमचन्द्र में उदयोन्मुखी अवधी के रूप झाँक रहे हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। केरअ > केरा, केर (जसु केरअ हुंकारउएँ—हेमचन्द्र; काहू केर बिकाइ—जायसी); मज्झे > मज्झ > माँह > महँ > (जीवहिं मज्झे एइ हेम०; तेन्हु माँझ का कालिदास—उक्तिव्यक्ति०; युवराजन्हि माँझ पवित्र—कीर्तिलता; माँझ मंदिर जनु लाग आकासा—जायसी; रामप्रताप प्रगट एहि माँही—तुलसी; सरग आइ धरती महँ छावा—जायसी); तण > तन > तइँ > तें > ने, थैं भी (केहिं तणेण—हेमचन्द्र; पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी—मानस; राम ते अधिक राम कर दासा—मानस; पाऊँ थैं पंगुल भया—कबीर); हउँ > हौं (बिआलि को हउँ मागिहउँ उक्तिव्यक्ति०, देखि एक कौतुक हौं रहा—जायसी; तुम्हे > तुम्ह (अम्हतो तुम्हे—उक्तिव्यक्ति; की तुम्ह हरि दासन महँ कोई—तुलसी); कवण > कवन (कवण काजे—उक्तिव्यक्ति; कारन कवन भरत बन जाहीं—तुलसी; करवौं > करउँ (हौं करवौं—उक्तिव्यक्ति; करउँ कथा हरिपद धरि सीता—तुलसी) इत्यादि।

1400 तक अवधी का निर्माण काल या आदि काल माना जा सकता है। उसके बाद 1700 तक इसका मध्यकाल है। मध्यकालीन अवधी का रूप मुल्ला दाऊद की 'लोरकहा' या 'चन्दायन' (1370 ई०), लालचदास के 'हरिचरित' (1500 के बाद), सूरजदास के रामजन्म (15वीं सदी अन्तिम चरण), ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' (1501 ई०) तथा 'स्वर्गारोहणी' 'भरत मिलाप' (16वीं सदी प्रथम दशक), 'अंगदपैज' (16वीं सदी प्रथम दशक), कुतुबन की मृगावती (1503), तथा जायसी, आलम, तुलसीदास, उसमान, चतुर्भुजदास, लालदास, नारायणदास आदि की रचनाओं में सुरक्षित है। यों 300 वर्षों के इस बड़े काल में, जैसा कि स्वाभाविक है, भाषा की एकरूपता नहीं है। कुतुबन तथा उनकी पूर्व की भाषा के काल को पूर्व मध्यकाल तथा जायसी एवं उनके बाद की भाषा को उत्तर मध्यकाल में रख सकते हैं। कुतुबन एवं जायसी की रचनाओं में कहने को तो लगभग 30 वर्ष का अन्तर है, किन्तु उनकी भाषा स्पष्टतः दो स्तरों की हैं। कुतुबन में पुरानी अवधी है, तो जायसी में बाद की। यदि पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल की अवधी की तुलना करें तो देखेंगे, कि कुछ बातें पूर्व में यदि बहुत मिलती हैं, तो उत्तर में वे कम हो गई हैं; तथा आधुनिक काल में नहीं मिलतीं, या समाप्तप्राय हैं। उदाहरण के लिए तेन-

तेन्ह और तिन-तिन्ह ले सकते हैं। स्पष्ट ही परवर्ती युग्म पूर्ववर्ती का विकास है। पूर्ववर्ती, पूर्व मध्यकाल में अधिक प्रयुक्त हुआ है, तो उत्तर में कम और अब प्रायः बिल्कुल नहीं। इसके विरुद्ध तिन-तिन्ह पूर्वमध्य में कम, उत्तर मध्य में अधिक और अब बहुत अधिक प्रयोग में है। भव भा के बारे में भी यही बात है। 'भव' का ही विकास 'भा' में हुआ है। 'भव' पूर्व मध्य में बहुत मिलता है, उत्तर में कम और अब प्रायः नहीं। दूसरी ओर 'भा' पूर्व में कम, उत्तर में अपेक्षाकृत अधिक, और अब बहुत अधिक मिलता है। शब्द-समूह में भी बहुत परिवर्तन हुआ है। 'अछ' धातु का पूर्व-मध्य में बहुत अधिक प्रयोग है। इसके प्रायः सभी या अधिकांश रूप (आछहि (=हैं), आछत (=है) आदि) मिलते हैं। किन्तु, उत्तर मध्य में इसका प्रयोग बहुत कम हो गया है। जायसी में 'आछैं', 'आछत' इन दो रूपों में यह क्रिया कुल केवल चार बार आई है। तुलसी में यह धातु केवल 'अछत' शब्द रूप में ही एक-दोबार प्रयुक्त है। अब इसका प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया है। भोजपुरी में 'अछत' रूप में यह मात्र एक शब्द के रूप में बच गई है। इस प्रकार के और भी अनेक शब्द हैं।

1700 के बाद की अवधी छेमकरन के कृष्णचरितामृत (18वीं सदी मध्य), शिवरामकृत भक्ति जयमाल (1730) कासिमशाह का हंस जवाहर (1736), नूर मुम्मद की इन्द्रावती (1743), शेख निसार की यूसुफ जुलेखा (1790), भवानी शंकर की बैतालपचीसी (1814), अलीशाह की प्रेमचिनगारी (1845) तथा ख्वाजा अहमद की नूरजहाँ (1905) आदि पचासों पुस्तकों में सुरक्षित है। आधुनिक काल के प्रसिद्ध अवधी ग्रन्थों में कृष्णायन भी है। अवधी एक जीवित भाषा है, और आज भी विकास के पथ पर है। उसमें आज भी परिवर्तन हो रहे हैं। शब्द-समूह का उल्लेख ऊपर किया गया है, यदि अवधी के पूरे विकास पर ध्यान दें तो स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि मध्य काल में अरबी-फ़ारसी के शब्द इसमें आ गए तो आधुनिक में अँगरेज़ी के शब्द आए हैं। इधर बोलचाल की अवधी खड़ी बोली से प्रभावित हुई है।

प्रश्न 37 — 'अवधी' बोली का भाषाविज्ञान की दृष्टि से परिचयात्मक विवरण दीजिए।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण —

ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य, र ल्, व्, स्, ह्, ड़्, ढ़्, न्ह् म्ह्, ल्ह्, र्ह । ए, ओ के ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों ही रूप हैं। इ, उ, ए के जपित रूप (गीलि, साँपु, काहेसे) भी मिलते हैं। सभी स्वरों के अनुनासिक रूप भी प्रयुक्त होते हैं।

स्त्रीलिंग प्रत्यय— -ई (बकरा—बकरी, घोड़ा—घोड़ी, बाछा—बाछी), -इनि (बाघ—बाघिनि, लाला—ललाइनि), -इनी (लरिका—लरिकिनी, लड़किनी), -आनी (जेठ—जेठानी, देवर—देवरानी, पंडित—पंडितानी) -नी (मास्टर—मस्टरनी, महटरनी, महटन्नी), तथा -इया (बाछा—बछिया, मौंदा—मौंदिया) आदि।

संज्ञा—अवधी में छत्तीसगढ़ी की भाँति ही सामान्यतः अनेक संज्ञा शब्दों के तीन रूप होते हैं: सामान्य, दीर्घ, दीर्घतर। जैसे घोड़ा, घोड़वा, घोड़उना; कुत्ता,

कुतवा, कुतउना। यह उल्लेख्य है कि इन तीन रूपों की प्रवृत्ति पूर्वी अवधी में अपेक्षाकृत अधिक है। दीर्घ रूप का प्रयोग हेयार्थ या अधिक परिचय होने पर ही किया जाता है। कुछ शब्द दो रूपवाले भी हैं : नद्दी-नदिया, नाऊ-नउवा। कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो केवल दीर्घ रूप में ही प्रयुक्त होते हैं : डिबिया, बिलइया। यों अब खड़ी बोली के प्रभाव से डिब्बी और बिल्ली का भी प्रयोग होता है।

परसर्ग

कर्त्ता	×
कर्म-सम्प्रदान	क, का, काँ, कह्याँ, कहँ, काहु, कु, कुं, के, कहुँ, कउँ, को, कइ।

कारक-रूप—अविकारी एकवचन में मूल शब्द का प्रयोग होता है। पुल्लिंग व्यंजनांत शब्दों में प्रायः —उ जोड़ते हैं : साँस्—साँसु, साँप्-साँपु। अविकारी बहुवचन में प्रायः शब्द अपरिवर्तित रहते हैं। -आ अन्त्य शब्दों में -ए, -अने, -अन, -अइ आदि जोड़ते हैं : घोड़वा—घोड़वे, घोड़वने, घोड़वन, चोरवा-चोरवइ, कुतउना- कुतउनइ। ह्रस्व इकारांत स्त्रीलिंग शब्दों में 'इ' के स्थान पर 'ई' कर देते हैं : आँखि—आँखी। व्यंजनांत स्त्रीलिंग में -अइ (बात्-बातइ, किताब्-किताबइ) जोड़ते हैं। एकवचन विकारी प्रायः अपरिवर्तित रहता है। व्यंजनांत शब्दों के अन्त में एक हलकी अ ध्वनि आ जाती है। जपित -इ के स्थान पर -इ हो जाती है : आगिआगि। बहुवचन विकारी में प्रायः स्वरांत में -न जोड़ते हैं। जपित स्वर सामान्य हो जाता है, और दीर्घ स्वर ह्रस्व : घोड़वा-घोड़वन्, आँखि-आँखिन् गद्दी-गद्दिन, नाऊ-नाउन। व्यंजनांत शब्दों में -अन् जोड़ते हैं : बात्-बातन, घर्-घरन। -उ को वँ बनाकर-अन् जोड़ते हैं : नाँउँ-नाँवँन्।

सर्वनाम :पुरुषवाचक

उत्तम पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	मैं, में, मइ, मइँ, हौं	हम्, हमन, हम्मन, हम सब
विकारी	मो, म्वहि, [illegible], मोहि, महिं,मइ	हम, हमहिं, हमइँ
सम्बन्ध	मोर, मोरे, मोरि, म्वार	हमार, हमरे, हमारि

संख्यावाचक विशेषण—सामान्यतः हिन्दी जैसे ही हैं। कुछ विशेष हैं : याक्, दुइ, तीनि, पाच् (पाँच), छा, गेरा, एग्यारा, त्यारा, ओनइस, एकइस, ओन्तिस, बत्तिस, ततिस. तिर्तालिस, ओन्चास, एकावन, पंचावन, पछपन नाठि (उनहत्तर तक सभी संख्याओं में अन्त में जपित इ है), एखत्तरि, छिअत्तरि, सइ, करोड़ि, पहिल, दोसर, तीसर, चौथ, पाँचवाँ, छट्ठहा, सातवां, पउवा, पाउ, डेढ़, पउन सवाउ।

तुलना—तरार्थ के लिए से (रामू मोहन के तेज हइ, या से जादा तेज हइ या से कम तेज हइ) का प्रयोग करते हैं। तमार्थ 'सबमाँ' या 'सब में' (उइ सब माँ तेज हइ) की सहायता से बनता है। कभी-कभी दोनों में हर लगाते हैं : 'इउ उइ से बड़हर हइ' या 'इ सब मां बड़हर हइ।'

क्रिया

सहायक तथा अस्तित्ववाचक क्रिया—अवधी के प्राचीन साहित्य में सहायक क्रिया का प्रयोग कम ही हुआ है। प्राचीन अवधी की सहायक क्रियाएँ ये हैं : अह्-

वाली—अहउँ, अहउ, अहइ, अहहि, आहि; अहहिं, आँहइ, । ह-वाली—हउँ, हहि, हहु, हहिं, हसि, हइ । अछ्-वाली—आछै, आछत । ये रूप वर्तमान के थे । भूत के रूप हैं : भ्-वाली—भा, भइ, भइँ भईं, भए, भयेउ, भयेउँ, भएन, भईंन, भइल (पूर्वी प्रभाव) । रह्-वाली—रहा, रहे, रही । अह्-वाली—अहा, अहे, अही । ह-वाली—हत, हतें, हता, हतें, हुत । भविष्य : होव, होवइ, होयउँ, होइहि, होइहिं । आधुनिक अवधी में अछ्-वाली सहायक क्रियाएँ बिलकुल नहीं हैं । अन्य ये हैं :

	एकवचन	बहुवचन
वर्तमान		
	हउँ, हँव्, अहेउँ, बाटउँ	हन्, होइ, अही, अहन्, हइँ, बाटेन्
भूत	एकवचन	बहुवचन
	रहउँ, हता (स्त्री० हती),	रहन्, हते (स्त्री० हती), रहिन्, रहवाँ
भविष्य		
	होइहौं	होइबा, होइब्, होइबइ होब्, होवइ

कृदन्त—वर्तमानकालिक— -त- (करत्, देखिति, चलति) । भूतकालिक कृदन्त— -आ, -ए, -ई आदि : चला, देखा; चले, देखे; चली, देखी । पूर्वकालिक— -इ (चलि, करि, खाइ) जोड़कर क, कइ, कइहाँ के साथ प्रयुक्त करते हैं : चलि क=चलकर; खाइ कइ=खाकर । क्रियार्थक संज्ञा—प्राचीन अवधी में -अन तथा -अब (करन=करना; भूलब=भूलना) जोड़कर बनाते थे । अब -अब, -अबु का अधिक प्रयोग है । कुछ ही क्षेत्रों में -अन है । कर्तृ-वाचक— -अइया (चलइया, देखइया), -वइया (खवइया) तथा -अनहर जनहर, चलनहर) जोड़कर बनाते हैं । प्रथम दो का प्रयोग ही अधिक मिलता है ।

प्रेरणार्थक – प्राचीन अवधी में सामान्यतः -आ लगाकर बनाते थे : सुन्-सुना (सुनावा) । वर्तमान अवधी में भी यही जोड़ते हैं । परिनिष्ठित हिन्दी की भाँति विशेष धातुओं में स्वर एवं व्यंजन में अनेक अन्य प्रकार के परिवर्तन भी करते हैं : बिक-बेच् निकर्-निकार्, खुल्, खोल्, फिर्-फेर्, फट्-फाड़ तथा टूट-तोड़ आदि ।

कर्मवाच्य—सामान्य कर्मवाच्य जा, आव्, पर् धातुओं की सहायता से बनता है : 'ई कहे नई जातिउ', 'जब फिलिम देखि म आवइ तब मजा जानि परइ ।' कर्म-वाच्य का संयुक्त रूप -आ जोड़ कर भी कभी-कभी बनाया जाता है : 'ई मनई चोर देखाति हइ ।'

क्रिया-विशेषण : यहाँ—इहैं, इहाँ, एठियाँ, एठियन्; हियाँ, इआँ, ईहाँ, ईआँ, इहवाँ; वहाँ—उहाँ, ऊहाँ, ओठियाँ, ओठियन, हुआँ, उहवाँ; जहाँ जहँ, जहाँ, जेठियाँ जेठियन, जहवाँ; तहाँ—तहँ, तहाँ, तहवाँ, तेठियाँ, तेठियन्; कहाँ—कहँ, कहाँ, कहवाँ, केठियाँ, केठियन्; इधर—अइसी, एहकी, उधर—ओ की, वइसी, जिधर—जेहकी, जइसी, किधर—केहकी, कइसी । अब—अब, अब्बय्, अभय्, ई जून । तब—तब, तब्बय, ऊजून । कब—कब, कब्बय, कभय् । जब—जब, जब्बय, जभय । आजु कालिह, परउँ (=परसों), फिर—फिर, फिन, फिनु, पुन, फुन । अइसेन, अइसन, अस. अइसे; वस, वइसे, वइसेन; ओइसन, जस, जइसे, जइसेन, जइसन; तस, तइसे, तइसेन, तइसन; कस, कइसे, कइसेन, कइसन ।

अवधी की उपबोलियाँ—अवधी के तीन उपरूप हैं : पश्चिमी, केन्द्रीय, पूर्वी। मिर्जापुरी, बिहारी हिन्दी, बनौधी, पूर्वी अवधी, उत्तरी अवधी, बैसवाड़ी अवधी की उपभाषाएँ हैं।

अवधी का नमूना—याक घरे माँ कथा कही जात रही। पंडित जौन कथा कहत रहैं सगरे गाँव का न्योतिन रहैं। सुनवैयन माँ याक अहिरी आवत रहै। ऊ कथवा सुनतीं बेरा रावा वा बहुत करै, औ पंडितो वहि का प्रेमी जान कै वहि का नीकी तना बैठावै और खूब खातिर करैं।

प्रश्न 38—ध्वनि एवं व्याकरण की दृष्टि से 'बघेली' का परिचय दीजिए।

उत्तर—पूर्वी हिन्दी की यह बोली बघेलखंड में बोली जाती है। इसी कारण इसे बघेलखण्डी भी कहते हैं। इस क्षेत्र में बघेल राजपूतों के प्राधान्य के कारण 'बघेलखंड' नाम पड़ा है। बघेली का केन्द्र रीवाँ है, इसलिए उसे रीवाँई भी कहते हैं। रीवाँ के अतिरिक्त उसके आस-पास दमोह, जबलपुर, मांडला, बालाघाट, बाँदा, फ़तेहपुर तथा हमीरपुर आदि जिलों के कुछ भागों में भी इसका शुद्ध या मिश्रित रूप बोला जाता है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या 46 लाख से कुछ ऊपर थी। बघेली में साहित्य-रचना प्रायः नहीं हुई है। लोक-साहित्य अवश्य है। लिखने में पहले कैथी लिपि का भी प्रयोग होता रहा है, किन्तु अब केवल नागरी का ही होता है। बघेली को स्वतन्त्र बोली मानना चिन्त्य है।

ध्वनियाँ और व्याकरण

ध्वनियाँ—बघेली में वे ही ध्वनियाँ एवं ध्वनिपरिवर्तन की प्रवृत्तियाँ हैं, जो अवधी में पाई जाती हैं। कुछ विशेष बातें ये हैं : बघेली में, कई शब्दों में अवधी, भोजपुरी आदि के ह्रस्व 'ओ' का 'व' तथा 'ओ' का 'वा' मिलता है : तोर > त्वार, मोर > म्वार, होस > ह्वास, घोड़ > घ्वाड़। इसी प्रकार ए का -य-, -या- (पेट—प्याट, देत—द्यात) भी कुछ शब्दों में है। 'व' के ब हो जाने की प्रवृत्ति भी विशेष है। अवधी में जहाँ 'व' है, वहाँ भी कई स्थानों पर बघेली में ब हो जाता है। यद्यपि यह प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं है। कुछ शब्दों में कभी-कभी 'व' का 'म' भी हो जाता है। 'ग' और 'ह' मिलकर 'घ', अकारण अनुनासिकता (हाथ—हाँथ) तथा समीकरण (सुरुज देवता > सुरुद्देवता) भी उल्लेख्य हैं।

मूल संज्ञा-रूप—अवधी के, विभिन्न स्थानीय रूपों की तरह बघेली में भी -कौना, -वा आदि जोड़कर दीर्घ एवं दीर्घतर रूप बनते हैं : छोट—छोटका—छोट-कौना, लहुर—लहुरवा। बघेली में विशेषण में भी दीर्घ रूप मिलते हैं : नीक—निकहा, अधिक—अधिकहा।

परसर्ग

कर्ता— ×

कर्म-संप्र०—क, का, ला, बर, कहँ, कइहाँ, कइ, काहे

संबंध—केर, कर, (पु०) के, (विकारी) के; (स्त्री०) की, (विकारी) कै

कारक-रूप

घ्वाड़, घर, गदेली (लड़की), किताब्	घ्वाड़ें, घ्वाड़ईं, घरें, गदेली, किताब्
,, ,, ,, किताब्	घ्वाड़न, घरन, गदेलिनि, किताबन्, किताब

सर्वनाम : पुरुषवाचक :

उत्तम पुरुष :	एक०	बहु०
अविकारी	मँय, मयँ मइ	हम्ह
विकारी	म्वहि, म्वाँ, म्वारे, म्वा	हम्ह, हम्हारे

संख्यावाचक विशेषण—प्रायः अवधी के समान हैं। कुछ उदाहरण हैं : चारि, पाँचि, छ, नउ, सउ इत्यादि।

क्रिया रूप—सहायक तथा अस्तित्ववाची क्रिया :

वर्तमान काल—	हूँ, आँ	हैं, हइँ
	है	हीं, हउ, अहेन्
	है, आ	हैं, हइँ, अहेन्, अहें, आँ

कृदंत—वर्तमानकालिक— त- (चलत्, देखत्)। एकारांत धातुओं में 'ए' के स्थान पर -या- आ जाता है : 'देव्' से 'द्यात्'। भूतकालिक— -आ, -अ (चलअ), -ई (चली)। 'देव्', 'लेव्', 'करब्' का दीन्ह्, लीन्ह्, कीन्ह्। 'होव्' का 'भअ' तथा 'जाव्' का 'गअ'। पूर्वकालिक— -कै, -कइ (चल कै, खा कइ)।

क्रियार्थक संज्ञा— -व् (चलव्, करव्, देव्)।

क्रिया-विशेषण — (यहाँ आदि) इहँवाँ, उहँवाँ, जहँवाँ, कहँवाँ; (इधर आदि) एहै कैत, एहैं कयोत, एहै कैती, एहै मुँह; ओही कैत, ओही कयोत, ओही कैती, ओही मुँह; जेहै कैत, जेहै कयोत, जेहै कैती, जेहै मुँह; तेहै कैत, तेहै कयोत, केहै कैती, तेहै मुँह; केहै कैत, केहै, कयोत, केहै कैती, केहै मुँह।

उपबोलियाँ—बघेली की प्रमुख उपबोलियाँ तिरहारी, बुंदेली, गहोरा, जुड़ार, बनाफरी, मरारी, पोंवारी, कुँभारी ओझी, गोंडवानी, केवटी हैं।

बघेली का नमूना

कोई देश में कोई बैपारी एक भारी लाखुनकेर मालिक बन कर ओमें सुखचैन से रहत रहै। ओ कर तीन कुल पीत रहैं। ओ में से दुई छनला खूब मोह करत रहै और दुइ छन से तीसर पीत ओकर से खूब मोह-राखत रहै।

प्रश्न 39—'छत्तीसगढ़ी' का भाषावैज्ञानिक परिचय दीजिए।

उत्तर—छत्तीसगढ़ में केन्द्र होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसके अन्य नाम 'लरिया', 'खल्टाही' या 'खलोटी' आदि भी हैं। 'छत्तीसगढ़ी' बोलने वालों की संख्या ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार लगभग 33 लाख थी। यह रायपुर, बिलासपुर, संभलपुर के पश्चिमी भाग, कांकेर, नन्द गाँव; सुरगुजा, उदयपुर, चाँदा के उत्तरी-पूर्वी भाग, बालाघाट के पूर्वी भाग तथा सक्ती, सारंगढ़, जशपुर, जयपुर, बस्तर एवं बिहार के कुछ भागों में बोली जाती है।

'छत्तीसगढ़ी' का साहित्य में प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है। आधुनिक काल में अवश्य शुकलाल प्रसाद पांडेय आदि कुछ लोगों ने इसमें काव्यरचना की है। प्राचीन-काल में इसके साहित्यकारों ने प्रायः व्रज या अवधी में लिखा। आधुनिक काल में यहाँ साहित्य-रचना खड़ी बोली हिन्दी में ही हुई है, और हो रही है। लोक-साहित्य

की दृष्टि से छत्तीसगढ़ी अवश्य सम्पन्न है। इसका उद्गम प्रायः अर्द्धमागधी से माना जाता है। 'छत्तीसगढ़ी' के लिए प्रमुख रूप से नागरी लिपि प्रयोग में आती है। इसकी केवल दो उपबोलियाँ (भुलिया तथा कलगा) उड़िया लिपि में लिखी जाती हैं।

ध्वनियाँ और व्याकरण

छत्तीसगढ़ी में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ ये 10 ही सामान्य स्वर ध्वनियाँ हैं। लिखने में ऋ का भी प्रयोग होता है, किन्तु इसका उच्चारण स्वर ध्वनि जैसा न होकर रि (र् + इ) जैसा होता है। उड़िया तथा मराठी भाषी क्षेत्रों के पास की छत्तीसगढ़ी में उड़िया तथा मराठी के प्रभाव के कारण ऋ का उच्चारण 'रि' न होकर 'रु' होता है। लिखने में इन ग्यारह का ही प्रयोग होता है, किन्तु वास्तविक उच्चारण में ए, ऐ, ओ, औ इन चारों के ह्रस्व रूप भी प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार अ का भी एक अत्यन्त ह्रस्वरूप (जैसे घोड़वा के ड़ में) प्रयुक्त होता है। यों ऐसे स्थानों पर कुछ लोग 'अ' का प्रयोग नहीं भी करते।

छत्तीसगढ़ी के सामान्यतः प्रयुक्त होने वाले व्यंजन क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, स्, ह्, ड़्, ढ़्, न्ह्, म्ह्, ल्ह्, र्ह्, हैं। ङ् ध्वनि अकेले नहीं प्रयुक्त होती। 'ण्' ध्वनि प्रायः न् हो जाती है, यद्यपि पढ़े-लिखे लोगों के उच्चारण में (रामायण, चरण) यह 'ण' या ड़ रूप में ही रहती है। ञ् का उच्चारण संदिग्ध है। 'श' का प्रयोग प्रायः नहीं होता वह बोल-चाल में स हो जाता (देस, सहर, खुसी) है। पढ़े-लिखे लोगों की भाषा अपवाद है। ष का कभी तो ख हो (दोख, बरखा, भाखा, ओखद) जाता है, और कभी स (दोस, बरसा, भासा, असाढ़)।

परसर्ग

कर्ता — ×
कर्म — का, ला, ल (रामल = राम को, मो ला = मुझे)
सम्बन्ध — के (दोनों लिंग दोनों वचन)।

कारक रूप — टूरा (लड़का)

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	टूरा	टूरा मन
कर्म	,, का, — ला, -ल	,, मन का, — मन ला, -ल

अवधी-भोजपुरी आदि की भाँति छत्तीसगढ़ी में भी बहुत से संज्ञा शब्दों के तीन रूप मिलते हैं :

ह्रस्व (Short)	दीर्घ (long)	अतिरिक्त दीर्घ (Redundant)
घोड़ा	घोड़वा	घोड़वना
टूरा (लड़का)	टुरवा	टुरवना
टूरी (लड़की)	टुरिया	टुरवनी

इन रूपों में दूसरा कुछ हेयार्थी है तथा तीसरा अधिक।

निश्चयार्थक शब्द — जिस प्रकार अँगरेजी में द (the) का प्रयोग निश्चयार्थ का बोध कराने के लिए होता है, ठीक उसी प्रकार छत्तीसगढ़ी में 'हर' शब्द का

प्रयोग होता है। जैसे 'लइका' (=लड़का) का अर्थ है कोई भी लड़का किन्तु 'लइका-हर' का अर्थ है, कोई खास लड़का।

स्त्रीलिंग-प्रत्यय—छत्तीसगढ़ी में —ई टूरा(=लड़का)—टूरी, डौंका (=पति)—डौंकी), —इया (बछवा-बछिया), —निन (बघवा-बघनिन, हाथी-हँथनिन, धोबी-धोबनिन, ऊँट-उँटानिन), —इन (लोहार-लोहारिन, बरेठ-बरेठिन, किसान-किसानिन), —आइन (दुबे-दुबाअिन, तिवारी-तिवराइन), —आनी (देवर-देवरानी) आदि प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिंग शब्द बनाए जाते हैं। आकारान्त विशेषण स्त्रीलिंग में ईकारान्त हो जाता है : बड़का टूरा, छोटकी टूरी।

सर्वनाम : पुरुषवाचक : उत्तम पुरुष : एकवचन

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी रूप	में, मैं	हम्, हम्मन् (हम् + मन्), हमन
विकारी रूप	मो, मोर्	हम्, हमार्

संख्यावाचक विशेषण—एक से उन्नीस तक के संख्यावाचक शब्द प्रायः परिनिष्ठित हिन्दी की तरह ही हैं, अन्तर केवल कुछ के उच्चारण में है : दू, छे, नौं, ग्यारा, बारा, तेरा, चउदा, पन्द्रा, सोला, सत्रा, अट्ठारा, उन्निस। 20 को 'कोरी' कहते हैं, तथा 20 के ऊपर की गिनती कोरी में जोड़कर जैसे, 22=एक कोरी दू।

सार्वनामिक विशेषण : इतना—ऍतका, इतका, अइ्ड क्, अतका
उतना—ओतका, उतका, ओड् क्,
जितना—जेतना, जतका, जड् क्, जेतका।

कृदंत : (1) वर्तमानकालिक : -त् (होत्, देखत्) या -ते (होते, देखते) प्रत्यय जोड़कर। (2) भूतकालिक : -ए (देखे, होए, भए) प्रत्यय जोड़कर। (3) पूर्वकालिक : -के (होके, देख्के) जोड़कर। (क्रियार्थक संज्ञा : इसके लिए—न् (होन्, देखन्), या -ब, -अब्, -उब (होब, देखब, गाउब) जोड़ते हैं, या धातु को बिना किसी परिवर्तन के (जैसे हो, देख्), प्रयुक्त करते हैं।

सहायक तथा अस्तित्ववाची क्रिया—छत्तीसगढ़ी में प्रमुखतः दो सहायक तथा अस्तित्ववाची क्रियाओं का प्रयोग होता है। 'हव्' (हो) का वर्तमान काल के लिए, तथा 'रह्' का भूतकाल के लिए। 'हव्' के वर्तमान के रूप :

अशिष्ट (मैं हूँ आदि)	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हवउँ, हवौं	हवन्

'रह्' के भूतकाल के रूप (मैं था आदि)

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	रहेंव्, रहौं	रहेन्

भविष्य सम्भावनार्थ (अगर मैं चलता होऊँ)—

मैं चलत् होवौं	हमन चलत् होवो

व्यंजनांत धातुओं के रूप, उपर्युक्त प्रकार से ही चलते हैं। स्वरांत धातुओं के रूप कुछ भिन्न होते हैं। इनमें प्रत्यय जोड़ने के पूर्व प्रायः य् या व् श्रुति आ जाती है।

कर्मवाच्य—इसके लिए 'जा' धातु के रूप के साथ भूतकालिक कृदन्त जोड़ते हैं, जैसे 'मैं छेंके गयेंव' (मैं छेंका गया) या 'मैं देखे जाहौं' (मैं देखा जाऊँगा)।

प्रेरणार्थक—प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिए, मूल धातु में प्रथम के लिए 'आ' तथा द्वितीय के लिए 'वा' जोड़ते हैं। जैसे चीर (चीरना)—चिरा—चिरवा, पी—पिआ—पिवा आदि।

क्रियाविशेषण—इहाँ, उहाँ, जहाँ, जिहाँ, तहाँ, तिहाँ, कहाँ, कहूँ; ओती (उधर), जेती (जिधर), तेती (तिधर), केती (किधर); एसन, वैसन, जैसन, तैसन, कैसन; अतका (इतना), ओतका (उतना), जतका (जितना), ततका (तितना), कतका (कितना); अभिच (अभी ही)। अव्ययों में जोर देने के लिए च, चे, ए, एच या एचे जोड़ने का नियम है), आगू (आगे) पाछू (पीछे) लेखे (लिए), सामूँ (सामने), अउ या अउर (और), भलक (बल्कि), तो (तब), के (कि), कि (या)।

उपबोलियाँ—छत्तीसगढ़ी की प्रधान उपबोलियाँ, 'सुरगुजिया', सदरी कोरवा, बैगानी, बिंझवाली, कलंगा, तथा भुलिआ हैं। इसके कुछ अन्य रूप सतनामी, कांकेरी, बिलासपुरी तथा हलबी आदि भी हैं।

छत्तीसगढ़ी का नमूना

एक ठन गाँव माँ केवट और केवटिन रहिस। तेकर एक ठन लइका रहिस। केवट हर महाजन के रुपिया लागत रहिस। तब एक दिन साव रुपिया माँगे बर आइस। तब सियान मन घर माँ न रहँय। लइका घर राखत बैठे रहय।

प्रश्न 40—'राजस्थानी' का भाषा-वैज्ञानिक परिचय दीजिए।

'राजस्थानी' राजस्थान के भाषा-रूपों के लिए, ग्रियर्सन द्वारा प्रयुक्त एक सामूहिक नाम है। 'राजस्थानी' का अर्थ है 'राजस्थान का'। पूरे राजस्थान या राजपूताना के लिए प्राचीन काल में किसी एक नाम का प्रयोग नहीं मिलता। या तो अलग-अलग राज्यों के लिए अलग-अलग नाम थे, या फिर इस पूरे क्षेत्र के कुछ खण्डों के लिए नाम थे।

डॉ० ग्रियर्सन ने राजस्थानी बोलियों को पाँच वर्गों में रखा था—(1) पश्चिमी राजस्थानी—इसका क्षेत्र जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा उदयपुर आदि है। इस वर्ग की प्रमुख बोली मारवाड़ी, तथा प्रमुख उपबोलियाँ ढटकी, थली, बीकानेरी, बागड़ी, शेखावटी, मेवाड़ी, खैराड़ी, सिरोही, गोड़वाड़ी तथा देवड़ावाटी आदि हैं। (2) उत्तरी-पूर्वी राजस्थानी—इसका क्षेत्र अलवर, भरतपुर तथा दिल्ली के दक्षिण गुड़गाँव के आसपास है। इसकी बोलियाँ अहीरवाटी तथा मेवाती हैं। राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी हिन्दी से बहुत प्रभावित है। (3) मध्य-पूर्वीय राजस्थानी—इसका क्षेत्र जयपुर, कोटा तथा बूँदी है। इसकी प्रमुख बोलियाँ ढूँढाड़ी या जयपुरी, किशनगढ़ी, अजमेरी आदि हैं। उपबोलियाँ हैं: तोरावाटी, राजावटी, चौरासी तथा नागरचाल आदि। (4) दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी—इसका क्षेत्र मालवा के आसपास है। इसकी प्रमुख बोली 'मालवी' है। (5) दक्षिणी राजस्थानी—इसका क्षेत्र नीमाड़ के आसपास है। इसकी प्रमुख बोली 'नीमाड़ी' है।

मेरे विचार में इसके निम्नांकित वर्ग बनाए जा सकते हैं: (1) पश्चिमी राजस्थानी—मारवाड़ी। (2) पूर्वी राजस्थानी—जयपुरी, किशनगढ़ी, अजमेरी, हाड़ौती आदि। (3) दक्षिणी-पूर्वी राजस्थानी—मालवी। (4) दक्षिणी राजस्थानी—भीली, सौराष्ट्री। इनमें तीसरा वर्ग पश्चिमी हिन्दी के निकट होता हुआ भी राज-

स्थानी की ओर झुका है, अतः इसे राजस्थानी के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

यहाँ प्रमुखतः साहित्य में प्रयुक्त रूप को दृष्टि में रखते हुए राजस्थानी की रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है। इसमें डिंगल भी समाहित है।

ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, पाँचों वर्ग, य्, र्, ल्, व्, श्, स्, ह्, व़्, न्ह्, म्ह्, र्ह्, ल्ह्, ड़्; ढ्, ळ। 'व्' दो हैं। एक दन्त्योष्ठ और दूसरा द्वयोष्ठ्य। इनका अन्तर कुछ स्थानों पर ध्वनिग्रामिक भी है : वात (द्वयोष्ठ्य) =हवा; वात (दन्त्योष्ठ्य)=कहानी। स्वर मध्यम या अन्त्य ल अनेक शब्दों में ळ हो जाता है। लिखने में ऋ, ष हैं, किन्तु उच्चारण में नहीं, 'ष' का प्रयोग लिखने में प्रायः 'ख' के लिए (तद्भव में) हुआ है। तत्सम शब्दों में यह 'श' उच्चरित होता है, 'श' सामान्यतः केवल सुशिक्षितों की भाषा में है। यों कुछ क्षेत्रों में भविष्य के 'खाईश' (खायेगा) जैसे रूपों में यह सामान्य भाषा में भी है।

वचन—दो वचन हैं। बहुवचन बनाने के लिए -आँ (खेत—खेताँ, रात—राताँ, रोटी—रोट्याँ, घोड़ी—घोड़्याँ, तेली—तेल्याँ), सर्वाधिक प्रचलितप्रत्यय है। इसके अतिरिक्त -याँ (कवि—कवियाँ), वाँ (बहू—बहुवाँ, भासावाँ) भी जोड़ते हैं। ओकारान्त को प्रायः -आ (घोड़ो—घोड़ा) या -आँ (घोड़ा) कर देते हैं। -होर, -होरो, -होणो, -होनो जैसे अतिरिक्त शब्द जोड़कर भी कुछ क्षेत्रों में बहुवचन के रूप बनाए जाते हैं।

लिंग—सामान्यतः दो लिंग हैं। प्राचीन साहित्य में, विशेषतः पश्चिमी राजस्थानी में नपुंसकलिंग भी है। यह कदाचित् गुजराती प्रभाव है। नपुंसकलिंग के कुछ उदाहरण हैं : पहिलउँ, किसउँ, थियउ, घणंु।

कारक

विभक्तियाँ—राजस्थानी भाषा में वियोगात्मक के साथ-साथ संयोगात्मक रूप भी हैं। कुछ प्रमुख विभक्तियाँ हैं :—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	उ, ऐ, इ (स्त्री), आ (स्त्री)	आ, आँ, याँ (स्त्री)
कर्म	अइ, उ, ए, ऐं, इ (स्त्री), आ (स्त्री)	आ, आँ, ए, ऐ, याँ (स्त्री)
करण	इ, इउ, ऐ, एँ, अइ, इह, एह	आं, ए, एण
सम्प्रदान	ए, आँ, इ, अइ	आँ
अपादान	ऐ, ऊँ, आँ	अह, आ, आँ, ए
सम्बन्ध	ह, ऐ, न	आं, हां, आँह, याँ
अधिकरण	ए, अइ, अइं, इ, ऐ	आँ, ए, इ

परसर्ग

कर्ता	ने (केवल मालवी, मेवाती आदि में)।
कर्म	कूं, को, नूं, ने, नै, नैं, नइ, नां, यां, रहइ, प्रति, के, खे।
करण	ती, ते, तें, तै, थी, से, सें, सेती, सै, सां, सुं, सूं, स्यउं, सउं सात, साथि, सिउँ, ह, हूंत, हूंता, हूंतो, नइ, नइं, पाहि, करि, ऊँ।
सम्प्रदान	कूं, कै, को, कौ, ने, नै, नुं नूं नें, नइं, नइ, नू, रहइ, रेस, रै, रैनांई, रै, वास्तै, कजि, कन्ह, कन्है, कनै, काजि, कारण, क्रित, तांई, प्रति, वैइ,

वैइ, माटे, लियैं, सारू, हि, खे, रै, खातर, रै सारू ।

अपादान तांइ, सउं, सूं, तउ, थउ, थकउ, थकि, थी, हुंत, हुंता, हुंति, हुंती, हुंतो, हुनां, हूं, हूंत, हूंता, हूंती, हूंतो, हूंतउ, हूंतां, पा, पासइं, पासइ, पाहि, प्रति, कनै, कन्है, कन्हइ, लगि, लागि, हउं, ऊँ ।

सम्बन्ध रा, री, रे, रै, रो, रौ, रइ, रउ, रु, च, चई, चे, चै, चउ, चो, चौ, चा, का, कां, की, के, कै, कइ, कौ, कउ, कौ, केर, केरा, केरि, केरी, केरो, केरउ, जी, दा, दी, तण, तणइ, तणे, तणउ, तणो, तणौ, तणा, तणी, तनि, हंदो, हंदउ, हंदा, हंदी, हुंदउ, संदइ, संदउ, संदा, संदी, रहइ, नी, नो, नउ ।

अधिकरण में, मैं, मधि, माँहि, महि, महीं, महे, मांह, मांहि, मांहिने, मांही, मै, मइ, मइं, मंझ, मंझार, मंझारि, मंझि, नंही, मझारि, मझारी, मां, मांझ, मांझल, मांझि, मांय, पसवाड़े, पर, परि, उपर, पागते, पाहे, पास, पासइ, पासइं, पासड़े, पासै, पाहै, पां, पै, विच, लगि, लगी, लगैं, सिर, सिरि, ह ।

सम्बोधन अरे, अरी, ओ, यां, रे, हे, हो, में (पूर्वसर्ग प्रयुक्त होते हैं)

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तमपुरुष	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	मैं, मइं, म्हैं, मुं, हउं, हूं, हौं, हों	अमां, म्हां, अमे, म्हे, हम
कर्म	मुझ, मुज्झ, मूझ, मूं, म्हनां, म्हनैं, मनां, मने, मो, मोइ, मोकूं, मोको, मोनूं, मोहि, अम्ह, हूं	म्हां, म्हांने, म्हांनै, म्हानैं
करण	मोइं, मोथी, मोसूं, म्हैऊं, म्हैंसूं, म्हैती, म्हाऊं, म्हाराऊं, म्हारासू, म्हारैऊं, म्हारैसूं, म्हासूं	म्हांती, म्हाऊं, म्हारासूं, म्हारैऊं, म्हारैसूं म्हासूं, म्हांसू, म्हाणैऊं, म्हाराऊं
सम्प्रदान	मने, मुज्झ, मोकूं, मोइ, म्हने, म्हांने, म्हानूं, मोहि, म्हारै, वास्तै	म्हांकै, म्हानै, म्हांणै, म्हांजे म्हारै वास्तै, म्हां वास्तै
अपादान	मोनूं, म्हाऊं, म्हैऊं, म्हासूं, म्हैंसूं, म्हाराऊं, म्हारासूं, म्हारै, म्हारैऊं, म्हैती	म्हांऊं, म्हांती, म्हाराऊं, म्हारांस म्हारैसूं, म्हासूं, म्हाणैऊं, म्हाराऊं म्हारैऊं
सम्बन्ध	अम्हीणि, अम्हीणी, माहरो, माहरौ, मों, मोरा, मोरी, मोरो, मुज, मुज्झ, मूं, मूझ, मेरा, मेरी, मेरे, मेरो, म्हाका, म्हाके, म्हारउ, म्हारा, म्हारी, म्हारे, म्हारो, म्हारौ,	अम्हां, अम्हीणइ, अम्हीणी, अम्हीणौ, म्हांकउ, म्हांका, म्हांकी, म्हांके, म्हांमें, म्हांरउ, म्हांरा, म्हांरामें, म्हांगरे, म्हांरी, म्हांरै, म्हारो, म्हारौ, हमारउ, हमारी
अधिकरण	अम्हां, म्हांमें, म्हारामांय, म्हारामें, म्हांरेमांय, मो परि, मो मं	म्हांनें, म्हांरामें, म्हारेमें, म्हांरैमें, म्हांरेमांय, म्हारे पै

आदरार्थ

कर्ता	आप, राज
कर्म	आपनैं, राजनैं, आपकूं,

कारण आपसूं, राजसूं, आपऊं, राजऊं, आपतै, राज सें
सम्प्रदान आपरै, राजरै, आपन्, राज काजि, राज वास्तै
अपादान आपसूं, राजसूं, आपऊं, राजऊ आप थउ
सम्बन्ध आपरा,-री -रै,-रो; राजरा,-री,-रै,-रो, रावरो,-रै,-रा
अधिकरण आपमें, राजमें, आपपरि, राज पै, आप कनै, आप तोड़ी

सर्वनामिक विशेष—कित्तौ, कित्तौ, कितरौ; जित्तौ, जित्तो, जितरौ; उत्तो, उत्तो, उतरौ।

क्रिया सहायक तथा अस्तित्ववाचक

वर्तमान	छूं	छां
	अछइ, छइ, छै	छउ
	,, ,,	अछइ, छइ, छै

इनकी सहायता से वियोगात्मक रूप बनते हैं। संयोगात्मक के लिए प्रत्यय लगते हैं : -ऊं -औ. -असि, -इ, -अंति, -अति, -अइ, -ऐ आदि।

भूत	हुओ, थयो, हुई,	हुआ, थया, थई
	भयो, भई,	भयो, भई

संयोगात्मक रूपों के लिए -अउ, -ओ, -आ, -इया, -इयी आदि लगाते हैं।

भविष्य— इसके लिए धातु में -स- या -ल- वाले प्रत्यय लगते हैं : देखसी, देखस्यां, देखस्यूँ; बूड़ैला, बूड़ैली, बूड़ैलों।

क्रिया-विशेषण—आज—अज्ज, आज; कल—काल, कालिह तड़कै; कब—कद, कदै, कब; जब—जद, जदै जब; तब—तद, तब; कहाँ—किहाँ, कीहाँ, किहँ, किह; यहाँ—इहाँ, इठै इठे; जहाँ—जहँ, जह, जिह, जहाँ, जठै; वहाँ—उठै, उठैइ, उठीनें; यों—इम, एम, यूँ; ज्यों - जूं, ज्यूं, जिम, जेंम; क्यों—क्यूं, केम, किम।

राजस्थानी की प्रमुख बोलियाँ तथा उनकी उपबोलियाँ एवं भाषा-रूप निम्नांकित हैं :—मारवाड़ी, जयपुरी, हाड़ौती, किशनगढ़ी, अजमेरी, मेवाती, अहीरवाटी, मालवी, सौराष्ट्री, बंजारी, भीली।

प्रश्न 41—भाषाविज्ञानीचक्षुओं से 'कुमायूँनी, का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—इसका प्रमुख क्षेत्र कुमायूँ होने के कारण इसे कुमायूँनी कहते हैं। 'कुमायूँ' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी गई है। अधिक मान्य मत के अनुसार इसका सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'कूर्माचल' या 'कूर्माचल' से है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार 'कुमायूँनी' बोलने वालों की संख्या लगभग 436,788 थी। यह कुमायूँ कमिश्नरी के नैनीताल (उत्तरी भाग), अलमोड़ा, पिथौरागढ़, चमोली तथा उत्तर-काशी जिलों में बोली जाती है। भाषाओं और बोलियों की दृष्टि से यह, गढ़वाली तिब्बती, नेपाली तथा पश्चिमी हिन्दी से घिरी है। 'कुमायूँनी' की उपबोलियाँ तथा स्थानीय रूप, बहुत से विकसित हो गये हैं, जिनमें प्रधान खसपरजिया, कुमयाँ या कुमैयाँ, फल्दकोटिया, पछाईं, चौगरखिया, गंगोला, दानपुरिया, सीराली, अस्कोटी, जोहारी, रउचोभैंसी, तथा भोटिआ हैं। 'कुमायूँनी' पर 'राजस्थानी' का इतना अधिक प्रभाव है कि यह उसका एक रूप-सा ज्ञात होती है। 'कुमायूँनी' में पुराना साहित्य तो नहीं है, किन्तु इधर लगभग ढेढ़ सौ वर्षों से साहित्य-रचना हुई है। यहाँ

के पुराने साहित्यिकों में गुमानी पन्त, कृष्णदत्त पाँडे, सिवदत्त सत्ती आदि प्रधान हैं। इसकी लिपि नागरी है।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—सामान्य ध्वनियाँ वही हैं, जो हिन्दी आदि में हैं। ए, ओ के ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों रूप हैं। 'आ' के मात्रा तथा विवृतता की दृष्टि से एकाधिक भेद हैं। 'ऐ' का उच्चारण तद्भव शब्दों में तो 'ऐ' होता है किन्तु तत्सम में प्रायः वैदिक उच्चारण जैसा 'आइ' या लौकिक संस्कृत-जैसा 'अइ'। जैसे बैठ-छै में पहले जैसा, तो चैत्र में दूसरे या कभी-कभी तीसरे जैसा। व्यंजनों में श, ळ, ड़, ढ़, न्ह, म्ह, र्ह, ल्ह भी हैं। इसका ळ मराठी की तुलना में कोमल है। 'स' के स्थान पर 'श' के उच्चारण कोप्रवृत्ति है।

परसर्ग : कर्ता ले, ल

कर्म—कन, कँ, कणि, कैं, हुणि

सम्बन्ध—को, का, की, क्, -आ, -अ, -ए

संज्ञा : रूप—हिन्दी के आकारांत शब्द पिथौरागढ़ की ओर की कुमायूनी में—ओकारांत हैं (घोड़ो, बच्छो, चेलो), किन्तु रानीखेत को ओर अवधी की भाँति प्रायः व्यंजनांत (घ्वड़, वाछड़, च्यल्=लड़का)।

कारक-रूप

पुल्लिग	एक०	बहु०
अविकारी	वल्द (बैल), चेलो (लड़का), राजा जोगी, भालू, रिच्छु (रीछ)	बल्द, च्याला, राजा, जोगी, भालू, रिच्छु
विकारी	वल्द, च्याला, राजा, जोगी, भालू, रिच्छु	वल्दन, बल्दों, च्यालन, राजन्, जोगिन, जोगियों, भालून् रिच्छुन्, रिच्छुअें

स्त्रीलिंग	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	चेली, किताब्	चेली, चेलियाँ, किताब
विकारी	चेली, किताब	चेलियन, चेलियों कितावन, किताबों

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तमपुरुष

कर्ता-अपरसर्ग	में, मैं	हम, हेम, लोग, हम लोगोंन
,, -सपरसर्ग	में ले, मैं ले	हमन ले, हम ले, हमूल, हेमिन ले, हमुनले

संख्यावाचक शब्द—कुछ इस प्रकार हैं : एका, द्वि, द्विया, तीना, चारा, पाँचा, छैया, छे, शात, शाता, नउ, नौया, दश, दशा, ग्यार, इग्यार, इग्यारा, बार, बारा, तेर, तेरा, चौद, चौदा, शोल, सोल, सोला, सोला, सत्र, सतरा, अठार, अठारा, उन्निस, उन्नीसा, बीसा।

सार्वनामिक विशेषण—इतना आदि – इतुक, यतुक, इतु; जितु, जतुक; कतु, कतुक; उतु, उतुक; ततुक; ऐसा आदि—एस, इस; उस; जस; कस; तस।

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक क्रिया

वर्तमान :	छूं, छु	छूं
भूतकाल :	छियूं, छ्यूं	छियाँ, छ्याँ

कृदन्त—वर्तमानकालिक : -नो (हिटनो=जाता) या -णो (रुणो); भूतकालिक : -अ, -इ (हिट, हिटि, थूरि), -ओ (हिटो, थूरो); क्रियार्थक संज्ञा : -अण (हिटण =जाना, -अणो (थूरणो=मारना); पूर्वकालिक कृदन्त : -इ (हिटि, थूरि), -इ बेर (थूरि बेर=मार कर) -ऐ, -ऐ बेर (देखै, देखै बेर=देखकर); कर्तृवाचक : -जियो, -ण्याँ, -नेर (दिण्याँ=देनेवाला, हुणियों=होनेवाला; हिटनेर=जानेवाला)।

क्रियाविशेषण—यहाँ—इतकै, याँ; वहाँ—उतकै, वाँ; जहाँ—जाँ, जितकै; कहाँ—काँ, कितकै; अब—अब, अयल; जब – जब; तब— तब; कब—को वखत, कब; आज—आज; कल—भोल, भोलैंकि, भोअ (आनेवाला); बेली, बेंइ (बीता हुआ); परसों – पोर्हुं, परवेइ, पोरखि, पोरु; नरसों—नेरखि; पाँचवें दिन—अनेरखि अभी – अल्लै; कभी—कथली, कभैं; जभी – जथली, जभैं; नीचे – तल्ली, तली, तैलि, तल्ले; ऊपर मलि, मल्ली, माँथ; पास—दगड़; दूर—दूर; आगे—अघिलकै, अघिल; पीछे—पछिन, पछिलकै।

प्रश्न 42—'गढ़वाली' का 'ध्वनि' व्याकरण की दृष्टि से परिचयात्मक विवरण दीजिए।

उत्तर—'माध्यमिक पहाड़ी' की इस बोली का क्षेत्र प्रधान रूप से गढ़वाल में होने के कारण यह नाम पड़ा है। पहले इस क्षेत्र के नाम केदारखंड, उत्तराखंड आदि थे। यहाँ बहुत से गढ़ों के कारण, मध्ययुग में लोग इसे 'गढ़वाल' कहने लगे। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या 670824 के लगभग थी। यह गढ़वाल तथा उसके आसपास टेहरी, अलमोड़ा, देहरादून (उत्तरी भाग), सहारनपुर (उत्तरी भाग), बिजनौर (उत्तरी भाग) तथा मुरादाबाद (उत्तरी भाग) आदि के कुछ भागों में बोली जाती है। गढ़वाली की बहुत सी उपबोलियाँ विकसित हो गई हैं, जिनमें प्रमुख श्रीनगरिया, राठी, लोहब्या, बधाणी, दसौलया, माँझ-कुमैया, नागपुरिया, सलानी तथा टेहरी हैं। 'श्रीनगरिया' 'गढ़वाली' का परिनिष्ठित रूप है। गढ़वाली में साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है, किन्तु लोक-साहित्य प्रचुर मात्रा में है। इसके लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता है।

ध्वनियाँ और व्याकरण

ध्वनियाँ—गढ़वाली में सामान्य ध्वनियाँ वही हैं, जो हिन्दी में हैं : अ, आ इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ; क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह, य्, र्, र्ह्, ल्, ल्ह्, व्, स्, श्, ह्। स्वरों में अ, आ, इ, उ, ए, ऐ, ओ, औ, की स्थान, मात्रा, ओष्ठ-वृत्तता, एवं संवृतता-विवृतता की दृष्टि से एकाधिक संध्वनियाँ (allophones) हैं। अ ध्वनि शब्दांत में प्रायः सुरक्षित है। स्वरों का अनुनासिक रूप भी प्रयुक्त होता है। व्यंजन

ध्वनियों में ळ् ध्वनि विशेष है, जो परिनिष्ठित हिन्दी में नहीं मिलती। गढ़वाली की ळ् ध्वनि बाँगरू आदि के ळ् की तुलना में कोमल तथा ळ् के अधिक निकट है। चवर्गीय ध्वनियाँ हिन्दी की तरह ही स्पर्श-संघर्षी हैं, किन्तु उनमें संघर्षत्व अधिक है। कुछ क्षेत्रों में चवर्ग तालव्य न होकर वर्त्स्य-दंत्य या दंतमूलीय है। कवर्गीय ध्वनियाँ हिन्दी की तुलना में और पीछे से उच्चरित होती हैं, साथ ही 'ङ्' का उच्चारण गं से बहुत मिलता-जुलता होता है। हिन्दी की तुलना में प्रायः सभी महाप्राण ध्वनियों में महाप्राणत्व कम है, विशेषतः ढ़्, ध, भ आदि में।

परसर्ग

कर्ता—न, नअ, ने, ल

कर्म-संप्रदान—क, कअ, कूँ, कू, कौं, कँ, तैं, तईं, सैं, छनी, सणी, सिणी, हणी, खुणी, सिणीं, छनैं, अ

सम्बन्ध—को (पुं०), कु (पुं०), की (स्त्री), का (बहु०), र, रा, री, ओअ

कारक रूप : नौना = लड़का

	एक०	बहु०
अपरसर्ग कर्ता	नौनो, नौनु	नौना
सपरसर्ग कर्ता	नौनान्	नौनोन्, नौनूंन्

स्त्रीलिंग प्रत्यय— -ई (नौना-नौनी), -आण (ज्यठाण, भोज्याण), -ण (जोगीण, नातीण, दोस्तीण) -णी (मास्टरणी, नातणी), -टी (बमणोटी) आदि।

विशेषण—हिन्दी के आकारांत विशेषण गढ़वाली में ओकारांत (काळो) होते हैं। तुलना में ती, चै, चुली का प्रयोग होता है : मैं ती बंठीया = मुझ से सुन्दर; त्वै चै बंठीयो = तुझ से सुन्दर; त्वै चुली स्वाणी, = त्वै ती स्वाणी, त्वै चै स्वाणी, त्वै चुली स्वाणी = तुझसे सुन्दर।

संख्यावाचक शब्द—सामान्यतः हिन्दी की तरह ही हैं। जो नहीं है, वे भी हिन्दी शिक्षा के कारण 'समान' होते जा रहे हैं। बीस पर आधारित गिनती भी है। कुछ विशेष उच्चारण हैं : यअक; द्वि, दुइ, दू, चअर, पअच, नउ, ग्यार, इग्यार, इग्यारा, बारा, बार, तेर, तेरा, त्याइस, त्याईस, त्यइस, सत्तैस, एक बिसि सात, उनूचालिस।

सार्वनामिक विशेषण—ऐसा—एशो, इनो; वैसा—वैशो, उनो; जैसा—जनो, जशो; कसा—कशो, कनो, तैसा—तशो, तनो; इतना—इति, इथ्या, इथा, इथका, इतना, इतरो, एतका; उतना—उति, उथ्या, उथा, उथका, उतना, उतरो, ओतका; तितना—तति—तथ्या, तथा, ततना, ततरो, ततका, कितना—कति, कथ्या, कथा, कथका, कतना, कतरो, कतका; जितना—जति, जथ्या, जथा, जथका, जतना, जतरो, जतका।

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तमपुरुष	एकवचन	बहुवचन
कर्ता—(1) अपरसर्ग	मैं, मईं, मइँ, मी, मि, आऊँ, म, मुई	हम, हम्
(2) सपरसर्ग	मैंने, मैंन	हमने, हमु'ने, हमून, हमन

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक :

वर्तमान :	छौं, छऊँ	छवाऊं, छौं, छवाँ, छाँ
भूत :	छौ, छयो, छो, थयो, थौ, थो	छा, छया, छवाँ, छौं, था

कृदन्त—वर्तमानकालिक : -द- (चलदो, चलदु, चलदू, चलदी); भूतकालिक : -यो, -ई (चल्यो, चली; कुछ धातुओं में -न्यों, -नी : दिन्यों, पिन्यों, दीनी, पीनी) पूर्वकालिक : -इ, -इइ, -इअ, -इक (चलि, चलिइ, मरिअ, खैक, चलिक, मारिक); क्रियार्थक संज्ञा : -णु, -नु. (चलणु, लिखणु, खाणु, लड़नु); कर्तृवाचक संज्ञा : -वालो (चलने वालो, मारनेवाला)।

प्रेरणार्थक—हिन्दी की तरह ही -आ-, -वा-, लगाते हैं। चल्—चला—चलवा।

कर्मवाच्य : इसके लिए संयोगी रूपों में -ए जोड़ते हैं : त्वै सें नी मारेन्दू—तुझसे नहीं मारा जाता। हिन्दी आदि की भाँति 'जा' धातु की सहायता से भी रूप बनते हैं : त्वै से नी मार्याँ जाँद।

क्रिया-विशेषण : अब—अ, अव, अवेर; जब—ज, जव, जवेर, जदि, जैअ; कब—क, कव, कवेर, कदि, कैअ; तब—त, तव, तवेर, तदि, तैअ, वैअ; यहाँ—यख, यत्थ, यथ, इथैं, यअ; वहाँ—वख, वत्थ, वथ, वथैं, वअ; तहाँ—तख, तत्थ, तथ, तथैं, तअ; कहाँ—कख, कत्थ, कथ, कथैं, कअ; जहाँ—जख, जत्थ, जथ, जथैं, जअ; इधर—यथैं, यथइँ, यनैं; उधर—वथैं, वथइँ, उनैं, जिधर—जथैं, जथइँ, जनैं; किधर—कथैं, कथइँ, कनैं। आज, काल्ह, नेड़ (निकट), आग्गे, पिछाड़ी, भैर (बाहर), भित्र (भीतर) आदि।

प्रश्न 43—ध्वनि-व्याकरण आदि की दृष्टि से 'भोजपुरी' का परिचय दिजीए।

उत्तर—हिन्दी प्रदेश की उपभाषा 'विहारी' की इस बोली का नाम 'भोजपुर' (जिला शाहाबाद का एक परगना) नाम के एक छोटे से कस्बे के आधार पर पड़ा है, यद्यपि यह दूर-दूर तक बोली जाती है। प्राचीनकाल में भोजपुर इसी नाम के राज्य की राजधानी होने के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध था। भाषा के अर्थ में 'भोजपुरी शब्द का प्रथम प्रयोग 1789 का मिलता है। यह प्रयोग रेमंड के 'शेर मुताखरीन' के अनुवाद की भूमिका में है। भोजपुरी को 'पूरबी' भी कहते हैं। 'पूरबी नाम सापेक्षिक होने के कारण बड़ा अनिश्चित-सा है। इसीलिए ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों द्वारा कभी-कभी 'अवधी' के लिए भी इस नाम का प्रयोग होता है। 'भोजपुरी' को 'भोजपुरिया' भी कहते हैं। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या 'भोजपुरी' क्षेत्र में लगभग 2 करोड़, तथा क्षेत्र के बाहर 4 लाख अतः कुल 2 करोड़ 4 लाख के लगभग थी। 'भोजपुरी' उत्तर में नैपाल के दक्षिणी सीमा रेखा के आसपास से लेकर दक्षिण में छोटा नागपुर तक और पश्चिम में पूर्वी मिर्जापुर, बनारस तथा पूर्वी फैजाबाद से लेकर पूर्व में राँची और पटना के पास तक बस्ती (कुछ भाग) गोरखपुर, देवरिया, सारन, मिर्जापुर (दक्षिणी-पूर्वी), बनारस, जोनपुर (पूर्वी), गाजीपुर, बलिया, शाहाबाद, पालामऊ,

तथा राँची (थोड़ा पूर्वी भाग छोड़कर) में बोली जाती है। भोजपुरी की प्रधान उपबोलियाँ चार हैं—उत्तरी भोजपुरी, दक्षिणी भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी तथा नगपुरिया। इनमें 'नगपुरिया' औरों से अपेक्षाकृत अधिक भिन्न है। दक्षिणी भोजपुरी (भोजपुर कस्बा जिसके केन्द्र में है) भोजपुरी का परिनिष्ठित रूप है। सुदूर उत्तर में भोजपुरी का थारू नाम की जाति में प्रचलित रूप मिलता है, जिसे थारू भोजपुरी कहते हैं। इसके अन्य उल्लेख स्थानीय रूप मधेसी, बंगरही, सरवरिया, सारनबोली, गोरखपुरी, छारवारी, क्षपरहिया तथा सोनपारी आदि हैं। इसमें लिखित साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। यहाँ के लोगों ने साहित्य में, प्राचीन काल में अवधी या ब्रज तथा आधुनिक काल में खड़ी बोली का प्रयोग किया है। हाँ, इधर राहुलजी तथा कुछ अन्य लोगों ने भोजपुरी में कुछ साहित्य रचना अवश्य की है। इसकी उत्पत्ति पश्चिमी मागधी या मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से मानी जाती है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, ग्रियर्सन ने मगही और मैथिली के साथ भोजपुरी को बिहारी के अन्तर्गत रखा है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी इसके पक्ष में नहीं हैं। वे भोजपुरी को मगही, मैथिली से इतना भिन्न मानते हैं कि इन तीनों को एक वर्ग में रखना समीचीन नहीं मानते। भोजपुरी प्रमुखतः नागरी लिपि में लिखी जाती है। कुछ पुराने लोग कैथी का प्रयोग करते हैं। बही-खाते के लिए महाजनी लिपि का प्रयोग होता है।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य्, र्, ल्, व्, स्, ह्, ड़्, ढ़्, ङ्, ह्, न्ह्, म्ह्, ल्ह्, र्ह्। इसका अ, पश्चिमी हिन्दी की तुलना में कुछ वृत्तमुखी है। भोजपुरी की एक प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता यह है कि इसमें ङ् का केवल कवर्गीय ध्वनियों के पूर्व संयुक्त व्यंजन के रूप में ही प्रयोग नहीं होता, अपितु अन्य ध्वनियों की तरह स्वतन्त्र प्रयोग भी होता है, जैसे टाङ् (पैर), बाङ् (बाँग) बाङुर (टेढ़े पैर वाला), कङ्ना (कंगन), अङिया (अँगिया) इतना ही नहीं इसका महाप्राण रूप भी प्रयुक्त होता है: ओठङ्हावल (दरवाजा बंद करना), पेङ्हा (एक चिड़िया)।

मूल संज्ञा रूप—अवधी आदि की तरह इसमें भी सामान्य, दीर्घ एवं दीर्घतर रूप होते हैं: चमार—चमरा—चमरवा, सोनार—सोनरा—सोनरवा। कभी-कभी व्यंग्य या अत्यधिक क्रोध में -ऊ भी लगाते हैं: चमरऊ, सोनरऊ, मुनऊ। दो रूप ही अधिक मिलते हैं: किताब-कितबिया, घोड़ा-घोड़वा, नाऊ-नउवा, लड़का-लड़कवा।

स्त्रीलिंग-प्रत्यय—ई (लड़का-लड़की, हथ्था >हाथी, बानर-बनरी), -नी महटर-महटरनी (मास्टरनी), डगडर-डगडरनी (डाक्टरनी), कंपोडर >कंपोडरनी), -आनी (मेस्तर (मेहतर)—मेस्तरानी, देवर-देवरानी) तथा-इया (डिब्बा-डिबिया, चिड़ा-चिड़िया) आदि।

परसर्ग: कर्ता ×

कर्म-संप्र०	के, कें, को, ला, ले, लागि, लाग, खातिर, वास्ते
संबंध	क, के, कें, कर, कैं, कि, का

कारक रूप	एक०	बहु०
अविकारी	घोड़ा, घर, घोड़ी, किताब्	घोड़ा, घोड़न्ह्, घोड़न, घोड़ा सभ्, घरन्, घरन्ह् घोड़िन्, घोड़िन्ह्, घोड़ी सभ, किताब्, किताब सभ
विकारी	घोड़ा, घर, घरे, घोड़ी, घोड़िये, किताब्	घोड़न्, घोड़न्ह्, घरन, घरन्ह. घोड़िन्, घोड़िन्ह, घोड़ी सभन, किताबन, किताबन्ह

विशेषण—भोजपुरी विशेषणों के भी दीर्घ रूप होते हैं : वड़—वड़्का (स्त्री० वड़की), लाल—लल्का (लल्की), करिया (काला)—करिक्का (करिक्को), नीक (अच्छा)—निकका (निककी), गोर- गोरका (गोरकी), वँढ़िक्का वँढ़िक्का (वँढ़िक्की)। संज्ञा की तरह इनमें सामान्य, दीर्घ और दीर्घतर रूप भी होते हैं : गोर—गोरका—गोरकवा, छोट—छोटका—छोटकवा। कहीं-कहीं चार या पाँच रूप भी होते है : छोट—छोटका—छोटकवा—छाटकवना—छोटकवनू। अंतिम रूप प्यार, अत्यधिक क्रोध आदि में प्रयुक्त होता है। जैसे 'आज छोटकवनू के वजारि क भाव मरम्मत से बताइब'। तुलना में 'से' और तमार्थ मे सबसे, सबहनसे, सभनसे, सभनीसे का प्रयोग होता है : 'तूं एकरा से नीक थोड़े बाड़ा', 'सभनी से सुन्नर त उहे वा'।

संख्यावाचक शब्द—सामान्यतः हिंदी जैसे ही हैं। कुछ के उच्चारण अलग हैं, जैसे (राम गिनती में एक के लिए) दू, दूइ, तीनि, चारि, पाँच, छव, एगारह, पनरह, सारह, आनइस, अनेस, एकइस, सताइस, ओन्तिस, एकतिस, चवँतिस, अरतिस, आन्तालिस, ओंचास, अठावनि, ओनसठि, ओनासी, असी, चवरान्बे, अंठान्बे सव, सइ, दस सइ, हजार, कड़ोर, करोर, सावा, अढ़ाइ, ढेङुच्चा, पहुँचवा, हुँट्ठा, पहिल, दासर, तीसर, चउथ; एक्कम, दूज, तीज, चउथ, पंचमी, छट्ठ, सत्तमी, अट्ठमी, नौमी, दासमी, एकादसी, तेरस, चतुर्दसी पुन्नमासी।

सार्वनामिक विशेषण : इतना—अतेक, अतहत, हतहत, अतना, हेत्तत, एत्तत, एतना, एत्ता। उतना—आतेक्, ओतहत्, होत्तत्, एत्तत्, होतहत्, ओतना, होतना। जितना—जतेक, जेतहत्, जेत्तत् जतना, जतना। तितना—तत्तन, ततेक, ततहत्, ततना, तेतना। कितना—कतेक, केतहत्, केत्तत, कतना, कतना। ऐसा—अइसन्। वैसा—वइसन्, ओइसन्। जैसा—जइसन्। तैसा—तइसन्। कैसा—कइसन्।

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तमपुरुष	एक०	बहु०
कर्ता	में, मयँ, हम, मों,	हमनीका, हमरन, हम लोग, हम-लोगन, हमहन, हम पचन

क्रिया : सहायक तथा अस्तित्ववाचक :

वर्तमान	एक०	बहु०
उ० पु०	बाटीं, बाड़ी, बाडीं, बाटों, बारूँ बानी, हईं, हँईं, बाड़ों हवीं, आनी, हउवीं; बानों, बाट्यूँ, हवों	प्रायः एक जैसा

भूत :

उ० पु०	रहलीं, रहलों	रहीं, रहलीं जां, रहुईं
भविष्य		
उ० पु०	होइब, होइबों, होइबि, रहब् रहबि, होब	होइब, होइब, जाँ, रहबि, रहबि जाँ, होब

कृदंत वर्तमानकालिक : -त (जात्, आवत्, चलत); भूतकालिक : ल,-लि (चलल, गइलि); पूर्वकालिक—के (चल के, खा के, जा के); क्रियार्थक संज्ञा—-ल (चलल् खायल्, गइल्); कर्तृवाचक—वैया (कहवैया, चलवैया, पढ़वैया), -अनहार (पढ़नहार)।

प्रेरणार्थक—-आव, -वाव जोड़कर : चलल-चलावल-चलवावल, कहल- कहावल-कहवावल।

कर्मवाच्य—'जा' की सहायता से : रोटी खाइल जाले, किताब पढल जाले।

क्रिया-विशेषण—यहाँ—इहाँ, इंहवाँ, इँहवा, हिंहवाँ, इँहाँ, हिंहाँ, एहिजा, एहिजाँ, हियाँ, एठन, एट्ठें, एठाँ, एठाइँ, एठन. एठिन, ठें। वहाँ—उँहाँ, उँहवाँ, ओठेन, ओहिजा, हुआँ, ऊठाँ, ऊठाई, हुहवाँ, हुँ, हाँ, ओहिजाँ, होहिजाँ, होइजाँ, ओठन, ओठैन, ओठिन, ओठें, ओटटें। जहाँ—जाहाँ जँहवाँ, जेठेन, जेहिजा, जेठाँ, जेठाइँ, जेहिजाँ, जेइजाँ, जेइजा, जेटन, जेटिन, जेठें, जेटठें। तहाँ—ताहाँ, तँहवाँ, तेठेन, तेहिजा, तेठा, तेठाइँ, तेहिजाँ, तेइजाँ, तेइजा, तेठन, तेटेन, तेठिन तेठें। कहाँ—काहाँ, कँहवाँ, केठेन, केहिजा, केठां, केठाइँ, केहिजाँ, केइजाँ, केठन, केटेन, केठिन, केठें। अब—अँव, एहवेरा, एवेर, हेजून, एहजून। जब—जँव, जेहवेरा, जेवेरा, जेवेर, जेहजून। तब—तँव, तेहवेरा, तेबेर, तेहजून। कब—कँव, केहवेरा, केहजून, केवेर। आज—आज, आजु। कल—काल, काल्ह। परसों—परसों, परों, परौं।

भोजपुरी का नमूना—एगो मसहूर आ पुरान कहाउत के मतलब ह—जेतने दवाई भइल रोग के बढ़ते गइल। आज-काल्ह ई कहावत हे तरे कहे के परी—जेतने हुँउकाइल चुल्हा बुताते गइल।

प्रश्न 44—'मगही' बोली का भाषा-वैज्ञानिक परिचय दीजिए।

उत्तर—यह पटना, हजारीबाग, मुंगेर, पालामऊ, गया, भागलपुर और राँची जिलों के कुछ भागों आदि में बोली जाती है ; 'मगही' शब्द 'मागधी' का विकसित रूप है। कुछ पढ़े-लिखे लोग इसे 'मागही' भी कहते हैं। 'मगही' या 'मागधी का अर्थ है 'मगध की भाषा' पर आधुनिक मगही' प्राचीन मगध (वर्तमान पटना जिला तथा गया का आधा भाग) तक ही सीमित नहीं है। 'मगही' बोलने वालों की संख्या ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार लगभग 6,504,817 थी। अब यह संख्या एक करोड़ के लगभग होगी। 'मगही' का परिनिष्ठत रूप गया जिले में बोला जाना है। अन्य स्थानों पर समीपवर्ती भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। पटना की 'मगही' पर मैथिली, भोजपुरी तथा पटना के उर्दू भाषी मुसलमानों का प्रभाव है। इसके क्षेत्र का दक्षिणी भाग उड़िया भाषाभाषी प्रदेश का स्पर्श करता है, अतः उधर के स्थानीय रूप 'उड़िया' से, और इसी प्रकार पूर्वी स्थानीय रूप बंगाली से प्रभावित हैं। पश्चिमी सीमा की 'मगही' भोजपुरी से प्रभावित है। इन विभिन्न रूपों को मिश्रित मगही या यदि अलग-अलग कहना चाहें तो मैथिली-प्रभावित मगही, भोजपुरी-प्रभावित

मगही आदि नाम दे सकते हैं। 'मगही' का एक प्रधान रूप है पूर्वी मगही। मगही में लिखित साहित्य नहीं है। लोक साहित्य पर्याप्त है, जिसमें 'गोपीचंद' और 'लोरिक' प्रसिद्ध हैं। इसकी लिपि प्रमुखतः कैथी तथा नागरी हैं। 'पूर्वी मगही' को कुछ लोग बंगाली तथा उड़िया में भी लिखते हैं। अब नागरी का प्रचार बढ़ रहा है।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य्, ऽ, ल्, व्, स्, ह्। मागधी से उद्भूत भाषाओं में अ प्रायः शौरसेनी से उद्भूत भाषाओं की तुलना में विवृत है। मगही में, जैसा कि स्वाभाविक है 'अ', बंगाली, मैथिली की तुलना में कम विवृत है। लोक भाषा में श, ष, दोनों स् उच्चरित होते हैं। प्रायः सभी स्वरों की अनेक संध्वनियाँ हैं। काव्य भाषा में अंत्य अ उच्चरित होता है, यद्यपि गद्य-भाषा में नहीं होता।

संज्ञा—अनेक संज्ञाओं के दीर्घ रूप भी मिलते हैं : नाऊ—नउवा। दीर्घ रूप प्रायः हेयार्थी होते हैं। कभी-कभी सामान्य, दीर्घ और दीर्घतर तीन रूप भी मिलते हैं : वेटा—वेटवा—वेटउवा (या वेटयवा)। कुछ शब्दों के सामान्य, दीर्घ, दीर्घतर, अतिरिक्त दीर्घतर अर्थात् चार रूप भी मिलते हैं, यद्यपि बहुत कम : घोड़्—घोड़ा—घोड़वा—घोड़ववा (घोड़उवा), लोह—लोहा—लोहवा—लोहउवा (लोहववा)। बहुवचन के भी दीर्घ रूप होते हैं : घोड़न्वा, घरन्वा।

स्त्रीलिंग प्रत्यय : -ई (घोरा-घोरी, वेटा-बेटी), -इया (बूढ़-बूढ़िया), -इन् (सियार-सियारिन्), -आइन (लाला-ललाइन), -नी (मेहतर-मेहतरनी) तथा ऐनी (पंडित-पंडितैनी) आदि। 'ऐनी' मगही का विशेष प्रत्यय है। इसके स्थान पर अन्यत्र प्रायः -आनी का प्रयोग होता है

परसर्ग—कर्ता—×

कर्म—के

सम्बन्ध—के, के, केर, केरा, केरी, (स्त्री)

कारक रूप	एक०	बहु०
अविकारी	घोड़ा, घर्, घोड़ी, किताब्	घोड़न्, घरन्, घोड़िन्, किताबन्
विकारी	घोड़ा, घर्, घरे, घोड़ी, किताव्	घोड़न्, घरन्, घोड़िन्, किताबन्

सर्वनाम—

पुरुषवाचक : उत्तमपुरुष	एक०	बहु०
अविकारी	हम, मोरा	हमनी, हमरनी
विकारी	मोरा, हमरा	हमनी, हमरनी

सार्वनामिक विशेषण : इतना—एत्तेक, एतना। उतना—ओत्तेक, ओतना। जितना—जेत्तेक—जेतना। तितना—तेत्तेक, तेतना। कितना—केत्तेक, केतना। ऐसा—अइसन। वैसा—ओइसन। जैसा—जइसन। तैसा—तइसन। कैसा—कइसन।

संख्यावाचक विशेषण—हिन्दी के समान ही हैं। कुछ विशेष उच्चारण ये हैं : एगो, दू, पान, छो, नो, दऽस, इगारह, पनरह, उनइस, एकइस, सेताइस, छाछट, एकन्तर, बहन्तर, तिहन्तर, चौहन्तर, पछत्तर, छिहन्तर, सतन्तर, अठन्तर, नोआसी,

सव, कड़ोर, पहिल, दोसर, तेसर, चौठ; पउआ, तेहाई, अधिया, अढ़ाइ इत्यादि। अब, हिन्दी के प्रभाव से परिनिष्ठित हिन्दी के रूपों का भी प्रचार बढ़ रहा है।

क्रिया—मगही क्रिया की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि सर्वनामों की भाँति ही, रूपों की अधिकता है। कई क्रिया-रूप हर पुरुष में चार प्रकार के होते हैं: (1) कर्ता, कर्म दोनों के लिए अनादरार्थी, (2) कर्ता—अनादरार्थी, कर्म—आदरार्थी, (3) कर्ता—आदरार्थी, कर्म—अनादरार्थी, (4) दोनों आदरार्थी।

कृदन्त : वर्तमानकालिक: अत (चलत), —इत (चलित), —अइत (चलइत) आदि। भूतकालिक: —अल (अचल), —अलभेल (चललभेल) । क्रियार्थक संज्ञा :—अल (चलल), —अव (चलव) । कर्तृवाचक: —एवला (चलेवला), —वेवला (आवेवला), —येवला (खायेवला), —एओला (चलेओला), —अनहार (चलनहार, देखनहार), —अनिहारा (चलनिहारा) आदि।

अव्यय—यहाँ—ईंठमाँ, इठवाँ, हिआँ, हियाँ, एतह। वहाँ—ऊठमाँ, उठमाँ, ऊठवाँ, उठवाँ, हुआँ, ओतह। जहाँ—जेठमाँ, जेठवाँ, जेतह। तहाँ—तेठमाँ, तेठवाँ, तेतह। कहाँ—केठमाँ, केटवाँ, कहवाँ। अब—अखनी। जब—जखनी, जहिआ। तब—ओखनी, तखनी, तहिया—कब—कखनी, कहिआ। इधर—एहर, हेहर, एन्ने, एन्दे। उधर—ओहर, उहर, होहर, उन्ने, ओन्ने, होन्ने, ओन्दे। जिधर—जेहर, जेन्ने, जेन्दे। तिधर—तेहर, तेन्ने, तेन्दे। किधर—केहर, केन्ने, केन्दे।

उपबोलियाँ—मगही की प्रमुख बोलियाँ-उपबोलियाँ निम्नलिखित हैं—आदर्श मगही, पूर्वी मगही, जंगली मगही, टलहा मगही, सोनतटी मगही।

प्रश्न 45—'मैथिली' बोली के ध्वनि तथा व्याकरण पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उत्तर—हिन्दी प्रदेश की उपभाषा 'बिहारी' की यह एक बोली है 'मैथिली' नाम उस क्षेत्र के नाम 'मिथिला' से सम्बद्ध है। 'मिथिला' शब्द भारतीय साहित्य में बहुत पहले से है। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ से कुछ ऊपर थी। 'मैथिली' का क्षेत्र बिहार के उत्तरी भाग में पूर्वी चम्पारन, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, भागलपुर, दरभंगा, पुर्निया तथा उत्तरी संथाल परगना में है। इसके अतिरिक्त यह माल्दह और दिनाजपुर में तथा भागलपुर एवं तिरहुत सब-डिवीज़न की सीमा के पास नेपाल की तराई में भी बोली जाती है। 'उत्तरी मैथिली', 'दक्षिणी मैथिली', 'पूर्वी मैथिली', 'पश्चिमी मैथिली' 'छिकाछिकी' तथा 'जोलहा बोली' मैथिली की ये छह उपबोलियाँ हैं। कुछ लोग पूर्वी सीतापुर तथा मधुबनी सब-डिवीज़न की निम्न श्रेणी की जातियों की बोली को 'केन्द्रीय (जनसाधारण की) मैथिली' का नाम देते हैं। इस प्रकार इसकी बोलियों की संख्या सात हो जाती है। इनमें उत्तरी मैथिली ही 'मैथिली' का परिनिष्ठित रूप है, जो उत्तरी दरभंगा तथा आसपास के ब्राह्मणों में विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। बिहारी बोलियों में केवल 'मैथिली' ही साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न है। इसके प्रसिद्ध कवि विद्यापति हिन्दी की विभूति हैं। यहाँ के अन्य साहित्यिकों में उमापति, नन्दीपति, रामापति, महीपति तथा मनबोध झा आदि प्रधान हैं। अब 'मैथिली' भाषा-भाषी साहित्य में खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग कर रहे हैं। मैथिली की उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश के मध्य या केन्द्रीय रूप से मानी जाती है। मैथिली के लिए तीन लिपियों

का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणों में मैथिली लिपि प्रचलित है, जो बंगला से बहुत मिलती-जुलती है। अन्य जातियों के लोग स्थानीय रूपान्तरों के साथ कैथी लिपि का प्रयोग करते हैं। साहित्यिक कार्यों के लिए नागरी का प्रयोग होता है। अब नागरी का प्रचार धीरे-धीरे सभी कार्यों में बढ़ रहा है।

ध्वनियाँ तथा व्याकरण

ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य्, र्, ल्, व्, स्, श्, ह्, ड़्, ढ़्, र्ह, ल्ह, ङ्ह्, न्ह्, म्ह्। अ, ए, ओ, ऐ, औ के एकाधिक रूप हैं।

परसर्ग : कर्ता	×
कर्म-सम्प्रदान	के, कें, कँ, कँ, कौं, लागी, लेल, लै, ले खातिर
सम्बन्ध	कर्, कर, केर, क, के केरा

संज्ञा रूप—भोजपुरी, अवधी की तरह मैथिली में भी संज्ञा शब्दों के प्रायः सामान्य, दीर्घ तथा दीर्घतर तीन रूप होते हैं: घर घरवा—घरउआ, घोड़ा—घोड़वा—घोड़उआ। कभी-कभी चार रूप भी मिलते हैं: घोड़—घोड़ा—घोड़वा—घोड़उवा। अर्थात् ह्रस्व—सामान्य—दीर्घ—दीर्घतर। विशेषण (आगे देखिए) में भी यह प्रवृत्ति है।

स्त्रीलिंग प्रत्यय— - ई (नेना (लड़का) नेनी, वड़—वड़ी, वड़ि), -इया (घोड़वा—घोड़िया; नेनवा —नेनिया), -ईवा (घोड़उआ —घोड़ीवा, नेनउआ—नेनीवा), -आइन, -आइनि (मोदी—मोदिआइनि, पंडिताइन) आदि।

कारक रूप

अविकारी रूप	घोड़ा; घर नेनी (लड़की); किताब	घोड़नि, घरन; नेनिन, किताबन, किताबनि
विकारी रूप	घोड़ा; घर; नेनी; किताब	घोड़न, घोड़नि; घरन; नेनिन, किताबन, किताबनि

सर्वनाम : पुरुषवाचक

उत्तम पुरुष	एक०	बहु०
अविकारी रूप	हम, मो (अल्प प्रयुक्त) हाम, हमा, हँओ, हम्मे, हम्मै	हमनी, हम सभ, हमरा सभ के
विकारी रूप	मो, म, हमं	हमरा सभ, हमनी, हम सभ

सार्वनामिक विशेषण—इतना—एतेक, एतवाय, एतवे, एतै, एतना। उतना—ओतवाय, ओतवे, ओतै, ओतना। जितना—जेतवाय, जेतवे, जेतै, जेतना। तितना—तेतवे, तेतै, तेतना। कितना—केतवाय, केतवे, केतै, केतना। ऐसा—ऐसन, एहिन, तेतवाय, एहनु, एहन, ऐन्ह, एन्ह, एना, इना, अहिन, ईरंग। वैसा—वैसन, ओहनु, ओहिन, औसन, औन्ह, ओहन, ओना। जैसा—जैसन, जैहिन, जेहन, जहिन, जैन्ह, जिना, जेना, जेरंग। तैसा—तैसन, तैहिन, तेहनु, तहिन, तंहन, तैन्ह,

तिना, तेना, तेरंग। कैसा—कैसन, कैहिन, केहनु, कहिन, केहन, कैन्ह, किना, केना, कीरंग।

विशेषण—संज्ञा की तरह ही विशेपण के भी सामान्य, दीर्घ एवं दीर्घतर आदि तीन-चार रूप होते हैं। इनमें -क-, -व-, -य- जोड़े जाते हैं : मीठ—मीठा—मिठका, मिठक्का—मिठक्वा; मीठी—मिठकी, मिठक्की—मिठकिया। संख्यावाचक शब्द हिन्दी की तरह ही हैं। कुछ के विशेष उच्चारण हैं : दू दुइ, तीनि, छओ, एगारह, चउदह, सोरह, उनइस, एकइस, अठाइस, अठतिस, उनचालिस, चउवन, सतावन, अठावन, साठि, बासठि, सत्तरि, छेहत्तरि, छेयासी, बिरानवे (92), सै; पहिल, अउवल, दोसर, तेसर, चारिम, चौथ, चउथ; आध, आधा, सावा, सवा, डेढ़ अढ़ै, अहुठ, ढमुच्चे, पहुँच्चे, ($3\frac{1}{2}$, $4\frac{1}{2}$, $5\frac{1}{2}$)।

क्रिया—मैथिली के क्रिया-रूप, मगही को छोड़कर हिन्दी प्रदेश की अन्य भाषाओं एवं बोलियों के रूपों से थोड़े भिन्न हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषताएँ दो हैं : एक तो यह कि वचन का भेद प्राय: कम-सा है, और दूसरे क्रिया के रूप कर्ता एवं कर्म में आदर-अनादर की भावना के अनुसार बदलते हैं।

सहायक तथा अस्तित्वार्थी क्रिया

वर्तमान—वर्तमान में, सहायक एवं अस्तित्वार्थी रूप में, 'छ्' या 'अछ्' एवं 'थिक्, ये दो धातुएँ प्रयोग में आती हैं।

अव्यय : यहाँ—एठियाँ, इहाँ, हियाँ, एतय, एतै, एत्ते। वहाँ—वैठियाँ, उहाँ, हुँआँ, ओतय, ओत्ते, ओते। जहाँ—जैठियाँ, जहाँ, जते, जत्ते, जनय। तहाँ—तैठियाँ, तहाँ, ततय तते तत्ते। कहाँ—कैठया, कहाँ कतय, कते, कत्ते अब—एखनि, एखन, अवे, अबे, आवे। जब—जेखनि, जखन, जहिया, जबे। तब—तेखनि, तखन, तहिया, तबे। कब—केखति, कखन, कहिया, कबे।

मैथिली के प्रमुख उपरूप तथा अन्य नाम निम्नांकित हैं—तिरहुतिया, उत्तरी मैथिली, दक्षिणी मैथिली, पूर्वीय मैथिली, पश्चिमी मैथिली केन्द्रीय मैथिली, छिका,-छिकी, जोलहा।

प्रश्न 46—निम्नलिखित में अन्तर बतलाइए—

(क) (खड़ी बोली और कौरवी, (ख) हिन्दी और उर्दू, (ग) अवधी और बघेली, (घ) अवधी और छत्तीसगढ़ी।

खड़ी बोली और कौरवी

ऊपर हम देख चुके हैं कि खड़ी बोली को अधिकांश भाषाशास्त्री कौरवी (अर्थात् मेरठ के आसपास की जन बोली) पर आधारित मानते हैं किन्तु वहीं इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इसे आंशिक सत्य मानता है। यहाँ दोनों के अन्तर की प्रमुख बातें देखी जा सकती हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि कौरवी के पश्चिमी एव पूर्वी दो भेद हैं। दिल्ली के समीप पश्चिमी कौरवी का क्षेत्र है, अत: यदि सम्भावना हो सकती है, तो खड़ी बोली के उसी पर आधारित होने की सम्भावना हो सकती है।

ध्वनि—साहित्यिक हिन्दी-उर्दू या खड़ी बोली एवं कौरवी में ध्वनि की

दृष्टि से प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं : (1) संयुक्त स्वर ऐ, औ, बोली में स्थान-भेद के साथ भिन्न-भिन्न रूप में उच्चरित होते हैं। दिल्ली में तथा आसपास ये अर्द्ध विवृत मूल स्वर हैं, और ज्यों-ज्यों हम पूरब जाते हैं, इनकी संयुक्तस्वरता स्पष्ट होती जाती है। बहुत पूरब जाकर तो ये कुछ स्वर-संयोग (अइ, अउ) जैसे भी सुनाई पड़ते हैं किन्तु कौरवी में या तो ये अर्द्ध विवृत मूल स्वर रहते हैं, या फिर मूल स्वर ए, ओ में परिवर्तित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ पैर, और (इसका अर, हर, हौर भी हो जाता है), मैं, दौड़ देखे जा सकते हैं। (2) ऐसे अक्षरों में, जिन पर बलात्मक स्वराघात न हो, यदि 'इ' हो तो उसका प्रायः 'अ' रह जाता है या कभी-कभी तो तो वह 'अ' भी समाप्त हो जाता है, अर्थात् उसका पूर्णतः लोप हो जाता है : मिठाई-मठाई, शिकारी-शकारी, इकत्तीस-कत्तीस, इक्यासी-क्यासी। यह बात बाँगरू तथा पंजाबी में भी मिलती है। खड़ी बोली का उ भी कौरवी में (कभी-कभी) अ हो जाता है : तुम-तम। (3) खड़ी बोली में कुछ अपवादों (रेडियों, सुडौल, बेढब आदि) को छोड़कर प्रायः स्वर मध्यम ड्, ढ, ड़, ढ़ में परिवर्तित, हो जाते हैं, किन्तु कौरवी में ये प्रायः ड्, ढ्, रूप में ही मिलते हैं : पढ़ना-पढ़ना, गाड़ी-गाडी। कुछ क्षेत्रों में ये ध्वनियाँ ड-ड़ तथा ढ-ढ़ के बीच में होती हैं। (4) खड़ी बोली में अनेक शब्दों में जहाँ ल् (स्वर मध्यग एवं अन्त्य) आता है, कौरवी में प्रायः ळ् हो जाता है : बालक-बाळक, जंगल-जंगळ मिल-मिळ। (5) खड़ी बोली का न् ध्वनि, कौरवी में प्रायः ण् हो जाती है : जाना-जाणा, अपना-अपणा। यह परिवर्तन मध्य तथा अन्त्य न् में तो होता ही है, कभी-कभी आदि में भी हो जाता है : नहान-ण्हाण (6) एक ओर तो 'श' 'क़', 'ख़', 'ग़', 'ज़', 'फ़', ध्वनि खड़ी बोली में है और कौरवी में नहीं है, और दूसरी ओर ळ्, ण्ह (ण का महाप्राण) कौरवी में हैं, किन्तु खड़ी बोली में नहीं हैं। (7) पंजाबी तथा बाँगरू की तरह दीर्घ व्यंजन (द्वित्व) की प्रवृत्ति कौरवी में भी है, जब कि खड़ी बोली में यह नहीं है : लोटा-लोट्टा, रोटी-रोट्टी, ऊपर-उप्पर, भूखा-भुक्खा, पीता-पित्ता, जीजा-जिज्जा, खाता-खात्ता, रोता-रोत्ता, खेतों-खेत्तों। जैसा कि स्वाभाविक है, ऐसी स्थितियों में कौरवी में पूर्ववर्ती स्वर में ह्रस्वता आ जाती है।

व्याकरण—(1) आकारान्त पुल्लिंग शब्दों के अविकारी बहुवचन एवं विकारी एकवचन रूप खड़ी बोली में कुछ शब्दों को छोड़कर प्रायः एकारान्त होते हैं : घोड़ा- घोड़े, किन्तु कौरवी में ये आकारान्त रूप में भी कभी-कभी सुनाई पड़ते हैं। (2) खड़ी बोली में बहुवचन विकारी रूप ओकारान्त होते हैं, किन्तु कौरवी में ये कभी-कभी ऊकारान्त भी होते हैं। बेटी-बेट्यूँ, आदमी-आदम्यूँ, मर्द-मर्दूँ, घर-घरूँ। कभी-कभी एकवचन विकारी में भी, जैसे 'घर जा रहा'—'घरूँ जा रहा'। (3) परसर्गों में एक सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि खड़ी बोली में 'ने' कर्त्ता कारक का परसर्ग है, किन्तु कौरवी में यह कर्म कारक (नूँ भी) का भी है। पंजाबी, बाँगरू में भी यह विशेषता है। इन तीनों का यह प्रभाव अब खड़ी बोली पर भी पड़ा है, और दिल्ली के अच्छे हिन्दी-उर्दू दाँ लोग भी 'मुझे जाना है, के स्थान पर 'मैंने जाना है' बोलते हैं, यद्यपि लखनऊ, इलाहाबाद; बनारस के हिन्दी-उर्दू-दाँ इसे अशुद्ध समझते हैं। (4) कौरवी में कर्ता परसर्ग 'ने' का प्रयोग एकवचन में कम मिलता है, किन्तु खड़ी बोली में यह दोनों ही वचनों में नियमानुसार आता है।

(5) करण-अपादान में कौरवी मे 'सेती', 'तें' परसर्ग भी आते हैं, किन्तु खड़ी बोली में ये नहीं आते। (6) खड़ी बोली में अधिकरण में 'पर' आता है, किन्तु कौरवी में यह प्रायः 'प' या 'पै' हो जाता है। (7) सर्वनामों में खड़ी बोली के तुम, मुझे, तुझे, तुम्हें के स्थान पर कौरवी में तम, मझे, तझे, तमें आते हैं। (8) सम्बन्ध में कौरवी में म्हारा, तम्हारा, थारा रूप भी मिलते हैं, किन्तु खड़ी बोली में ये नहीं आते। (9) भूतकालिक कृदन्ती प्रत्यय खड़ी बोली में पुल्लिग में—आ है, किन्तु कौरवी में—या है : चला-चल्या, मिला-मिल्या, हँसा-हंस्या। (10) ध्वनिसंक्षेपण के कारण अनेक क्रिया-रूप कौरवी में खड़ी बोली की तुलना में छोटे हो गए हैं। जायगा-जागा, खायगा खागा, जायेंगे-जांगे या जांङे, खायेंगे-खांगे या खांङे। (11) सामान्य वर्तमान 'मैं' जाता हूँ' आदि के प्रचलित रूप कौरवी में 'मैं जाऊँ हूँ', 'हम जां हैं', 'तू जा है', 'तम् जाओ हो' आदि हैं। (12) अव्ययों में भी पर्याप्त अन्तर है। खड़ी बोली अब, जब, कब, यहाँ, वहाँ, कैसे, वैसे आदि के स्थान पर कौरवी में इब, जिब, कद, म्हाँ, व्हाँ, काँ, कुक्कर, उक्कर जैसे रूप भी मिलते हैं।

(ख) हिन्दी और उर्दू

हिन्दी और उर्दू दोनों ही खड़ी बोली पर आधारित हैं। दोनों में मुख्य अन्तर केवल यह है कि हिन्दी में अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्द अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त होते हैं, और संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द अधिक, जब कि उर्दू में इसके ठीक उलटे अरबी-फ़ार्सी-तुर्की शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त होते हैं, और संस्कृत के तत्सम और तद्भव कम। यह कमी-वेशी प्रायः संज्ञा, विशेषण एवं कुछ क्रिया विशेषण में ही मिलती है, सर्वनाम, क्रिया आदि में नहीं। किन्तु इस मुख्य अन्तर के अतिरिक्त कुछ सामान्य अन्तर और भी हैं, जिनके प्रमुख निम्नांकित है।

ध्वनि—(1) क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़् का उर्दू में प्रयोग होता है, किन्तु हिन्दी में केवल वे ही इसका ठीक प्रयोग करते हैं, जो उर्दू की जानकारी रखते हैं। यों बिना उचित जानकारी के सामान्यतः जो प्रयोग करते हैं, उनमें प्रायः इनके स्थान पर क्, ख्, ग्, ज्, फ् का, तथा क्, ख्, ग्, ज्, फ् के स्थान पर कभी कभी क़्, ख़्, ज़्, फ़् का प्रयोग सुनाई पड़ता है। उदाहरणतः 'फ़ौज' को अनेक लोग 'फौज' कहते सुने जाते हैं। सामान्य हिन्दी भाषी लिखने तथा बोलने में इसके स्थान पर क्, ख्, ग्, ज्, फ का ही प्रयोग करते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तो यही नीति भी रही है। (2) अरबी में ज़ोय, ज़्, ज़ाल, ज़्वाद ये चार प्रकार की 'ज़' ध्वनियाँ थीं। फ़ारसी में एक विशेष ध्वनि 'ज़' थी, जो अरबी में नहीं थी। इन पाँचों के स्थान पर फ़ारसी में 'ज़' और 'ज़' दो ध्वनियाँ मिलती हैं। फ़ारसी से प्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण उर्दू में ये दोनों ध्वनियाँ (ज़ोर, ज़िन्दगी; अज़दहा, पज़ाव) आई हैं, और वे उर्दू दाँ, जिनका शीने-क़ाफ़ काफ़ी दुरुस्त है, इन दोनों का उच्चारण अलग-अलग करते हैं,. किन्तु हिन्दी में, सामान्य लोगों में तो दोनों का ही 'ज' हो जाता है और पढ़े-लिखे लोगों में दोनों का 'ज़' मिलता है। अर्थात् 'ज़' उर्दू में है, जबकि हिन्दी में वह नहीं है। उसके स्थान पर 'ज़' या 'ज' हो जाता है। (3) शब्दांत में आनेवाला हा-इ-मुख्तफ़ी (संस्कृत विसर्ग जैसा) उर्दू में प्रायः अपने मूल के बहुत निकट है, किन्तु हिन्दी में वह—आ हो गया है : किनारः—किनारा, मसलः—मसला

मुआमलः—मामला, ख़ज़ानः—खजाना । (4) अनेक शब्दों में हिन्दी में जहाँ महाप्राण ध्वनियाँ आती हैं, उर्दू में उनके स्थान पर प्रायः अल्पप्राण हो जाता है : सड़ाँध—मड़ाँद्, विसाँध्, भूख्-भूक्, भिखारी-भिकारी, धोखा-धोका, हाथ-हात, पौधा-पौदा । यों उर्दू के प्रभाव स्वरूप अब हिन्दी में भी सड़ाँद्, विसाँद्, पौदा आदि लिखने लगे हैं ।

व्याकरण—(1) एकवचन से बहुवचन बनाने के सामान्य नियम तो हिन्दी-उर्दू में एक से ही हैं, किन्तु उर्दू में अरबी-फ़ारसी परम्परा से प्राप्त नियमों का भी प्रयोग होता है । उदाहरण के लिए (क) '-आत' जोड़कर—इसका प्रयोग प्रायः निर्जीव संज्ञाओं के साथ होता है : बाग़-बाग़ात, मकान-मकानात, ख्याल-ख्यालात, हाल-हालात, क़ाग़ज़-क़ाग़ज़ात । (ख) '-आन' जोड़कर—इसका प्रयोग सजीव संज्ञाओं के साथ प्रायः होता है : साहिब-साहिबान, गवाह-गवाहान, मालिक-मालिकान, काश्तकार-काश्तकारान । (ग) '-हा' जोड़कर—बार-बारहा । (घ) विभिन्न प्रकार के अन्य बहुवचन-रूप जो विभिन्न वज़नों पर बनते हैं—हाकिम-हुक्काम (फ़ुअ्आल); खबर-अखबार (अफ़आल); अमीर-उमरा (फ़ुअला); हक़्क़-हक़ूक़ (फ़ुअल); वली-औलिया (अफ़इला); क़ायदः-क़वाइद, नतीजः-नताइज (फ़वाइल) तथा अजीब-अजाइब (फ़आइल) आदि । इनमें कुछ, फ़ारसी-उर्दू के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में भी आते हैं । कुछ शब्द हिन्दी में आते हैं तो, किन्तु बहुवचन के रूप न में आकर सामान्य एकवचन शब्द के रूप में आते हैं । जैसे अखबार, क़वायद आदि । इस रूप में उर्दू में भी इनका प्रयोग है । (2) स्त्रीलिंग प्रत्ययों में भी दोनों में समानता है । अन्तर केवल कुछ में है । उदाहरणार्थ हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रत्यय-आ (सुता, अध्यापिका, गुणज्ञा) संस्कृत शब्दों में आता है, किन्तु उर्दू में यह नहीं मिलता । इसी प्रकार अरबी-फ़ारसी परंपरा के उर्दू में कई प्रत्यय हैं जो हिन्दी में नहीं आते । (अरबी प्रत्यय 'ह') (विसर्ग-जैसा)—वालिद-वालिदः, मलिक-मलिकः, साहिब-साहिबः; तुर्की प्रत्यय -'म' खान-खानम, बेग-बेगम;-अन—महमूद-महमूदन, करीम-करीमन, नूर-नूरन, नसीब-नसीबन, रसीद-रशीदन) । इनमें फारसी-उर्दू के प्रभाव के कारण कुछ स्त्रीलिंग रूप हिन्दी में भी प्रयुक्त होते हैं (3) सर्वनामों में अन्यपुरुष बहुवचन, हिन्दी में तो 'वे' होता है, किन्तु उर्दू में एकवचन रूपों 'वो', का ही बहुवचन में भी प्रयोग होता है । (4) सम्बन्ध प्रकट करने के लिए हिन्दी में सीधे षष्ठी तत्पुरुष का प्रयोग होता है । मकान-मालिक, किन्तु इसके विरुद्ध. उर्दू में फ़ारसी ढंग से, क्रम बदलकर, -इ- या-ए-इज़ाफ़त की सहायता से 'तरकीब' बनाई जाती है : दर्द-ए-सर, मालिक-ए-मकान । (5) सामान्य एवं अपूर्ण भूत तथा वर्तमान आदि में उत्तम पुरुष बहुवचन में स्त्रीलिंग के स्थान पर पुल्लिग के रूप उर्दू में चलते हैं । जैसे लड़कियाँ कहती हैं—'हम जा रहे हैं' किन्तु हिन्दी में 'हम जा रही हैं' ही शुद्ध है । यों दिल्ली की हिन्दी, विशेषतः पंजाबी एवं दिल्ली वालों की हिन्दी में ये उर्दू प्रयोग भी अब सुनाई पड़ने लगे हैं, किन्तु इलाहाबाद बनारस की ओर की हिन्दी में, ये प्रयोग नहीं मिलते । (6) उर्दू में 'आन मिला', 'आन पहुँचा', 'आन पड़ो' जैसे प्रयोग खूब चलते हैं, किन्तु हिन्दी व्याकरण के अनुसार इन्हें 'आ पहुँचा', 'आ पड़ी, 'आ मिली' होना चाहिए । (7) 'मुझे पढना है' जैसे प्रयोगों में मूल क्रिया, हिन्दी में लिंग एवं वचन के अनुसार परिवर्तित होती है । जैसे 'मुझे अखबार पढ़ना है', 'तुम्हें किताब पढ़नी है,' 'उसे बहुत से पत्र पढ़ने हैं ।' किन्तु उर्दू में इस सम्बन्ध में कम-से-कम दो प्रकार की मान्यताएँ

हैं। कुछ लोग 'मुझे अखबार पढ़ना है,' 'तुम्हें किताब पढ़ना है, तथा उसे बहुत से पत्र पढ़ना है, जैसे प्रयोग करते हैं, तथा इसे ही व्याकरण-सम्मत मानते हैं। इनके अनुसार -ना अन्त्य रूप लिंग एवं वचन के अनुसार परिवर्तित नहीं होते। दूसरा मत हिन्दी जैसा ही है। यों एक तीसरा मत यह भी है कि इसमें लिंग के आधार पर तो परिवर्तन होना चाहिए, किन्तु वचन के अनुसार नहीं। इस प्रकार, इस सम्बन्ध में हिन्दी में टो-टूक नियम हैं, किन्तु उर्दू में इस नियमतता का अभाव है। (8) उपसर्ग [हिन्दी आ (आगमन), वि (विज्ञान); उर्दू बा (वस्अदब), कता (कतानज़र]; प्रत्यय [हिन्दी-इत (प्रफुल्लित), -दायक (कष्टादायक), उर्दू-इन्द: (कुनिन्द:), -ह् (रोज:) परसर्ग एवं कारक-विभक्ति (हिन्दी -या, त: (कृपया, मुख्यतया, साधारणत:) उर्दू अज (अज़तरफ़)] बराय (बरायकरम); अव्यय (हिन्दी 'जब वह आएगा तब मैं जाउँगा', उर्दू 'जब वो आएगा जब मैं जाऊँगा' या वह आएगा जब मैं जाऊँगा)', मुहावरों के प्रयोग—तथा कभी-कभी कुछ शब्दों के अर्थ आदि में भी कुछ अन्तर हैं।

(ग) अवधी तथा बघेली

अवधी और बघेली में नाम मात्र का अन्तर है, जो निम्नलिखित है—

(1) बघेली में अती-कालिक क्रिया में 'ते' 'तै' का प्रयोग होता है, जो अवधी में नहीं पाया जाता।

(2) भविष्यत् काल में उत्तम तथा मध्यम पुरुष में अवधी में 'ब' का प्रयोग किया जाता है, पर बघेली में 'ह' का व्यवहार होता है। जैसे—अवधी देखबौ < बघेली देखिहौं।

(3) अवधी का 'व' बघेली में 'ब' में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—अवधी 'आवाज' > बघेली 'आबाज'।

(4) डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार बघेली में विशेष पदों के दीर्घान्त रूप में—'हा' लगता है, परन्तु अवधी में ऐसा नहीं होता।

(5) आदरार्थक आज्ञा का रूप 'देई' (भोजपुरी 'देई') अवधी में नहीं मिलता, परन्तु बघेली में यह प्राप्त होता है।

(घ) अवधी और छत्तीसगढ़ी

इन दोनों में निम्नांकित अन्तर प्राप्त होते हैं—

(1) छत्तीसगढ़ी में संज्ञा एवं सर्वनाम के पश्चात निश्चयार्थ—'हर' का प्रयोग।

(2) बहुवचन में 'मन' का प्रयोग।

(3) कर्म-सम्प्रदान के परसर्ग 'का' के साथ-'ला' का प्रयोग।

(4) कारण कारक के 'से' परसर्ग के साथ'-ले' का प्रयोग होता है।

ये सभी प्रयोग अवधी में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त सर्वनाम रूपों में भी अवधी तथा छत्तीसगढ़ी में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

प्रश्न 47—खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा का पारस्परिक साम्य और वैषम्य स्पष्ट कीजिए।

खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा—दोनों शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न मानी जाती

हैं। ये दोनों ही पश्चिमी हिन्दी की प्रधान उपभाषाएँ हैं और इन दोनों में ही पर्याप्त साहित्य-रचना की गई है :

खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा में साम्य

(1) उच्चारण की दृष्टि से—ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली—दोनों में स्वर एक साथ नहीं आते। उदाहरणार्थ, 'इ' के बाद 'आ' का प्रयोग दोनों में न तो लिखने में होता है, न बोलने में; अपितु ऐसी स्थिति में सन्धि हो जाती है।

पूर्वी हिन्दी में ऐसी स्थिति नहीं है। उदाहरणार्थ-अवधी और भोजपुरी के 'सियार' 'कियारी' आदि शब्द खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा में 'स्यार' तथा 'क्यारी' रूप में ही उच्चारित होते हैं।

इसी तरह 'उ' के बाद 'आ' के प्रयोग की स्थिति भी है। पूर्वी-हिन्दी में प्राप्त 'दुवार', 'कुँवारा' आदि शब्द खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा, दोनों में ही 'द्वार' तथा 'क्वाँरा' के रूप में व्यवहृत होते हैं।

इसी प्रकार 'अ-आ' के बाद 'इ' के स्थान पर 'य' हो जाता है। उदाहरणार्थ—'आई-जाइ' (पूर्वी-हिन्दी) क्रमशः 'आय, जाय' (प० हिन्दी) के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

(2) व्याकरण की दृष्टि से—भी दोनों में पर्याप्त साम्य है—

(i) खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा—दोनों में सकर्मक भूतकाल की क्रियाओं में कर्त्ता के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाता है। यह स्थिति पूर्वी हिन्दी में नहीं मिलती।

(ii) दोनों की संज्ञाओं के बहुवचन का रूप बदल जाता है। उदाहरणार्थ घोड़ा > घोड़े, सखी > सखियों आदि।

(iii) दोनों में ही 'गा' कृदन्त रूप में विद्यमान हैं। जिसमें लिंग-भेद होता है। उदाहरणार्थ—'आवेगा' (खड़ी बोली), 'आवैगो' (ब्रजभाषा) का स्त्रीलिंग रूप क्रमशः 'आवेगी' 'आवैगी' हो जाता है।

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में बहुत कुछ वैषम्य भी दिखाई देता है।

खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा में वैषम्य

(1) पश्चिमी हिन्दी की सभी उपभाषाओं की प्रवृत्ति 'ओकारान्त' है, किन्तु खड़ी बोली की प्रधान प्रवृत्ति 'अकारान्त' है। विद्वानों का मत है कि खड़ी बोली की यह प्रवृत्ति सम्भवतः पंजाबी के प्रभाव के कारण है।

(2) खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा में प्रधान अन्तर क्रियाओं का है। खड़ी-बोली में काल-रचना करने वाली क्रियाओं में 'है' के अलावा भूत एवं वर्तमानकाल की सभी क्रियाएँ 'धातुज कृदन्त' ही है, किन्तु ब्रजभाषा में वर्तमान और भविष्यत् के कृदन्त रूप ही व्यवहृत होते हैं, जिनसे लिंग भेद नहीं होता। ब्रजभाषा की यह विशेषता अवधी में भी पायी जाती है।

(3) खड़ी बोली की कुछ विशेष स्थानीय प्रवृत्तियाँ हैं, जिनमें द्वित्वता की प्रवृत्ति मुख्य है। उदाहरणार्थ, खड़ी बोली के स्थानीय प्रयोगों में 'रोट्टी' 'खात्ता'

आदि बोलते हैं। ब्रजभाषा तथा पूर्वी हिन्दी में यह बात नहीं पायी जाती।

(4) खड़ी बोली के स्थानीय प्रयोगों में 'वर्ण्य-प्रयोग' की प्रवृत्ति भी मिलती है। उदाहरणार्थ—'देख्या', 'ग्या' आदि। ब्रजभाषा आदि में यह बात नहीं है।

(5) इसके स्थानीय प्रयोगों में 'है' का लोप हो जाता है, मात्र 'आवै', 'खावे' 'करे' आदि का ही व्यवहार होता है।

(6) खड़ी बोली में क्रियाओं में दीर्घता की विशेषता पाई जाती है। परिणामतः ब्रजभाषा एवं अवधी की भाँति खड़ी बोली की क्रियाओं को तोड़-मरोड़ कर या अनुकूल-परिवर्तन करके काव्य में प्रयोग करना सम्भव नहीं होता।

(7) खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाओं की प्रचुरता है। इसके विशेष विकास का कारण यह है कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा तथा अवधी आदि की अपेक्षा गद्य-रचना काव्य-रचना से पहले, अधिक मात्रा में हुई है। खड़ी बोली में प्राप्त संयुक्त क्रियाएँ दो प्रकार की हैं :—

(अ) कालबोधक—यथा 'चलता है'।

(ब) विशेषार्थ सूचक—यथा, 'चल सकता है'।

खड़ी बोली में प्राप्त होने वाली इन क्रियाओं को 'फ़ार्सी की देन' कहा जाता है। किन्तु, डॉ० शितिकण्ठ मिश्र ने इन क्रियाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'संस्कृत के उपसर्गों' का स्थान हिन्दी में सहायक क्रियाओं ने ले लिया है। उदाहरण के लिए हृ धातु में आ, वि, प्र, सम्, अप आदि उपसर्गों के योग से आहरति, विहरति, प्रहरति, संहरति, अपहरित आदि भिन्नार्थक क्रियाएँ बनती हैं, इसी प्रकार हिन्दी में 'चल' धातु में चुकना, देना, पड़ना, लेना, सकना आदि के योग से भिन्नार्थक संयुक्त क्रियाएँ बनाई जाती हैं।"

डॉ० मिश्र के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली की क्रियाएँ फारसी की देन न होकर उसकी स्वयं की एक रचना-प्रक्रिया है और उसकी इस विशेषता पर उसकी पूर्वजा भाषा, संस्कृत की रचना-प्रणाली का प्रभाव है। सम्भव है, फ़ारसी की रचना-शैली से भी खड़ी बोली की यह विशेषता प्रभावित हो, किन्तु उसकी 'देन' तो कदापि नहीं है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'अपभ्रंश' में ऐसी संयुक्त क्रियाओं के बीज वर्तमान हैं, उदाहरणार्थ, 'लज्जिजई', 'जाणिज्जई', 'सज्जा किया' आदि।

स्पष्ट है कि खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा में बहुत सीमा तक साम्य है, किन्तु वैषम्य भी कम नहीं। परन्तु, ये ही दोनों पश्चिमी हिन्दी की ऐसी उपभाषाएँ हैं, जो हिन्दी-साहित्य में समान महत्व रखती हैं।

अध्याय | 6

हिन्दी-ध्वनि-समूह

प्रश्न 47—हिन्दी ध्वनियों का विकास-क्रम तथा सामयिक परिवर्तन युक्ति-पूर्ण ढंग से समझाइए।

प्रश्न 48—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की ध्वनियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की ध्वनियों की विशेषताएँ बतलाइए।

प्रश्न 49—पालि एवं प्राकृत भाषा की ध्वनियों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 50—हिन्दी-ध्वनि-समूह पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

हिन्दी ध्वनियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हिन्दी की पूर्वजा भाषाओं—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं तथा मध्यकालीन आर्य भाषाओं—के ध्वनि-समूह पर दृष्टिपात किया जाए। इसका कारण यह है कि हिन्दी ध्वनियों की विकास-परम्परा प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-काल से ही प्रारम्भ होती है।

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा की ध्वनियाँ—वैदिक भाषा में प्राप्त हैं, जिनकी कुल संख्या मूलतः 58 है, जिनमें 43 व्यंजन और 15 स्वर हैं। इन ध्वनियों का विवरण इस प्रकार है—

(1) स्वर ध्वनियाँ–(अ) मूल-अ, ओ-स आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ॡ = 11
(ब) संयुक्त—ए (अ+इ), ओ (अ+उ) = 4
ऐ (आ+इ), औ (अ+उ)

योग + 13

(2) व्यंजन ध्वनियाँ—

कण्ठय : क, ख्, ग्, घ्, ङ् =5
तालव्य : च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य् =6

मूर्द्धन्य : ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह	=7*
दन्त्य : त्, थ्, द् ध् न्	=5
ओष्ठ्य : प्, फ्, ब्, भ्, म्, व्	=6
दंतोष्ठ्य : व्	=1
अन्तस्थ : य्, र्, ल्, व्	=4
संघर्षी : श्, ष्, स्	=3
जिह्वामूलीय संघर्षी : ⁀क्	=1
उपध्मानीय संघर्षी : ⁀प्	=1
सघोष महाप्राण संघर्षी : ह्	=1
अघोष अल्पप्राण संघर्षी : ह् [विसर्ग (:) रूप]	=1
शुद्ध अनुनासिक : अनुस्वार (ं), ॐ	=2
	योग 143

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रातिशाख्यों में प्रथम 9 मूल स्वरों को 'समानाक्षर' और शेष 4 संयुक्त स्वरों को 'सन्ध्यक्षर' कहा गया है, जिनमें 'ए' ओ' को 'गुण' स्वर में तथा 'ऐ, औ' को 'वृद्धि' स्वर नाम से इंगित करते हैं। अब कुछ विद्वान 'ए' ओ' को मूल स्वरों में ही गिनते हैं तथा 'ऐ, औ' को क्रमशः अ + इ, अ + उ— जैसा उच्चरित बतलाते हैं। वस्तुतः ऐ औ के मूल रूप अ ई, अ उ ही हैं। संधि में इनका क्रमश आय, आव में परिवर्तित होना यही प्रमाणित करता है। व्यंजन ध्वनियों के मूर्द्धन्य वर्ग में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ळ्, ळ् ह को न रखकर अन्तस्थ वर्ग में स्वीकार किया है। किन्तु, डॉ० उदयनारायण तिवारी तथा अन्य आधुनिक विद्वानों ने इन्हें टवर्ग के साथ ही रखा है, जो वस्तुतः उचित है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक ध्वनियों का उच्चारण ठीक उसी प्रकार नहीं था, जैसा कि आधुनिक काल में है। प्राचीन शिक्षा ग्रन्थों, प्रातिशाख्यों, अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों तथा ध्वनि-शास्त्र के सिद्धान्त को कसौटी पर वैदिक ध्वनियों की विशेषताओं का निर्धारण किया गया है, जो निम्नलिखित है—

वैदिक ध्वनियों की विशेषताएँ

(1) ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार 'ऋ' का उच्चारण वर्त्स्य था तथा यह मूर्द्धन्य स्वर रूप में भी उच्चरित होती थी। विद्वानों का मत है कि कालान्तर में इसका उच्चारण जीभ को वर्त्स में दो बार स्पर्श करके किया जाने लगा था। वस्तुतः 'ऋ' के उच्चारण में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। 'ॠ' इसका दीर्घ रूप है।

(2) लृ का प्रयोग वैदिक भाषा में प्राप्य तो है, किन्तु अत्यल्प। धातुओं के मात्र क्लृप् में ही इस स्वर का प्रयोग मिलता है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के मतानुसार लृ का उच्चारण अँगरेज़ी शब्द लिटिल (Little) के द्वितीय ल (l) के समान होगा।

---

*मूर्द्धन्य ध्वनियों को कुछ विद्वान् द्रविड भाषा परिवार की देन मानते हैं, किन्तु कुछ इसके विपरीत इसमें सन्देह प्रकट हैं।

(3) चवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण वैदिक काल में मात्र स्पर्श था, न कि आधुनिक स्पर्श-संघर्ष ।

(4) टवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण आजकल की अपेक्षा कुछ ऊपर था ।

(5) तवर्ग का उच्चारण-स्थान दन्त्य नहीं, अपितु वर्त्स्य था ।

(6) इ, उ शुद्ध अर्द्ध स्वर थे ।

(7) अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि के रूप में स्वर के पश्चात् प्रयुक्त होता था, किन्तु उसका परिवर्तन अनुनासिक स्वर के रूप में भी उसी काल में होने लगा था ।

(8) क के पूर्व प्रयुक्त होने वाला विसर्ग का रूपान्तर ही जिह्वामूलीय ध्वनि के रूप में उच्चरित होता था और प के पूर्व का उपध्मानीय ध्वनि के रूप में ।

(9) अनुस्वार, केवल य, र, ल, श, ष, स, ह के पूर्व ही प्रयुक्त होता था । अन्य स्पर्श व्यंजनों के पहले यह वर्गीय अनुनासिक व्यंजन के रूप में परिणत हो जाया करता था ।

(10) भारतीय आर्य भाषा-काल के पहले ए, ओ संधि स्वर (अ + इ, अ + उ) थे । वैदिक भाषा काल में इनकी उच्चारण-स्थिति के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कुछ विद्वान् इन्हें मूल स्वर के रूप में उच्चरित बताते हैं । किन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है—"संस्कृत-काल में इनका उच्चारण दीर्घ मूल स्वरों के समान हो गया था, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से संधि स्वर ही माने जाते थे ।" प्रातिशाख्यों में भी इन्हें संधि स्वर ही कहा गया है ।

(11) वैदिक भाषा-काल में आ इ, आ उ, का पूर्व स्वर ह्रस्व रूप में उच्चरित होने लगा था, अर्थात् इनका उच्चारण क्रमशः अ इ उ के, पूर्व में होता था । इसका ऐसा ही उच्चारण संस्कृत में अब तक सुरक्षित है ।

लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ—वैदिक संस्कृत से कुछ ही भिन्न थीं । ऋ, ॠ, लृ का स्वर ध्वनियों के रूप में उच्चारण संभवतः नहीं होता था । ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय ≍क् और उपध्मानीय ≍प् ध्वनियों का लोप हो गया था । ए, ओ मूल स्वर की भाँति उच्चरित होते थे । आ इ, आ उ निश्चित रूप से अ इ, अ उ हो गए थे । पाणिनि-काल में दन्तोष्ठ्य 'व्' और द्वयोष्ठ्य 'व्' के रूप में बदल गया था । बाद में 'इ' का उच्चारण भी 'य्' तथा 'य' के रूप में परिवर्तित हो गया था ।

वैदिकी में 'अनुस्वार' शुद्ध अनुनासिक ध्वनि के रूप में रहा, जिसे कुछ विद्वानों ने स्वर तथा कुछ ने व्यंजन माना है । लौकिक संस्कृत में आकर पिछले स्वर में मिलकर इसका उच्चारण अनुनासिक स्वर के रूप में होने लगा ।

पालि भाषा की ध्वनियाँ—पालि भाषा में स्वर ध्वनियों की संख्या 10 है : अ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, एँ, ओँ । ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ—ये 5 स्वर ध्वनियाँ पालि में नहीं मिलती हैं । ऋ ध्वनि अ, इ, उ आदि किसी दूसरे स्वर में बदल गई । ऐ और औ के स्थान पर क्रमशः ए, ओ का प्रयोग मिलता है

और एँ, ओँ—ये 2 नवीन स्वर, जो ह्रस्व उच्चरित होते हैं, पालि भाषा में विकसित हुए।

व्यंजन ध्वनियों में श्, ष् तथा विसर्ग (:) का प्रयोग पालि में नहीं मिलता। श्, ष् के स्थान पर दन्त्य स् का ही प्रयोग किया गया है, पदान्त में विसर्ग (:) पूर्ववर्ती 'अ' से मिलकर 'अ' में बदल गया और अन्यत्र उसका लोप हो गया। ळ्, 'ळ्ह' ध्वनियाँ मिलती हैं।

यह स्मरणीय है कि पालि में शुद्ध अनुनासिक या अनुस्वार जिसे निग्गहीत कहते थे, वैदिकी की भाँति न होकर लौकिक संस्कृत की भाँति ही था, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

प्राकृत भाषा-काल की ध्वनियाँ—पालि के ध्वनि-समूह से कोई विशेष अन्तर नहीं रखती। मागधी को छोड़कर प्राकृतों में ष् और स् का प्रयोग नहीं हुआ। मागधी स् अथवा प् के स्थान पर श् का ही प्रयोग मिलता है। शहबाजगढ़ी के अभिलेख में श्, ष्, स् तीनों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार र्, ल्, न् तथा ण् के प्रयोग में भी कुछ विभिन्नता मिलती है। विसर्ग का प्रयोग प्राकृत में पुनः वापस न आ सका। मुख्य बात यह है कि ऊष्मों के प्रयोग में ही थोड़ा अन्तर मिलता है। संघर्षी ब्, भ्, व्, द्, ध्, ज़्, ज; झ्, ग्, घ्, ध्वनियाँ बढ़ीं।

हिन्दी-ध्वनि-समूह

अपभ्रंश ध्वनियाँ—स्वर की स्थित प्राकृत जैसी रही। व्यंजनों में म्ह्, न्ह्, ण्ह्, ल्ह्, र्ह्, बढ़े।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की ध्वनियों को तीन विभागों में विभक्त किया गया है :—

(1) परम्परागत रूप मे आई हुई प्राचीन ध्वनियाँ :—

(i) स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ

(ii) व्यंजन : क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, घ्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्।

(iii) अन्तस्थ : य्, र्, ल्, व्

(iv) ऊष्म : श्, ष्, स्, ह्

(2) नवविकसित ध्वनियाँ :—

अ+ए (ऐ), अ+ओ (औ); ड़्, ढ़्

(3) विदेशी भाषाओं के सम्पर्क से आयी हुई ध्वनियाँ :—

(अ)—क़्, ख़्, ग़्, फ़् (फ़ारसी-अरबी के माध्यम से)

(ब)—ऑ (अँगरेज़ी शब्दों मे प्रयुक्त, यथा डॉक्टर)

अब, हम उक्त विभागों से सम्बन्धित तथ्यों का विवेचन करेंगे। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि नवविकसित ध्वनियों में डॉ० उदय नारायण तिवारी ने ॲं, एँ, ओं तथा र्ह्, ल्ह्, को भी माना है, किन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की मान्यता यह है कि इन स्वर ध्वनियों का प्रयोग हिन्दी की बोलियों में ही मिलता है। डॉ० वर्मा

ने हिन्दी बोलियों में प्रयुक्त जिन अन्य स्वर ध्वनियों की गणना की है उनको मिलाकर बोलियों के वे कुल स्वर निम्नलिखित हैं, जिनका प्रयोग साहित्यिक हिन्दी में नहीं होता :—

अँ, ऍं, ऑं, ऐं, ओं, इँ, उँ, ऍं।

साथ ही उन्होंने रह् और ल्ह् —इन व्यंजन ध्वनियों को भी साहित्यिक हिन्दी में नहीं माना है। इस प्रकार नवविकसित ध्वनियों में इन दोनों प्रसिद्ध विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

शेष व्यंजन ध्वनियों में ञ् के सम्बन्ध में भी मतभेद है डॉ० वर्मा इसे केवल ब्रजभाषा हिन्दी की एक बोली की ध्वनि मानते हैं। किन्तु डॉ० तिवारी ने साहित्यिक हिन्दी की व्यंजन ध्वनियों में ही ञ् की गणना की है। पर दोनों विद्वान् इस औचित्य को स्वीकार करते हैं कि ञ् का प्रयोग केवल संस्कृत के शब्दों—तत्सम रूपों—में मात्र लिखने में ही होता है। हिन्दी-भाषी इसके मूल रूप का उच्चारण नहीं करते। वस्तुतः 'ञ्' का उच्चारण हिन्दी में न् के समान होता है, यथा चञ्चल का चन्चल या चंचल।

इसी प्रकार ण् का प्रयोग भी केवल तत्सम शब्दों के लिखने में होता है। किन्तु, जहाँ इसका प्रयोग संयुक्त होता है, वहाँ इसका उच्चारण 'न' की भाँति ही होता है, यथा पण्डित या पन्डित या पंडित। इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं। डॉ० वर्मा ने लिखा है--"तत्सम शब्दों में प्रयुक्त सस्वर ण् का प्रयोग हिन्दी में होता है, जैसे गणना, गणेश, कण इत्यादि में, किन्तु इसका शुद्ध उच्चारण पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में ही मिलता है, पूर्वीय में वास्तव में यह 'ड़ँ' के समान बोला जाता है।"

'ऋ' और 'ष्' का प्रयोग भी संस्कृत की तत्सम शब्दावली में लिखने में होता है, किन्तु उच्चारण की दृष्टि से देखें, तो इन्हें क्रमशः रि और श् के समान उच्चरित किया जाता है। यथा ऋण का रिण और कृपा का क्रिपा तथा कष्ट का कश्ट और भाषा का भाशा। बहुत से लोग तो ष् के स्थान पर श् का उच्चारण न करके मात्र स् का ही उच्चारण करते हैं। ऋ, ॠ, ऌ और ष् का तो हिन्दी में सर्वथा अभाव है।

अस्तु हिन्दी वर्णमाला में ऋ, ॠ, ऌ, ष् और ञ् का समावेश अवांछनीय हैं। फ़ारसी-अरबी तथा अँगरेज़ी शब्दों के माध्यम से आगत ध्वनियों का उच्चारण भी मात्र कुछ शिक्षित नागरिक ही करते हैं, अतः उन्हें भी वर्णमाला में स्थान देना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसी तरह दन्त्योष्ठ्य और द्वयोष्ठ्य ब्, व् में अन्तर नगण्य है, इनके लिए भी दो लिपि-संकेत निरर्थक लगते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी में सभी मूल स्वरों में अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी मिलते हैं। ऐ, औ को डॉ० उदय नारायण तिवारी आदि भाषाशास्त्री हिन्दी के मूल स्वर मानते हैं। यही उचित भी जान पड़ता है। सारांशतः आधुनिक हिन्दी के साहित्यिक रूप और उसकी बोलियों में व्यवहृत ध्वनियों का आधुनिक ध्वनिशास्त्रीय वर्गीकरण निम्नांकित रूप में प्रस्तुत है; जो ध्वनियाँ केवल बोलियों में प्रयुक्त होती है उन्हें कोष्ठ के अन्तर्गत रखा गया है :—

(1) मूल स्वर : अ, आ, आँ, (ओ॑), (ओ) ओ, उ, (उँ), ऊ, इ, ई, (इँ), ए, (ए) (एँ), (ऍ), ऐ, (ऐं), (अं), औ, (औं)

(2) कोमल तालव्य—क्, ख्, ग्, घ्,

(3) मूर्द्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ढ्,

(4) दन्त्य—त्, थ्, द्, ध्,

(5) द्वयोंष्ठय—प्, फ्, ब्, भ्

(6) स्पर्श संघर्षी : च्, छ्, ज्, झ्

(7) नासिक्य: (ञ्), (ण्), न्, न्ह्, म्, म्ह्, (ण्ह्), (ङ्), (ङ्ह), (म्)

(8) पार्श्विक : ल्, (ल्ह्), (ळ्), (ळ्ह)

(9) प्रकंपी : र्, (रह्)

(10) उत्क्षप्त : ड़् ढ़्।

(11) संघर्षी : ख़्, ग़्, ज़् फ़्, श्, (ष्), स्, व्, ह्, (ह्)

(12) अर्द्ध स्वर : य्, व्।

(13) जिह्वामूलीय : क़्।

प्रश्न 51—हिन्दी की पूर्वजा भाषाओं में स्वराघात की स्थिति समझाते हुए हिन्दी में स्वराघात की स्थिति स्पष्ट कीजिए।

स्वराघात दो प्रकार के होते हैं—संगीतात्मक और बलात्मक।

(1) **संगीतात्मक स्वराघात**—जब शब्द के विभिन्न अक्षरों को उच्च, निम्न या इनके मध्यवर्ती स्वर में उच्चरित किया जाता है, तो उसे संगीतात्मक या गीतात्मक स्वराघात कहा जाता है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध स्वरतंत्रियों की शिथिलता या दृढ़ता से होता है।

(2) **बलात्मक स्वराघात**—उसे कहते हैं जिससे शब्द के किसी अक्षर का उच्चारण उक्त ढङ्ग से न करके, अन्य अक्षरों की अपेक्षा विशेष बल देकर किया जाता है। चूँकि इसमें श्वास को एक धक्के के साथ बाहर निकाला जाता है, अतः इसका सम्बन्ध स्वरतंत्रियों से न होकर फेफड़े के भीतर से वायु के निकालने के ढङ्ग से होता है।

यहाँ उल्लेखनीय तथ्य है कि कभी-कभी एक ही ध्वनि में बलात्मक स्वराघात और दीर्घस्वर अथवा बलात्मक स्वरायात, दीर्घस्वर और संगीतात्मक स्वराघात मिले होते हैं, ऐसी स्थिति में उनमें अन्तर कर पाना कठिन होता है।

यों प्रत्येक भाषा में उक्त दोनों प्रकार के स्वराघात किसी न किसी मात्रा में विद्यमान होते हैं, पर प्रधानता किसी एक स्वराघात की ही होती है। कोई भाषा संगीतात्मक स्वराघात-प्रधान होती है तो कोई बलात्मक स्वराघात-प्रधान।

वैदिक स्वराघात—स्वराघात के विचार से वैदिक भाषा को संगीतात्मक स्वराघात-प्रधान भाषा कहा गया है। वैदिक साहित्यिक ग्रन्थों में शब्द के अन्तर्गत विभिन्न ध्वनियों के ऊपर-नीचे लगे हुए चिह्न इसी स्वराघात के प्रतीक हैं। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने स्वर-भिन्नता के अनुसार वैदिक स्वराघात का विश्लेषण करके ३ प्रकार के भेद किये हैं—1. उदात्त (ऊँचा स्वर), 2. अनुदात्त (नीचा स्वर) और 3. स्वरित (मध्यवर्ती स्वर)।

वैदिक साहित्य में उक्त विभिन्न प्रकार के संगीतात्मक स्वराघातों को चिह्न द्वारा प्रकट करने की परिपाटी रही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में उल्लेख मिलता है कि स्वरित का पूर्ववर्ती भाग उदात्त से भी उच्च स्वर में उच्चरित होता था। उसे सुर के विचार से उदात्त एवं स्वरित में स्थान-परिवर्त्तन कहा जा सकता है। स्वरित के ऊपर एक खड़ी लकीर और अनुदात्त के नीचे एक पड़ी लकीर से चिह्नित करने का विधान है। उदाहरणार्थ, अग्निना' पदारम्भ में व्यवहृत समस्त उदात्तों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, किन्तु प्रत्येक अनुदात्त चिह्नित होता है और स्वरित के पश्चात् प्रयुक्त अनुदात्तों में मात्र अन्य अनुदात्त पर ही चिह्न लगाया जाता है। परन्तु, ऋग्वेद की दो संहिताओं—मैत्रायिनी और काठक में उक्त नियम नहीं हैं। उनमें स्वरित के ऊपर खड़ी लकीर न लगा कर उदात्त पर ही लगाते हैं। अनुदात्त का चिह्न पूर्ववत् है, केवल स्वरित में ही भिन्नता है। सामवेद की संहिताओं में लकीरों का प्रयोग न करके अंकों का प्रयोग किया जाता है। उदात्त स्वरित और अनुदात्त पर क्रमशः 1, 2, 3, अंकित

3 2 1

किए जाते हैं। जैसे अग्निना।

शतपथ ब्राह्मण में मात्र उदात्त के नीचे पड़ी लकीर लगाई जाती है। शेष को चिह्न-विहीन रहने दिया जाता है।

साधारणतया वैदिक भाषा के प्रत्येक शब्द में संगीतात्मक स्वराघात मिलता है, जिसमें उदात्त की प्रधानता है। संभवतः अप्रधान रूप से बलात्मक स्वराघात भी वैदिक भाषा में था और अप्रधानता के कारण ही इस पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं लगाया जाता था।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में स्वराघात—भाषाविदों की धारणा है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में संगीतात्मक स्वराघात की प्राचीन पद्धति त्याग दी गई थी और इनमे आरम्भ से ही बलात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। यह बलात्मक स्वराघात प्रायः शब्दान्त के पूर्व प्रथम दीर्घस्वर पर होता था।

स्वराघात की दृष्टि से प्राकृतों को 2 भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम प्रकार की वे प्राकृतें हैं, जिनमें किसी न किसी मात्रा में वैदिक काल की संगीतात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति विद्यमान रही. जैसे महाराष्ट्री, अर्द्ध मागधी, जैन मागधी जैन-शौरसेनी तथा काव्य का अपभ्रंश दूसरे प्रकार की प्राकृतों में संस्कृत के बलात्मक स्वराघात का विकसित रूप विद्यमान रहा, जैसे शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत, ढक्की या पंजाबी प्राकृत।

प्रसिद्ध विद्वान् 'टर्नर' का मत है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की तरह ही स्वराघात के चिह्न मिलते हैं— मराठी में संगीतात्मक और गुजराती में बलात्मक स्वराघात मिलते हैं।

किन्तु, ग्रियर्सन आदि कुछ भाषाशास्त्री मध्यकालीन और आधुनिक दोनों काल की भारतीय आर्य भाषाओं में बलात्मक स्वराघात स्वीकार करते हैं। इतना ही

नहीं ब्लॉख ने इन दोनों ही काल की भाषाओं में बलात्मक स्वराघात के मिलने में संदेह प्रकट किया है। इस प्रकार का मतभेद होना स्वाभाविक है। क्योंकि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल के उपरान्त स्वराघातों को चिह्नित करने की पद्धति समाप्त हो गई, अतः केवल अनुमान के आधार पर ही उक्त सारे तथ्य आधारित हैं।

फिर भी यह मानना असंगत न होगा कि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के संगीतात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति को छोड़ देने से और बलात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति के प्रचार से ही मध्यकालीन आर्य-भाषाओं की शब्दावली में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। शब्द के जिन अक्षरों पर बल पड़ता था, उनके स्वर तो अधिक रूप में सुरक्षित रह गए, पर बलाघातयुक्त स्वर से दूर पड़ने वाले अक्षरों के स्वरों में संकोच, लोप आदि परिवर्तन होने लगे। उदाहरणार्थ; दुहिता > धीता, अरहट्ट > रहट; उदक > दक आदि।

हिन्दी में स्वराघात

हिन्दी भाषा में वैदिक भाषा की भाँति संगीतात्मक स्वराघात नहीं मिलता। हाँ, वाक्य स्तर पर इसका किंचित प्रयोग अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ—क्या तुम सो रहे हो ? इस वाक्य में 'सो रहे हो' का उच्चारण कुछ उच्च सुर के साथ किया जाता है।

हिन्दी में बलात्मक स्वराघात की ही प्रधानता है, किन्तु इसके प्रत्येक शब्द में यह निश्चित नहीं है, जैसा कि अँगरेज़ी आदि अन्य आधुनिक जीवित भाषाओं में है दूसरी बात यह है कि हिन्दी में प्रायः दीर्घ स्वर पर ही स्वराघात होता है, जिससे दीर्घता और बलाघात का अन्तर करना सामान्यतः सरल नहीं है। आधुनिक हिन्दी में यह अतीव आवश्यक है कि स्वर-लोप, हलन्त और ह्रस्व-दीर्घ स्वरों का स्पष्ट अन्तर प्रदर्शित किया जाय, किन्तु स्वराघात के सम्बन्ध में अभी ऐसा कुछ स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता।

पं० कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी स्वराघात के सम्बन्ध में जो नियम दिए हैं, वे वस्तुतः उपान्त्य स्वर पर स्वराघात के ही नियम हैं। उन नियमों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

(1) शब्दांत या शब्दांश में 'अ' के लोप के कारण व्यंजनान्त उच्चारण में उपान्त्य स्वर पर बलाघात होता है। यथा—स'ब आ'दमी' क'मल।

(2) संयुक्त-व्यंजन का पूर्ववर्ती स्वर बलाघात के साथ उच्चरित होता है। यथा—ल'ज्जा; प'क्का, म'झा आदि।

(3) विसर्गयुक्त स्वर का उच्चारण भी बलाघात के साथ होता है। जैसे—प्रायः, अतः, पुनः आदि।

(4) प्रेरणार्थक धातुओं के 'आ' को भी बलाघात के साथ उच्चरित करते हैं। जैसे—करा'ना, चरा'ना, सुना'ना आदि।

(5) यदि एक ही शब्द के कई अर्थ हों, तो उनका अर्थान्तर मात्र स्वराघात से ही ज्ञात होता है। जैसे—सम्बन्ध-परसर्ग की' और क्रिया पद 'की' में क्रिया वाला 'की' अधिक ज़ोर देकर बोला जाता है।

स्पष्ट है कि हिन्दी शब्दों का बलाघात स्वराघात मात्र उच्चारण में ही प्रदर्शित होता है, लिखने या छपने में नहीं।

हिन्दी भाषा के कतिपय मात्रिक और वर्णिक छन्दों—जैसे सवैया, कवित्त या घनाक्षरी आदि में स्वर संख्या या मात्रा भी बलात्मक स्वराघात पर ही निर्भर होती है। उदाहरणार्थ, "अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद पै भूपति लै निकसे' में 'के रे रे पै' मात्रा की दृष्टि से तो दीर्घ हैं, पर छन्दानुरोध के कारण इन्हें ह्रस्व ही पढ़ा जाता है, क्योंकि इसमें संस्कृत के समान गणक्रम न होकर प्रत्येक दो वर्ण के पश्चात् बलात्मक स्वराघात है। अत: स्वराघातरहित दीर्घ स्वर भी ह्रस्व के निकट हो जाते हैं और स्वराघातयुक्त ह्रस्व दीर्घ हो जाते हैं।

हिन्दी में ही नहीं, उसकी उपभाषाओं में भी बलात्मक स्वराघात मिलता है। यद्यपि हिन्दी की सभी उपभाषाओं या बोलियों के स्वराघात का अध्ययन अभी तक नहीं किया जा सका है, तथापि डॉ० बाबूराम सक्सेना के आधार पर 'अवधी' में स्वराघात की स्थिति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं :—

(1) एक अक्षर वाले शब्दों में—स्वराघात तभी मिलता है, जब उनका प्रयोग वाक्य में हो।

(2) दो अक्षर वाले अथवा दो से अधिक अक्षर वाले शब्दों में—अन्त के दो अक्षरों में से, जो वास्तव में दीर्घ हो या स्थान के कारण दीर्घ हो, उसी पर स्वराघात होगा। यदि दोनों दीर्घ या दोनों ह्रस्व हों, तो स्वराघात उपान्त्य अक्षर पर ही मिलेगा। यथा:— (अ) दो अक्षर वाले शब्द-का'म, रा'म आदि।

(ब) तीन अक्षर वाले शब्द-अढ़ा'ई, झाँप' इ आदि।

(स) चार अक्षर वाले शब्द—कचेह,री, करिहा'उ आदि।

संक्षेप में हिन्दी भाषा में स्वराघात की यही स्थिति है कि इसमें बलात्मक स्वराघात प्रधान है, किन्तु उसका निदर्शन मात्र उच्चारण मात्र में होता है, लेखन या मुद्रण में नहीं। साथ ही वह उतना सार्थक नहीं है जितना कि वैदिक भाषा का संगीतात्मक स्वराघात।

प्रश्न 52—हिन्दी में आगत अँगरेजी तथा फारसी के ध्वनि-समूहों के परिवर्तनों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 53—"फ़ारसी तथा हिन्दी की समान ध्वनियों में प्राय: कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु फारसी की असमान ध्वनियाँ हिन्दी की निकटतम परिचित ध्वनियों में परिवर्तित हो गई हैं।" इसे उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 54—हिन्दी भाषा में प्रयुक्त विदेशी ध्वनियों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

प्रश्न 55—टिप्पणी लिखिए-हिन्दी में विदेशी ध्वनियों का ग्रहण।

उत्तर—हिन्दी भाषा के शब्द-समूह पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी में विदेशी भाषाओं के अनेक शब्द आ गए हैं। इन विदेशी शब्दों में कुछ शब्द तो अपने मूल रूप में आए हैं और कुछ शब्द तद्भव रूप में।

वस्तुतः तद्भव विदेशी शब्दों की संख्या तत्सम (मूल) विदेशी शब्दों से अधिक है। इसका कारण यह है कि हिन्दी ने विदेशी शब्दों को अपनाया तो है, किन्तु अधिकांशतः अनुकूल एवं अपेक्षित ध्वनि-परिवर्तनों के साथ ही।

हिन्दी के विदेशी शब्दों में अरबी, फ़ारसी शब्दों की संख्या सर्वाधिक है। तुर्की भाषा के शब्द भी हिन्दी में हैं, किन्तु बहुत कम। यह ध्यान देने की बात है कि अरबी एवं तुर्की भाषा के शब्द हिन्दी में प्रायः फ़ारसी भाषा के माध्यम से ही आए हैं, अस्तु उनमें जो मूल ध्वनियाँ थीं। वे सीधे हिन्दी में न आ सकीं। वास्तव में अरबी और तुर्की शब्दों को फ़ारसी में अपेक्षित ध्वनि-परिवर्तन के बाद ही ग्रहण किया गया है। फलतः अरबी-तुर्की शब्दों की ध्वनियों में फ़ारसी में जो परिवर्तन हो चुका था, उसी रूप में, सामान्यतः, वे शब्द हिन्दी में आए हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में, "व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दी के लिए ये शब्द अरबी या तुर्की भाषा के न होकर फ़ारसी भाषा के ही हैं।"

ऊपर मुसलमानी प्रभाव के कारण विदेशी शब्दों के विषय में, संक्षेप में, चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त हिन्दी पर यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत पुर्तगाली, डच, फ़्रेंच और अँगरेज़ी भाषाओं के शब्द भी आते हैं। इनमें अँगरेज़ी भाषा का ही प्रचार-प्रसार भारत में अधिक रहा है और अब भी है। अतः अँगरेज़ी शब्दों की ही संख्या हिन्दी में यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत सर्वाधिक है। हिन्दी ने अँगरेज़ी के शब्दों को भी अधिकांश रूप में अनुकूल और अपेक्षित ध्वनि-परिवर्तन के साथ ही ग्रहण किया है, यद्यपि तत्सम (मूल) अँगरेज़ी शब्दों की संख्या भी हिन्दी में कम नहीं है।

अब, हम फ़ारसी एवं अँगरेज़ी के शब्दों में होने वाले ध्वनि परिवर्तनों को स्पष्ट करेंगे।

फ़ारसी शब्दों में ध्वनि-परिवर्त्तन

यदि फ़ारसी एवं हिन्दी के ध्वनि-समूह पर दृष्टि-निक्षेप किया जाए, तो यह ज्ञात हो जाता है कि दोनों भाषाओं के ध्वनि-समूह में अधिकांश रूप में साम्य है। हाँ, फ़ारसी भाषा में कतिपय ऐसी ध्वनियाँ भी मिलती हैं, जिनका हिन्दी भाषा में सर्वथा अभाव है और जो अरबी-फ़ारसी की मात्र तत्सम शब्दावली में ही व्यवहृत होती हैं। ऐसी फ़ारसी ध्वनियों को हिन्दी भाषा की देवनागरी लिपि में लिखने के लिए अलग से लिपि-चिह्न नहीं बनाए गए हैं, अपितु मिलते-जुलते लिपि-चिह्नों में थोड़ा परिवर्तन करके उन्हें संकेतित किया जाता है, यथा क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़्। चाहें तो 'ऱ्' को भी इनके साथ ले सकते हैं। फ़ारसी 'श्' ध्वनि संस्कृत तालव्य- 'श्'— जैसी ही है, हिन्दी में परम्परागत रूप में पाई जाती है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में, "साहित्यिक हिन्दी अरबी-फ़ारसी शब्दों की इन विशेष ध्वनियों का उच्चारण तथा लिखने में बराबर प्रयोग किया जाता है।" वैसे अधिकांश हिन्दी लेखक प्रायः ऐसा नहीं करते—इसको भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि फ़ारसी की उक्त ध्वनियों का व्यवहार क्षेत्र उर्दू के घटते हुए प्रचार के कारण क्रमशः सीमित होता जा रहा है। इस सन्दर्भ में यह भी स्मरणीय है कि अनेक ध्वनियों के उच्चारण में कोई भिन्नता नहीं मिलती, यद्यपि लिखने में यह भिन्नता प्रदर्शित की जाती थी और अब भी की जा रही है। उर्दू में इन विशिष्ट

ध्वनियों के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं मिलता। हिन्दी में उक्त स्थिति में इकहरे वर्ण स्, त्, ह्, ज् और अ का व्यवहार होता है, जो सर्वथा उपयुक्त है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, "साहित्यिक हिन्दी या शिष्ट भाषा में ध्वनि सम्बन्धी इन मुख्य परिवर्तनों को करने के बाद फ़ारसी-अरबी शब्दों का न्यूनाधिक व्यवहार बराबर किया जाता है।"

इस प्रकार के मुख्य ध्वनि-परिवर्तनों को संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है—

(अ) स्वर—(1) फ़ारसी इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ हिन्दी में भी मिलते हैं, अतः इनमें कोई परिवर्तन नहीं मिलता—यथा इजाज़त ईमान् फ़ुर्सत् क़ानून, तेज़्, ज़ोर् आदि।

(2) फ़ारसी अग्र विवृत 'अ' > हिन्दी अग्र अर्द्ध विवृत 'अ', यथा—क़'द'म' (फ़ा०) > क़दम (हिन्दी)। म' स्अ'ल:' (फ़ा०) > मसला (हिन्दी)।

(3) फ़ारसी ए, ओ का झुकाव इ, उ की ओर होता है, अतः ये हिन्दी में इ, उ के रूप में ही मिलते हैं।

(4) फ़ारसी संयुक्त स्वर 'अ इ' 'अ उ' क्रमशः हिन्दी में ऐ, औ हो जाते हैं—

म'इदान (फ़ा) > मैदान (हि०)। म'उसम (फ़ा०) > मौसम (हि०)

(5) स्वरों के परिवर्तन में फ़ारसी के अनेक स्वरों का लोप भी हिन्दी में मिलता है, यथा—

मुऽअमल' ह् (फ़ा०) > मामला (हि०)। मुआफ़िक़ (फ़ा०) > माफ़िक़ (हि०)।

(6) अनेक शब्दों में स्वरागम भी मिलता है, यथा—

हुक्म (फ़ा०) > हुकुम (हि०)। शामियान: (फ़ा०) > शामियाना (हि०)।

(ब) व्यंजन—(1) फ़ारसी ह् (अरबी ह, ह्) > हिन्दी में ह, यथा—

फ़ा० ह'वा > हि० हवा। फ़ा० मुह' र्र'म > हि० मुहर्रम।

(2) संयुक्त व्यंजनों के आने पर 'ह' का या तो लोप मिलता है या बीच में स्वरागम, यथा—

फ़ा० फ़िह्रिस्त् > हि० फ़ेहरिस्त्।

(3) फ़ारसी का अन्त्य 'ह' जो उच्चरित नहीं होता, अपने पूर्ववर्ती 'अ' में जुड़कर हिन्दी में 'आ' हो जाता है, यथा—

फ़ा० मुक़द्दम: > हि० मुक़दमा।

(4) फ़ारसी ऽ (अरबी ऽ) हिन्दी में या तो लुप्त हो जाता है या 'आ' में बदल जाता है, यथा—

जम्ऽ (फ़ा०) > जमा (हि०) अज'ब (फ़ा०) > अजब (हि०)।

(5) फ़ारसी क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, ब्, न्, म्, र्, ल्, स्, य् हिन्दी में भी समान रूप में मिलते हैं, अतः इनमें परिवर्तन नहीं होता, किन्तु इस नियम में कुछ अपवाद भी मिलते हैं।

(6) फ़ारसी द् > हिन्दी में ज़, द यथा—

फ़ारसी क़ाग़द > क़ाग़ज़ (कागद-बोलियों में)।
फ़ारसी ख़िद्‌मत् > ख़िदमत (ख़िजमत बोलियों में)।

(7) फ़ारसी अन्त्य न् के स्थान पर हिन्दी में परवर्ती स्वर को अनुनासिक बना देते हैं, यथा—

फ़ा० मियान् > मियाँ (हि०)। फ़ा ख़ान् > ख़ाँ (हि०)।

(8) फ़ारसी से आगत शब्दों में व्यंजन-विपर्यय भी मिलता है। यथा—मुकैल्चैह (फ़ा०) > मुचलका (हि०)

(9) कहीं-कहीं व्यंजन लोप के उदाहरण भी मिलते हैं—
जिद्द (फ़ा०) > ज़िद (हि०)। मुज़्तूर (फ़ा०) > ज़ूर (हि० बोली)।

(10) हिन्दी की बोलियों में तथा उर्दू से अप्रभावित हिन्दी लेखकों की साहित्यिक भाषा में फ़ारसी क़, ख़, ग़, ज़, फ़, श़, व़ के स्थान पर क्रमशः क, ख, ग, ज, फ, स, व, (ब) का व्यवहार मिलता है, यथा—

फ़ारसी क़ीमत > हिन्दी कीमत   फ़ारसी रज़ाई > हिन्दी रजाई
,, ख़बर > ,, खबर   ,, फ़ारसी > ,, फारसी
,, ग़रीब > ,, गरीब   ,, निशान > ,, निसान्
,, ज़ालिम > ,, जालिम   ,, वकालत > ,, वकालत्, विकालत (बोली में)

(11) हिन्दी की बोलियों में फ़ारसी व्यंजनों का कुछ असाधारण परिवर्तन हो गया है (और वे साहित्यिक हिन्दी में भी आ गए हैं)। यथा—

फ़ा० तक़ाज़ा > तगादा [बोली], तकाजा [हि० साहित्य] फ़ा० नक़द > नगद [बोली हि० साहित्य] नक़द [केवल उर्दू शैली में]।

अँगरेज़ी शब्दों में ध्वनि परिवर्तन

अँगरेज़ी एवं हिन्दी की ध्वनियों में अधिकांशतः साम्य होते हुए भी अँगरेज़ी की कतिपय ध्वनियाँ ऐसी हैं, जिनका हिन्दी में अभाव है। इन्हीं भिन्न ध्वनियों के उच्चारण में हिन्दी भाषी कठिनाई अनुभव करते हैं। नीचे अँगरेज़ी शब्दों की ध्वनियों के हिन्दी में परिवर्तन की स्थिति दी जा रही है।

(अ) स्वर—अँगरेज़ी के मूल स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, तो हिन्दी में समान रूप में मिलते हैं, शेष अॅं, ऑ, ऍं, ऍ, ऐं, ओं—ये छह मूल स्वर हिन्दी में अप्राप्य हैं, अतः इनमें ही परिवर्तन होता है। यथा—

(1) ऍं (अँ०) > इ या ए (हि०), देखिए—
अँ० कॉलेंज (College) > कालिज, कालेज (हि०)
अँ० बेंञ्च (Bench) > बिञ्च, बेञ्च (हि०)

(2) ऐं (अँ०) > ऐ (अ ए) (हि०), देखिए—
अं० मैंन (Man) > मैन (हि०)
अँ० गैंस (Gass) > गैस (हि०)

(3) ऑ (अँ०) > आ (हि०), देखिए—
अँ० चॉक (Chalk) > चाक (हि०)
अँ० ऑफ़िस (Office) > आफिस (हि०)

(4) ओँ (अँ०) > आ, आँ (हि०) देखिए—
अँ० लोँ (Law) > ला, लाँ (हि०)
अँ० बोँट (Bought) > बाट, बाँट (हि०)
(5) एँ (अँ०) > अ (हि०), देखिए—
अँ० बेँर्ड (Bird) > बर्ड (हि०)
अँ० लेँर्न (Learn) > लर्न (हिन्दी)
(6) अँ (अँ०) > अ हिन्दी, देखिए—
अँ० बँटर (Butter) > बटर (हि०)
अँ० अँलउन् (Alone) > अलोन (हि०)

अँगरेज़ी के संयुक्त स्वरों का हिन्दी में दीर्घ मूल स्वर या हिन्दी संयुक्त स्वर में परिवर्तन हो जाता है। यथा—

(1) अँ० ए इ > हि० ए : मेइल (Mail) > मेल
(2) अँ० ओ उ > ,, ओ, अ : बो'उट (Boat) > बोट
रिपो'उट (Report) > रिपोर्ट, रपट
(3) अँ० अ इ > हि० आइ, ए, ऐ : टा'इम (Time) > टाइ'म, टेम, टैम
(4) ,, अ उ > ,, आउ, औ : टा'उन (Town) > टाउन, टौन
(5) ,, आ इ > ,, वाय, ऐ : बा'इ (Boy) > ववाय
> आइण्ट्मण्ट् (Ointment) ऐण्टमेंट।
(6) अँ० इ अ > इआ, इअ, ए, ऐ : इण्डिया' (India) इण्डिया
: बिअ' (Beer) > बिअर
: इअ'रिङ्ग (Earring) एरन, ऐरिंग।
(7) अँ० एअ' > हि० एँ अ, ए : शेअ' (Share) > शेँअर, शेर
(8) अँ० ओँ आ | > ओ अ : मोँ अ, माअ (More) > मोर
ओँअ |
(9) उ अ > यो : पुअ (Pure) > प्योर
(10) स्वरागम के उदाहरण मिलते हैं।
अँ० Form > हि० फ़ारम
,, Brush > ,, बुरुष

[ब] व्यंजन—(1) अँगरेज़ी वर्त्स्य ट, ड (T, D) > हि० मूर्द्धन्य ट, ड या दन्त्य त, द

अँगरेज़ी ट (T) — हि० ट : Report = रपट (हि०)
,, ट् > " त August > अगस्त (हि०)
,, ड् (D) > ड : Desk > डेस्क (हि०) डिस्क, डिकस।
,, ड् > द : December > (हि०) दिसम्बर।

(2) अँगरेज़ी च, ज (Ch, J) > हि० च, ज; उदा० अँगरेज़ी Chair > चेयर, चेअर (हि०); Jail > जेल, जेहल (हि०)।

यहाँ स्मरणीय है कि हिन्दी च, ज को तालव्य स्पर्श संघर्षी ध्वनियाँ मानते हैं (यही वैज्ञानिक और ठीक भी है) किन्तु अँगरेज़ी के च, ज इनके समान न होकर

इनसे भिन्न ध्वनियाँ हैं। अँगरेज़ी में इनका वैज्ञानिक तथा ठीक उच्चारण ट, श, ड़, झ से समानता रखता है, इन्हीं की तरह होता है। यह विशिष्ट परिवर्तन है, जो ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसी दृष्टिकोण से अन्य परिवर्तनों का भी वैज्ञानिक या यांत्रिक अध्ययन होना सर्वथा वांछनीय है। भाषा-तत्त्व के मर्मज्ञ विद्वानों एवं अध्येताओं को इस ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। भाषा अध्ययन की दृष्टि से भी इसका कम महत्त्व नहीं है।

(3) अँगरेज़ी के स्पष्ट 'ल' [Clear 'L'] एवं अस्पष्ट 'ल' [Dark 'L' में दो प्रकार के ल हैं, किन्तु हिन्दी में इन दोनों की जगह एक ही 'ल' का प्रयोग] प्राप्य है, जैसे पेट्रोल [Petrol, को हिन्दी में पिट्रोल और Bottle को हिन्दी में बोतल कहने, सुनने या लिखने में द्रष्टव्य है।

(4) अँगरेज़ी के थ्, द् संघर्षी ध्वनियों का स्थान भी हिन्दी में दन्त्य स्पर्श थ्, द् ध्वनियों ने ग्रहण किया है। जैसे Third थर्ड > थर्ड [हिन्दी]।

(5) अँगरेजी झ् ध्वनि हिन्दी में ज हो जाती है, जैसे Pleasure > प्लेजर।

(6) अँगरेज़ी की ओष्ठ ध्वनि व के स्थान पर हिन्दी 'व' दन्त्योष्ठ्य, स्पर्श व (या ओष्ठ्य स्पर्श ध्वनि 'व') का व्यवहार किया जाता है—

उदा० अँ० Waistcoat > हि० वास्केट, बास्कट
" Wait > " वेट।

सूक्ष्म अध्ययन करने पर अन्य ध्वनियों के परिवर्तन भी बतलाए जा सकते हैं, उदाहरणों से ढूँढ़ने और उनके वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है। बहुत-सी ध्वनियों में परिवर्तन नगण्य हो सकते हैं, और हैं भी। बहुत में कोई परिवर्तन नहीं भी मिल सकता है, जैसा कि प्रायः विद्वान् अभी तक कहते आ रहे हैं।

(7) अँगरेज़ी ध्वनियों के हिन्दी में परिवर्तन के कतिपय उदाहरणों से यह भी ज्ञात होता है कि अनुरूपता, विपर्यय, लोप और आगम आदि भी प्राप्य हैं। जैसे—

(1) Collector > कलक्टर, कलट्टर (बोली-रूप) अनुरूपता का उत्तम उदाहरण है।

(2) विपर्यय का उदाहरण Signal से हि० 'सिंगल' अथवा Desk के हिन्दी का उपभाषा रूप 'डिक्स' में प्राप्त है।

(3) लोप के लिए—Waistcoat > बास्कट को देखा जा सकता है।

(4) आगम की दृष्टि से Motor (म' उटर) > मोटर द्रष्टव्य है।

(5) घोषत्व-परिवर्तन भी मिलता है—Cork > काग अथवा Lord > लाट।

(6) न् का ल में परिवर्तन भी स्मरणीय है—Number > लंबर, या लम्मर, यद्यपि ये बोली-रूप ही हैं।

प्रश्न 56—हिन्दी में अनुनासिकता के विविध रूपों का उल्लेख करते हुए, उनके विकास का ऐतिहासिक विवेचन कीजिए।

प्रश्न 57—टिप्पणी लिखिए—हिन्दी में अनुनासिकता।

उत्तर—यदि हम हिन्दी-भाषा में अनुनासिकता की स्थिति पर ध्यान दें तो यह

ज्ञात होता है कि हिन्दी में अनुनासिकता के कई रूप हैं और उनके विकास का इतिहास भी वैदिक भाषा-काल या प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-काल तथा मध्य-कालीन आर्य भाषा-काल से सम्बद्ध है। भाषा वैज्ञानिकों ने अध्ययन के उपरान्त हिन्दी में अनुनासिकता के विकास के चार रूपों का उल्लेख किया है।

(1) वर्गीय अनुनासिक व्यंजनादि लोपोत्पन्न अनुनासिकता

इतिहास को स्पष्ट करते हुए विद्वानों ने बतलाया है कि मध्यकालीन आर्य भाषा में जिस शब्द में स्पर्श, अल्पप्राण व्यंजन + उसी का महाप्राण व्यंजन अथवा नासिक्य व्यंजन + स्पर्श अल्पप्राण, या महाप्राण व्यंजन संयुक्त रूप में स्वर मध्यवर्ती स्थिति में होते थे, उस स्थिति में उनका पूर्ववर्ती स्वर निश्चित रूप में ह्रस्व होता था। इस प्रकार के शब्दों का जब विकास हुआ यानी आधुनिक भारतीय भाषाओं में विकास की स्थिति में 'सरलीकरण की प्रवृत्ति' अधिक काम कर रही थी। फलतः उपर्युक्त स्थिति वाले संयुक्त व्यंजन सरल हुए। इस तरह सरली-करण के कारण जिस संयुक्त व्यंजन का परिवर्तन हुआ उसमें किसी-न-किसी व्यंजन का लोप हुआ, जिसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गए। इस प्रकार पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकरण को 'क्षतिपूरक दीर्घीकरण' (Compensatory Lengthening) कहा गया है। किन्तु पंजाबी, सिन्धी और लहँदी में इस प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है।

डॉ० उदय नारायण तिवारी ने इस विषय में कहा है, "जहाँ संयुक्त व्यंजन नासिक्य > अल्पप्राण अथवा महाप्राण अथवा महाप्राण स्पर्श था, वहाँ नासिक्य वर्ण का लोप हुआ और पूर्व स्वर दीर्घ होने के साथ-साथ सानुनासिक भी हो गया।" इस तरह के वर्गीय अनुनासिक व्यंजन के लोप के साथ-साथ पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकरण और उसकी सानुनासिकता के अग्रलिखित उदाहरण दिए जा सकते हैं:—अङ्गण > आँगन। चञ्चु > चोंच। सन्ध्या > सञ्झा, साँझ। सण्ड > साँड़। विन्दु > बूँद। सम्भार > सँभाल। पङ्क्ति > पाँति, पाँत। लवङ्ग > लौंग। भ्रमर > भँवर आदि।

उपर्युक्त परिवर्तन की प्रक्रिया में यह ध्यान देने की बात है कि—

(1) कुछ शब्दों में उक्त प्रकार के अन्य परिवर्तन तो हुए किन्तु पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ नहीं हुआ, ज्यों-का-त्यों रह गया। उदाहरणार्थ—

अङ्गुलि > अङ्गुलि > अँगुली, उँगल, अँगुरी। पिञ्जर > पिंजरा।

(2) कतिपय स्थितियों में नासिक्य ध्वनि भी ज्यों-की-त्यों रह गई, उसका लोप नहीं हुआ।

(i) -न्द- हिन्दी-भाषा के अन्तर्गत प्राप्त कुछ शब्दों में 'न्द' में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु बोलियों में इसका परिवर्तन भिन्न रूप में होता है। उदाहरण—सिन्दूर > सिन्दूर। चन्दन > चन्दन आदि हिन्दी शब्दों में न्द- बना हुआ है। किन्तु (अ) बोलियों में द् का लोप हो गया है और ऊकार > उकार यानी दीर्घ स्वर का ह्रास हो गया है—

सिन्दूर > सेनुर। भोजपुरी : पूर्व इकार का एकार में परिवर्तन भी द्रष्टव्य है। (ब) न्द > न्न हो गया है, जैसे—चन्दन > चन्नन (भोजपुरी)।

(ii) 'ण्ड' भी सुरक्षित रह गया है, जो हिन्दी में 'न्ड' तथा 'ड' के रूप में

लिखा और बोला जाता है अर्थात् ण > न् (ं) का रूप प्राप्त होता है, जैसे चाण्डाल चन्डाल या चंडाल ('ण्ड' के पूर्व दीर्घ स्वर का लोप भी यहाँ द्रष्टव्य है ।)

(iii) प्रा० भा० आ० 'म्र' म० भा० आ० में 'म्ब' हुआ है और यह हिन्दी में (म्) के रूप में उपलब्ध है—आम्र > अम्ब > आम ।

(iv) प्रा० भा० आ० 'ष्ण' > म० भा० आ० 'ण्ह' > आ० भा० आ० और हिन्दी 'न्ह' का परिवर्तन भी ध्यान देने योग्य है—कृष्ण > कण्ह > कान्ह, कान्हा, कन्हई, कन्हैया ।

(v) प्रा० भा० आ० 'ह्म' म० भा० आ० 'म्ह' > हिन्दी 'म्ह' में प्राप्त है। यथा—ब्राह्मण > बम्हण > बाम्हन । (यहाँ भोजपुरी का बाभन, बाँभन रूप भी एक भिन्न परिवर्तन का सूचक है ।)

(vi) प्रा० भा आ० 'ष्म, म्भ' > म० भा० आ० 'म्ह' > हि० 'म्ह' जैसे—युष्मे > तुम्हें > तुम्हें । कुम्भकार > कुम्हार > कुम्हार (भोजपुरी 'कोंहार')

(vii) म० भा० आ० में प्राप्य द्वित्व नासिक्य व्यंजन भी हिन्दी में अकेले मिलता है और उसका पूर्ववर्ती स्वर नासिक्यता-रहित है यानी सानुनासिक न होकर ज्यों-का-त्यों बचा हुआ है। यथा—कर्म > कम्म > काम । चर्म > चम्म > चाम । (चमड़ा में 'ड़' प्रत्यय के योग के कारण पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया है ।)

उल्लेखनीय है कि कान्ह या कान्हा के स्थान पर भोजपुरी में 'कांधा' भी प्रचलित है । (कान्धा > कान्ह, काँधा, कान्हा, काँधे रूप मे भोजपुरी तथा अन्य बोली रूपों का परिवर्तन भी स्मणीय हैं ।)

(3) प्रा० भा० आ० में ही अनुस्वार के पहले 'इ' स्वर वर्तमान था, वहाँ म० भा० आ० में ही अनुस्वार का लोप हो गया तथा हिन्दी में भी वह अप्राप्य है । यथा—विंशति = वीसइ > बीस ।

(2) लघ्वीकृत नासिक्य ध्वनि

उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है कि म० भा० आ० में नासिक्य व्यंजन स्पर्श, अल्पप्राण या महाप्राण के संयुक्त व्यंजन रूपों का आ० भा० आ० में सरलीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप सरलीकरण हुआ, ऐसी स्थिति में नासिक्य व्यंजन वर्ण का लोप हुआ और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के कारण दीर्घ हो गए—साथ ही सानुनासिक भी । प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में परिवर्तन की यह प्रक्रिया दृष्टिगत होती है; किन्तु पंजाबी, उड़िया और हिन्दी में उक्त प्रक्रिया के साथ ही एक परिवर्तन और भी प्राप्त होता है—इनमें पूर्ववर्ती स्वर सानुनासिक हुआ, परन्तु लघु रूप में । ऐसे कुछ शब्दों को देखकर इस ध्वनि को भाषाशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में 'लघ्वीकृत नासिक्य ध्वनि' के नाम से अभिहित किया गया है ।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के विचारों को प्रस्तुत करते हुए डॉ० उदयनारायण तिवारी ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के संक्रान्ति काल में क्षतिपूर्ति के रूप में पूर्व स्वर के दीर्घीकरण एवं नासिक्य ध्वनि के पूर्ण तथा लुप्त होकर पूर्व स्वर के अनुनासिक होने

या बनने के पूर्व नासिक्य ध्वनि के लघुरूप में उच्चारण की प्रवृत्ति रही होगी।" इस प्रकार सं० अङ्क का परिवर्तन आँक में होने से पहले 'अङ्क' उच्चारण होता रहा होगा। हिन्दी भाषा में अब भी लघ्वीकृत नासिक्य ध्वनि कुछ शब्दों में प्राप्य है। जैसे, हिन्दी शब्द 'कंगाल' और 'कंघा' का उच्चारण क्रमशः 'कङ्गाल' और कन्घा होता है। सम्भवतः यह हिन्दी पर पंजाबी का प्रभाव है।

(3) स्वतः अनुनासिकता

हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में अनेक ऐसे शब्द प्राप्य हैं, जो तद्भव रूपों में तो सानुनासिक हैं, पर तत्सम रूप में निरनुनासिक हैं। दूसरे शब्दों में, उसके मूल रूपों अर्थात् प्रा० भा० आ० के शब्दों में अनुनासिकता न होने पर भी उनके आधुनिक रूपों में अनुनासिकता आ गई है। हिन्दी के अनेक शब्दों में यह स्थिति द्रष्टव्य है। यथा—उच्च > ऊँचा। अक्षि > आँख। सर्प > साँप। उष्ट्र > ऊँट वेत्र > बेंत।

भाषाशास्त्रियों ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अनुनासिकता सन्निवेश की उपर्युक्त प्रवृत्ति को 'स्वतः या अकारण अनुनासिकता [Spontaneous Nasalisation] की संज्ञा दी है; क्योंकि ऊपर प्रस्तुत उदाहरणों में प्राप्त सानुनासिकता व्यंजनों के सरलीकरण की प्रवृत्ति या अन्य किसी साधारण प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप नहीं है, बल्कि स्वतः हैं, अपने आप ही ऐसा हो गया है। दूसरे शब्दों में इनमें अनुनासिक के आगमन का कारण अदृश्य है। इस प्रकार की अनुनासिकता के विषय में प्रायः सभी भाषाविदों ने विचार किया है और अपना मत प्रकट किया है। ब्लॉख और टर्नर के मतानुसार स्वर की मात्रा में परिवर्तन के कारण ही स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति का विकास हुआ है; तथ्य यह है कि सानुनासिक अक्षर की मात्रा और द्वित्व व्यंजन की मात्रा समान होती है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के संयुक्त व्यंजनों का परिवर्तन मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में द्वित्व-व्यंजन के रूप में नहीं हुआ, अपितु एक व्यंजन ही शेष रहा। तब वहाँ शब्द के मात्रा काल को संतुलित बनाए रखने की दृष्टि से पूर्ववर्ती अक्षर को सानुनासिक बनाकर, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और हिन्दी में प्रयुक्त किया गया।

ब्लॉख और टर्नर के उपर्युक्त मत को डॉ० ग्रियर्सन ने नहीं माना। अपनी नयी स्थापना इस तरह प्रकट की कि जब मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के विकास के पश्चात् स्वरों को दीर्घ करके शब्दों को ग्रहण किया जाने लगा, उसी समय स्वतः अनुनासिकता को प्रवृत्ति विकसित हुई।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार उपर्युक्त दोनों मतों से भिन्न है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इन्हीं के मत को मान्य ठहराया है और लिखा है कि 'गम्भीर विचार करने पर यह दोनो ही स्थापनाएँ (1—ब्लॉख और टर्नर की एवं 2—डॉ० ग्रियर्सन की) ठीक नहीं जँचतीं।" डॉ० चटर्जी की स्थापना यह है "स्वतः अनुनासिकता म० भा० आ० भाषा की किसी शाखा की विशेषता थी।" इस स्थापना को प्रमाणित करने की दृष्टि से ऐसे अनेक शब्द दिए गए है, जिनके सानुनासिक और निरनुनासिक-दोनों रूप उपलब्ध हैं। जैसे—जल्पति > जप्पई, जंपइ। दंश > दस्सण, दंसण। पक्षिन् > पक्खी, पङ्खी।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें और विचार करें तो ज्ञात होगा की हिन्दी में जो शब्द 'देशी' वर्ग में माने जाते हैं, उनमें ही सानुनासिकता के प्रति अधिक आग्रह दीख पड़ता है। इसी क्रम में यह भी दृष्टिगत होता है कि आ० भा० आ० भाषा के स्वतः अनुनासिकता वाले अनेक शब्दों के सानुनासिक रूप म० भा० आ० भाषाओं में प्राप्य हैं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि म० भा० आ० काल में कतिपय क्षेत्रों में-किन्हीं शाखाओं में—अलिजिह्व (Uvula) को नीचे झुकाकर बोलने की प्रवृत्ति रही होगी। फलतः शब्दों में स्वतः अनुनासिकता का आगम हो जाया करता होगा। यह बात तर्कसंगत लगती है। इसी प्रकार यह मानना भी तर्क सम्मत है कि उपर्युक्त प्रवृत्ति का कुछ क्षेत्रों में अभाव रहा होगा, जिसके कारण म० भा० आ० भाषाओं में अनेक शब्दों के सानुनासिक एवं निरनुनासिक—दोनों प्रकार के रूप प्रयोग में आते रहे होंगे, जिसका प्रभाव आ० भा० आ० भाषाओं और हिन्दी पर भी है।

इस विवेचन के आधार पर यह कहना असंगत नहीं है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के जिन शब्दों में स्वतः अनुनासिकता पायी जाती है और जिनमें पूर्ववर्ती रूप म० भा० आ० भाषाओं में सानुनासिकता नहीं उपलब्ध होते, उनके म० भा० आ० भाषाओं में सानुनासिकता रूप मान लेना उचित ही है। अस्तु, डॉ० उदयनारायण तिवारी से सहमत होकर उनकी यह पंक्ति स्मरणीय है कि "आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति अपनी ही नहीं है, अपितु म० भा० आ० भाषा से आयी हुई है।" (डॉ० चटर्जी के मत का ही समर्थन हो रहा है।

अतएव, हिन्दी में भी स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति को म० भा० आ० भाषा की देन कहना और इसी रूप में स्वीकार करना अधिक समीचीन और तर्कसम्मत लगता है। अन्य शब्दों में, स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति को म० भा० आ० भाषाओं के लिए तो ठीक कहा जा सकता है अर्थात् यह प्रवृत्ति उनके लिए तो स्वतः अनुनासिकता की है; परन्तु हिन्दी प्रवृत्ति अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की इस प्रवृत्ति की परम्परागत देन हैं, अपनी प्रवृत्ति नहीं है। इतना होते हुए भी अभी तक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इसे 'स्वतः अनुनासिकता' के नाम से ही प्रकट करने की पद्धति बनी हुई है। अब उक्त मत की अकाट्यता के प्रकाश में इसका नामकरण परिवर्तित होना चाहिए।

हिन्दी में स्वतः अनुनासिकता के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं—इष्टि > इट्ट,* इष्ट—ईंट। कक्ष > कक्ष, कक्ख,* कङ्ख > काँख। छाया > * छाँय > छाँह > छाँव। अचिष, > अञ्चि, * अञ्चि > आँच। यूका < जूआ > जूं, जूंआ। पाश > फाँस। कुड्पल > कुंपल > कोंपल।

इसी संदर्भ में यह तथ्य भी स्मरणीय है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में परम्परागत रूप में स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति के ठीक विपरीत, मूल रूप से आगत अनुनासिक ध्वनि के लोप की प्रवृत्ति भी दिखलायी पड़ती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा पाये जाने वाले कुछ शब्दों की अनुनासिक ध्वनि का मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में लोप हो गया और उनका वही रूप हिन्दी आदि दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में वैसे ही

उपलब्ध होता है। यथा—विंशति > वीसइ बीसइ > बीस । अभ्यन्तर > भीतर > भीतर । पर्यङ्किका > पालकी ।

(4) अभ्यंतर 'म्' द्वारा अनुनासिकता

हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अभ्यंतर-म् द्वारा भी अनुनासिकता का विकास हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'अपभ्रंश' में स्वर मध्यवर्ती (Inter Vocalic)—म्—का परिवर्तन—वं—में हुआ। इसी-वं के प्रभाव से ही हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में पूर्ववर्ती स्वर सानुसिक हो गए। यथा—

आमलक > आवँलअ > आँवला; श्यामल > सावँलअ > साँवला; कुमार > कुंवर = कुंवर; भ्रमर > घँवर > भौंर + आ > भौंरा ।

संक्षेप में हिन्दी में अनुनासिकता के विकास की यही इतिहास है।

प्रश्न 58—प्राचीन् भारतीय आर्यभाषा की 'ऋ' ध्वनि हिन्दी में किस प्रकार परिवर्तित हुई है? सोदाहरण समझाइए।

उत्तर—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा अर्थात् वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में जो स्वर ध्वनियाँ थीं, उन्हीं में 'ऋ' भी एक स्वर-ध्वनि थी. किन्तु मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के प्राम्भिक काल से ही इस ध्वनि की स्थिति समाप्त हो गई। भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनियों की विकास-परम्परा इसकी साक्षी है। भाषाविदों की मान्यता है कि म० भा० आर्यभाषा के प्रारम्भ-काल अर्थात् 'पालि' भाषा-काल में ही इस स्वर ध्वनि का लोप हो गया।

इतना होते हुए भी हम यह देखते हैं कि हिन्दी भाषा की परम्परागत देव-नागरी लिपि की वर्णमाला मे 'ऋ' विद्यमान है और संस्कृत के तत्सम शब्दों के लिखने में इसका व्यवहार भी होता है, परन्तु इसका उच्चारण 'रि' रूप में ही होता है। उच्चारण की यह स्थिति हिन्दी में नहीं, अपितु बँगला आदि कई आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी प्राप्य है। लगता है, इसके वास्तविक उच्चारण का ठीक-ठीक ज्ञान आ० भा० आर्यभाषा-भाषियों को नहीं है। मुड़िया, मराठी आदि भाषाओं में तो इसका उच्चारण 'रु' जैसा होता है। इस तरह संस्कृत का 'ऋषि' शब्द आ० भा० आर्य भाषाओं में 'रिसि' अथवा 'रुचि' के रूप में बोला जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रा० भा० आर्य भाषा में 'ऋ' का उच्चारण किस प्रकार से किया जाता था? इस प्रश्न का समुचित उत्तर दे पाना संभव नहीं है। वैसे, प्रातिशाख्यों के अध्ययन के आधार पर भाषातत्त्ववेत्ताओं ने इसका 'अ र अ'—जैसा उच्चारण, कल्पित किया है। इसके साथ ही यह भी बतलाया गया है कि यह ध्वनि संघर्षी स्वर (Fricative) रही होगी। प्रातिशाख्यों में 'ऋ' के उच्चारण का विवरण अग्रांकित रूप में प्राप्त है—$\frac{1}{4}$मात्रा अ + $\frac{1}{2}$मात्रा र् + $\frac{1}{4}$अ

प्रा० भा० आर्य भाषा की 'ऋ' ध्वनि जब म० भा० आर्य भाषा में परिवर्तित हुई, तब म० भा० आर्य भाषा-काल में इसका 'र' अंश समीकृत हो गया और इसके शेष अंशों का परिवर्तन 'अ इ, उ ओ एवं ए' में हो गया। किन्तु 'पालि' भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी उपलब्ध हैं जिनमें इस ध्वनि का 'र' अंश भी सुरक्षित है। यथा—ऋषभ = रिसन, (अन्य रूप उसमें भी मिलता है) ऋग्वेद = इरुवेद ।

ब्लॉख और 'टर्नर' का विचार है कि दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र में 'ऋ'>अ में परिवर्तित हुआ और उत्तर-पूर्व-क्षेत्र में ऋ>इ, उ में बदल गया। इन विद्वानों ने यह निष्कर्ष अशोक के अभिलेखों के आधार पर निकाला है। किन्तु, आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में अनेक भाषाओं एवं उपभाषाओं (बोलियों) की विविध प्रवृत्तियों का इतना मिश्रण हो गया है कि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना या मत देना प्रायः असम्भव-सा है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'ऋ' के विकास या ध्वनि-परिवर्तन के सम्बन्ध में अनेक रूपों की खोज की जा सकती है। हम यहाँ पर हिन्दी भाषा में उक्त सभी परिवर्तनों के प्राप्त उदाहरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(1) प्रा० भा० आ० 'ऋ'>म० भा० आ० अ>हिन्दी अ।
कृत्यंग्रह>*कच्चघर>*कच्चहर>कचहरी।

(2) प्रा० भा० आ० 'ऋ'>म० भा० आ० अ>हिन्दी आ। यथा—कृष्ण >कण्ह>कान्ह, नृत्य>नच्च>नाच। ये उदाहरण क्षतिपूरक दीर्घीकरण [Compensatory Lengthening] के हैं—यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है।

(3) प्रा० भा० आ० 'ऋ'>म० भा० आ० इ>हिन्दी इ। यथा—शृगाल >सिआल>सियार, वृश्चिक>विच्छिअ>बिच्छू।

(4) प्रा० भा० आ० ऋ>म० भा० आ० इ>हिन्दी ई। यथा—घृत= घिउ>घी, पृष्ठ>पिट्ठ>पीठ।

(5) प्रा० भा० आ० ऋ>म० भा० आ० उ>हिन्दी उ। यथा—शृणोति >सुणइ>सुने, मृतक>मुअअ>मुआ।

(6) प्रा० भा० आ० ऋ>म० भा० आ० उ>हिंदी ऊ। यथा—वृद्ध> बुड्ढ>बूढ़ा, पृच्छ>पुच्छ>पूछ [न]।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ऋ' के उक्त समस्त परिवर्तन हिन्दी भाषा में अधिकतरूप से सुरक्षित एवं प्राप्य है परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि 'ऋ' का परिवर्तन अ, इ, उ—इन तीनों ह्रस्व में (म० भा० आ० तथा आ० भा० आ० में) स्वराघातयुक्त विवृत्ताक्षर (Accented Open Syllable) में ही हुआ है। जहाँ स्वराघात युक्त संवृताक्षर (Accented Closed Syllable) और द्वित्व व्यंजन से पूर्व 'ऋ' विद्यमान था, वहाँ प्रा० भा० आर्य भाषा का 'ऋ' म० भा० आर्य भाषा में अ, इ, उ में विकसित होकर आ० भा० आर्य भाषा हिन्दी में 'आ, ई, ऊ'- दीर्घ स्वरों में परिवर्तित हुआ और द्वित्व व्यंजन का एक व्यंजन ही शेष रहा।

प्रश्न 59—हिन्दी भाषा में श्रुति-सन्निवेश की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए—'य'- 'व'- श्रुतियों का विकास-क्रम समझाइए।

उत्तर—भाषाविदों ने भाषा-विकास के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि म० भा० आर्य भाषा के प्राकृत-काल से ही स्वर मध्यवर्ती (Intervocalic) स्पर्श व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और 'हेमचन्द्र के कुछ समय पहले तक यह प्रक्रिया चलती रही। लोप की इस प्रक्रिया में अल्पप्राण

24

स्पर्श व्यंजनों का ही लोप हुआ और महाप्राण व्यंजनों का 'ह' अंश शेष रह गया। इस प्रकार के लोप का यह फल हुआ कि अनेक स्वर सम्पर्कित हुए अर्थात् पास-पास आने लगे। ये सम्पर्कित स्वर ही 'उद्वृत्त स्वर' कहे जाते हैं। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने कहा है "म० भा० आ० भाषा के अन्तिम-काल (अपभ्रंश) तथा आ० भा० आ० भाषाओं के प्रारम्भ-काल में उद्वृत्त स्वरों की निम्नलिखित तीन प्रक्रियाएँ मिलती हैं—

(1) ये सान्ध्यक्षर बन गए।
(2) दो स्वर एक में परिणत हो गए।
(3) -'य' तथा-'व' श्रुतियों के प्रयोग से इनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा।

अब प्रश्न यह उठता है कि-'य'-'व'- श्रुतियों का प्रयोग कब और क्यों प्रारम्भ हुआ ?

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि स्वर - मध्यवर्ती व्यंजन के लोप हो जाने पर म० भा० आर्य भाषा-काल में ही दो स्थितियाँ प्राप्त होती हैं :—(अ) स्वर ध्वनि शेष रही, अथवा (ब) उसका स्थान-'य'-'व' श्रुतियों ने ग्रहण किया।

डॉ० तिवारी ने इस सन्दर्भ में लिखा है ' 'य'-'व' श्रुति का सन्निवेश म० भा० आर्य भाषा की उस स्थिति में ही प्रारम्भ हो गया था, जब मूल व्यंजन ध्वनियों का उच्चारण ऊष्म होकर शिथिल होता हुआ लोप की ओर अग्रसर हो रहा था।' अभिप्राय यह है कि जिस समय स्वर मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप होने लगा, उस समय से ही 'य्'-'व्' श्रुतियों का सन्निवेश भी होने लगा। अर्द्धमागधी प्राकृत में 'य' श्रुति का सन्निवेश नियमित रूप से प्राप्त होता है। 'भरहुत से शिला-लेख' (ई० पू० 200) में 'य' श्रुति का लिखित प्रमाण उपलब्ध है; उदाहरणार्थ— अवादेसि > अवयेसि। दूसरे शिलालेख में, जो 'खारवेल' में ई० सन् की दूसरी शताब्दी का है, 'व' श्रुति विद्यमान है; उदाहरणार्थ चतुर्थ > चवुत्थ। अतः निश्चित है कि 'य', 'व'श्रुतियों का सन्निवेश प्राकृत भाषा-काल में प्रारम्भ हो गया था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कहा जा चुका है कि उद्वृत्त स्वर सान्ध्यक्षर में भी परिवर्तित हुए। इसका प्रमाण अशोक के अभिलेखों से दिया जा सकता है, जो ई० पू० तीसरी शताब्दी के हैं। उदाहरणार्थ—स्थविर >* थइर > थेर। त्रयोदश > त्रइदश > त्रैदस। इनमें 'य', 'व' का सन्निवेश नहीं हुआ है। अस्तु, प्रमाणित होता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी से ही 'य', 'व' श्रुतियों का सन्निवेश हुआ था।

विचारणीय है कि 'य', 'व', श्रुतियों के सन्निवेश की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस सम्बन्ध में भाषाविदों का विचार है जब स्वर की मध्यवर्ती व्यंजन ध्वनियों का पूर्णरूपेण लोप हो गया और उनके स्थान पर उद्वृत्त स्वरों का प्रादुर्भाव हुआ, तो उनको सुरक्षित रखने की आवश्यकता पड़ी, फलतः उक्त श्रुतियों का सन्निवेश हुआ। आशय यह है कि उद्वृत्त-स्वरों की सुरक्षा के निमित्त 'य' -'व' श्रुतियों का सन्निवेश किया गया। इस तथ्य के अतिरिक्त दो और कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पहला कारण तो यह है कि उद्वृत्त स्वरों में दो स्वरों के पास-पास आने पर उच्चारण में असुविधा होती रही होगी, इसी असुविधा या कठिनाई को दूर करने

की दृष्टि से 'य'-'व' श्रुतियों का सन्निवेश आरम्भ किया गया होगा। दूसरा कारण यह है कि दो स्वरों के बीच (Inter vocalic position) में अल्प-प्राण व्यंजन के लोप होने पर जब कई स्वर साथ-साथ आने लगे होंगे, तो अक्षर (Syllabication) की सुरक्षा के लिए 'य्'-'व्' श्रुतियों का सन्निवेश किया जाने लगा होगा। स्पष्ट है कि 'य', 'व' श्रुतियों के सन्निवेश के अनेक उदाहरण म० भा० आ० के अपभ्रंश-काल तथा आ० भा० आर्य भाषा के प्रारम्भ काल में ही उपलब्ध होने लगते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० उदयनारायण तिवारी का कथन द्रष्टव्य एवं स्मरणीय है— 'यद्यपि अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के प्रारम्भ की लेखन-पद्धति की नियमितता के कारण अनेक स्थलों पर श्रुति सन्निवेश नहीं मिलता, परन्तु आधुनिक उच्चारण, ध्वनि परिवर्तन आदि पर ध्यान देते हुए यह ज्ञात हो जाता है कि ऐसे अनेक शब्दों में जहाँ अपभ्रश अथवा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के लिपि-कर्त्ताओं ने 'श्रुति प्रदर्शित नहीं की है, यह आवश्यक रही होगी।'

उक्त श्रुतियों के सन्निवेश की प्रक्रिया निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती है :—

(1) खादनि > खाअइ > खावइ (अवहट्ट) > खावै इसमें-'व्' श्रुति का विकास स्पष्ट है।

(2) राजन् > राज ('व्' > 'य') > राय, राव। इसमें 'य' और 'व' दोनों का विकास हुआ है। इस स्थल पर स्मरणीय है कि 'प्राकृत' भाषा में शब्द या पद व्यंजनान्त नहीं रह गए थे, यद्यपि संस्कृत में व्यंजनान्त शब्दों या पदों का ही आधिक्य रहा। इसलिए 'राजन्' के अन्त्य व्यंजन 'न्' के लोप के बाद कोई अन्य स्वर उसके स्थान पर उद्वृत्त नहीं हुआ, किन्तु 'ज' स्वर मध्यवर्ती स्थिति में लुप्त हो गया और इस तरह 'राअ' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद इसमें उक्त दोनों श्रुतियों के सन्निवेश से 'राय' और 'राव' शब्द बने। यहाँ यह ध्यान रखना है कि श्रुति का अर्थ है—सुनी हुई ध्वनि; अतएव कहीं पर 'य' श्रुति का विकास हुआ और कहीं पर 'व्' श्रुति विकसित हुई।

(3) इसी तरह म० भा० आर्य भाषा में प्रा० भा० आर्य भाषा के विसर्ग का भी लोप हुआ। जहाँ विसर्ग के पहले 'अ' विद्यमान रहा, वहा विसर्ग उसी 'अ' में ही मिल गया या 'फ्यूज' हो गया। अन्य स्थानों पर विसर्ग का पूर्णतः लोप हो गया। यथा—'गतः' का परिवर्तन 'गओ' होना चाहिए था, पर ऐसा न होकर गतः > गअा बन गया और जब श्रुति-विकास हुआ, तो खड़ी बोली आदि में 'गया' तथा अवधी में 'गवा' रूप चलने लगे।

(4) हिन्दी की नाम धातुओं में भी जो 'य्' 'व्' मिलते हैं, वे भी श्रुति-विकास ही हैं; जैसे—बतियाना, लतियाना, लठियाना, करवाना, घरवाना जैसे शब्दों में भी यह बात है। उक्त श्रुतियों के विकास एवं सन्निवेश के कतिपय और उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

द्यूत	> जुअ	> जुआ, जुवा।
शृगाल	> सिआल	> सियार।
पाद	> पाअ	> पाँव, पाँय।
कातर	> काअर	> कायर।

दीप >दीअ >दिया, दिवा (पंजाबी रूप)

ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं।

प्रश्न 60—मान स्वरों (Cardinal Vowels) की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए और इनके निर्धारण की विधि निरूपित कीजिए।

प्रश्न 61—मान स्वर क्या हैं ? चित्र में हिन्दी के मूल स्वरों का अंकन कीजिए और प्रयोगों में उनका परिचय दीजिए।

प्रश्न 62—हिन्दी भाषा में कितने प्रधान स्वर हैं ? वर्गीकरण करते हुए उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—मान स्वर वे काल्पनिक स्वर ध्वनियाँ हैं जिनकी सहायता से किसी भी भाषा के स्वर ध्वनियों का मूल्यांकन होता है। वस्तुतः ये विभिन्न भाषाओं की स्वर ध्वनियों का स्थान निर्धारित करने के लिए काम में आने वाले मानक या मानदंड मात्र हैं। आदर्श स्वर, प्रधान स्वर, आधार स्वर, मूल स्वर, मानक स्वर, प्रधान अक्षर, मानाक्षर, प्रमाणाक्षर आदि 'मान स्वर' के अन्य नाम हैं।

संसार में अनेक भाषाएँ हैं और प्रत्येक भाषा में स्वरों की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की थी, अतः आवश्यकता प्रतीत हुई सर्वमान्य स्थान-सूचक चित्र की। फलस्वरूप लन्दन विश्वविद्यालय के प्रोफसर डैनियल जोन्स (Daniel Jones) संसार की सभी भाषाओं की स्वर-ध्वनियों के मूल्यांकन के लिए जिह्वा के व्यवहृत भाग और उसकी ऊँचाई को लक्ष्य करके आठ प्रधान स्वर ध्वनियों की कल्पना की और एक स्वर-चतुष्कोण या स्वर-चतुर्भुज तैयार किया। इसकी आवश्यकता एवं महत्त्व को बतलाते हुए स्वयं प्रोफ़ेसर जोन्स ने लिखा है—

'The placings of the other cardinal Vowels & of all the english vowels on the Quadrilateral figure thus obtained were judged by ear & muscular sensations. Tha chart is thus in the naturc of a convenient compromise between scientifically ascertained facts and the practical needs of the language teacher.'

हम प्रोफ़ेसर जोन्ज़ द्वारा तैयार किए गए रेखाचित्र में उनके द्वारा निर्धारित मानस्वरों की स्थिति तथा उसके अधार पर हिन्दी की मूल स्वर ध्वनियों का स्थान बतलाएँगे। स्वर-चतुर्भुज इस प्रकार है—

परिचय एवं प्रयोग

ई—घोष, संवृत्त, अवृत्तमुखी, दीर्घ, उच्च, अग्रस्वर है इसकी स्थिति मान-स्वर से थोड़ी ही नीची है। इसके उच्चारण में जीभ का अग्रभाग थोड़ा ऊपर उठ जाता है और वह कोमल तालु के पास प्राय: स्वर-रेखा (Vowel Line) के समीप पहुँच जाता है, ओष्ठ चौड़ाई में खुलते हैं, पार्श्वों की ओर कुछ खिच जाते हैं तथा मांसपेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं। वितरण की दृष्टि से आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थितियों में मिलती है, यथा—ईख, नीम, चोटी। शब्द के आदि में वर्णग्राम 'ई' आदि, मध्य तथा अंत में व्यंजन के बाद सहवर्णग्राम 'ी' द्वारा व्यक्त की जाती है।

इ—घोष, संवृत्त, अवृत्तमुखी, ह्रस्व, निम्नतर उच्च, अग्र स्वर है। इसकी स्थिति मान स्वर से कुछ पीछे तथा 'ई' से कुछ नीचे है। उच्चारण में अवयव विशेष दृढ़ नहीं रहते हैं। यह ध्वनि शब्द के आदि, मध्य और अन्त तीनों में प्रयुक्त होती है, यथा—इस, कपिल, ध्वनि। शब्द के आदि में यह ध्वनि वर्णग्राम 'इ' से किन्तु मध्य और अंत मे देवनागरी लिपि की परम्परा के अनुसार व्यंजन के पूर्व सहवर्णग्राम 'ि' द्वारा व्यक्त की जाती है।

ए—घोष, अर्द्ध संवृत्त, अवृत्तमुखी, दीर्घ, उच्चतर मध्य, अग्र स्वर है। इसका स्थान, मान स्वर से कुछ नीचा है। इसके उच्चारण में अवयव कुछ दृढ़ हो जाते हैं, यद्यपि दृढ़ता 'ई' की अपेक्षा कम होती है। यह आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थितियों में मिलता है, जैसे—एक, अनेक, तुम्हारे। शब्द के आदि में यह वर्ण-ग्राम 'ए' तथा मध्य और अन्त में किसी व्यंजन के ऊपर सहवर्णग्राम 'े' द्वारा व्यक्त किया जाता है।

ऐ—घोष, अर्ध विवृत्त, अवृत्तमुखी, दीर्घ, मध्य, अग्र संयुक्त स्वर हैं। इसके उच्चारण में जीभ नीचे से ऊपर जाती है, अत: इसे अरोही संयुक्त स्वर (Rising Dipthong) कहा जाता है। ये स्वर आदि, मध्य और अन्त, तीनों ही स्थिति में आते हैं, यथा—ऐसा, गवैया, चहै। शब्द के आदि में यह वर्णग्राम 'ऐ' तथा शब्द के मध्य और अंत में सहवर्णग्राम 'ै' के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

ऊ—घोष, संवृत्त, वृत्तमुखी, दीर्घ, उच्च, पश्च स्वर है। इसकी स्थिति मान स्वर से थोड़ी नीची है। उच्चारण में माँसपेशियों में कुछ दृढ़ता आ जाती है। आदि, मध्य और अंत, तीनों ही स्थितियों में प्रयुक्त होता है, जैसे—ऊपर, मधूक, जम्भू। शब्द के आदि में वर्णग्राम 'ऊ' तथा मध्य और अंत में व्यंजन के नीचे सहवर्णग्राम 'ू' के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

उ—घोष, संवृत्त, वृत्तमुखी, ह्रस्व, निम्नतर उच्च, पश्च स्वर है। इसकी स्थिति 'ऊ' की अपेक्षा कुछ नीची किन्तु भीतर की ओर कुछ झुकी हुई होती है। उच्चारण में माँसपेशियाँ कुछ शिथिल रहती हैं। यह ध्वनि हिन्दी में आदि, मध्य और अंत तीनों स्थानों पर प्रयुक्त होती है, यथा—उस, मधुर, जन्तु। शब्द के आदि में वर्णग्राम 'उ' तथा मध्य और अंत में व्यंजन के नीचे सहवर्णग्राम 'ु' के रूप में व्यक्त होती है।

ओ—दीर्घ, अर्द्धसंवृत्त, वृत्तमुखी, दीर्घ, उच्चतर मध्य, पश्च स्वर है। इसकी स्थिति अर्धसंवृत्त मान स्वर से कुछ नीची है। यह 'ऊ' की अपेक्षा कुछ कम वृत्ताकार है। उच्चारण में अवयव कुछ दृढ़ हो जाते हैं। यह ध्वनि आदि, मध्य और अंत तीनों

स्थितियों में पाई जाती है, यथा—ओस, मनोज, रेडियो। शब्द के आदि में वर्णग्राम 'ओ', मध्य तथा अंत में व्यंजन के बगल में सहवर्णग्राम 'ो' के द्वारा व्यक्त होती है।

ऑ—घोष, अर्धविवृत्त, ईषत् वृत्तमुखी, दीर्घ, निम्नतर मध्य, पश्च विदेशी स्वर है। इसकी स्थिति मान-स्वर से कुछ नीची है। इसके उच्चारण में ओठों की स्थिति 'ऊ' एवं 'ओ' की अपेक्षा कम गोलाकार होती है। इसके उच्चारण में अवयव तन जाते हैं। यह आदि तथा मध्य में आती है, यथा—कॉलिज, डॉक्टर। शब्द के आदि में वर्णग्राम 'ऑ' तथा मध्य तथा अन्त में व्यंजन के बाद सहवर्णग्राम 'ॉ' के द्वारा व्यक्त की जाती है।

औ—घोष, अर्धविवृत्त, वृत्तमुखी, दीर्घ, मध्य, पश्च संयुक्त स्वर है। इसके उच्चारण में ओष्ठ फैले हुए रहते हैं। उच्चारण में जीभ नीचे से ऊपर की ओर जाती है, अतः इसे आरोही संयुक्त स्वर (Rising Dipthong) कहते हैं। यह स्वर शब्द के आदि, मध्य तथा अन्त में मिलता है, यथा—औरत, वनौषधि आदि। शब्द के आदि में तो यह वर्णग्राम 'औ' के द्वारा, किन्तु शब्द के मध्य और अन्त में व्यंजन के बगल सहवर्णग्राम 'ौ' के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

आ—घोष, विवृत्त, अवृत्तमुखी, दीर्घ, निम्न, पश्च स्वर है। मान स्वर से इसका उच्चारण कुछ आगे है। इसके उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति अवृत्ताकार होती है तथा मुख अधिक से अधिक खुला रहता है। यह जिह्वा के पश्च भाग से भीतर की ओर कुछ हटकर उच्चरित होता है। उच्चारण करते समय अवयव अल्प दृढ़ होते हैं। वितरण की दृष्टि से यह ध्वनि आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थानों में प्रयुक्त होती है, यथा—आदमी, कुमार, हँसना।

अ—घोष, अर्धविवृत्त, अवृत्तमुखी, ह्रस्व, निम्नतर मध्य, मध्य कंठ स्वर है। इसके उच्चारण में मुख और होंठ थोड़े खुले रहते हैं तथा अंग शिथिल रहते हैं। शब्दों के आदि, मध्य में तो आता है किन्तु अन्त में नहीं, यथा—अपना, कमल। शब्दों के आदि में वर्णग्राम 'अ' के रूप में तथा मध्य और अन्त में व्यंजन के साथ मिलकर उच्चारित होता है।

प्रश्न 63—टिप्पणी लिखिए—(क) हिन्दी में अनुनासिक स्वर, (ख) स्वर-संयोग या स्वरानुक्रम।

(क) हिन्दी में अनुनासिक स्वर—उदासीन स्वर के अतिरिक्त अन्य सभी स्वरों के अनुनासिक रूपों का भी हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-क्षेत्र की बोलियों में प्रयोग मिलता है। अनुनासिक स्वर का स्थान आदि वही रहता है, केवल अन्तर यह होता है कि कोमल तालु एवं कौवे के नीचे झुकने से हवा नाक के रास्ते भी निकलती है। स्वरों के अनुनासिक रूप वैज्ञानिक दृष्टि से निरनुनासिक रूपों से अलग हैं, क्योंकि प्रमुख दसों स्वरों में अनुनासिकता ध्वनिग्रामिक है। उसके कारण अर्थ में अन्तर पड़ जाता है—

अ—सवार् (सवारी करने वाला)	अँ,—सँवार् (धातु)
आ—तागा (डोरा), चाटा (चाट लिया)	आँ—ताँगा (घोड़ागाड़ी), चाँटा (थप्पड़)
इ—विधना (ब्रह्मा)	इँ—विंधना (छिदना)
ई—चली (एकवचन)	ईं—चलीं (बहुवचन)

उ – उगली (उगल दी)	उँ—उँगली (अँगुलि)
ऊ—पूछ् (धातु), चू (धातु)	ऊँ—पूँछ (दुम), चूँ (एक आवाज़)
ए – चले (वे चले)	एँ—चलें (आओ चलें)
ऐ – है (एकवचन)	ऐँ—हैं (बहुवचन)
ओ – भागो (भगो), गोद (अंक)	ओँ – भागों (कई भाग) गोंद (चिपकाने का)
औ – चौक् (चौराहा)	औँ – चौंक् (धातु)

अनुनासिक स्वर शब्दों के आदि (आँधी, उँगली), मध्य (सस्ताँ) तथा अंत्य (मरीं, भागों, चलें । तीनों ही स्थितियों में आते हैं । हिन्दी में अनुनासिक स्वर अनुनासिकता की दृष्टि से दो प्रकार के हैं—अल्पानुनासिक पूर्णानुनासिक । प्रथम में अनुनासिकता कम है, और दूसरी में पूर्ण । यह अन्तर सभी स्वरों में मिलता है—

मौखिक स्वर	अल्पानुनासिक	पूर्णानुनासिक
अ	मन, हनुमान	हँसना, फँसा
आ	नाम, कान	दाँत, साँप
इ	किन, इन	पिंजड़ा सिंघाड़ा
ई	मीनार, पानी	सींचना
उ	उनका, दुनियाँ	सुंघाना
ऊ	ऊन, नूतन	ऊँट, खूँटा
ए	पेन	गेंद, सेंकना
ऐ	ऐनक	मैंस, ऐंठना
ओ	मोटा, मोम, नोक	सोंठ, लड़कों
औ	माँन, कौन	धौंस, कौंधना, सौंफ

यदि और सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन दोनों वर्गों के और भी उपवर्ग बनाए जा सकते हैं ।

(ख) **स्वर-संयोग या स्वरानुक्रम (Vowel-Cluster)**—जब दो या अधिक स्वर मिलकर एक हो जाते हैं, तो उस मिलन से बने स्वर को संयुक्त स्वर कहते हैं, किन्तु जब दो या अधिक स्वर पास-पास (बीच में बिना किसी व्यंजन के, य, व—श्रुति अपवाद हैं) आते हैं, तो उसे स्वर-संयोग या स्वरानुक्रम कहते हैं ।

संस्कृत में सामान्यतः दो स्वर पास-पास नहीं आते थे । स्वर के पास-पास आने पर संधि का होना प्रायः अनिवार्य था । यों वैदिक संस्कृत में इस संधि-नियम का बहुत कड़ाई से नहीं किया जाता था, इसी कारण वैदिक संस्कृत में स्वर-संयोग के उदाहरण अउ (तितउ=चलनी; प्रउग=बैल का जुआ; मूलतः यह शब्द कदाचित् सं० 'प्रयुग' का प्राकृत रूप है, यद्यपि ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है) मिल जाते हैं । इन शब्दों में 'तितउ' का प्रयोग संस्कृत में भी हुआ है । इस तरह 'अउ' संस्कृत में भी है । किन्तु यह अपवाद है । पालि में इस संधि नियम में और ढील आई और प्राकृत अपभ्रंश में व्यंजन-लोप की प्रवृत्ति के कारण काफी स्वर-संयोग में आए । कुछ उदाहरण हैं : अअ, अआ, अइ, अउ, अए, अओ, आअ, आइ, आई, आउ, आऊ, आए, आओ, इअ, इइ, इओ, इउ, ईअ, ईइ, उअ, उआ, उइ, उई, उउ, उऊ, उओ,

ऊअ, ऊआ, एअ, एआ, एइ, एउ, एऊ, ओअ, ओआ, ओइ, ओउ, ओऊ आदि। तीन स्वरों के संयोग भी हैं : उअअ, उअआ, उअइ, अइअ।

आदिकालीन हिन्दी में भी स्वर-संयोग पर्याप्त मिलते हैं। 14वीं सदी के आस-पास के साहित्य में प्राप्त प्रमुख स्वरसंयोग ये हैं :—अअ, अआ, अइ, अई, अउ, अऊ, अए, अओ, आइ, आई, आउ, आऊ, आए, आओ, आए, इअ, इआ, इउ, इए, इऐ, इओ, ईअ, ईआ, ईउ, ईए, उअ, उआ, उइ, उई, उए, उऐ, उआ, उओ, ऊआ, ऊए, ऊई, ऊओ, एअ, एइ, एई, एउ, एऊ, ओआ, ओइ, ओई, ओउ, ओऊ, ओए। तीन स्वरों के संयोग भी कम नहीं हैं : अइए, अइऐ, अईआ, अएउ, आइए, आइएं, इआइ, इआउ, एइए, ओइए, औइऐ। एक उदाहरण चार स्वरों का भी है : इअइऐ।

आधुनिक हिन्दी में प्रमुख स्वर-संयोग निम्नांकित हैं :—दो स्वर-संयोग—अआ (गया य-श्रुति), अई (नई, कई), अऊ (गऊ), अए (गए, नए), आआ (आया, य-श्रुति), आई (आई, खाई, पढ़ाई), आऊ (खाऊ, धराऊ, उड़ाऊ), आए (गाए, आए, जाए), आओ (आओ, खाओ, गाओ), इआ (दिया, य-श्रुति), इए (लए, दिए), इओ (जिओ, पिओ), उआ (हुआ, बुआ, जुआ), उई (सुई, रुई), उए (चुए), एआ (खेया, य-श्रुति), एई (लेई), एओ (खेओ, सेवो, व-श्रुति), ओआ (खोआ, सोआ), ओई (रसोई, कोई), ओए (रोए, धोए) आदि।

तीन स्वर-संयोग—अइआ (रखवइआ, रखवैया भी; भअआ, भैया भी; गवइया, गवैया भी); अउआ (कउवा, कौवा भी; पउवा पौवा भी, व-श्रुति), आइए (आइए, गाइए), ओइए (रोइए) आदि।

हिन्दी बोलियों में और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

प्रश्न 64—हिन्दी भाषा की ध्वनियों का विवेचनात्मक परिचय दीजिए :

प्रश्न 65—हिन्दी ध्वनि-समूह की विशेषताएँ बतलाइए।

उत्तर—ध्वनियाँ मुख्यतः दो प्रकार की हैं—(1) स्वर, (2) व्यंजन। 'ऋ' को छोडकर शेष स्वर ध्वनियों की चर्चा हम प्रश्न 60 में कर चुके हैं। 'ऋ' की चर्चा पृष्ठ 58 के प्रसंग में की जा चुकी है। अब शेष व्यंजन ध्वनियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत हैं।

क्—कण्ठ्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—कल, पकड़ना, शोक।

ख्—कण्ठ्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण। उदाहरण, खल, देखना, मुख।

ग्—कण्ठ्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—गोल, जगत, आग।

घ्—कण्ठ्य, स्पर्श, सघोष महाप्राण। उदाहरण—घड़ा, बघेर, अघ।

ङ्—कण्ठ्य, नासिक्य सघोष, अल्पप्राण। शब्द के मध्य में इसका प्रयोग होता है, यथा—पंक, गङ्गा।

च्—तालव्य, स्पर्श-संघर्षी, अघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—चम्मच, सचमुच।

छ्—तालव्य, स्पर्श-संघर्षी, अघोष, महाप्राण। उदाहरण—छल, मछली, पूँछ।

ज्—तालव्य, स्पर्श-संघर्षी, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—जब, बजाना, आज।

झ्—तालव्य, स्पर्श-संघर्षी—सघोष, महाप्राण। उदाहरण—झटपट, साझा, झोंझ।

ञ्—तालव्य, स्पर्श-संघर्षी सघोष, अल्पप्राण। जैसे-कुञ्ज।

ट्—मूर्धन्य, अघोष अल्पप्राण। उदाहरण—टाट, चाटना।

ठ्—मूर्धन्य स्पर्श, अघोष, महाप्राण। उदाहरण—ठीक, बैठना, पाठ।

ड्—मूर्धन्य, स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण-डाल, वेडौल, कार्ड, पिण्ड।

ढ्—मुर्धन्य, स्पर्श सघोष, महाप्राण। उदाहरण—ढाल, वैढ़व। शब्दान्त में इसका प्रयोग नहीं होता।

ण्—मूर्धन्य नासिक्य, सघोष, अल्पप्राण। शब्द के आदि में इसका प्रयोग नहीं होता तथा मध्य और अन्त में तत्सम शब्दों में ही प्रयुक्त होता है, यथा—परिणाम, रावण।

त्—दंत्य स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण। यथा—तेल, सताना, सात।

थ्—दंत्य स्पर्श, अघोष, महाप्राण। यथा—थोड़ा, व्यथा, हाथ।

द्—दंत्य स्पर्श, सघोष, अल्पप्राण। यथा—दल, लादना, बाद।

ध्—दंत्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण। यथा—धारा, अधिक, शोध।

न्—वत्स्यं, नासिक्य, सघोष, अल्पप्राण। यथा—नल, इनाम, कान।

प्—ओष्ठय स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—पाप, तप।

फ्—ओष्ठ्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण। उदाहरण—फल, सफल, साफ।

ब्—ओष्ठ्य, स्पर्श, सघोष अल्पप्राण। उदाहरण—बैल, तबला, कब।

भ्—ओष्ठ्य, स्पर्श, सघोष, महाप्राण। उदाहरण—भीड़. शोभा, जीभ।

म्—ओष्ठ्य, नासिक्य, सघोष, अल्प्राण। उदाहरण—मधुर, कमल, आम।

य्—तालव्य, अर्द्ध स्वर, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—याद, सहायता, गाय।

र्—वत्स्यं लुण्ठित, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—राजा, तैरना, बैर।

ल्—वर्त्य, पार्श्विक, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—लीला, फूल।

व्—दन्तोष्ठ्य, अर्द्ध स्वर, सघोष अल्पप्राण। उदाहरण—वीर, सवारी, भाव।

श्—तालव्य संघर्षी अघोष, अल्पप्राण। उदाहारण—शेर, देशी, केश।

ष्—मूर्धन्य, संघर्षी अघोष अल्पप्राण। जैसे—षट्कोण, भाषा।

स्—वत्स्य, संघर्षी अघोष अल्पप्राण। जैसे—षट्कोण, भाषः।

ह्—स्वरयंत्रमुखी, संघर्षी, सघोष, महाप्राण। उदाहरण—हम, महल देह।

विदेशी व्यंजन

क़्—जिह्वामूलीय, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—क़ायदा, नक़ल, ताक़।

ख़्—जिह्वामूलीय, संघर्षी, अघोष, महाप्राण। उदाहरण—ख़त, बेख़बर; सुख़।

ग़्—जिह्वामूलीय, संघर्षी, सघोष अल्पप्राण। उदाहरण—ग़ज़ल, बग़ैर, दाग़।

ज़्—वत्स्यं, संघर्षी, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—ज़रूरत, नज़र रोज़।

फ़्—दन्तोष्ठ्य, संघर्षी, अघोष, महाप्राण। उदाहरण—फ़र्क़, सफ़र माफ़।

नवीन विकसित व्यंजन

व्—दन्तोष्ठ्य, अर्द्धस्वर, सघोष, अल्पप्राण। उदाहरण—स्वाद, महत्त्व।

ड़्—मूर्धन्य, उत्क्षिप्त, सघोष, अल्प्राण। शब्द के आदि में इसका प्रयोग नहीं होता। उदाहरण—बड़ा, पेड़। वस्तुतः यह 'ड' की संध्वनि है।

ढ़्—मूर्धन्य उत्क्षिप्त, सघोष, महाप्राण। शब्द के आदि में अप्रयुक्त। उदाहरण बढ़ना, वाढ़। वस्तुतः यह 'ढ' की संध्वनि है।

न्ह्—वर्त्स्य, नासिक्य, सघोष, महाप्राण। उदाहरण—कान्ह, कन्हैया।

म्ह्—ओष्ठ्य, नासिक्य, सघोष, महाप्राण। उदाहरण—कुम्हार।

ल्ह्—वर्त्स्य, पार्श्विक, सघोष, महाप्राण। उदाहरण—आल्हा, दूल्हा।

ळ्—मूर्धन्य, पार्श्विक, सघोष, अल्पप्राण।

ळ्ह्—मूर्धन्य, पार्श्विक, सघोष, महाप्राण।

अध्याय | 7

हिन्दी-शब्द-भण्डार

प्रश्न 66—हिन्दी भाषा में जिन भाषाओं के शब्दों का उपयोग होता है, उनका उल्लेख कीजिए तथा उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 67—हिन्दी शब्द-समूह के मूल स्रोतों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

प्रश्न 68—हिन्दी शब्द-समूह के उद्गम पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 69—हिन्दी भाषा के विकास-क्रम में शब्द-सम्पत्ति का योगदान बड़ा ही महत्वपूर्ण है।" इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 70—"हिन्दी-शब्द समूह में संस्कृत के अतिरिक्त अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओं के शब्दों का समाहार है।" उपयुक्त उदाहरण देकर इस कथन की सार्थकता को प्रमाणित कीजिए।

प्रश्न 71—"शब्द-समूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक खिचड़ी होती है।" हिन्दी के शब्द-समूह को दृष्टि में रखते हुए इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए।

प्रश्न 72—हिन्दी में आगत शब्दों के मूल स्रोतों का उल्लेख करते हुए उनका वर्गीकरण कीजिए।

प्रश्न 73—हिन्दी तत्सम और तद्भव शब्दों में क्या सम्बन्ध है? संस्कृत से आगत विपुल भण्डार और उसकी महत्ता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भाषा के शब्द समूह का मिश्रित होना स्वाभाविक है—भाषा विचार विनिमय का माध्यम है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति अथवा समाज अपनी भावनाओं, अपनी मान्यताओं एवं अपने विचारों को व्यक्त करते हैं।

जब कोई जाति किसी अन्य जाति के सम्पर्क में आती है, तब वह अपने साथ अपनी भाषा को भी लाती है तथा अपने सम्पर्क में आने वाली जाति की भाषा को अपनी भाषा द्वारा प्रभावित करती है और उसकी भाषा द्वारा अपनी भाषा को प्रभावित होने का अवसर प्रदान करती है। अतएव किसी भी सभ्य भाषा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह आज तक अपने आदि विशुद्ध रूप को अक्षुण्ण बनाए हुए है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में, ' भाषा के सम्बन्ध में विशुद्ध शब्द से केवल इतना ही तात्पर्य हो सकता है कि किसी विशेष काल अथवा देश में उसका वह विशेष रूप प्रचलित था या नहीं, बस, उन्हीं अवस्थाओं में वह भाषा विशुद्ध कहला सकती है। दूसरे देश काल के उसी भाषा का रूप बदल जाएगा और तब इस परिवर्तित रूप को ही 'विशुद्ध की उपाधि मिल सकेगी।" कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द-समूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार की खिचड़ी होती है।

हिन्दी का शब्द-समूह—अन्य समस्त भाषाओं के समान हिन्दी भाषा के शब्द समूह में भी अनेक देशी-विदेशी, जीवित और मृत भाषाओं के शब्दों का समाहार पाया जाता है। हिन्दी एक संचरात्मक भाषा है। इसमें संस्कृत, विभिन्न देशी भाषाओं एवं बोलियों तथा विदेशी भाषाओं के शब्द पर्याप्त मात्रा में समाहित हैं।

संक्षेप में हिन्दी शब्द के प्रेरणा स्रोत या मूल स्रोत इस प्रकार हैं—

(1) संस्कृत भाषा के शब्द,
(2) अन्य भारतीय भाषाओं के शब्द,
(3) अनार्य भाषाओं के शब्द,
(4) हिन्दी प्रदेश की बोलियाँ एवं उपभाषाओं के शब्द,
(5) विदेशी भाषाओं से आये हुये शब्द तथा
(6) दो भाषाओं के योग से बने हुए शब्द।

हिन्दी शब्दावली का निर्माण करने वाले शब्दों का परिचय निम्नलिखित प्रकार है—

(1) संस्कृत भाषा के शब्द—हिन्दी वस्तुतः संस्कृत की बेटी है। इसमें संस्कृत के शब्दों की संख्या सदा से अधिक रही है। अब तो नवीन आवश्यकाओं के कारण उनकी संख्या में नित्य निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। ये शब्द प्रायः दो रूपों में पाये जाते हैं—(i) तत्सम तथा (ii) तद्भव।

(i) तत्सम शब्द—तत्सम् शब्द दो शब्दों के योग से बना है—तत्+सम। 'तत्' का अर्थ है। उसके और 'सम' का अर्थ होता है 'समान'। उसके 'समान' अर्थात् संस्कृत में प्रयुक्त रूप के सामन। संस्कृत में प्रयुक्त जब कोई शब्द अविकृत रूप में ज्यों के त्यों रूप में—हिन्दी मे प्रयुक्त होता है, तब वह 'तत्सम, कहा जाता है। हिन्दी भाषा ऐसे शब्दों से भरी पड़ी है; जैसे-अग्नि, परिवेश, परिप्रेक्ष्य, विदित, कृष्ण, यात्रा, चैत्र, ज्येष्ठ आदि।

(ii) तद्भव—'तद्भव' शब्द दो शब्दों के योग से बना है—तत्+भव। 'तत्' का अर्थ है उसे से और 'भव' का अर्थ है उत्पन्न अर्थात् उससे उत्पन्न अर्थात् वे

शब्द जो संस्कृत शब्दों से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषा प्रसूत शब्द को 'तद्भव' शब्द कहते हैं। ये शब्द प्राकृत से होकर हिन्दी में आये हैं। 'कृष्ण' का तद्भव रूप है—'कन्हैया' और, 'कान्हा'।

हिन्दी के शब्द-समूह में सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की ही है। कुछ लोगों का कहना है कि 'तद्भव का अर्थ संस्कृत से उत्पन्न अथवा परम्परा से प्राप्त संस्कृत का शब्द । कुछ लोगों के मतानुसार उक्त कथन भ्रमपूर्ण है। उसके मतानुसार 'तद्भव' शब्द प्रायः मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं से आए हैं, उनका संस्कृत से सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं।

(2) भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द—भारतवर्ष एक विशाल देश है। इस देश में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इन विभिन्न भाषाओं के प्रयोक्ता एक-दूसरे के सम्पर्क में आते रहते हैं। यद्यपि प्रायः भाषा-भाषी हिन्दी का प्रयोग करते हैं तथापि हिन्दी भाषा अन्य भाषाओं के प्रचलित एवं सुग्राह्य शब्दों को ग्रहण कर लेते हैं। यथा—

गुजराती—हड़ताल, गरवा।
बँगला—उपन्यास, गल्प, रसगुल्ला, नेह, आग, पैठ, टाट।
मराठी—चालू, बाजू।
पंजाबी—सिक्ख, सरदार, तन्दूर।

(3) भारतीय अनार्य भाषाओं के शब्द—समय के प्रवाह के साथ हिन्दी में अनार्य भाषाओं के अनेक शब्द प्रयुक्त होने लगे हैं। हिन्दी में बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जो प्राचीन काल में अनार्य भाषाओं से तत्कालीन आर्य भाषाओं में ले लिये गये थे। ये शब्द वस्तुतः आर्य भाषाओं के तद्भव शब्दों के ही समान हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि, "प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत शब्द-समूह में नहीं पाते थे, उन्हें अनार्य भाषाओं से प्राप्त हुए शब्द मान लेते थे। इन वैयाकरणों ने बहुत से बिगड़े हुए तद्भव शब्दों को भी देशी अर्थात् अनार्य भाषाओं के शब्द मान रक्खा था।" परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। अब अन्तिम स्थिति भिन्न है। इसको समझने के लिए डॉ० उदयनारायण तिवारी का यह कथन मनन करने योग्य है—"आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने लगभग साढ़े चार सौ संस्कृत के ऐसे शब्दों को ढूंढ़ निकाला है, जिनका अनार्य स्रोत है।'

अनार्य भाषाओं से आगत शब्दों के उदाहरण इस प्रकार हैं—
तमिल—बीस, झूठ, अभिमान, अमावसी, उपवास, कुटि, नीर, मति।
तेलुगु—ओसारा, कच्चा, गुंडा, चंदा, चक्का, आसरा, झंडा।
मलयालम—पूजा, साधु, तोफि, सरवत्तु जादि।

इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि द्राविड़ भाषाओं में (अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्दों का प्रयोग—हिन्दी में प्रायः अच्छे अर्थ में नहीं होता है। उदाहरण के लिए—"पिल्लै" का अर्थ 'पुत्र' होता है। यहाँ 'पिल्लै' हिन्दी में पिल्ला' होकर 'कुत्ते के बच्चे' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। मूर्द्धन्य वर्णों से युक्त शब्द वस्तुतः द्राविड भाषाओं की हिन्दी को देन है। या तो वे शब्द सीधे द्राविड़ (अनार्य) भाषाओं से आए हैं अथवा उनके ऊपर द्राविड़ भाषाओं का गहरा प्रभाव है।

'हिन्दी भाषा को कोल भाषाओं ने भी थोड़ा-बहुत प्रभावित किया है। हिन्दी में बीस की संख्या का वाचक शब्द 'कोड़ी' सम्भवतः मुण्डा भाषा से आया है।

(4) हिन्दी प्रदेश की बोलियों अथवा उपभाषाओं के शब्द—हिन्दी में हिंन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली बोलियों एवं उपभाषाओं के अनेक शब्द आ गए हैं जो हिन्दी के साथ एक दम घुलमिलकर एकाकार हो गए हैं। इन शब्दों का आगमन पारस्परिक व्यक्तिगत सम्पर्क से भी हुआ है तथा आंचलिक साहित्य के द्वारा भी हुआ है। इस संदर्भ में ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली तथा मगही का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(5) हिन्दी भाषाओं के शब्द–हिन्दी भाषा-भाषी लोग सैकड़ों वर्षों से विदेशियों के सम्पर्क में आए हैं। उनके साथ सम्पर्क, विचार-विनिमय आदि के फलस्वरूप यह स्वभाविक ही रहा कि उनकी भाषाओं के शब्द ग्रहण किए जाते। हुआ भी यही। मुसलमानों और अँगरेजों ने यहाँ अनेक वर्षों तक शासन भी किया। अतएव शासन सम्बन्धी अनेक शब्द उनकी भाषाओं द्वारा ग्रहरण किए गए।

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले विदेशों शब्दों के सोलह उपवर्ग बनाए हैं। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि सर्वाधिक शब्द इन चार भाषाओं से लिखे गए हैं—अरबी, फ़ारसी, तुर्की और अँगरेज़ी।

हिन्दी-शब्द-समूह पर पड़ने वाले विदेशी प्रभाव को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-—(1) मुसलमानी प्रभाव तथा (2) युरोपीय प्रभाव।

यह द्रष्टव्य है कि मुसलमानी और यूरोपियन दोनों ही यहाँ शासक के रूप में रहे। अतः इनके प्रभाव के फलस्वरूप प्रायः एक ही वर्ग का शब्द-समूह हिन्दी में आया है। यह शब्द-समूह दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(का) विदेशी संस्थाओं (कचहरी, फौज, धर्म आदि) से सम्बन्ध रखने वाले शब्द।

(ख) विदेशियों के साथ आने वाली विभिन्न वास्तुओं (नये पहनावे; यन्त्र, भोजन की चीजों) के नाम।

अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्द—ईसवी सन् 1000 तक पंजाब में मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। उस समय तक फारसी बोलने वाले तुर्कों ने पंजाब पर कब्जा कर लिया था। इनके प्रभाव के फलस्वरूप अनेक विदेशी शब्द हिन्दी में प्रवेश पा गए थे। 1200 ई० के बाद तो लगभग 600 वर्षों तक हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश पर तुर्कों, अफगानों और मुगलों का शासन रहा। इनकी भाषाओं के शब्दों ने भारतीय भाषा के शब्दों को खूब प्रभावित किया। इनकी भाषाओं के सैकड़ों विदेशी शब्दों ने गाँव की बोलियों तक को प्रभावित किया है। आदिकाल में तो 'पृथ्वीराज रासो' तक में फारसी के शब्द पाए जाते हैं। मध्यकाल में सूर, तुलसी, केशव, बिहारी आदि कवियों की शुद्ध साहित्यिक हिन्दी में भी इन विदेशी शब्दों के फुटकर प्रयोग पाए जाते हैं।

इन मुसलमानी शब्दों में सर्वाधिक शब्द फारसी के हैं, क्योंकि मुसलमानी शासन में सदैव ही फ़ारसी को दरबारी एवं साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया गया। तुर्की, अरबी आदि अन्य मुसलमानी भाषाओं के शब्द भी प्रायः फारसी के ही

माध्यम से ही होकर हिन्दी में आए हैं। कागज़ ज़रूरत, ज़िन्दगी आदि फ़ारसी के अनेक शब्द हिन्दी में पूरी तरह से घुल मिल गए हैं। इसी प्रकार तुर्की, अरबी के भी अनेक शब्द हिन्दी मे ऐसे मिल गए हैं मानों वे तद्भव शब्द ही हों, जैसे—आका, कैंची, काबू, कली, डलिया, चाकू आदि तुर्की के शब्द हैं। अमीर, महल, हलुवा, हलवाई आदि अरबी के शब्द हैं, जिन्हें हिन्दी भाषा-भाषी खुलकर प्रयोग करते हैं।

कुछ शब्द पश्तो के भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे—पठान, रोहिला (रोह=पहाड़) इत्यादि।

युरोपीय भाषाओं के शब्द—युरोप के निवासी लगभग सन् 1500 ई० से भारत में आने-जाने लगे थे। चूँकि ये लोग समुद्री मार्ग से आए थे, अतएव ये लोग आरम्भ में समुद्र तटवर्ती प्रदेश में ही बसे और हिन्दी प्रदेश से दूर ही रहे। यही कारण है कि हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में अँगरेजी के शब्दों का प्रभाव मिलता है। सन् 1800 ई० से यूरोपवासियों का हिन्दी प्रदेश के साथ निकट का सम्पर्क हुआ। सन् 1800 ई० के लगभग हिन्दी प्रदेश मुसलमानों के शासन से निकलकर अँगरेज़ी शासन के अन्तर्गत आया और सन् 1947 तक अँगरेजी शासन के अन्तर्गत रहा। इस इस बीच अँगरेजी यहाँ की राजभाषा बन गई और अब भी बनी हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि पिछले डेढ़-सौ पौने दो सौ वर्षों से हिन्दी के ऊपर यूरोपीय भाषाओं का विशेषकर अँगरेजी भाषा का बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के शब्द-भण्डार के ऊपर अँगरेजी भाषा के शब्दों का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी शब्द-समूह में अँगरेजी-शब्द-समूह बहुत ही गहरे पैठ गये हैं—यहाँ तक कि हमारे अशिक्षित ग्रामवासी भी अँगरेजी के अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं—यद्यपि इनमें अनेक शब्दों के रूप काफी विकृत हो जाते हैं—अंजन (ऐंजिन), सिगल (सिगनल), अफसर (ऑफमीर), टिकट (टिकिट), आर्दली (आडरली), इस्प्रेस (एक्सप्रेस) ठेठ थियेटर) आदि शब्दों का प्रयोग घर-घर में पाया जाता है। हाँ एक बात अवश्य है कि अँगरेजी के अनेक शब्द ऐसे हैं जिन्हें केवल शहर निवासी अँगरेजी पढ़ेलिखे व्यक्ति ही प्रयोग करते हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त अँगरेजी शब्द प्रायः तत्सम या अर्द्धतत्सम रूप ही प्रयुक्त होते हैं; यथा—डाक्टर, स्टेशन,-थर्ड डिवीजन, सिनेमा, नर्स, टैलीफोन, मिक्सचर इत्यादि।

अँगरेज़ी के अतिरिक्त अन्य कई यूरोपीय भाषाओं के शब्दों का भी निस्संकोच प्रयोग पाया जाता है। यथा

पुर्तगाली भाषा के शब्द—अनन्नास, अलमारी, आलपीन, अचार, कमीज, कमरा, पीपा, लबादा, सन्तरा इत्यादि।

फ्रांसीसी (फ्रेंच) भाषा के शब्द—अँगरेज, कूपन कार्तूस इत्यादि।

डच भाषा के शब्द—तुरुप (ताश के खेल में प्रयुक्त शब्द), बम (गाड़ी का)।

स्पेनी शब्द—सिगरेट, सिगार, कार्क, अलपका इत्यादि।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जर्मन परिवार की भाषाओं के शब्द हिन्दी में बिलकुल नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि इस भू-भाग के निवासियों के साथ भारतवासियों का सम्पर्क नहीं रहा है।

दो भाषाओं के योग से बने हुए शब्द—हिन्दी शब्दावली में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं जो भिन्न भाषाओं से मिलकर बने हैं। इन्हें हम संयुक्त शब्द भी कह सकते हैं। इनमें कई प्रकार के शब्द हैं—दो देशी भाषाओं से बने हुए शब्द, दो विदेशी भाषाओं से बने हुए शब्द तथा एक देशी एवं विदेशी भाषा से बने हुए शब्द; यथा

डाक खाना (डाक हिन्दी, खाना फारसी)।
राज महल (राज संस्कृत, महल अरबी)।
शेयर बाजार (शेयर अँगरेजी, बाज़ार फारसी)।
रेल मन्त्री (रेल अंगरेजी, मन्त्री संस्कृत)।
अर्जी नवीस (अर्जी अरबी, नवीस फारसी)।

निष्कर्ष—हिन्दी शब्द-समूह में आर्य-अनार्य, देशी, मुसलमानी तथा यूरोपीय सभी भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं। हिन्दी में संस्कृत के ही नहीं, अन्य अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के शब्द एक दम घुल-मिल गए हैं, उनका प्रयोग ऐसा स्वाभाविक हो गया है कि वे विदेशी लगते ही नहीं हैं। कौन कह सकता है कि हलुवा, हलवाई, कढ़ाई, महल आदि अरबी के शब्द हैं तथा कमीज और पीपा पुर्तगाली भाषा के शब्द हैं ? अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि अन्य समस्त भाषाओं के समान ही हिंदी शब्द-समूह में भी अनेक भाषाओं का शब्द-संग्रह उपलब्ध है। शब्द-समूह की दृष्टि से हिन्दी एक प्रकार की खिचड़ी भाषा ही है। फिर भी हिन्दी भाषा के विकास-क्रम में शब्द-सम्पत्ति का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न 74—हिन्दी शब्द-समूह को किन वर्गों में विभक्त किया जाता है।
प्रश्न 75—हिन्दी शब्दावाली का वर्गीकरण सोदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
प्रश्न 76—हिन्दी शब्द-समूह का वर्गीकरण कीजिए तथा तत्सम्बन्धी उदाहरण भी दीजिए।

प्रश्न 77—भाषाओं में देशी और विदेशी शब्दों से क्या तात्पर्य है ? हिन्दी-भाषा में प्रयुक्त तत्सम शब्दों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—हिन्दी शब्द-समूह विपुल तथा मिश्र है—भाषा एक सामाजिक वस्तु है। वह निरन्तर प्रवहमान एवं परिवर्तनशील है। व्यक्ति और जाति पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा एक-दूसरे की भाषा द्वारा प्रभावित होते हैं और शब्दों का आदान-प्रदान करते हैं।

हिन्दी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश के परिवार की है। प्राकृत एवं संस्कृत के माध्यम से हिन्दी को यह रूप प्राप्त हुआ है। संस्कृत मध्य देश की परिनिष्ठित भाषा रही। अतएव हिन्दी का शब्द भण्डार संस्कृत से सर्वाधिक प्रभावित है।

हिन्दी-प्रदेश विदेशियों के सम्पर्क में वर्षों तक रहा है। अतएव हिन्दी के शब्द-समूह पर विदेशी भाषाओं का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार कई देशी एवं विदेशी भाषाओं एवं बोलियों ने मुक्त हस्त से हिन्दी को अपनी शब्द-सम्पदा प्रदान की है। इस प्रकार हिन्दी का शब्द-समूह विशाल एवं विपुल हो गया है।

हिन्दी शब्द समूह का वर्गीकरण—हिन्दी का शब्द-भाण्डार विपुल और विशाल है। उसमें विभिन्न भाषाओं एव बोलियों के शब्द हैं। इस कारण उसका शब्द-भाण्डार कुछ जटिल भी हो गया है।

हिन्दी एक संरचनात्मक भाषा है। इससे अन्य भाषाओं की अपेक्षा वह कुछ विशिष्टता भी रखती है। अध्ययन की सुविधा के विचार से हिन्दी के शब्द-समूह को निम्नलिखित छह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) तत्सम शब्द-समूह, (2) तद्भव शब्द-समूह, (3) देशज या देशी शब्द-समूह, (4) विदेशी शब्द-समूह तथा (5) अनुकरण-वाचक शब्द-समूह।

शब्द-समूह के विभिन्न वर्ग

तत्सम शब्द-समूह—डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दों में 'वस्तुतः तत्सम् शब्द वे शब्द हैं जो नव्य आर्य भाषाओं में संस्कृत से उसी रूप में लिए गए हैं।" संस्कृत हिन्दी-शब्दों का मूल एवं मुख्य स्रोत है। हिन्दी में अनेक शब्द सीधे संस्कृत से आए हैं। संस्कृत से ज्यों के त्यों रूप में आने वाले शब्दों को तत्सम शब्द कहा जाता है। हिन्दी में ऐसे शब्दों का आधिक्य है। हिन्दी के शब्द-समूह में आधे से अधिक शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द हैं, यथा—सूर्य, श्वान, तीक्ष्ण, तीव्र, मति, गति, शिशु इत्यादि।

(2) तद्भव शब्द समूह—'तद्भव' का शब्दार्थ है 'उससे उत्पन्न, अर्थात् वे शब्द जिनका मूल संस्कृत है, परन्तु विभिन्न प्रभावों के कारण जिनका रूप भिन्न हो गया है। संस्कृत से आए हुए ऐसे शब्द जो प्राकृत की विशेषता से प्रभावित होने के कारण मूल संस्कृत से भिन्न रूप वाले हैं, 'तद्भव' कहलाते हैं। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार, "हिन्दी तथा अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में तद्भव वे शब्द हैं जो इन भाषाओं में मूल संस्कृत से प्राकृत होते हुए आए हैं।" यथा—

संस्कृत	प्राकृत	तद्भव
अद्य	अज्ज	आज
अग्नि	अग्गि	आग
पुष्प	पुप्फ	फूल
कार्य	कज्ज	काज
हस्त	हत्थ	हाथ

(4) देशज या देशी शब्द-समूह—देश के बोलचाल के वे शब्द जिनकी व्युत्पत्ति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है, 'देशज' कहलाते हैं। इन्हें ग्रामीण शब्द भी कहते हैं। हिन्दी में प्रयुक्त इस वर्ग के शब्दों की संख्या पर्याप्त है; यथा—डिबिया डोंगा, नाव, लोटा, पगड़ी, तेन्दूआ जूता इत्यादि।

(5) विदेशी शब्द-समूह—हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त अनेक विदेशियों के सम्पर्क में सैकड़ों वर्ष तक रहा है। मुसलमान और अंगरेज शासकों की राजधानियाँ इसी प्रदेश में रही हैं। अतएव हिन्दी के ऊपर मुसलमानी तथा यूरोपीय भाषाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा है और उन भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी में लोकप्रिय रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं। इन्हीं शब्दों को विदेशी या विदेशज कहते हैं। वे शब्द जो विदेशी भाषाओं से हिन्दी में आए हैं, विदेशज शब्द कहलाते हैं।

हिन्दी एक संरचनात्मक भाषा (Building Language) है। हिन्दी में अनेक विदेशी भाषाओं के शब्द खुलकर प्रयुक्त होते हैं। इनमें अंगरेजी के शब्दों की संख्या सर्वाधिक है। वे शब्द प्रायः तद्भव में प्रयुक्त होते हैं, रूप यथा—

अँगरेजी—टिकट, अंजन, बिल्टी, रपट, सिगल, डाक्टर, अस्पताल, कलट्टर इत्यादि।

पुर्तगाली— अलमारी, कनस्तर, कप्तान, कमीज, फीता, गिरजा इत्यादि।

फ्रेंच—कारतूस, अँगरेज़, कूपन।

डच—चिड़ी, तुरुप।

स्पेनी—अल्पका, सिगरेट, सिगार।

तुर्की—कुली, उर्दू, चिक, चेचक, उजबक, मुगल आदि।

अरबी—किस्सा, कीमत, दौलत, हैजा, मशहूर, मुसाफिर, महल, हलुआ।

फ़ारसी—चाशनी, आमदनी, आफ़त, आवाज़, पेशा, मुर्दा आदि।

कुछ शब्द जापानी और चीनी शब्दों के भी प्रयुक्त होते हैं। रिक्शा शब्द जापानी भाषा का शब्द है तथा चाय और लीची, चीनी भाषा के शब्द हैं।

देशी-विदेशी भाषाओं के योग से कई नये शब्द बन गए हैं जिनका हिन्दी में खुलकर प्रयोग होता है। डाकखाना, डाक-बँगला, शेयर-बाजार, रेल-मन्त्री, राज-महल आदि।

इन शब्दों का विग्रह इस प्रकार है—

डाकखाना (डाक-हिन्दी, खाना फारसी)।

डाकबँगला (डाक हिन्दी, बंगला अँगरेजी)।

शेयर-बाजार (शेयर अँगरेजी, बाजार फ़ारसी)।

राजमहल (राज संस्कृत, महल अरबी)।

(6) अनुकरणवाचक शब्द-समूह—अनुकरणवाचक शब्द वे शब्द हैं जो किसी वस्तु या पदार्थ की वास्तविक या कल्पित ध्वनि के आधार पर निर्मित हुए हैं। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो अपने मूल रूप की आवृत्त मात्र हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो निरर्थक हैं परन्तु साम्य के आधार पर मुख-सुख के कारण बना लिए गए हैं; यथा—

(क) ध्वनि के आधार पर निर्मित शब्द—सरसराना, फड़फड़ाना, चहकना ललकारना, फटकारना, पटाका इत्यादि।

(ख) आवृत्ति के आधार पर निर्मित शब्द —धूम-धड़क्का, भीड़भाड़, खटपट, धक्का-मुक्का, नोंच-खरोंच इत्यादि।

(ग) साम्य पर आधारित शब्द—फौज-फाटा, गँवार, सँवार, चाँय-चूय, लोटा-ओटा, रोटी-फोटी, खाद-वाद इत्यादि।

(7) अनार्य भाषाओं के शब्द—समय के प्रवाह के साथ तथा पारस्परिक सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दी में अनेक शब्द अनार्य भाषाओं से भी आ गए हैं। डॉ० उदयनारायण तिवारी का यह कथन द्रष्टव्य है कि, आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने लगभग साढ़े चार सौ संस्कृत के ऐसे शब्दों को ढूँढ़ निकाला है जिनके अनार्य स्रोत हैं। आर्येतर भाषाओं से आने वाले शब्दों के उदाहरण ये हैं—

तमिल भाषा के शब्द—उपवास, पंक्ति, अमावसी।

तेलुगु भाषा के शब्द—आली, आलि, पिल्ला।

मलयालम भाषा के शब्द—भंगी, चिल्लर।

मुण्डा भाषा के शब्द—कोड़ी (बीस की संख्या का वाचक शब्द)।

निष्कर्ष—हिन्दी भाषा का शब्द-भण्डार विपुल एवं विशाल है। उसने विदेशी शब्दों को उदारतापूर्वक अपनाकर अपने शब्द भण्डार की भी वृद्धि की है तथा अपने संरचनात्मक रूप को अक्षुण्ण रखा है। उदारतापूर्वक शब्द-ग्रहण करने की प्रकृति के कारण ही हिन्दी आज एक गतिशील एवं प्रगतिशील भाषा बन सकी है। अपनी इसी विशेषता के कारण वह इतना प्रबल विरोध होते हुए भी हमारे देश की राष्ट्रभाषा है।

अध्याय | 8

हिन्दी की समस्याएँ और उसका भावी रूप

प्रश्न78—राष्ट्रभाषा से क्या तात्पर्य है? भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का विवेचन कीजिए।

प्रश्न79—राष्ट्रभाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए हिन्दी को उन विशेषताओं को बतलाइए जिनके आधार पर उसे राष्ट्रभाषा कहा जा सके।

उत्तर—राष्ट्रभाषा के स्वरूप का विवेचन—सामान्य रूप से कई राज्यों के समुदाय को राष्ट्र कहते हैं। उदाहरणार्थ इंग्लैंड के लिए 'यूनाइटेड किंगडम' (U. K.) रूस के लिए 'युनियन ऑव सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स, (U. S. S. R.) और उत्तरीअमरीका के समस्त राष्ट्र के लिए यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका (U.S.A.) कहते हैं। इनमें प्रत्येक राष्ट्र अनेक राज्यों का सम्मिलित रूप है। प्रत्येक राष्ट्र के अन्तर्गत आने वाले अनेक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्वाह के लिए एक सम्पर्क भाषा प्रयुक्त की जाती है। इंग्लैंड और अमेरिका में यह स्थान अँगरेजी को प्राप्त है तथा रूस में रूस भाषा राष्ट्र की भाषा कही जाती है।

राष्ट्रभाषा के साथ-साथ प्रत्येक राज्य की अपनी राज्यभाषा या प्रादेशिक भाषा भी होती है। रूस के विभिन्न राज्यों की अपनी-अपनी राज्य भाषाएँ हैं, जबकि रूसी भाषा समग्र राजकीय कार्यों में व्यवहृत होती है। प्रादेशिक भाषाओं में प्रदेश के कार्य होते हैं। ये प्रादेशिक भाषाएँ अथवा भाषाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप में भी व्यवहृत होती हैं।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार 'जब कोई विभाषा अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता में दूसरी विभाषाओं को प्रभावित कर उस क्षेत्र में प्रयुक्त होने

लगती है तो उसे टकसाली भाषा कहते हैं।' इसी को डॉ० भोलानाथ तिवारी ने आदर्श या परिनिष्ठित भाषा कहा है। उनके मतानुसार जब किसी भाषा का प्रसार अन्य भाषाओं के क्षेत्र में होता है और वह विभिन्न भाषा-भाषी लोगों द्वारा विचार विनिमय के लिए प्रयुक्त होने लगती है तो उसे 'राष्ट्र भाषा' कहते हैं। डॉ० तिवारी के अनुसार राष्ट्रभाषा का स्वरूप इस प्रकार ठहरता है कि, 'जब बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी बढ़ती है और अन्य भाषा-क्षेत्र में ही उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों में भी होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है।' इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर समस्त कार्यों में व्यवहृत होने वाली भाषा ही राष्ट्रभाषा है। सभी कार्यों से तात्पर्य न्यायालय, प्रचार, उच्चशिक्षा के माध्यम, राजकीय सेवाएँ व्यापार आदि से है।

जब किसी भाषा को समस्त राष्ट्र की भाषा मान लिया जाता है, तब वह राष्ट्रभाषा कहलाती है। जब कोई बोली विभाषा का रूप धारण कर लेती है और फिर क्रमशः साहित्यिक रचना का माध्यम बनकर भाषा का रूप धारण कर लेती है और उसको इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो जाती है कि वह समग्र रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र के विचार विनिमय का माध्यम बन जाती है, तब वह राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त होती है।

जैसा कि डॉ० तिवारी के वक्तव्य द्वारा ध्वनित होता है कि कतिपय विद्वानों की राय है कि राष्ट्रभाषा वह भाषा है जिसे राजकीय क्षेत्र में समस्त राष्ट्र के कार्य-संचालन की स्वीकृति प्राप्त हो। हमारे विचार से उक्त धारणा भ्रामक है। भाषा राजकीय सम्पत्ति नहीं, सामाजिक सम्पत्ति है। राजकीय क्षेत्र द्वारा स्वीकृत भाषा 'राज भाषा' कही जानी चाहिए क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि राजभाषा और राष्ट्रभाषा अभिन्न हों।

उदाहरण के लिए हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, क्योंकि वह सम्पूर्ण राष्ट्र के विचार-विनियम की भाषा है, परन्तु वह 'राजभाषा' के पद पर अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है। हमारे देश के राजनीतिज्ञ तो अभी तक यही निर्णय नहीं कर पाए हैं कि राजकीय कार्य-संचालन के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाए। तब क्या इसका यह अर्थ समझा जाए कि भारत की कोई राष्ट्रभाषा ही नहीं है। भाषा वस्तुतः जनता का समर्थन प्राप्त करके राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करती है। जिस प्रकार वनराज के रूप में सिंह का कभी अभिषेक नहीं होता है, उसी प्रकार राष्ट्र भाषा को राजनीतियों के ऊहा-पोह की मोहर की अपेक्षा नहीं रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप राष्ट्रभाषा भाषा का वह व्यापक रूप है, जिसका व्यवहार समस्त राष्ट्र में होता है। राष्ट्रभाषा ही वस्तुतः देश की संस्कृति एवं उसके आदर्शों तथा देशवासियों की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करती है। राष्ट्रभाषा वही भाषा बन सकती है जिसमें इतनी सामर्थ्य हो कि वह देश के विभिन्न भागों के निवासियों के मध्य सम्पर्क स्थापित कर सके तथा अन्य उपभाषाओं एवं विभाषाओं की प्रगति में सहायक बन सके।

भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी—किसी समय भारत में अनेक बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं। इन्हीं विभाषाओं में से एक को परिमार्जित करके मध्य देश के विद्वानों ने 'संस्कृत' भाषा का रूप प्रदान किया और वही भाषा लोकप्रिय

होकर बहुत समय तक राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन रही। बौद्ध धर्म के उत्थान के फलस्वरूप प्राकृत भाषाओं का प्रभाव बढ़ा और इस क्षेत्र में मागधी प्राकृत का प्रभाव बढ़ा जो कालांतर में पालि नाम से राष्ट्रभाषा बनी। इसके पश्चात् शौरसेनी, प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का बोलबाला हुआ और वे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुईं। इसके बाद प्रान्तीय भाषाओं का युग आया। मेरठ और दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली एक विभाषा खड़ी बोली धीरे-धीरे साहित्यिक रूप को प्राप्त हुई और वही खड़ी बोली हिन्दी नाम से भारत की राष्ट्रभाषा बन गई है।

प्रो० जेनिश ने बर्लिन में हुए 'भाषा विज्ञानियों के सम्मेलन' में कहा था—'जो भाषा राष्ट्र-भाषा (और फलतः राजभाषा) का स्थान ग्रहण करनी चाहती हो, उसमें सभी प्रकार के विचार प्रकट करने के लिए अवकाश होना चाहिए, अर्थात् उसका शब्द-भण्डार बहुत बड़ा तथा विपुल होना चाहिए। वह अधिकतम लोगों के लिए सुगम और सुबोध होनी चाहिए। उसका व्याकरण बहुत ही सरल होना चाहिए और उसके नियमों की तुलना में अपवादों की मात्रा बहुत कम होनी चाहिए, जिससे लोग सहज में वह भाषा सीख सकें। उसकी पाचन-शक्ति बहुत प्रबल होनी चाहिए, जिससे वह दूसरी भाषाओं के आवश्यकता तथा उपयुक्त शब्द, प्रयोग, मुहावरे आदि सहज में ग्रहण कर सके। जिस भाषा से आकर वह जीवन-शक्ति, प्रेरणा तथा शब्द ग्रहण करती हो, वह आकर भाषा भी इतनी उन्नत तथा सम्पन्न होना चाहिए कि वह विचार-संचार के लिए उपयुक्त अभिव्यंजना-शक्ति विकसित कर सके। उसकी बहुत पुरानी परम्परा होनी चाहिए। साथ ही उसकी लिपि भी इतनी सुगम होनी चाहिए कि लोग उसे सहज में समझ लें।'

उक्त विचारों की उपादेयता में किसी को कोई सन्देह न तो है और न हो सकता है। इस बात के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है कि हिन्दी में सभी ज्ञान-विज्ञानों के तत्त्व, भाव तथा विचार प्रकट करने वाले सरल और सुबोध शब्द हैं।

हिन्दी भारत-भूमि से उत्पन्न भारत की राष्ट्रभाषा है। बद्रीनाथ, केदारनाथ से रामेश्वरम् तक और द्वारिकापुरी से जगन्नाथपुरी तक प्रत्येक भारतवासी हिन्दी की वाणी को समझता है। इस विशाल भूभाग की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ भी हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। परन्तु राजनीतिक गुटबन्दी के फलस्वरूप हिन्दी को राजाश्रय प्राप्त नहीं हो सका है। वह जनभाषा होने के कारण तो राष्ट्रभाषा है, परन्तु राजकीय स्वीकृति की दृष्टि से उसका राष्ट्रभाषा पद अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। भारत के संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया, परन्तु उसके साथ 'अँगरेजी' की पख लगा दी गई—सन् 1965 तक अँगरेजी ही समस्त राजकाज की भाषा रहेगी और तत्पश्चात् उसका स्थान धीरे-धीरे हिन्दी ग्रहण कर लेगी। यह अवधि कब की समाप्त हो चुकी है। कभी वह सखी भाषा कह दी जाती है और कभी सम्पर्क भाषा कह दी जाती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने किसी समय कहा था कि, 'समस्त भारत के सांस्कृतिक ऐक्य का प्रतीक हिन्दी ही है। × × व्यवहार करने वालों और बोलने वालों की संख्या से क्रम के अनुसार उत्तरी चीनी और अँगरेजी इन दोनों के बाद हिन्दी आती है। × × पन्द्रह करोड़ मानवों की शिक्षा और संस्कृति की भाषा हिन्दी ही है, चाहे अपने शुद्ध रूप में, चाहे अपने मुसलमानी उर्दू रूप में। जगत की जनता के एक पाँचवें अंश की राष्ट्रभाषा

हिन्दी ही है। मैं अपनी ओर से चाहता हूँ कि मेरे बंगवासी भाई और बहन अपनी माँ बंग भाषा की सेवा करते हुए हिन्दी की सेवा में कुछ भाग लें और अखिल भारत की एकता को सुदृढ़ करने में सहायता दें।'

उक्त कथन में हिन्दी की स्थिति पर संसार के परिपेक्ष्य में विचार किया गया है। भारत की दृष्टि से तो हिन्दी का स्थान सर्वप्रथम ठहरता है। यहाँ एक अन्य बात भी द्रष्टव्य है। कुछ समय पश्चात् राजनीतिक दबावों के फलस्वरूप डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ही हिन्दी-विरोधी बन गए और वह अँगरेजी को राष्ट्रभाषा का पद देने का स्वप्न देखने लगे। हिन्दी का राष्ट्रभाषा पद विवादास्पद बन जाने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि आज हमारे देश की राष्ट्रभाषा (National language) नाम की कोई भाषा है ही नहीं। संसार में केवल भारत ही ऐसा देश है जिसकी कोई विधिवत् राष्ट्रभाषा नहीं है। वैसे समस्त राष्ट्र इसको अपनी भाषा मानता है तथा समस्त विदेशी हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में जानते हैं। इस प्रकार की विडम्बना एवं दुःखद स्थिति उत्पन्न करने वाले राजनीति के पुजारियों को हमारी भावी संतान किन शब्दों में याद करेगी?

विशिष्ट मानसिकता का प्रश्न—ऐसा प्रतीत होता है कि हम आज भी कहीं विदेशी प्रभुता की विशिष्ट मानसिकता से बंधे हुए हैं और कुछ थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखे सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों की सुविधा के लिए जन-मानस और उसकी भावनाओं की उपेक्षा कर रहे हैं। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिन अधिकारियों ने अंग्रेजी माध्यम से अपना अध्ययन पूरा किया है उन्हें हिंदी में काम करने में कठिनाई हो सकती है। अनेक तकनीकी, वैज्ञानिक एवं वाणिज्यिक संगठनों मे, जहाँ हिंदी न जानने वाले अधिकारियों का बाहुल्य है, अकस्मात् हिंदी में काम करने में असुविधा हो सकती है। लेकिन इस कारण ही उनका सारा कामकाज अनिश्चित काल तक अँग्रेजी में चलता रहे, यह तर्कसंगत और संविधान सम्मत नहीं है। हिंदी के प्रयोग के बारे में हिंदी न जानने वालों के साथ कभी कोई जोर-जबर्दस्ती की गई हो, इसका एक भी पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सरकारी नौकरी में प्रवेश पाने के लिए हिन्दी का अनिवार्य ज्ञान अपेक्षित नहीं है। हाँ, नौकरी में आने के बाद उनसे यह अपेक्षा जरूर की जा सकती है कि वे हिंदी सीख लें। हालांकि, हिंदी सीखने के बाद भी उन्हें इस बात के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता कि वे हिंदी में काम भी करें। बेशक, हिंदी के अपेक्षित ज्ञान के आधार पर वे अग्रिम वेतन-वृद्धि जैसे लाभ जरूर उठा लेते हैं।

हिंदी में काम करने की जिम्मेवारी वस्तुतः उन मुट्ठीभर कर्मचारियों की समझी जाती है जो हिंदी के काम के लिए नियुक्त किए जाते हैं। इस मौलिक तथ्य को भुला दिया जाता है कि बड़े-बड़े विभागों और मंत्रालयों का सारा काम कुछ थोड़े से कर्मचारी कैसे कर सकते हैं? इसका नतीजा यह हुआ कि हिंदी से संबंधित कागज-पत्र हिंदी अनुभाग को भेज कर निश्चित हो जाने की परंपरा चल पड़ी। सरकारी कार्यालयों में हिंदी केवल अनुवाद की भाषा बनकर रह गई और जो हिंदी सामने आई उसमें कृत्रिमता, दुरूहता और अटपटेपन के ही दर्शन हुए जिसे सुनने और समझने वालों को न केवल खीझ हुई वरन् उपाहासास्पद भी लगा। राजभाषा नियम;

1976, में यह स्पष्ट व्यवस्था है कि हिंदी में काम के बारे में संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुपालन की जिम्मेवारी कागजात पर हस्ताक्षर करने वाले प्रशासनिक अधिकारियों एवं विभागाध्यक्षों की है, किन्तु इस दायित्व का पूरी तौर निर्वाह नहीं किया जा रहा है। इस कारण हिंदी के प्रयोग-प्रसार में अवरोध उत्पन्न हुआ है।

हिन्दी की राष्ट्रभाषा संबन्धी विशेषताएँ—निम्नलिखित विशेषताओं के कारण हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है—

(1) **बहुजन द्वारा प्रयुक्त**—वैसे तो इस विशाल देश का प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक हिन्दी जानता है—समझता है, बोलता है, परन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश तो हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश ही कहे जाते हैं। इन प्रदेशों की जनता अपने समस्त व्यवहार में हिन्दी का ही प्रयोग करती है। इतना ही नहीं हिन्दी इन प्रदेशों की राजभाषा भी है। हिन्दी बोलने वालों की संख्या 40 करोड़ से ऊपर ही है। भारत की अन्य 15 प्रमुख भाषाओं में किसी भी भाषा को बोलने वालों की संख्या इतनी नहीं है।

(2) **अध्ययन सरल**—हिन्दी की वर्णमाला ध्वनि सिद्ध के अनुसार निर्मित है। अतएव इसको बहुत ही सरलतापूर्वक सीख लिया जाता है। यही कारण है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी लाखों छात्र हिन्दी का अध्ययन करते रहते हैं।

(3) **संस्कृति की संरक्षिका**—संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति की धात्री है। संस्कृत भाषा में भारतीय मनीषा ने अपने आपको अभिव्यक्त किया है। हिन्दी संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है। अतः उसको संस्कृत से भारतीय संस्कृति की थाती प्राप्त है। पहले संस्कृत भाषा हमारे धर्म, दर्शन, जीवन-संदेश, आचार-विचार आदि की वाहिका एवं सरंक्षिका थी। आज वही स्थान एवं गौरव हिन्दी को प्राप्त है। अतएव भारतीय संस्कृति का संरक्षण हिन्दी के ही माध्यम द्वारा सम्भव है।

(4) **वैज्ञानिक लिपि**—हिन्दी की वर्णमाला हिन्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण सम्पति है। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए एक निश्चित ध्वनि प्रतीक है। इसमें जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है। इसकी वर्णमाला इस प्रकार निर्मित है कि प्रत्येक व्यंजन एवं स्वर के लिए निश्चित उच्चारण विधि निर्धारित है।

विरोधियों के तर्क—जो लोग हिन्दी के प्रति ईर्ष्यालु हैं, वे अपने पक्ष के समर्थन में तरह-तरह के तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि चूंकि व्यापारी वर्ग हिन्दी का प्रयोग नहीं करता है, इसलिए यह लोकप्रिय एवं व्यावहारिक भाषा नहीं कही जा सकती है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इसमें पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। अतः इसमें विज्ञान-सम्बन्धी विषयों की शिक्षा नहीं दी जा सकती है।

अत्यधिक स्वार्थी लोग यहाँ तक कह देते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लेने से राज्य भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो जाएगा।

उपसंहार—हमारे विचार से विरोधियों के तर्क एकदम लचर हैं। यदि हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से राज्य भाषाओं का विकास रुकता है तब तो यह तर्क देश की अन्य किसी भी भाषा के विरुद्ध लागू किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह

है कि इस देश की कोई भी भाषा राष्ट्रभाषा होने योग्य नहीं है। विदेशी भाषा अँगरेजी ही सदैव यहाँ की राष्ट्रभाषा बनी रहेगी।

शब्द-भण्डार को असमृद्ध बताने वाले व्यक्ति हिन्दी की प्राकृत से परिचित नहीं हैं। हिन्दी के पीछे संस्कृत का अक्षय शब्द-भण्डार है। समस्त पद्धति द्वारा संस्कृत शब्द का निर्माण करके सरलतापूर्वक हिन्दी अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी में हजारों की संख्या में नवीन शब्दों का निर्माण हुआ है और कई शब्द-कोश तैयार हुए हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य बात द्रष्टव्य है। हिन्दी के शब्द-भण्डार में लगभग 40 प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जिनका आगमन संस्कृत से नहीं हुआ है, जो विदेशी भाषाओं से गृहीत हैं अथवा ग्रामीण बोलियों के शब्द हैं। आवश्यकतानुसार हम अँगरेजी आदि के शब्द भी ग्रहण करके अपना काम चला सकते हैं। जिस प्रकार हमने एंजिन, स्टेशन, अफसर आदि शब्द ग्रहण किए हैं उसी प्रकार हम नाइट्रोजन, गेलवनोमीटर आदि शब्दों को भी प्रयुक्त कर सकते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि हिन्दी का विरोध साहित्यिक अथवा सैद्धान्तिक नहीं है, वह केवल राजनीतिक है। जो तर्क हमारे विदेशी शासक दिया करते थे, वे ही तर्क हमारे हिन्दी विरोधी भारतवासी देते हैं। इन लोगों को भय हुआ है कि यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई, तो हिन्दी भाषी समस्त सरकारी नौकरियों पर छा जाएँगे। यह भय वस्तुतः निर्मूल है। जिन अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में हिन्दी पढ़ाई गई है वहाँ के निवासी हिन्दी के उद्‌भट विद्वान सिद्ध हुए हैं और फिर यदि कठिनाई वास्तविक है तो हमारी राय में केन्द्र की सरकारी नौकरियों में प्रत्येक प्रांत का कोटा तय कर देना चाहिए।

प्रत्येक राज्य की अपनी भाषा है। प्रदेशीय काम-काज तथा शिक्षा के माध्यम आदि के रूप में प्रदेशीय भाषा के प्रयोग के लिए प्रत्येक राज्य स्वतन्त्र है। तब फिर हिन्दी के द्वारा राज्य-भाषाओं के विकास के अवरुद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अँगरेजी के होते हुए जब प्रादेशिक भाषाएँ पनप सकती हैं और उनका अहित नहीं होता है, तब फिर हिन्दी के द्वारा इस अहित के होने की आशंका सर्वथा निर्मूल ही कही जानी चाहिए। हिन्दी को राजभाषा अथवा रानीतिक अर्थ में राष्ट्रभाषा बनाने का अर्थ केवल इतना ही है कि जहाँ अँगरेजी का प्रयोग होता है, वहाँ हिन्दी का प्रयोग होने लगे? निष्कर्ष यह है कि जनता हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर चुकी है। शासन को चाहिए कि हिन्दी को उसका न्यायपूर्ण आसन प्रदान करने में आनावश्यक एवं अकारण विलम्ब न करे। वह राष्ट्रभाषा होने की पूर्ण अधिकारिणी है।

प्रश्न 80—राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्याओं का उल्लेख कीजिए और उनके समाधान पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 81—हिन्दी वर्तनी की विविधरूपता का परिचय देते हुए उसे समाप्त करने के उपाय बतलाइए।

उत्तर —समस्या का कारण—यद्यपि आज से लगभगा 31 वर्ष पूर्व संविधान में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया था, तथापि वह आज तक व्यावहारिक रूप में उक्त पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है। उसके इस मार्ग में व्याव-

हारिक कठिनाइयों की अपेक्षा राजनीतिक कठिनाइयाँ अधिक हैं। अँगरेजी के भक्त अँगरेजों के भी भक्त हैं। वे नहीं चाहते हैं कि अँगरेजी अपने उच्चासन से हटे। वे लोग नित्य नये कारण प्रस्तुत करके हिन्दी के राज्याभिषेक को टालते रहते हैं। दुर्भाग्यवश अँगरेजी भक्त लोग ही सत्ताधारी हैं। वे बराबर यह भी चाहते हैं कि जनता और उनके बीच अन्तर रहे। यह अन्तर तभी सम्भव है जब उनकी और जनता की भाषाएँ भिन्न हों।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी की समस्याएँ—जो लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा का आसन देने के विरोधी हैं, वे कई दृष्टियों से हिन्दी का इस पद के अयोग्य बताते हैं। हिन्दी के मार्ग में उन लोगों के द्वारा प्रस्तुत बाधाएँ ही वस्तुतः राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्याएँ हैं; यथा—

(1) पारिभाषिक शब्दावली की समस्या। (2) वर्तनी की समस्या। (3) लिपि की समस्या। (4) टंकण की समस्या। (5) व्याकरण की समस्या। (6) अनुवाद की समस्या।

इन समस्याओं का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है—

पारिभाषिक शब्दावली की समस्या—हिन्दी को राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त मानने वाले व्यक्तियों का पहला तर्क यह है कि हिन्दी का शब्द भण्डार बहुत ही सीमित है। इसमें विज्ञान, तकनीकी, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित शब्दों का अभाव है। फलतः हिन्दी में इन विषयों की पुस्तकें नहीं लिखी जा सकती हैं और साथ ही उक्त विषयों को हिन्दी के माध्यम से पढ़ाया भी नहीं जा सकता है।

इस समस्या का निराकरण दो दृष्टियों से किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि शब्दावली वाली समस्या वास्तविक कम है, हवाई अधिक है। हिन्दी का शब्द भण्डार विपुल एवं विशाल है। इसके अतिरिक्त संस्कृत की सहायता से तत्काल शब्दों का निर्माण सम्भव है। अनेक विश्वविद्यालयों में विज्ञापन की पढ़ाई हिन्दी के माध्यम से होने लगी है तथा विज्ञान की अनेक पुस्तकें हिन्दी में लिखी भी जा चुकी हैं। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि जो लोग हिन्दी के विरोधी हैं, वे भी जब हिन्दी बोलते हैं तब बहुत कम गलतियाँ करते हैं। वे जब अँगरेजी बोलने जाते हैं, तो व्याकरण एवं पद विन्यास की अनेक गलतियाँ करते हैं।

दूसरी दृष्टि यह है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रत्येक भाषा में शब्द भण्डार की कमी का होना स्वाभाविक है। परन्तु समय के साथ और आवश्यकता के अनुसार उसके आभावों की पूर्ति होती रहती है। अँगरेजी भाषा को ही ले लीजिए। वह आज अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। परन्तु हमें समझ लेना चाहिए कि अँगरेजी में अन्य अनेक भाषाओं के शब्दों को अपनी दृष्टि के अनुसार ग्रहण किया है और उनको अपनी आत्मा के रंग में रँग दिया है। अँगरेजी के प्रेमियों ने अथक परिश्रम करके अपनी भाषा के शब्द-भंण्डार को समृद्ध किया है। परन्तु हिन्दी के शब्द-भण्डार की स्थिति बड़ी ही विचित्र है। इसमें मुख्य समस्या शब्द भाव की नहीं है—मुख्य समस्या है उपलब्ध शब्दों के सम्यक् प्रयोग की।

प्रशासक वर्ग अँगरेजी का मानस-पुत्र है और हिन्दी के प्रति इस वर्ग के व्यक्तियों का दृष्टिकोण बहुत ही उपेक्षापूर्ण है। ये लोग न तो शब्दों का निर्माण ही करने

देते हैं और न प्रस्तुत शब्दों का प्रयोग ही करते हैं। शब्द-निर्माण के लिए निर्मित समितियों की बैठकों में भाग लेने के लिए जब सदस्यगण जाते हैं। तो ये लोग उन लोगों की इतनी खातिर-खुशामद करते हैं कि सदस्यों के पास काम करने के लिए समय ही नहीं रह जाता है।

शब्द-निर्माण की पद्धति का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि इस कार्य के लिए अनेक संस्थाएँ बना दी गई हैं। प्रायः प्रत्येक राज्य सरकार इस कार्य को करा रही हैं। परिणाम यह हुआ है कि एक-एक विदेशी शब्द के लिए कई-कई हिन्दी शब्द बन गए हैं। प्रत्येक समिति ने अपनी मान्यताओं के अनुसार शब्द-निर्माण कर डाला है। उदाहरण के लिए हम Law तथा Theory शब्दों को ही लेते हैं। इन दोनों शब्दों के लिए 'नियम' एवं 'सिद्धान्त' मनमाने ढंग से प्रयुक्त कर दिए जाते हैं। Law के लिए 'विधि' शब्द को यथास्थान प्रयुक्त कर दिया जाता है। निष्कर्ष यह है कि शब्दों में एकरूपता का अभाव दिखाई देता है और प्रयोग करने वाले को शब्द-चयन में कठिनाई होती है, साथ ही हिन्दी के विरोधी हिन्दी का मजाक भी उड़ाने का अवसर पा जाते हैं।

शब्द-निर्माण का कार्य राजनीतिक खिलाड़ियों के हाथों में पड़ गया है। भाषाविद् तो प्रायः अलग-अलग बने रहते हैं। इस कार्य को प्रायः राजनीतिक लोग करते हैं। इन समितियों में जो साहित्यिक एवं भाषाविद् सम्मिलित किए जाते हैं, वे भी प्रायः राजनीतिज्ञों के द्वारा मनोनीत होते हैं जिन्हें अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए अर्द्ध-राजनीतिक की भाँति व्यवहार करना पड़ता है। परिणाम यह हुआ है कि ये लोग अत्यन्त कठिन एवं अस्वाभाविक शब्दों का निर्माण करते हैं और इन्हीं का एक अन्य वर्ग उन शब्दों की दुरूहता, अव्यावहारिकता की ओर इंगित करके हिन्दी का मजाक उड़ाता है और हिन्दी को अव्यावहारिक भाषा घोषित करता है। इस विषय का समाधान यह है कि यह कार्य राजनीतिज्ञों के हाथों से ले लिया जाए तथा उन भाषाविदों को सौंपा जाए जिनको हिन्दी के प्रति सहानुभूति है तथा जो हिन्दी की आत्मा यानी उसके व्यावहारिक रूप से भली प्रकार परिचित हैं।

हिन्दी को इस अव्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करने का ही यह दुष्परिणाम हुआ है कि हिन्दी आज देश की भावात्मक एकता की प्रतीक नहीं रह गई है, रेलगाड़ी के स्थान पर यदि हम 'लौहपथगामिनी' कहना चाहेंगे, तो हमारी हिन्दी को कौन स्वीकार करना चाहेगा ?

शब्दावली की समस्या का समाधान यह है कि शब्द-निर्माण का कार्य केवल केन्द्रीय स्तर पर हो, वह केवल स्वस्थ दृष्टिकोण वाले भाषाविदों द्वारा किया जाए, उसको अफ़सरशाही से मुक्त रखा जाए, एकरूपता के आधार पर शब्दों का निर्माण हो तथा विदेशी शब्दों को तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लोकप्रिय शब्दों को उदारतापूर्वक ग्रहण किया जाए। अन्य भाषाओं के शब्दों के तत्सम रूपों की अपेक्षा तद्भव शब्द अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अतएव अन्य भाषाओं के शब्दों के हमें वे रूप ग्रहण करने चाहिए जो जनभाषा की आत्मा के साथ मेल खाते हों। आग्रह संस्कृत के प्रति न होकर भारतीय एवं व्यावहारिकता के प्रति होना चाहिए।

वर्तनी की समस्या—हिन्दी वर्तनी में एकरूपता नहीं है। इस कारण अहिन्दी भाषी लोगों को हिन्दी लिखने में कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

सर्वप्रथम समस्या आती है तत्सम शब्दों का लिखना। कुछ लोग उन्हें ज्यों का त्यों लिखना चाहते हैं और कुछ लोग अन्तिम अक्षर को हलन्त कर देते हैं—जैसे स्वागतम्। द्रष्टव्य यह है कि दोनों कोटि के शब्दों राम, स्वागतम् का उच्चारण एक जैसा ही होता है। इस समस्या का समाधान यह है कि तत्सम शब्दों को तत्सम रूप में ही लिखा जाना चाहिए। यह हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध भी नहीं है तथा इससे लेखन एवं उच्चारण में एकरूपता बनी रहेगी।

द्वितीय समस्या आती है सामासिक पदों के लेखन की। सामासिक पदों जैसे नागरी-प्रचारिणी-सभा को किस प्रकार लिखा जाए? इनको परस्पर जोड़ा जाए अथवा स्वतन्त्र रूप में लिखा जाए—यथा—नागरी प्रचारिणी सभा।

इस समस्या का समाधानः कुछ कठिन है। इसके लिए समास-ज्ञान अनिवार्य है। प्रत्येक वर्ग के सामासिक पद को लिखने की अपनी विशेष पद्धति होती है; जैसे तत्पुरुष समास के छोटे शब्दों को एक करके लिखा जाना चाहिए; यथा—श्रीपति, लक्ष्मीपति, श्रीनिवास, तथा बड़े शब्दों को पृथक्-पृथक् लिखा जाए—नीरज-निवास, शिव-सदन।

द्वन्द्व समास में दोनों शब्दों को अलग-अलग लिखना चाहिए, जैसे राजा-रानी, भाई-बहिन, रात-दिन इत्यादि।

कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि तथा अव्ययीभाव समासों को यथासम्भव एक करके ही लिखना चाहिए यथा—नीलाम्बर, त्रिलोक, पंचानन, यथासमय इत्यादि।

वर्तनी की तीसरी समस्या है—य-श्रुति की समस्या। हिन्दी में 'य' श्रुति के लिए ये और ए दोनों का ही प्रयोग होता है; यथा—गया का बहु वचन गये और गए दोनों ही प्रकार में लिखा जाता है। इसी प्रकार कथा का बहुवचन कथायें तथा कथाएँ दोनों ही रूपों से लिखा जाता है। इस सम्बन्ध में विवाद एवं मतभेद के लिए पर्याप्त अवसर है। इसका सीधा-सरल समाधान यह है कि संज्ञा शब्दों में 'ए' के द्वारा काम चलाया जाना चाहिए; यथा—बालिकाएँ, प्रेरणाएँ इत्यादि। जिन क्रिया शब्दों के अन्त में 'या' का प्रयोग होता है, उनके बहुवचन में 'ए' का ही प्रयोग किया जाना चाहिए; यथा—गया-गए, इत्यादि।

चौथी समस्या आती है अनुस्वार चन्द्र बिन्दु एवं परसवर्ण की समस्या। अनुस्वार एवं अनुनासिकता के सम्बन्ध में भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। कहीं अनुस्वार (ं) का प्रयोग होता है और कहीं पंचम अक्षर का प्रयोग होता है; यथा—जैसे गंगा तथा गङ्गा। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा रूप शुद्ध है। हमारे विचार से दोनों ही प्रयोग ग्रहण होने चाहिए, यथा संबंध, सम्बन्ध इत्यादि।

पाँचवीं कठिनाई आती है विदेशी शब्दों को लिखने की। विदेशी भाषाओं के शब्दों में प्रायः ऐसी ध्वनियां होती हैं, जो हिन्दी वर्णमाला में नहीं हैं। अँगरेजी के Doctor में न शुद्ध 'ओ' है और न 'आ' है। ऐसे शब्दों को 'डॉक्टर' करके लिखा जाना चाहिए। Hotel, Restaurant आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इनके अनुरूप ध्वनियों का हमारे यहाँ अभाव है। तब इनको होटेल तथा रेस्टॉरॉं करके लिखा जाना चाहिए।

(3) लिपि की समस्या—हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी है, जिसकी वैज्ञानिकता संदेह के परे है। इसके वर्ण ध्वनि-नियम के अनुसार निर्धारित एवं निर्मित हैं। जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है तथा जो लिखा जाता है वही बोला जाता है। इसमें अन्य भाषाओं की तरह उच्चारण की समस्या नहीं है। तब भी विदेशी शब्दों को ग्रहण करते समय लिपि सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो जाती है। इनमें 'नुक्ता' नहीं है। अतएव अरबी-फ़ारसी के नुक्ता वाले शब्दों को लिखते समय यह समस्या उत्पन्न होती है कि उन शब्दों के नीचे नुक्ता लगाया जाए अथवा नहीं। इसी तरह अंगरेजी के कई शब्दों को Father, Fool आदि को फादर, फूल करके उच्चारित किया जाता है। हमारे विचार से उच्चारण की शुद्धता की दृष्टि से हिन्दी में भी ऐसे शब्दों के नीचे नुक्ता अवश्य लगाना चाहिए; यथा—ज़रूरत, ज़मीन, अर्ज़ी, आतिशबाज़ी आदि।

(4) टंकण की समस्या—हिन्दी में संयुक्तानुसार लिखते समय वर्ण नीचे और ऊपर दोनों ही प्रकार से मिलाए जाते हैं, यथा—सौहार्द्र, भ्रातृत्व, धर्म इत्यादि। इन शब्दों को टाइप करते समय बहुत कठिनाई होती है, की-बोर्ड को बार-बार ऊपर-नीचे करना पड़ता है। इस समस्या के समाधान के लिए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी प्रभृति विद्वानों ने रोमन लिपि के प्रयोग का सुझाव दिया था। परन्तु इसके प्रयोग में भी अनेक कठिनाइयाँ सामने आईं। दूसरी ओर हिन्दी के टाइप में आवश्यकतानुसार कई सुधार कर दिए गए हैं और अब टंकण की समस्या प्रायः हल ही हो चुकी है। हिन्दी टंकण में रोमन लिपि के प्रयोग का अर्थ यह होता है कि हिन्दी का साहित्य नागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि में लिखा जाए। तब फिर प्राचीन साहित्य को क्या रोमन लिपि में दुबारा लिखा जाए? हमारे विचार से रोमन लिपि वाली बात अब केवल इतिहास की वस्तु रह गई है। नागरी लिपि की टंकण सम्बन्धी समस्याओं का प्रायः समाधान हो चुका है।

(5) व्याकरण की समस्या—हिन्दी की व्याकरण एक विशेष रचना-पद्धति पर निर्मित है। वह संस्कृत के व्याकरण की भाँति सुनिश्चित नहीं है। इसका एक विशेष कारण है। हिन्दी में अनेक भाषाओं का समाहार है। यद्यपि कामता प्रसाद गुरू और किशोरीदास बाजपेयी प्रभृति विद्वानों ने हिन्दी व्याकरण को व्यवस्थित करने के लिए पर्याप्त कार्य किया है, तथापि उसमें पर्याप्त कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहती हैं। विशेषकर अहिन्दीभाषी व्यक्तियों की दृष्टि से; यथा—वह उठ बैठा, वह चल दिया आदिक वाक्यों का अर्थ अहिन्दीभाषी इस प्रकार करता है—वह उठा और बैठ गया तथा वह चला और उसने किसी को कुछ दिया। इस प्रकार के प्रयोग यद्यपि व्याकरण के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते हैं, तथापि इनकी व्यवस्था की आवश्यकता तो बनी ही हुई है।

हिन्दी में लिंग, वचन तथा 'ने' के प्रयोग-सम्बन्धी समस्या प्रायः उत्पन्न होती है। हिन्दी में लिंग का निर्णय सादृश्य और साहचर्य के आधार पर किया जाता है। कभी-कभी एकवचन में शब्द का रूप एक-सा ही बना रहता है। 'ने' के प्रयोग में बहुत गलतियाँ होती हैं। इनके लिए निश्चित नियमों को जानने के अतिरिक्त हिन्दी की आत्मा से परिचित होना परम आवश्यक है, जो अभ्यास का विषय है।

(6) अनुवाद कार्य की समस्या—हिन्दी में विभिन्न विषयों की पुस्तकें उप-

लब्ध कराने के लिए यह आवश्यक है कि अन्य भाषाओं में लिखित श्रेष्ठ एवं उपयोगी पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किए जाएँ। इससे हिन्दी-भाषियों को संसार के श्रेष्ठ ग्रन्थों में निहित ज्ञान प्राप्त भी होगा तथा शैक्षिक कार्य में भी सहायता प्राप्त होगी। अनुवाद कार्य का एक पहलू यह भी है कि हिन्दी के ग्रन्थों को अन्य भाषाओं में अनूदित किया जाए। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस दिशा में निरन्तर कार्य हो रहा है—व्यक्तिगत एवं सरकारी दोनों ही स्तरों पर। सरकारी स्तर पर किए जाने वाले कार्य के मार्ग में वे ही कठिनाइयाँ हैं जो पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में हैं। सरकार गिने-चुने व्यक्तियों द्वारा ही काम कराना चाहती है। परिणामतः अनुवाद-कार्य, स्तर और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से असन्तोषजनक रहता है। यही कारण है कि 25 वर्षों तक कार्य कराने पर भी तथा करोड़ों रुपये व्यय करने के बाद भी हिन्दी में उच्च कक्षाओं में पढ़ाने योग्य पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। विज्ञान, राजनीति, गणित आदि विषयों के अध्ययन के लिए हम आज भी अँगरेजी में लिखे हुए ग्रन्थों के मुखापेक्षी बने हुए हैं। इस समस्या का समाधान यह है कि अनुवाद कार्य साहित्यिक संस्थाओं के माध्यम से अधिकारी विद्वानों द्वारा कराया जाए तथा एक समय एक व्यक्ति को एक से अधिक ग्रन्थ न दिया जाए। इस प्रकार कार्य की गति भी तीव्र हो जाएगी तथा धनराशि भी कम खर्च होगी।

उपसंहार—राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की कई समस्याएँ हैं। परन्तु वे सबकी सब ऐसी हैं जिनका समाधान सहज ही किया जा सकता है।

हिन्दी की प्रगति के मन्द होने का मूलभूत कारण है सरकारीकरण यानी नौकरशाही। सरकारी अफसर एक विशेष ढंग से काम करते-कराते हैं जो साहित्यिक मनोवृत्ति एवं अभिरुचि के विपरीत पड़ता है। साथ ही सरकारी अफसर प्रत्येक पग पर यह सोचता है कि उसको क्या मिल रहा है। हिन्दी की समस्याओं का समाधान केवल हिन्दी के सेवकों को सौंपा जाए यानी धन-शक्ति की अपेक्षा जन-शक्ति पर अधिक विश्वास किया जाए।

हिन्दी का जन्म तीरों और तलवारों के मध्य हुआ। उसको राज्याश्रय कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु फिर भी वह भारतवासियों की कण्ठहार रही और राष्ट्रभाषा के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व को वहन करती रही।

औपचारिक रूप से उसको राष्ट्रभाषा का पद अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। यह हमारी मानसिक दासता का द्योतक है। सरकार तथा जनता दोनों का समान रूप से यह कर्त्तव्य हो जाता है उसके भण्डार को अधिकाधिक समृद्ध करें तथा शीघ्रातिशीघ्र उसको राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करें। जब तक अँगरेजी का स्थान हिन्दी नहीं ले लेती है तब तक हमारी स्वतन्त्रता अधूरी ही समझी जाएगी।

प्रश्न 82—हिन्दी को ध्यान में रखते हुए राजभाषा और राष्ट्रभाषा पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—राजभाषा और राष्ट्रभाषा–जिस भाषा का प्रयोग सरकारी कामकाज में होता है, उसको राजभाषा कहते हैं, पुरानी शब्दावली में दरबारी भाषा आधुनिक शब्दावली में राजभाषा कहते हैं। जिस भाषा को किसी देश के निवासी बोलते और समझते हैं उसको राष्ट्रभाषा कहते हैं। इसे हम जनता की भाषा अथवा जनभाषा कह

सकते हैं। राष्ट्रभाषा में ही देश के निवासी विचारों का आदान-प्रदान करते हैं और अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होते हैं।

प्राचीन काल से अब तक बराबर हिंदी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा रही है। जितने भी धर्म-प्रचारक एवं समाज-सुधारक हुए हैं, उन सबने हिंदी को ही अपनाया। कबीर ने भी हिन्दी के लिए कहा था कि—'संस्कृत जल कूप है, भाषा बहता नीर'। गोस्वामी तुलसीदास ने भी राम-कथा का प्रचार भारत के कोने-कोने में किया। गाँधी जी ने हिंदी के प्रश्न को देश की स्वतन्त्रता के साथ जोड़ दिया था। इसके विपरीत हिंदी का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसको राज्याश्रय कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। तीरों-तलवारों के बीच उसका जन्म हुआ और भालों की छाया में उसका विवाह-मण्डप रचा गया। आज सभी हिंदी को सखी भाषा का पद देते हैं और कभी उसको सम्पर्क भाषा घोषित कर दिया जाता है। हमारे कर्णधारों की अँगरेजी भक्ति हिंदी को राजभाषा के पद पर अभिषिक्त नहीं होने दे रही है। अत: स्पष्ट है कि जिसे जनता का प्रेम प्राप्त हो, जिसको शासन का संरक्षण प्राप्त हो, वह राजभाषा है।

संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जा चुका है।

सन् 1950 में संविधान स्वीकृत होते समय कुछ लोगों के विरोध के कारण यह व्यवस्था की गई थी कि 15 वर्षों तक अर्थात् सन् 1965 तक अँगरेजी केन्द्र सरकार के राज-काज की भाषा बनी रहेगी और धीरे-धीरे हिंदी या हिंदुस्तानी अँगरेजी का स्थान ले लेगी अथवा केन्द्रीय सरकार के समस्त काम-काज में हिंदी-प्रयोग होने लगेगा। परन्तु इसके विपरीत यह हुआ कि विधान को संशोधित करके अँगरेजी को अनिश्चित काल तक के लिए हिन्दी के साथ सरकारी काम-काज की भाषा घोषित कर दिया गया है। सम्भवत: भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जिसके सरकारी काम-काज में उस देश की राष्ट्रभाषा का प्रयोग न किया जाता हो।

विदेशों में अपनी साख रखने के लिए हमारे कर्णधार भले ही कुछ आवश्यक कार्य हिंदी में करते हों परन्तु यहाँ के राजकाज में वे हिन्दी का प्रयोग अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते हैं। ऐसी स्थिति में कह नहीं सकते कि व्यावहारिक रूप में हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा कब बन सकेगी।

हिन्दी के विरोधी—हिन्दी के विरोधी प्राय: तीन प्रकार के हैं —

(क) प्रथम वर्ग—इस श्रेणी में अँगरेजी के मानस पुत्र आते हैं। उनको यह भय है कि यदि वे जन सामान्य की भाषा अपना लेंगे तो उनकी विशेष स्थिति संकट में पड़ जाएगी। अँगरेजी के कारण वे अपने आपको एक प्रकार से उच्च श्रेणी का व्यक्ति समझते हैं।

(ख) द्वितीय वर्ग—इसमें कुछ मुसलमान तथा प्राचीन काल से मुस्लिम संस्कृति में पले हुए कतिपय हिन्दू भी हैं जो उर्दू के भक्त हैं और हिंदी को महत्त्व प्राप्त होते देखकर क्षुब्ध हैं वे अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी के विरोधी हैं।

(ग) तृतीय श्रेणी—इसमें अहिंदी भाषा-भाषी, विशेषत: मद्रास राज्य के कुछ लोग हैं, जो अँगरेजी के कारण केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में छाए हुए हैं और हिंदी के कारण अपनी संख्या से घट जाने के भय से आतंकित हैं। यह वर्ग विशुद्ध स्वार्थियों का है।

विरोधियों के तर्क--अँगरेजी के समर्थक हिंदी का विरोध प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से करते हैं वे कभी कहते हैं कि हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने से अन्य देशो भाषाएँ मर जाएँगी, वे कभी यह कहते हैं कि हिंदी के राष्ट्रभाषा होते ही विदेशों से हमारा सम्पर्क छूट जाएगा। वे यह भी कहते हैं कि हिंदी एक दरिद्र भाषा है उसमें पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है।

अप्रत्यक्ष विरोधी का एक अभिनव ढंग निकाला गया है। कुछ लोग विशेषकर वंगाल और मद्रास के निवासी संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने की कहते हैं। इसका विकल्प वे प्रस्तुत करते हैं—संस्कृतनिष्ठ हिन्दी, क्योंकि सीमावर्ती प्रदेशों की भाषाओं में संस्कृत के शब्दों का वाहुल्य हैं। उनकी इन बातों में आकर भारत सरकार ने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी-प्रयोग भी आरम्भ कर दिया। उसका प्रयोग होते ही हिन्दी की क्लिष्टता को लेकर खिल्ली उड़ाई जाने लगी।

दलीलों का थोथापन—पहले प्रश्न यह है कि हिन्दी भाषा-भाषियों से तात्पर्य किन लोगों से है। जो हिन्दी पढ़े और बोले, वह हिन्दी भाषा-भाषी है। इस दृष्टि से दक्षिण-भारत के निवासियों का एक वहुत बड़ा वर्ग हिन्दी भाषा-भाषी है। साहित्य सम्मेलन एवं राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के द्वारा संचालित हिन्दी की परीक्षाओं में वहाँ प्रतिवर्ष लाखों छात्र बैठते हैं और उत्तीर्ण होते हैं। और फिर जब हम लोग एक क्लिष्ट विदेशी भाषा अँगरेजी को सीख सकते हैं तो अपने ही देश की एक लोकप्रिय सरल भाषा को क्यों नहीं सीख सकते?

विरोध राजनीतिक हैं—राजनीतिक नेता अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए तथा अपनी लीडरी बनाए रखने के लिए हिन्दी का विरोध करते हैं। श्री राजगोपालाचारी (स्व०) का उदाहरण सामने है। वह राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के उन्नायकों में से थे। वह सन् 1937 में मद्रास के काँग्रेसी मन्त्रिमंडल के मुख्य मंत्री थे। उस समय उन्होंने हिन्दी के विरोधियों को जेल में ठूँस दिया था और वही राजाजी हिन्दी के साम्राज्य-वादता का आतंक खड़ा करने में जीवन के अन्तिम क्षण तक सबसे आगे रहे। कुछ वर्षों पहले मद्रास प्रांत में जो हिन्दी-विरोधी आंदोलन चला था, उसमें अनेक आंदोलनकारी हिन्दी के अच्छे विद्वान थे।

हिन्दी-विरोध का कारण अँगरेजी-दासता है—यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा होने के लिए अक्षम है और उसका साहित्य इतना दरिद्र है कि उसको उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है, तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसके स्थान पर अन्य कौन-सी देशी भाषा राष्ट्रभाषा बने? क्या हमारे देश की समस्त भाषाएँ अक्षम एवं दरिद्र हैं? परन्तु इसका उत्तर देते समय वे मौन हो जाते हैं। उदाहरण के लिए बंगाली लोग बंगला भाषा के साहित्य का गुणगान करते हुए नहीं अघाते हैं। परन्तु हम उनसे पूछना चाहते हैं कि बंगाल में बंगला भाषा को राज्यभाषा एवं उच्च शिक्षा का माध्यम अभी तक क्यों नहीं बनाया गया है? दक्षिण का भी यही हाल है। वहाँ भी देशी भाषाओं की उपेक्षा है तथा अँगरेजी उनके अधिकारों को आत्मसात् किए बैठी है। कहने का तात्पर्य यह है कि अँगरेजी के प्रेमी हिन्दी के विरोधी कम हैं, अँगरेजी के समर्थक अधिक हैं। इन्हें कुछ लोग अँगरेजों का मानसपुत्र भी कहते हैं। जो भी हो, इस वर्ग के नेताओं ने देश की राज्यभाषाओं के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रच रखा है? जिससे अँगरेजी भाषा अनिश्चित काल तक सबके ऊपर हावी बनी

रहे और अँगरेजी जानने वाले ये नेता अँगरेजी से अनभिज्ञ जनता के ऊपर अनिश्चित काल तक शासन करते रहें। इस प्रकार मुट्ठी-भर स्वार्थी नेताओं का स्वार्थ केवल हिन्दी का विरोध ही नहीं करता है, अपितु उसने समस्त प्रान्तीय भाषाओं की हत्या कर रखी है। ये लोग देशवासियों पर अँगरेजी थोपे रखना चाहते हैं।

हिन्दी और राज्य-भाषाओं का कोई विरोध नहीं है—राष्ट्रभाषा और राज्य भाषाओं का कोई विरोध नहीं हो सकता है। वे अपने-अपने क्षेत्र में अपना-अपना काम करती रह सकती हैं। गाँधीजी ने सन् 1947 में 'हरिजन' में लिखा था कि, 'सबसे पहला और जरूरी काम यह करना चाहिए कि भारत की जिन समृद्ध प्रांतीय भाषाओं को वरदान मिला है, उन्हें फिर स्वीकार—किया जाए। यह दिमागी 'सुस्ती के अलावा' और कुछ नहीं है कि हम यह दलील दें कि कचहरियाँ स्कूलों और सेक्रेटेरियट में तब्दीली करने में कुछ समय शायद कुछ वर्ष लग जाएँगे। × × प्रान्तीय सरकारें ऐसा रास्ता निकाल सकती हैं जिससे इन सूत्रों की जनता यह अनुभव करने लगे कि अब उसका जमाना है।'

भाषा और समाज नामक पुस्तक में डॉ० रामविलास शर्मा ने भी एक बहुत ही मार्के की बात कही है; यथा—'हमारे नेताओं को स्पष्ट करना चाहिए कि अँगरेजी के स्थान पर सभी भारतीय भाषाएँ अपने उचित पद पर प्रतिष्ठित होंगी, अँगरेजी का स्थान एक भाषा नहीं वरन् अपने क्षेत्र में सभी भाषाएँ लेंगी। इनमें परस्पर व्यवहार के लिए सीमित क्षेत्र में केन्द्रीय राज-काज के लिए हिन्दी का व्यवहार होगा।'

इस विवेचन के पश्चात् राज्यभाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिए। राज्यभाषा प्रांत विशेष की भाषा है और राजभाषा केन्द्रीय सरकार के काम-काज की भाषा, राष्ट्रभाषा प्रायः जन-भाषा होती है। ऐसी स्थिति में प्रान्तीय भाषाओं के ऊपर राष्ट्रभाषा हिन्दी के साम्राज्य स्थान का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। प्रान्तीय भाषाओं को हिन्दी का हौवा दिखाना केवल प्रान्तीय नारेबाजी है और फिर तर्क अँगरेजी के विरुद्ध क्यों नहीं दिया जाता है? अँगरेजी जानने वालों की संख्या केवल 3 प्रतिशत है। इन तीन प्रतिशत अँगरेजीदाओं ने हमारे देश के 97 प्रतिशत निवासियों पर अपनी भाषा का साम्राज्य जमा रखा है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों हो?—हिन्दी की कुछ अपनी विशेषाताएँ हैं—जिनके कारण हिन्दी सचमुच राष्ट्रभाषा पद की अधिकारिणी है। यथा—

(1) इसकी शब्दावली प्रायः तत्सम है, जो अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रयुक्त होती है।

(2) भारत में इसको बोलने वाली जनसंख्या प्रायः समग्र देश की आधी है।

(3) बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों की भाषाओं के शब्द भण्डार और हिन्दी के शब्द भण्डार में बहुत समानता है। इस समानता के कारण वे एक दूसरे की बातों को आसानी से समझ लेते हैं।

(4) राजस्थान के मारवाड़ी व्यापारी भारत के प्रायः सभी प्रान्तों और बड़े-बड़े नगरों में फैले हुए हैं और वे लोग निरन्तर हिन्दी का प्रयोग करते हैं। हिन्दी के प्रचार कार्य में धन लगाते हैं। इस प्रकार उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी दिन पर

दिन लोकप्रिय हो रही है। बम्बई और कलकत्ता में हिन्दी-भाषी लाखों मजदूर बसे हुए हैं। बम्बई में बोली जाने वाली हिन्दी तो 'बम्बइय' हिन्दी के नाम से एक अलग भाषा ही बन गई है।

(5) हिन्दी की नागरी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह संसार की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है।

इसमें संसार की प्रायः समस्त भाषाओं की ध्वनियों को उच्चारित कर सकने की सामर्थ्य है। इस लिपि की विशेषता यह है कि इसके वर्ण उच्चारित ध्वनियों के अनुसार निर्मित हुए हैं। इसमें जो लिखा जाता है, उसका उच्चारण बिलकुल वही किया जाता है। हम अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि उर्दू और अँगरेजी की लिपियों में कोई निश्चित नियम न होने के कारण आए दिन वर्तनी सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ आती रहती हैं। भारत की प्रायः अन्य समस्त लिपियों का देवनागरी लिपि से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उन सबमें यहाँ तक कि दक्षिण भारत की द्राविड़ भाषाओं की विभिन्न लिपियों में देवनागरी लिपि की उपर्युक्त विशेषताएँ बहुतांश में मिलती हैं। लिपियों की एकसूत्रता यह घोषित करती है कि देवनागरी लिपि के प्रयोग द्वारा ही भारत की सांस्कृतिक एकता की रक्षा की जा सकती है।

निष्कर्ष—हम हिन्दी भाषी हैं। इस कारण हिन्दी की प्रशंसा हमारे मुँह से अच्छी नहीं लगती है। परन्तु वस्तुस्थिति तो स्वीकार करनी ही पड़ती है। हिन्दी वास्तव में भारत की राष्ट्रभाषा है। यहाँ की जनता का वह कण्ठहार है और भारत सरकार उसको संवैधानिक तौर पर भारत की राष्ट्रभाषा घोषित कर चुकी है। हमारा कर्त्तव्य है कि सुनीतिकुमार चटर्जी सदृश विद्वानों की प्रार्थना पर ध्यान दें और भाषागत विद्वेषों को त्याग कर हिन्दी के उन्नयन एवं संवर्द्धन में लग जाएँ।

प्रश्न 83—भारत को एकता के सूत्र में बाँध रखने में हिन्दी कहाँ तक समर्थ है? इस सम्बन्ध में तर्कसहित विचार प्रकट कीजिए।

प्रश्न 84—'हिन्दी को राष्ट्रव्यापी स्वरूप हिन्दी भाषियों ने ही प्रदान किया।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—हमारे देश में रमते साधु-सन्तों की लम्बी परम्परा है, उनके अनेक पन्थ और सम्प्रदाय हैं, जिनके दर्शन आज भी होते हैं। सूफी फकीरों और दरवेशों, महानुभाव, वारकरी, सिद्ध और नाथ पंथियों की शाश्वत वाणी सदियों तक जन-मानस को अनुप्राणित करती रही है उन्होंने अपना संदेश उत्तर भारत से धुर दक्षिण में कन्याकुमारी तक पहुँचाने की धुन में भाषा को अनायास स्वस्थ और ललित स्वरूप प्रदान कर दिया। खिलजी वंश के शासन काल में हिन्दवी या दक्खिनी के रूप में यदि हिन्दी दक्षिण भारत में पहुंची और चार सौ वर्षों तक राजकाल की भाषा बनी रही तो उससे भी बहुत पहले वह गुसाईं भाषा के रूप में कन्याकुमारी तक पहुँच चुकी थी। बहुत सारे अनाम साधकों ने भाषा की बेजोड़ शक्ति को परखा और उसे प्राणवान तथा प्रभावोत्पादक बनाने की चेष्टा की। उन्होंने हिन्दी के सर्वव्यापी स्वरूप को उजागर किया जिनमें मराठी सन्तों का योगदान अविस्मरणीय है।

यों भी हिन्दी और मराठी में व्यापक समानता है। इसका सबसे सबल पक्ष तो यह है कि दोनों भाषाओं की एक-सी लिपि है। यही नहीं, दोनों भाषाओं के

तत्सम शब्द प्रधानतः संस्कृत से लिए गए हैं और प्रायः समान हैं। उनका विकास भी एक ही काल-क्रम में समान परिस्थितियों में हुआ है, अतः उनमें समान प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। उनमें भोजपुरी, मैथिली और पहाड़ी बोलियों के बहुत-से शब्दों का सहज समावेश हुआ है। इन समानताओं के कारण हिन्दी और मराठी भाषा-भाषियों में परस्पर आदान-प्रदान प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसके फलस्वरूप अनेक मराठी साहित्यकारों, कहानीकारों, उपन्यासकारों, निबंधकारों और पत्रकारों ने हिन्दी की अमूल्य सेवा का यश अर्जित किया है और अप्रतिम कीर्तिमान स्थापित किया है। आधुनिक युग के महान राष्ट्रीय नेता लोकमान्य तिलक से लेकर आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, आचार्य दादा धर्माधिकारी और साने गुरुजी तक अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं जो विभिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं के होते हुए भी हिन्दी के प्रति निष्ठावान रहे हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि इन सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक कारणों से ही हिन्दी महाराष्ट्र और इसके निवासियों के लिए अजनबी नहीं रही बल्कि इसके विपरीत यहाँ के जन-जीवन में घुली-मिली और रसी-बसी प्रतीत होती है।

स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर ने अपने मौलिक सम्पादकीय अग्रलेखों और टिप्पणियों से हिन्दी जगत में हलचल मचा दी थी और हिन्दी पत्रकारिता को नए आयाम दिए। जन-मानस पर उनकी धाक थी और हम उत्सुकता के साथ उनके लेखों की प्रतीक्षा करते थे। सर्वविदित है कि हिन्दी पत्रकारिता का बीजारोपण अहिन्दी भाषी प्रदेश के प्रमुख नगर कलकत्ते में हुआ और हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अहिन्दी भाषी मनीषियों ने हिन्दी पत्रकारिता को सिंचित किया। हिन्दी को पूरे देश की एक सम्पर्क-भाषा बनाने का स्वप्न भी राजाराममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दया-नन्द सरस्वती और लोकमान्य तिलक जैसे अहिन्दी भाषी महारथियों ने देखा और उसे साकार किया। स्वर्गीय माधवराव सप्रे, सयाजी राव गायकवाड़, पंडित सातव-लेकर, लक्ष्मण नारायण गर्दे, अनन्त सदाशिव अलतेकर, रामचन्द्र रघुनाथ खाडिल-कर, जोगलेकर सभी रचनाकार मराठी भाषी थे लेकिन वे हिन्दी की सेवा के प्रति समर्पित थे। हिन्दी साहित्य की समृद्धि में भी श्री अनन्तगोपाल शेवड़े, प्रभाकर माचवे, गजानन मुक्ति बोध, श्रीमती मालती सिरसीकर, डॉक्टर विलास गुप्ते, विश्वनाथ वैशम्पायन, श्रीपाद जोशी, गंगाधर गाडगिल, अरविन्द गोखले आदि अनेक मराठी लेखकों ने अपूर्व योगदान किया। मैं हिन्दी को उन महारथियों के योगदान के स्मरण मात्र से अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ। मैं मानता हूँ कि हिन्दी की विभिन्न विधाओं को मराठी लेखकों ने समृद्ध किया है, हिन्दी में मराठी साहित्य और जन-जीवन को व्यापक अभिव्यक्ति दी है और हिन्दी तथा अहिन्दी भाषियों को निकट लाने का अनुपम उद्यम किया है।

कहना न होगा कि हिन्दी को राष्ट्रव्यापी स्वरूप अहिन्दी भाषियों ने ही प्रदान किया। यदि बंगाल के चिन्तकों और राष्ट्रनायकों ने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी की पताका फहरायी, तो महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के मनीषियों ने उसे ओज, माधुर्य और गरिमा से मर्यादित किया। इस पृष्ठभूमि में भारत के किसी भी अंचल में हिन्दी की उपेक्षा या अवमानना की बात सोची भी नहीं जा सकती, किन्तु

दुर्भाग्य का विषय है कि उसे विवाद के चक्रवात में डाल दिया जाता है। भाषा कभी विवाद का विषय नहीं रही और खासकर हिन्दी, जिसके द्वारा भारतीय अध्यात्म, संस्कृति एवं दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। जिस भाषा में सन्तों की वाणी मुखरित हुई, जिसने अनजाने ही जन-मानस में घर कर लिया, उसे आह्लादित और पुलकित किया और भारतीय आत्मा को शाश्वत मूल्यों के प्रति जागृत रखा, उसे राजनीतिक कुचक्र से दूर रखना ही श्रेयस्कर होगा। भाषा स्नेह और सद्भाव की कड़ी रही है और उसे इसी रूप में ग्रहण भी किया जाना चाहिए। भाषा ने आदिकाल से विभिन्न जातियों, गण समाजों को एक दूसरे के पास लाने का, उन्हें मिलाने का काम किया है। यही कारण है कि भाषा के इतिहास में हम सामाजिक विकास के दर्शन करते हैं। अपनी भाषा के माध्यम से ही हम अपने आपको पहचान सकते हैं और अपनी पहचान भी बनाए रख सकते हैं।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान यह अनुभव कर लिया गया था कि हिन्दी ही वह भाषा है जो सारे देश में सबसे अधिक समझी, बोली और प्रयोग में लाई जाती है। लोकमान्य तिलक ने हिन्दी को राष्ट्रवाणी की संज्ञा दी थी। हमारे संविधान निर्माताओं ने जब हिन्दी को राजभाषा का गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया तो उनके समक्ष जन-साधारण में इस भाषा की जानी-पहचानी छवि ही थी। किन्तु, उनकी आशाएं पूरी नहीं हुई। तीस वर्षों बाद भी हम हिन्दी को जन-सेवा का प्रभावकारी माध्यम न बना सके। इसके कारण शासन और जनता के बीच की दूरी घट नहीं पाई है और विकास योजनाओं में जनता का समग्र सहयोग सुनिश्चित नहीं किया जा सका है।

हमारी भावना यही है कि हम अहिन्दी भाषियों में हिन्दी के प्रति सद्भाव और विश्वास पैदा करें। मानी बात है कि उनके सहयोग के बिना हिन्दी का प्रयोग-प्रसार निर्दिष्ट लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता, उसे सम्पर्क भाषा की मान्यता नहीं मिल सकती। अहिन्दी भाषियों में यह धारणा उत्पन्न करनी होगी कि हिन्दी की प्रगति उनकी अपनी भाषा की प्रगति पर निर्भर है। यदि मराठी लेखकों के वरदान स्वरूप विपुल मराठी साहित्य हिन्दी में आया तो उससे हिन्दी समृद्ध ही हुई है। यही तथ्य अन्य प्रादेशिक भाषाओं के संदर्भ में भी प्रमाणित होता है। प्रादेशिक भाषाओं के उन्नयन और उनके साहित्य के अदान-प्रदान से हिन्दी का भंडार बढ़ता ही जायगा और उसका सार्वदेशिक स्वरूप निखरता जायगा। वस्तुतः हिन्दी का किसी भी प्रादेशिक भाषा के साथ किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता का कोई प्रश्न ही नहीं है। वे तो हिन्दी की सहचरी भाषाएँ हैं जिनके मेलजोल से हिन्दी सबल, सुग्राह्य और लोकप्रिय होगी। अन्ततोगत्वा बिना किसी ननु नच के हम कह सकते हैं कि भारत को एकता के सूत्र में बाँध रखने की सामर्थ्य हिन्दी में ही है।

प्रश्न 85—भारतीय संविधान में राजभाषा के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की गई है और उसे व्यावहारिक रूप देने की दिशा में शासन की ओर से क्या प्रयास हुए हैं? संक्षेप में बतलाइए।

उत्तर—भारत के संविधान के अनुच्छेद 343 में यह व्यवस्था है कि देवनागरी लिपी में लिखी हिन्दी संघ के सरकारी काम-काज की भाषा होगी। इस अनुच्छेद में संविधान के लागू होने की तारीख से 15 वर्ष की कालावधि तक अंगरेजी भाषा का

प्रयोग जारी रखने की अनुमति दी गई थी। इस अवधि के बाद सरकारी कामकाज में अँगरेजी के प्रयोग की अनुमति केवल संसद द्वारा पारित किसी अधिनियम के आधार पर ही दी जा सकती थी। इस उपवन्ध के अधीन संसद ने राजभाषा अधिनियम, 1963 पारित किया। इस अधिनियम की दो प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(i) अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति दी गई है। अधिनियम में यह भी व्यवस्था है कि हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति तब तक बनी रहेगी जब तक हिन्दी को राजभाषा के रूप में न अपनाने वाला प्रत्येक राज्य अंग्रेजी के प्रयोग की समाप्ति के पक्ष में अपनी इच्छा जाहिर न कह दे और संसद के दोनों सदन भी इसी आशय का संकल्प पारित न कर दें।

(ii) धारा 3 (3) के अधीन कतिपय विनिर्दिष्ट दस्तावेजों के लिए हिन्दी और अंगरेजी दोनों का साथ-साथ प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया है, यथा—

(क) संकल्प सामान्य आदेश, नियम, अधिसूचनाएँ, प्रशासनिक अथवा अन्य प्रतिवेदन तथा प्रेस विज्ञप्तियाँ;

(ख) संसद के किसी सदन अथवा सदनों के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले प्रशासनिक तथा अन्य प्रतिवेदन और राजकीय कागज-पत्र; और

(ग) संविदाएँ करार, अनुज्ञप्तियाँ, सूचनाएँ, और निविदा-प्रारूप।

संघ की राजभाषा नीति के संबन्ध में दिसम्बर, 1967 में संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित और 18 जनवरी, 1968 को अधिसूचित संकल्प में अन्य बातों के साथ-साथ सरकार पर संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए हिन्दी का प्रगामी प्रयोग सुनिश्चित करने के लिए एक गहन और व्यापक कार्यक्रम तैयार करने और उसका क्रियान्वयन कराने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। संकल्प में यह भी अपेक्षा की गई है कि सरकार प्रतिवर्ष हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की दिशा में हुई प्रगति की समीक्षा करते हुए एक वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट संसद को प्रस्तुत करे। संकल्प के अनुसरण में राजभाषा विभाग प्रतिवर्ष सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग के संबंध में एक वार्षिक कार्यक्रम तैयार करता है और उसका कार्यान्वयन का पर्यवेक्षण भी करता है, वर्ष 1977-78 तक की वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट ससंद के समक्ष प्रस्तुत की जा चुकी है, और वर्ष 1978-79 की वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट आज-कल मुद्रणाधीन है।

भर्ती परीक्षाओं की भाषा—संघ की लोक सेवाओं के संदर्भ में उपर्युक्त संकल्प में यह भी व्यवस्था की गई है कि—

(क) उन विशेष सेवाओं अथवा पदों को छोड़ कर जिनके लिए उस सेवा या पद से संबद्ध कर्त्तव्यों के संतोषजनक निष्पादन हेतु, यथास्थिति केवल अंग्रेजी अथवा हिन्दी अथवा दोनों का उच्च स्तर का ज्ञान आवश्यक समझा जाए, संघ सेवाओं में अथवा पदों पर भर्ती के लिए उम्मीदवारों के चयन के समय हिन्दी या अंग्रेजी में से किसी एक भाषा का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित होगा, तथा

(ख) अखिल भारतीय और उच्चतर केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षाओं की भावी योजना, कार्य विधि संबंधी पहलुओं एवं समय के विषय में संघ लोक सेवा आयोग

के विचार जानने के बाद उक्त सेवाओं से संबंधित परीक्षाओं के लिए, संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषाओं तथा अंग्रेजी को वैकल्पिक माध्यमों के रूप में रखने की अनुमति दी जाएगी।

ऊपर पैरा 4 (क) में निहित निदेश को उत्तरोत्तर लागू करने का प्रयास किया जा रहा है। संघ लोक सेवा आयोग और कर्मचारी चयन आयोग, अंग्रेजी भाषा के एक अनिवार्य प्रश्न-पत्र को छोड़कर संघ सेवाओं में और पदों पर भर्ती के लिए आयोजित अधिकांश परीक्षाओं में वैकल्पिक माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा के प्रयोग की अनुमति देते हैं। इस आशय का भी निर्देश दिया गया है कि अंग्रेजी के प्रश्नपत्र को छोड़कर अन्य सभी प्रश्नपत्र हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में तैयार किए जाएँ और ऐसे पदों के लिए साक्षात्कार अथवा मौखिक प्रश्नों के उत्तर हिन्दी में देने की छूट दी जाए।

जहाँ तक उपर्युक्त पैरा 4 (ख) का संबंध है संघ लोक सेवा आयोग ने केन्द्रीय हिन्दी समिति द्वारा किए गए निर्णय के अनुसरण में, 1979 से आयोजित केन्द्रीय सिविल सेवा परीक्षा से आरंभ करके इस परीक्षा के लिए विहित सभी प्रश्न पत्रों (भाषा के प्रश्न पत्रों को छोड़कर) के लिए हिन्दी अथवा संविधान की आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी अन्य भारतीय भाषा के वैकल्पिक माध्यम के रूप में प्रयोग की अनुमति दे दी है।

कार्यान्वयन—संघ की राजभाषा से संबंधित विभिन्न सांविधानिक और कानूनी उपबन्धों को कार्यरूप में परिणत करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने सन् 1976 में राजभाषा (संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए प्रयोग) नियम बनाए थे। राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 8 के अधीन बनाए गए ये नियम सरकार की राजभाषा नीति के कार्यान्वयन के व्यापक मार्गदर्शक सिद्धांतों की भूमिका निभाते हैं और विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट उत्तरदायित्वों का निर्धारण करते हैं। ये नियम हिन्दी के प्रयोग में तेजी लाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

विभिन्न स्तरों पर अनेक सलाहकार और कार्यान्वयन समितियों का गठन कार्यान्वयन का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है। केन्द्रीय हिन्दी समिति, जिसके अध्यक्ष स्वयं प्रधान मंत्री हैं, राजभाषा संबंधी नीति निर्धारण करने वाली और सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग के क्रियान्वयन की समीक्षा करने वाली सर्वोच्च समिति है। इससे नीचे विभिन्न मंत्रालयों में गठित हिन्दी सलाहकार समितियाँ हैं जिसकी अध्यक्षता संबंधित मंत्री करते हैं। हिन्दी के प्रयोग के संबंध में निरन्तर समीक्षा और मार्गदर्शन के लिए प्रत्येक मंत्रालय/विभाग/कार्यालय में एक राजभाषा कार्यान्वयन समिति होती है। देश के छियालीस बड़े-बड़े नगरों में, जहाँ केन्द्रीय सरकार के अनेक कार्यालय स्थित हैं, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समितियों का गठन किया गया है। सभी स्तरों की सलाहकार और कार्यान्वयन समितियों में राजभाषा विभाग का, उसके संकेन्द्रित उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए आवश्यक प्रतिनिधित्व रहता है।

मंत्रालयों/विभागों से एक पूर्व निर्धारित प्रोफोर्मा में मँगाई गई तिमाही प्रगति रिपोर्टों के आधार पर भी हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की स्थिति का जायजा लिया जाता है। हालांकि हिन्दी के प्रयोग के क्षेत्र में अभी काफी प्रगति की जानी बाकी है

फिर भी इन उपायों से सरकारी कामकाज में उसके प्रयोग में सुधार आया है। इसके लिए राजभाषा विभाग के मानीटरिंग तंत्र को मजबूत बनाने तथा कार्यान्वयन पर नजर रखने वाले तंत्र का विकेन्द्रीकरण करने की बहुत आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में एक विस्तृत योजना तैयार की गई है।

यांत्रिक सुविधाएँ—प्रौद्योगिकी और यंत्रीकरण का तेजी से विकास होने के कारण भाषाओं का विकास और प्रगामी प्रयोग भी काफी हद तक यांत्रिक सुविधाओं पर आश्रित हो गया है। अतः सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग में तेजी लाने के लिए देवनागरी टाइपराइटर, टेलीप्रिंटर, कम्प्यूटर तथा ऐसी ही अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना आवश्यक हो गया है। राजभाषा विभाग ने यह सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाए हैं कि निर्माता कंपनियां देवनागरी टाइपराइटरों का उत्पादन बढ़ाएँ और देवनागरी के पिन प्वाइंट टाइपराइटरों का निर्माण भी करें, जिनका प्रयोग विशेष रूप से बैंकों और वेतन तथा लेखा कार्यालयों द्वारा बैंक ड्राफ्ट आदि तैयार करने में किया जा सके। इलैक्ट्रानिकी विभाग के साथ सतत् परामर्श करके देवनागरी कम्प्यूटर बनाने का भी प्रयास किया जा रहा है। देवनागरी के बिजली से चलने वाले टाइपराइटरों के उत्पादन की दिशा में भी प्रगति हुई है।

प्रचार के माध्यम से प्रसार—राजभाषा विभाग राजभाषा संबंधी सांविधानिक और कानूनी उपबन्धों के बारे में विविध जानकारी उपलब्ध कराने तथा विभिन्न मंत्रालयों, विभागों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में हिन्दी के प्रयोग में हुई प्रगति की झांकी प्रस्तुत करने के उद्देश्य से अप्रैल, 1978 से एक त्रैमासिक पत्रिका 'राजभाषा भारतीय' प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकाशन के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गई हैं वे बहुत उत्साहवर्द्धक रही हैं। इस कार्य में मिली सफलता को देखते हुए अब हिन्दी की एक ऐसी अखिल भारतीय पत्रिका आरम्भ करने का निर्णय किया गया है जिसमें अन्य भारतीय भाषाओं के अनूदित लेख, कहानियाँ आदि छापे जाएँगे। प्रस्तावित पत्रिका देश की अखण्डता की भावना को तो प्रोत्साहित करेगी ही साथ ही भारत की संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी के विकास में भी सहायक सिद्ध होगी।

प्रोत्साहन के माध्यम से प्रसार—राजभाषा विभाग की हिन्दी शिक्षण योजना द्वारा ली जाने वाली विभिन्न परीक्षाएँ उत्तीर्ण करके हिन्दी का सेवाकालीन प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले सरकारी कर्मचारियों को नकद प्रोत्साहन एवं पुरस्कार देने की व्यवस्था की गई है। अपना अधिकतम काम हिन्दी में करने वाले कर्मचारियों को प्रतियोगिता के आधार पर नकद पुरस्कार भी दिए जाते हैं।

हिन्दी-शिक्षण योजना—राष्ट्रपति के 1960 में जारी किए गए आदेश के अनुसार, तृतीय श्रेणी से नीचे के कर्मचारियों तथा औद्योगिक संस्थाओं में नियुक्ति अथवा कार्य प्रभारित कर्मचारियों को छोड़कर, केन्द्रीय सरकार के अन्य सभी कर्मचारियों के लिए हिन्दी का सेवाकालीन प्रशिक्षण प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है। इसी प्रकार अंग्रेजी के माध्यम से भर्ती किए गए टंकणों और आशुलिपिकों के लिए हिन्दी टंकण और हिन्दी आशुलिपि का प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया गया है। इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए पूरे देश में 150 स्थानों पर हिन्दी शिक्षण योजना के अधीन प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं।

केन्द्रीय सचिवालय राजभाषा सेवा—केन्द्रीय हिन्दी समिति के निर्णय के अनुसार तथा बाद में भारत सरकार (कार्य आवंटन) नियमावली में संशोधन करके राजभाषा विभाग को विभिन्न मंत्रालयों/विभागों तथा उनके संबद्ध कार्यालयों में हिन्दी संबंधी पदों पर नियुक्त अधिकारियों और कर्मचारियों का एक सामान्य संवर्ग गठित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग तथा संघ लोक सेवा आयोग से यथोचित परामर्श करने और सभी मंत्रालयों तथा विभागों के विचार जानने के बाद इस विभाग ने प्रस्तावित केन्द्रीय सचिवालय राजभाषा सेवा (वर्ग "क", "ख" और "ग" पद) के सेवा नियमों का प्रारूप तैयार किया है। इस नई सेवा के गठन के लिए मंत्रिमंडल का अनुमोदन भी प्राप्त हो गया है और अब इसे अधिसूचित करने के लिए आगे कार्यवाही की जा रही है।

हिन्दी तथा प्रादेशिकताएँ—भारत सरकार की यह सुविचारित नीति है कि संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी तथा राज्यों के सरकारी काम-काज के लिए अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग में उत्तरोत्तर वृद्धि हो। वास्तव में इनका विकास और समृद्धि एक दूसरे पर निर्भर है। इस बात को ध्यान में रखते हुए शिक्षा और संस्कृति मंत्रालय हिन्दी और अन्य सभी भारतीय भाषाओं के विकास, विशेषकर उच्चतर शिक्षा के माध्यम और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के मामले में अनेक गहन योजनाएँ चला रहा है। राजभाषा विभाग मुख्यतः हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्थापित करने और उसकी प्रयोग-वृद्धि में क्षेत्र में कार्यरत हैं। सरकार भाषा के प्रश्न के साथ अभिन्न रूप से जुड़े भावात्मक पहलुओं के बारे में भी पूरी तरह सजग है। तथापि, इसका यह अर्थ नहीं कि स्वयं संघ के कामकाज में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग में किसी प्रकार की ढील दी जाए या इस संबंध में किए जा रहे प्रयासों में कोई शिथिलता आए।

प्रश्न 86—'प्रयुक्ति' के रूप में 'राजभाषा हिन्दी' की विशेषताएँ बतलाइए।

उत्तर—किसी भाषा की प्रत्येक प्रयुक्ति की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ होती हैं, जो उसके स्वरूप को स्पष्ट और निर्धारित करती हैं। 'राजभाषा हिंदी' की एक 'प्रयुक्ति' के रूप में मुख्य विशेषताएँ अधोलिखित हैं—

(1) हिंदी में अर्थ की अभिव्यक्ति अभिधा, लक्षणा, तथा व्यंजना के माध्यम से की जाती है, किन्तु हिंदी की सभी प्रयुक्तियों में इन तीनों का समान रूप से प्रयोग नहीं होता। उदाहरण के लिए साहित्य में प्रयास यह किया जाता है कि अभिधा का कम-से-कम प्रयोग हो तथा लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग अधिकाधिक हो। इसके ठीक विपरीत 'राजभाषा' या 'कार्यालयी भाषा' में यह यत्न होता है कि इसमें अभिधा का ही अधिकाधिक प्रयोग हो। इस प्रकार 'राजभाषा' हिंदी' की यह एक मुख्य विशेषता है, जो इसे साहित्यिक हिंदी से अलग करती है।

(2) 'राजभाषा हिंदी' अपने पारिभाषिक शब्दों में भी हिंदी की अन्य प्रयुक्तियों से स्पष्टतः अलग है। इसमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो मूलतः इसी के हैं, और यदि अन्य प्रयुक्तियों में कभी प्रयुक्त होते भी हैं, तो इसी से लेकर। जैसे—

आयुक्त (Commissioner), निविदा (tender), पौरमुख्य (elderman), लिपिक (clerk), विवाचक (arbitrator)।

इस प्रकार के शब्दों की संख्या कई हजार है जो मूलतः 'राजभाषा हिंदी' के ही हैं।

(3) हिंदी में सामान्यतः समस्रोतीय घटकों से ही शब्दों की रचना होती है। जैसे संस्कृत शब्द 'निर्धन' + संस्कृत भाववाचक संज्ञा प्रत्यय ता = निर्धनता; किन्तु अरबी-फ़ारसी शब्द 'ग़रीब' + अरबी फ़ारसी भाववाचक संज्ञा प्रत्यय 'ई' = 'गरीबी'। हिंदी में न तो निर्धन + ई = निर्धनी' भाववाचक संज्ञा शब्द बनेगा और न गरीब + ता = 'गरीबता'। 'राजभाषा हिंदी में इस प्रकार समस्रोतीय घटकों से शब्द-रचना का विशेष बंधन नहीं है, और इसीलिए काफी शब्द विषमस्रोतीय घटकों से भी बने हैं। उदाहरणार्थ 'उपकिरायेदारी' (Subletting) इसमें 'उप' संस्कृत उपसर्ग है तो 'क़िरायेदारी' फ़ारसी शब्द।

प्रत्ययों की दृष्टि से भी यही स्थिति है। जैसे अनुबंधकदार (Sub mortgagee)। यहाँ तत्सम शब्द 'अनुबंधक' में फ़ारसी प्रत्यय 'दार' जोड़ा गया है। कभी-कभी तो तीन स्रोत या घटकों से शब्द बनते हैं जैसे : अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट (Additional District Magistrate)।

(4) राजभाषा हिंदी की एक बहुत बड़ी विशेषता भी है जो उसे विश्व की अन्य सभी राजभाषाओं या प्रशासनिक भाषाओं से अलग कर देती है। वह विशेषता है शैली-भेद। विश्व की अन्य भाषाओं में प्रशासनिक भाषा के स्तर पर शैली-भेद बिलकुल ही नहीं है। किन्तु हिंदी में है, और स्पष्ट है तथा काफी है। इसका सरल-सीधा कारण यह है कि हिंदी के राजभाषा या प्रशासनिक भाषा घोषित होने के पूर्व हिंदी प्रदेश में प्रायः उर्दू राजभाषा थी, जो अपनी व्याकरणिक परंपरा में तो संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी से जुड़ी थी, अतः हिंदी ही थी, किंतु अपने शब्दों में वह इस परंपरा से न जुड़ कर अरबी-फ़ारसी-तुर्की से जुड़ी थी। उदाहरणार्थ, अदालत, जिला, सूबा, तहसील, परगना कुर्की, जमानत, मुचलका, हलफ़नामा, खज़ाना, सरकार, दफ्तर मुकदमा आदि। इधर आजादी के बाद इस दिशा में दो विचारकों ने एक नया रास्ता खोला। एक तो यह कि हमारे सारे पारिभाषिक शब्द विदेशी परंपरा के नहीं होने चाहिए, बल्कि उनमें ऐसे भी होने चाहिए जो अपनी परंपरा की मूल भाषा संस्कृत के हों या उसके उपसर्गों, प्रत्ययों, शब्दों तथा धातुओं से बने हों,। दूसरे यह कि उर्दू के माध्यम से गृहीत अरबी-फ़ारसी तुर्की के शब्द भारत की सभी भाषाओं में नहीं हैं, और न सभी भाषाओं में स्वीकार ही हो सकते हैं। किंतु संस्कृत शब्द भारत की प्रायः सभी भाषाओं के अनुकूल हैं—चाहे वह उत्तर में हिंदी हो या दक्षिण में कन्नड़ और तेलुगु, पश्चिम में गुजराती या पूरब में बंगला-असमी-उड़िया। इन दोनों का परिणाम यह हुआ है कि राजभाषा हिंदी में कुछ ऐसे शब्द भी संस्कृत से ले लिए गए हैं जिनके लिए उर्दू परंपरा से गृहीत शब्द पहले से प्रचलित रहे हैं, और ऐसे ही कुछ शब्द संस्कृत के उपसर्गों, प्रत्ययों, शब्दों की सहायता से नए भी बना लिए गए हैं, जिनके लिए प्रतिशब्द उर्दू परंपरा में वर्तमान हैं।

इस सबका परिणाम यह हुआ है कि अँगरेजी के काफी प्रशासनिक शब्द ऐसे हैं जिनके लिए हिंदी में दो-दो, तीन-तीन प्रतिशब्द चल गए हैं। प्रयोक्ता कभी तो ऐसे शब्दों का मिश्रित प्रयोग करता है। और कभी-कभी केवल एक परंपरा के शब्दों का प्रयोग करता है। इस प्रकार के, एक परम्परा के शब्दों का प्रयोग करने से, राज-

भाषा हिंदी की दो शैलियों का विकास होता जा रहा है। इस प्रकार की दो शैलियों के कुछ शब्द यहाँ उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं —

अँगरेजी शब्द	बोलचाल की शैली	संस्कृतनिष्ठ शैली
Agreement form	करारनामा	अनुबंध-पत्र
Affidavit	हलफनामा	शपथ-पत्र
Tender	टेंडर	निविदा
Office	दफ्तर	कार्यालय

एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ अंग्रेजी शब्द भी इस क्षेत्र में हिंदी द्वारा ग्रहण किए गए हैं, और वे प्रायः बोलचाल की शैली में ही हैं।

(5) राजभाषा हिंदी में कुछ अर्थों या भावों के लिए सामान्य हिंदी से अलग वाक्य हैं। जैसे उत्पादन, उद्ग्रहण, आबंटन आदि।

(6) इसी प्रकार राजभाषा हिंदी में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो सामान्य भाषा में या हिंदी की अल्प प्रयुक्तियों में किसी अन्य अर्थ में आते हैं, किन्तु राजभाषा हिंदी में या कार्यालयी हिंदी में किसी या किन्हीं अन्य अर्थ/अर्थों के। जैसे अधिवक्ता (Advocate), भ्रष्टाचार (Corruption), सहचारी (Attache) आदि।

(7) शब्दों की तरह ही, राजभाषा हिंदी में कुछ संक्षेपों का भी अलग प्रयोग होता है। जैसे—

आ० छु०—आकस्मिक छुट्टी
अ० स०—अर्द्ध सरकारी
दै० भ०—दैनिक भत्ता

अन्य प्रयुक्तियों में ये संक्षेप या तो आते ही नहीं, या आते हैं तो राजभाषा प्रयुक्ति से ही लिए जाकर।

(8) वाक्य के स्तर पर भी राजभाषा हिंदी के स्वरूप के संबंध में कुछ बातें कही जा सकती हैं। उदाहरण के लिए साहित्यिक या बोल-चाल की हिंदी में वाक्य भी प्रायः समस्रोतीय शब्दावली के होते हैं। जैसे—'मुझे संध्या समय एक सभा में भाषण देना है' या 'मुझे शाम को एक जलसे में तकरीर करनी है।' किन्तु इसके विपरीत राजभाषा हिंदी के वाक्यों में अभी तक विषम-स्रोतीय शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से होता है। जैसे—

मसौदा अनुमोदन के लिए पेश है।
यह कागज़ विचाराधीन है।

(9) राजभाषा हिन्दी का प्रयोग शासनतंत्र का कोई व्यक्ति करता है जो प्रयोग के समय व्यक्ति न होकर तंत्र का एक अंग होता है। इसलिए वह वैयक्तिक रूप में कुछ न कहकर निर्वैयक्तिक रूप में कहता है। यही कारण है कि हिंदी की अन्य प्रयुक्तियों में जबकि कर्तृवाच्य की प्रधानता होती है, राजभाषा हिंदी के कार्यालयी रूप में कर्मवाच्य की प्रधानता होती है, उसमें कथन व्यक्ति-सापेक्ष न होकर व्यक्ति निरपेक्ष होता है, कर्तृत्वविहीन। उदाहरणार्थ—

सर्वसाधारण को सूचित किया जाता है कि (न कि 'मैं सर्वसाधारण को सूचित करता हूँ।')

कार्यवाही की जाए (न कि-'आप कार्यवाही करें')

स्वीकृति दी जा सकती है (न कि—'स्वीकृति दें या दीजिए')

(10) राजभाषा के स्वरूप के संबंध में अंत में यदि एक बात की चर्चा न की जाए तो यह विषय अधूरा रह जाएगा। वह एक बात यह है कि आज की राजभाषा हिंदी अपनी प्रकृति में, सहज हिंदी से अधिक अनुवाद की छाया से कलुषित या विकृत हिंदी है। वस्तुतः राजभाषा हिंदी का यह सबसे अधिक दुःखद पक्ष है। यही कारण है कि राजभाषा हिंदी में लिखे गए बहुत से पत्र, प्रारूप, विज्ञापन तथा सूचनाएँ आदि ऐसी होती हैं जिनको समझना सामान्य लोगों के बस का तो नहीं ही है, सुशिक्षितों के बस का भी नहीं है। यों यह बात अकारण नहीं है। चूंकि अब तक राजभाषा एक सीमा तक अँगरेजी रही है, अतः राजभाषा के प्रयोक्ता सहज हिंदी में न लिखकर अँगरेजी में सोचकर उसका हिंदी में अनुवाद करते हैं। इसीलिए राजभाषा सहज ही अपनी प्रकृति में अँगरेजी प्रभावित हो जाती है। यहाँ इसके उदाहरणों की जरूरत नहीं। राजभाषा हिंदी में लिखा गया समाचार, पत्रों में प्रकाशित कोई भी विज्ञापन, कोई भी सूचना या कोई भी सरकारी या अर्धसरकारी पत्र इसके लिए देखा जा सकता है।

यही नहीं अँगरेजी से राजभाषा हिंदी में जो अनुवाद किए जाते हैं, वे तो और भी अधिक अटपटे होते हैं।

कहीं-कहीं राजभाषा हिंदी अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्दों तथा अभिव्यक्तियों से इतनी बोझिल होती है सामान्य हिंदी पाठक तो क्या सुशिक्षित हिंदी पाठक को भी उसे समझने की दृष्टि से निरक्षर हो जाना पड़ता है।

इस तरह राजभाषा हिंदी को जितनी आवश्यकता अँगरेजी के प्रभाव से बचने की है, उतनी ही आवश्यकता अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्दों के अवांछित मिश्रण से भी बचने की है।

स्वरूप की दृष्टि से राजभाषा हिंदी के विकास में निम्नांकित चार बातों पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है—

(क) भाषा यथासाध्य सरल हो। उसे तकनीकी बनाने के प्रयास में न तो संस्कृत के अप्रचलित, अल्पप्रचलित तथा पूर्णतः नवनिर्मित अत्यन्त कठिन शब्दों से बोझिल बना दिया जाए और न अरबी-फ़ारसी-तुर्की के ऐसे शब्दों से भर दिया जाए जो कभी मुगलों के जमाने में चलते थे। जब दरबार की भाषा फ़ारसी थी। इन दोनों ही स्थितियों में हिंदी हिन्दी न रहकर कुछ और बन जाती है।

(ख) अँगरेजी की वाक्य-संरचना से प्रभावित ऐसी अटपटी हिन्दी से बचा जाए जो अपनी प्रकृति में हिंदी न होकर अंग्रेजी होती है। कहना न होगा कि अनुवादों के बाहुल्य के कारण राजभाषा हिन्दी में आज ऐसे वाक्यों की भरमार हो गई है।

(ग) पारिभाषिक शब्दों तथा संक्षेपों में भरसक एकरूपता का ध्यान रखा जाए।

(घ) उच्चारण, वर्तनी, शब्द-रचना, रूप रचना तथा वाक्य-रचना को यथा-साध्य मानक रखा जाए तथा अमानक हिंदी से बचा जाए।

अध्याय | 9

संज्ञा

प्रश्न 87—मूल एवं विकारी रूप से क्या तात्पर्य है ? इस आधार पर हिन्दी संज्ञाओं का रूप विभाजन स्पष्ट करते हुए उनका ऐतिहासिक विकास-क्रम प्रदर्शित कीजिए।

उत्तर—हिन्दी भाषा में जो संज्ञा शब्द हैं, उनके चार तत्त्व हैं—(1) प्रातिपदिक, (2) लिंग, (3) वचन और (4) कारक। इन तत्त्वों के विषय में उल्लेखनीय यह है कि हिन्दी भाषा में प्रातिपदिक स्वरान्त और व्यंजनान्त दोनों प्रकार के हैं। लिंग 2 ही हैं—(1) पुँल्लिग और (2) स्त्रीलिंग तथा वचन भी दो ही रहे—एकवचन और बहुवचन। संस्कृत और अँगरेज़ी से हिन्दी इन दृष्टियों में भिन्न है। हाँ, कारकों की संख्या हिन्दी में, संस्कृत की भाँति ही, आठ हैं, किन्तु उनके रूप संस्कृत की तरह संयोगात्मक नहीं हैं, बल्कि वियोगात्मक हैं। इस कारण कारक-रूपों की संख्या हिन्दी में दो-चार कम ही मिलती है।

इस सन्दर्भ में डॉ० उदयनारायण तिवारी का कथन है 'पदान्त में ध्वनि-परिवर्तन के परिणामस्वरूप शब्द रूप के कतिपय चिह्न, जो अपभ्रंश में बचे थे, उनका भी आधुनिक भाषाओं में लोप हो गया। दो-एक को छोड़कर संस्कृत की विभक्तियाँ भी लुप्त हो गई। इसी प्रकार कई कारकों का भी लोप हो गया और उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनुसर्गों अथवा परसर्गों (Post-Positions) का प्रयोग होने लगा। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो आधुनिक भाषाओं में केवल दो ही कारक रह गए हैं (1) कर्त्ता अथवा (Direct) कारक, (2) तिर्यक् अथवा (Oblique) कारक।' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इन्हीं दोनों कारकों को क्रमशः संश्लिष्ट व विशिष्ट कहा है। इन्हें ही प्रधान और अप्रधान भी कहते हैं।

वास्तव में, कर्त्ता या प्रधान या मूल कारक के रूपों में विभक्ति या कारक चिह्न या परसर्ग लगाने के पहले जब रूप परिवर्तन हो जाता है, तब उन्हें विकृत या विकारी रूप की संज्ञा दी जाती है। अन्य शब्दों में, मूल या अविकारी रूपों में किसी प्रकार के अनुसर्ग या परसर्ग का व्यवहार नहीं किया जाता है, अपितु विकारी रूपों के साथ ही इनका प्रयोग होता है। इस आधार पर हिन्दी संज्ञाओं के चार रूप प्राप्त होते हैं। दो मूल और दो विकृत रूप प्रत्येक संज्ञा में समान रूप से मिलते हैं। ये चारों रूप हिन्दी भाषा की विविध अन्त वाली संज्ञाओं को मिलाकर देखे जाने पर उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में मूल और विकारी रूपों का तात्पर्य समझाया गया है

तथा प्रातिपदिक, लिंग, वचन और कारक का संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है। इस विवरण के आधार पर हिन्दी संज्ञाओं का विभाजित रूप निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं —

		(1) एक वचन	(2) बहु वचन
(1) पुँल्लिग अकारान्त	(i) मूल रूप (कारक)	—घोड़ा	—घोड़े
,, ,,	(ii) विकारी ,,	—घोड़े	—घोड़ों
,,शेष (अ, ऊ, ई-अन्त वाले)	(i) मूल रूप	—घर	—घर
		डाकू	—डाकू
		माली	—माली
	(ii) विकारी रूप	—घर	—घरों
		डाकू	—डाकुओं
		माली	—मालियों
(2) स्त्रीलिंग-ईकारान्त	(i) मूल रूप	—लड़की	—लड़कियाँ
,, ,,	(ii) विकारी रूप	—लड़की	—लड़कियों
,,शेष अन्त वाले	(i) मूल रूप	—बात	—बातें
	(ii) विकारी रूप	—बात	—बातों

उपर्युक्त विकारी रूपों में ही कारक चिह्न अथवा परसर्ग लगाकर विभिन्न कारकों में उनका प्रयोग किया जाता है।

इस स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी के संज्ञा रूपों का सम्बन्ध संस्कृत से बिलकुल ही नहीं है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि संस्कृत के रूप संयोगात्मक हैं, जबकि हिन्दी के रूप वियोगात्मक हैं। यथा—बालक शब्द के संस्कृत एवं हिन्दी रूपों की तुलना आगे प्रस्तुत है —

कारक	एक वचन [संस्कृत—हिन्दी	द्विवचन [संस्कृत–हिन्दी]	बहुवचन [संस्कृत—हिन्दी]
कर्त्ता	बालकः—बालक	बालकौ– ×	बालकाः—बालकों
कर्म	बालकम्-बालक को	,,— ×	बालकान्-बालकों को
करण	बालकेन—" से	बालकाभ्याम् ×	बालकैः—" से
सम्प्रदान	बालकाय " को	"— ×	बालकेभ्यः-,, को
अपादान	बालकात्–" से	"— ×	" —,,से
सम्बन्ध	बालकस्य-" का " के की	बालकोः — × ×	बालकानाम् — ,,का ,, के, की
अधिकरण	बालकैः–" में	"— ×	बालकेषु — ,,में
सम्बोधन	(हे)बालक-हे बालक	(हे) बालकौ- ×	(हे बालकाः-—हे) बालकों

संस्कृत की तरह संयोगात्मक रूप हिन्दी की उपभाषाओं या बोलियों में उपलब्ध होते हैं यथा घरै (ब्रजभाषा), घरे (भोजपुरी) आदि, किन्तु खड़ी बोली में ऐसे रूप बिल्कुल नहीं मिलते।

ऊपर हिन्दी संज्ञाओं के जो मूल और विकारी रूपों की तालिका प्रस्तुत की

गई है, उससे यह विदित होता है कि केवल एक स्थान पर ही भिन्नता प्राप्त होती है। कुछ आकारान्त संज्ञाओं के एक वचन में विकारी रूप एकारान्त होते हैं, जैसे घोड़ा > घोड़े। इस विकारी रूप की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत हैं, उनमें मतभेद नहीं है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, यह रूप संस्कृत एकवचन भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूपों का अवशेष माना जाता है।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इसको इस तरह समझाया है —'म० भा० आ० भाषा-काल में सम्बन्ध कारक-प्रत्यय 'स्य' >–'ह' तथा अधिकारण कारक-प्रत्यय 'स्मिन' >+ 'हि' का उपयोग कर्म, सम्प्रदान और अपादान कारकों के एक वचन में भी किया जाने लगा था —'अको' > -'अ', 'ओ'—अन्त वाले शब्दों में + हि, हिं जोड़े जाने पर,–हं के लोप से–'अ इ' शेष रहा और पश्चिमी हिन्दी में यही—ए में परिणत होकर विकारी कारकों के एकवचन में प्रत्यय के रूप में गृहीत हुआ। 'घर'—जैसे अन्य शब्दों में—'हि' प्रत्यय का सर्वथा लोप होकर विकारी कारकों में भी प्रातिपदिक रूप हो रह गया।'. इस प्रकार सिद्ध होता है कि—

अंको > अओ +हि, हि > अइ >ए।

शेष रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में 5 बातें प्रमुख हैं —

(1) कर्त्ता कारक एकवचन में हिन्दी संज्ञा शब्द का प्रतिपादित रूप ही शेष रहता है, क्योंकि संस्कृत कर्त्ताकारक एकवचन का प्रत्यय [:] शौरसेनी प्राकृत में—'आ' > अपभ्रंश में 'उ' में परिवर्तित हुआ और हिन्दी तक आते-आते पदान्त स्वर लोप की प्रवृति के कारण इस 'उ' का भी सर्वथा लोप हो गया। इस तरह मात्र प्रातिपदिक रूप ही शेष रहा।

(2) हिन्दी संज्ञाओं के आकारान्त पुलिंग एक वचन में विकारी रूप एकारान्त होते हैं, जैसे घोड़ा > घोड़े। यह बात ऊपर कही गई है। इस पर ध्यान दें तो पता चलता है कि आकारान्त (पुलिंग तद्भव) शब्दों के एक वचन के विकारी रूपों में अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है और उसकी जगह 'ए' प्रत्यय लग जाता है (घोड़े को, से आदि)। इस 'ए' की व्युत्पत्ति भी डॉ० वर्मा और डॉ० तिवारी के अनुसार बात दी गई है। परन्तु हम यह देखते हैं कि अन्य शब्दों के विकारी रूपों में एक वचन में कोई परिवर्तन नहीं होता प्रातिपदिक रूप ही रहता है—यथा—घर, लड़की, बात आदि। इनके साथ परसर्ग का व्यवहार करने के पहले कर्त्ता एक वचन के-से ही रूप रहते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि 'घर' जैसे शब्दों में—'हि' प्रत्यय का बिल्कुल लोप हो गया, अतः प्रातिपदिक रूप ही शेष रहा।

(3) पुलिंग तद्भव आकारान्त संज्ञा शब्दों के कर्त्ता कारक बहुवचन में भी अन्त्य स्वर—'आ' लुप्त हो जाता है तथा उसके स्थान पर—'ए' प्रत्यय लगता है। जैसे घोड़ा > घोड़े। किन्तु, अन्य पुलिंग शब्दों के कर्त्ता कारक एक वचन तथा बहुवचन—दोनों में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे घर > घर। भाई>भाई। राजा>राजा आदि।

यहाँ कर्त्ता कारक बहुवचन में जो—'ए' प्रत्यय लगता है उसकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है और इस पर विद्वानों में मतभेद है। 'हार्नली' का मत है कि कर्त्ता बहु-

वचन में भी विकारी एक वचन का ही रूप व्यवहृत होता है। किन्तु, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का मत इससे भिन्न है; उनके अनुसार—

प्रा० भा० आ० करण कारक बहुवचन प्रत्यय—'एभि' >
म० भा० आ०—अहि>अही > अइ > ए हो गया है।

(4) स्त्रीलिंग—'इ=ई'—अन्त वाले शब्दों के कर्त्ता कारक बहुवचन में—'आँ' प्रत्यय तथा अन्य स्त्रीलिंग शब्दों में कर्त्ता कारक बहुवचन में—'एँ' प्रत्यय लगाए जाते हैं। इसके सम्बन्ध में निम्नांकित परिवर्तन द्रष्टव्य है —

इकरान्त (तत्सम) एवं इकारान्त शब्दों में—'आँ' प्रत्यय से पहले—'य' श्रुति का सन्निवेश हो जाता है और—ईकरान्त शब्दों में—ई>इ तथा ऊकारान्त में-ऊ >-उ में बदल जाता है। उदाहरणार्थ—

लड़की>लड़कियाँ। तिथि>तिथियाँ। बात>बातें। वस्तु>वस्तुएँ। बहू>बहुएँ आदि।

इस—'आँ'—'एँ' की, उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से हुई है—संस्कृत नपुंसकलिंग प्रथमा एक वचन प्रत्यय—अनि> म० भा० आ० आई>हिन्दी—एँ।

संस्कृत नपुंसकलिंग प्रथम एक वचन प्रत्यय—अग्नि>म० भा० आ० आई+ हिन्दी—आँ।

(5) सभी प्रकार के संज्ञा शब्दों में विकारी बहुवचन के रूपों में—'ओ' प्रत्यय का व्यवहार किया जाता है तथा इसके पहले अन्त्य—'आ' प्रत्यय लुप्त हो जाता है। अन्त्य इ>ई में, ऊ>उ में परिवर्तित हो जाता है और इन परिवर्तनों के साथ—'ओ' प्रत्यय लगता है, तो इकारान्त से पूर्व (उकारान्त में नहीं)—'य+' श्रुति का सन्निवेश हो जाता है। यथा—

घोड़ा > घोड़ों। लड़की > लड़कियों। बाबू > बाबुओं आदि।

इस 'ओं' की व्युत्पत्ति अधोलिखित है —

संस्कृत षष्ठी बहुवचन प्रत्यय—आनान्>म० भा० आ० आनं>आणं+हु (>अउँ>ओं) > ओं।

स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा में प्राप्त संज्ञाओं के मूल रूपों के सम्बन्ध संस्कृत की प्रथमा तथा तृतीया विभक्तियों से है एवं विकारी रूपों का सम्बन्ध षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियों से है। बात यह है कि संस्कृत के विभक्ति प्रत्ययों की संख्या म० भा० आ० भाषाओं में ध्वनि परिवर्तन के कारण कम हो गई और हिन्दी तक आते-आते उनमें इतनी कमी हो गई कि मात्र कर्त्ता कारक बहुवचन, करण कारक बहुवचन, सम्बन्ध कारक बहुवचन और अधिकरण कारक एक वचन के विभक्ति प्रत्यय ही बच सके। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी भाषा में करण कारक बहुवचन और सम्बन्ध कारक बहुवचन के रूपों से कर्त्ता कारक बहुवचन का कार्य लिया गया। उदाहरणार्थ—

घोटक—आनाम् >, घोड-आनं+हु >घोड-उँ, घोड़ों। ऐसे ही अन्य उदाहरणों से इस बात की पुष्टि की जा सकती है।

परन्तु, तद्भव-आकारान्त प्रथमा एक वचन के रूप, सं०—अकारान्त में, स्वार्थिक प्रत्यय के योग से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ—

घोट-कः > घोड़-अ > घोड़ा ।

और विकारी एक वचन के रूप संस्कृत अधिकरण कारक एक वचन से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ—

घोट—कधि > घोट—कहि > घोड अइ > घोड़े ।

अध्याय | 10

सर्वनाम

प्रश्न 88—हिन्दी भाषा के पुरुषवाचक सर्वनामों का इतिहास बतलाते हुए उनके बोलीगत रूपों का स्पष्ट उल्लेख कीजिए ।

प्रश्न 89—निम्नलिखित शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए—मैं, हौं, में, हम, हमें, मुझ, मो-मौं, मेरा, हमारा, म्हारी, मेरो-मोर, तू-तैं, तुम, तुम्ह, तुमको, तुझ-तुझे-तुझको, तेरा-तुम्हारा-तेरो ।

उत्तर—हिन्दी भाषा के अन्तर्गत जो पुरुषवाचक सर्वनाम मिलते हैं। उनका इतिहास भी प्रा० भा० आ० भाषा से ही प्रारम्भ होता है। यहाँ यह जान लेना अपेक्षित है कि प्रा० भा० आ० भाषा में सर्वनामों के रूप लगभग स्थिर हो चुके थे यद्यपि हिन्दी सर्वनामों की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के सर्वनाम रूपों से ही हुई, तथापि प्राकृत, अपभ्रंश आदि म० भा० आ० भाषाओं और हिन्दी तक पहुँचते-पहुँचते उनके रूपों में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है।

भाषा-विकास और ध्वनि परिवर्तन की प्रक्रिया-समय के साथ-साथ जिस प्रकार संज्ञाओं के विकारी रूप लुप्त होते गए, उसी प्रकार सर्वनामों के विकारी रूपों का भी लोप होता गया। परिणाम यह हुआ कि सम्बन्ध एवं अधिकरण कारकों के रूप ही अन्य रूपों की जगह व्यवहृत होने लगे।

संस्कृत भाषा में उत्तम तथा मध्यम पुरुष वाचक सर्वनामों में लिंग भेद नहीं किया जाता था, पर अन्य पुरुषवाची सर्वनामों में लिंग भेद किया जाता था। हिन्दी में आते-आते यह लिंग-भेद भी समाप्त हो गया। हिन्दी भाषा में सम्बन्ध कारक के जो भी सर्वनाम रूप प्राप्त होते हैं, वे वस्तुतः विशेषण हैं; क्योंकि उनमें विशेष्य के अनुसार ही लिंग-वचन के विभिन्न रूप होते हैं। यहाँ स्मरणीय यह है कि मा० भा० आ० भाषाओं में भी ये सर्वनाम रूप विशेषण की भांति प्रयुक्त होते थे। हिन्दी में आने पर भी वे अपनी विकास परम्परा के अनुसार ही विशेषण की तरह ही व्यवहृत होते हैं। यथा मेरा मकान, मेरी पत्नी आदि।

हिन्दी भाषा में भी पुरुषवाचक सर्वनाम के तीन भेद होते हैं—(1) उत्तम पुरुष, (2) मध्यम पुरुष तथा (3) अन्य पुरुष। हिन्दी में उत्तम एवं मध्यम पुरुष के ही रूप पुरुषवाचक सर्वनाम के अन्तर्गत स्वीकार किए जाते हैं। अन्य पुरुष के रूपों को डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने दूरवर्ती निश्चयवाचक और डॉ० उदय नारायण तिवारी ने दूरत्व उल्लेख सूचक (Remote Demonstrative) सर्वनाम के भीतर स्वीकार किया है। अतः हम यहाँ पर उत्तम एवं मध्यम पुरुष के ही सर्वनामों की चर्चा करते हुए उनके विकास या व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालेंगे।

उत्तम पुरुष

उत्तम पुरुष के निम्नांकित रूप हिंदी भाषा में प्राप्त हैं —
(कोष्ठकों में बोलीगत रूप भी दिए हैं।)

उत्तम पुरुष- —	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप	मैं (हौं) (मैं) (में)	हम
विकारी रूप	मुझ (मों), (मौं)	हम
कर्म + सम्प्रदान	मुझे, मुझको	हमें, हमको
सम्बन्ध (पु०)	मेरा (मेरो, मोर)	हमारा, म्हारो; हमारो, हमारौ)
(स्त्री०)	मेरी	हमारी

व्युत्पत्ति—इन सभी शब्दों की व्युत्पत्ति नीचे दी जा रही है —

(1) मैं—सं० मया+एन>प्रा० मई, मए (करण कारक)>अपभ्रंश मई, मैं>हिन्दी मैं। द्रष्टव्य यह है कि सं० मया+एन भी तृतीया का ही रूप है। इसी से प्राकृत के रूप भी कारण में ही व्यवहृत हुए हैं। हिन्दी में आकार 'मैं' कर्त्ता कारक में प्रयोग किया जाने लगा। 'सं० के अहं (मैं) से, जो संस्कृत में प्रथमा एक वचन का रूप है, हिन्दी 'मैं' का कोई सम्बन्ध नहीं है'—यह मत 'बीम्स' का है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के मतानुसार मैं की अनुनासिकता 'एन' के कारण है।

(2) हौं—ब्रजभाषा में 'मैं' के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। संस्कृत के 'अहम्' से इसकी व्युत्पत्ति दी जाती है। (अ) डॉ० उदय नारायण तिवारी के अनुसार —अहम् >अहकं>*हग्रं> *हव>हौ। (ब) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार— 'ब्रज आदि पुरानी हिन्दी के 'हौं' का सम्बन्ध सं० 'अहं०' या अहकं' से है शौरसेनी में इसका रूप 'अहमं' और अपभ्रंश से 'हमु' तथा 'हउं' मिलता है। अपभ्रंश 'हमु' से ब्रज 'हउ' या हौं रूप होना सम्भव है।'

(3) 'मैं'—अवधी में तो 'मैं' रूप ही चलता है, किन्तु भोजपुरी में 'में' रूप प्राप्त होता है। ये दोनों रूप 'मया+एन' से उपर्युक्त ढङ्ग से बने हुए हैं। भोजपुरी 'में' की व्युत्पत्ति इस तरह सम्भव है —मया+एन>मए>में।

(4) हम—की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कृत के प्रथमा बहुवचन के 'वयं' रूप से बिल्कुल ही नहीं है, बल्कि वैदिक रूप 'अस्मे' से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। (अ) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार — अस्मे>अम्हे,म्हे>हम (म और ह का स्थान-विपर्यय)। (ब) डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार—अस्म>*अम्ह>*हम्व>हम्म, हम।

(5) हमें—डॉ० तिवारी के मतानुसार 'हमें' में 'ए' का आगमन वस्तुतः

सं० 'एन' से हुआ है। 'बीम्स' के मत को स्वीकार करते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है— 'हिन्दी 'हमें' का सम्बन्ध प्रा० अप० 'अम्हइं' के किया जाता है।' कहना न होगा कि 'अम्हइं' वैदिक 'अस्मे' से ही निकला है।

(6) मुझ—संस्कृत रूप 'मह्यम्' से अग्रलिखित ढंग से व्युत्पन्न है —सं मह्यम् >म० भा० आ० मज्झ> हिन्दी मुझ। द्रष्टव्य यह है कि 'मुझ' में उकार का आगम तुझ के सादृष्य पर माना गया है। कतिपय विद्वान् 'मुझ' का सम्बन्ध षष्ठी कारक के प्राकृत रूप 'मह' से जोड़ते हैं। बीम्स के अनुसार 'मुझ या मझ का प्रयोग पुरानी हिन्दी में षष्ठी के अर्थ में भी होता था।' यह मत डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। यह भी विचारणीय है कि सं० 'मह्य' का रूप प्राकृत में 'मह्य' था या 'मह' था या 'मज्झ' था क्योंकि ये तीनों रूप कहीं-न-कहीं प्रस्तुत किए जाते हैं। मह्य और मह-- ये दोनों रूप प्राकृत में उपलब्ध हैं और 'मज्झ' रूप भी हो सकता है; क्योंकि प्रो० लासेन ने ह्य>ज्झ के निमित्त सं० लिह्य >प्रा० लिज्ज उदाहरण दिया है। इसके साथ ही प्राकृत में षष्ठी कारक में 'मझ' का प्रयोग भी प्राप्त होता है।

(7) मो, मौं—व्रजभाषा में सम्वन्ध कारक के अलावा अन्य कारकों में एक वचन विकारी रूप में प्रयुक्त होता है। 'बीम्स' के मतानुसार 'मो' का विकास सं० के 'मम' से है। प्राकृत में षष्ठी कारक मे 'मम', 'मह' तथा 'में' रूप प्राप्य होते हैं। अपभ्रंश में मह>मह हो गया है। इसी 'महु' से 'महुँ', 'मो', 'मों' की उत्पत्ति हुई है। इसे यों कह सकते हैं—

संस्कृत मम>प्राकृत मम, मह, में>अपभ्रंश महु, महुँ>मौं, मो (हिन्दी)।

(8) मुझे, मुझको—कर्म एवं सम्प्रदान कारक में हिन्दी में 'मुझे', 'मुझको' —दोनों रूपों का प्रयोग होता है। 'मुझे' में 'ए' विकारी रूप का प्रतीक है और मुझको में 'मुझ' के साथ कर्म एवं सम्प्रदान कारक का परसर्ग 'को' जुड़ा हुआ है।

(9) हमें, हमको—इन्हें भी 'मुझे और मुझको, के अनुसार समझ सकते हैं।

(10) मेरा—का प्रयोग सम्वन्ध कारक में होता है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० 'मम-केर' से है —

म० भा० आ० मम-केर>ममेर—आ>मेरा। द्रष्टव्य—म० भा० आ० के 'केर' प्रत्यय की उत्पत्ति सं० 'कार्य' से है।

(11) हमारा—सम्वन्ध कारक बहुवचन की उत्पत्ति डॉ० तिवारी ने यों दी है —अस्म-कर>हमारा।

किन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार उत्पत्ति इस प्रकार है —अम्ह-कारको >अम्ह-अरओ>अम्ह अरओ, अम्हारो>हमारो, हमारो>हमारा।

(12) म्हारी; हमारौ, हमारी—बोलीगत रूप उक्त व्युत्पत्ति से स्पष्ट है। द्रष्टव्य—म० भा० आ० 'अम्ह'<सं० 'अस्म' से उत्पन्न है।

(13) मेरो, मोर—'मेरो' व्रजभाषा और 'मोर' भोजपुरी के रूप हैं। 'मोर' अवधी में भी चलता है। इनकी व्युत्पत्ति इस तरह दी जाती है। (अ) मोर डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार—*मम+कर>*मोअर>मोर। (ब) मेरो की व्युत्पत्ति 'मम-केरको' या 'मह-केरो' से बनाई जा सकती है। यहाँ स्मरणीय है

कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'मेरा' की व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार समझाई है। उनका कहना है—'प्रा० मह-केरों या मह-करों रूप से हिन्दी म्हारो, मारो, मेरो, मेरा आदि समस्त रूप निकल सकते हैं।' स्त्रीलिंग—'मेरी', 'हमारी' में 'ई', स्त्री-प्रत्यय संयुक्त है।

मध्यम-पुरुष

मध्यम पुरुष के हिन्दी भाषा में अधोलिखित रूप प्राप्त होते हैं—

मूल रूप	एक वचन	बहुवचन
कर्त्ता कारक	तू (तैं)	तुम
कर्म कारक	तुझे (तो) (तोहि)	तुम्हें
विकारी	तुझ	तुम्ह, तुम
सम्प्रदान कारक	तुझको	तुम्हें, तुमको
सम्बन्ध कारक	(पुलिंग), तेरा (तेरो, तेरौ)	तुम्हारा (तुम्हारो)
	(स्त्री०) तेरी	तुम्हारी

व्युत्पत्ति—सभी मध्यम पुरुष सर्वनामों की व्युत्पत्ति नीचे दी जा रही है।

(1) तू—उत्पत्ति डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इस प्रकार दी है—'वैदिक तु (जैसा कि तु=अम में मिलता है) तथा त्वम् > प्रा० तू से हुई।' किन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार—'हिन्दी तू का सम्बन्ध सं० त्वया > प्रा० तुम, तुअ > अप० तुह से है।'

(2) तैं—जो ब्रजभाषा आदि में पाया जाता है, वह संस्कृत 'त्वया' से यों विकसित है —सं० त्वया > प्रा० तइ, तए > अप० तई > हि० (ब्रज०) तैं।

द्रष्टव्य : इसकी अनुनासिकता भी 'मैं' की भाँति 'एन' के कारण ही है।

(3) तुम—'हार्नली' के अनुसार 'तुम' का सम्बन्ध सं० *'तुष्मे' से है। तुष्मे > प्रा० तुम्हें, तुम्ह > हिन्दी तुम। स्मरणीय है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा 'हार्नली' के मत को ही मानते हैं। किन्तु, डॉ० उदय नारायण तिवारी की मान्यता यह है—सं० युष्म > प्रा० तुम्ह > हिन्दी तुम।

(4) तुम्हें—कर्मकारक का बहुवचन रूप है, जो सं० युष्मे का प्राकृत रूप है। किन्तु डॉ० वर्मा का कहना है कि 'हिन्दी तुम्हें का सम्बन्ध प्रा० अप० 'तुम्हइँ' से है।' कहना न होगा कि दोनों व्युत्पत्तियों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों रूप—तुम्हइँ और तुम्हें—प्राकृत, अपभ्रंश के ही हैं तथा सं० 'युष्मे' से ही विकसित हैं। तुम्हइँ > तुम्हें हो ही सकता है।

(5) तुम्ह, तुमको—जो विकारी रूप हैं, इनमें 'तुम्ह' तो प्रा० से ज्यों का त्यों ले लिया गया है, जैसे 'तुम्हें' ले लिया गया है। तुमको में 'को' परसर्ग का योग है।

(6) तुझ, तुझे, तुझको, तो—में 'तुझ' की व्युत्पत्ति सं० 'तुभ्यं' से यों है—सं० तुभ्यम् > म० भा० आ० तुज्झ > हि० तुझ।

द्रष्टव्य—तुझ की व्युत्पत्ति मह्यम् > मुझ के अनुसार ही है। तुज्झ को प्रा० षष्ठी के 'तुह' का रूपान्तर माना जाता है। 'तुझे' में 'ए' विकारी रूप का प्रतीक

27

है। 'तुझको' में 'को' परसर्ग का संयोग है।—'तो'—व्रजभाषा का रूप है, जो सं० तुस्स > अप० तहं से विकसित हुआ बताया जाता है।

(7) तेरा, तुम्हारा—सम्बन्ध कारक के रूप हैं, जिनकी व्युत्पत्ति डॉ० तिवारी ने इस प्रकार बतलाई है—तक्केर > तेरा, युष्म-केर > तुम्ह — > तुम्हारा। किन्तु, डॉ० वर्मा के अनुसार तुम्ह करको > तुम्ह अरओ > तुम्हारौ > तुम्हरो > तुम्हारा।

(इसी व्युत्पत्ति में 'तुम्हर, तुम्हरौ, तुमरौ, तुमरो'—सब स्पष्ट हैं।)

(8) तेरो, तेरौ—की व्युत्पत्ति 'तव-कैरको' से दी जा सकती है।

(9) तेरी, तुम्हारी—में स्त्री-प्रत्यय 'ई' लगा हुआ है।

इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि 'र' के संयोग वाले षष्ठी कारक (सम्बन्ध) के सभी रूप, जो विशेषण की भाँति व्यवहृत होते हैं, प्राकृत के 'करक, करौ, केरा, करा, आदि विभिन्न प्रत्ययों के परिवर्तित रूपों के प्रभाव से व्युत्पन्न हैं। इन्हीं प्रत्ययों में से कोई एक प्रत्यय लेकर समझाता है, तो कोई दूसरा प्रत्यय लेकर समझाता है। फलतः थोड़ा बहुत मतभेद दिखाई देता है।

अध्याय | 11

विशेषण

प्रश्न 90—हिन्दी भाषा में पाए जाने वाले संख्यावाचक विशेषणों का वर्गीकरण करते हुए उनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 91—व्युत्पत्ति बतलाइए—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दस, बीस, तीस, चालीस, पाचस, साठ, सत्तर अस्सी, नब्बे, सौ, हजार, लाख, करोड़, अरब, खरब, पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठाँ, बार, एकम्, दूना-दूनी तिया, चौके, पंचे, छक्के, सत्ते, अट्ठे, नवाँ, दहाम्, जोड़ी, सैकड़ा, लाख, पौवा, तिहाई, आधा-अद्धा, पौन-पौना, सवा, डेढ़ ड्योढ़ा, ढाई-अढ़ाई, साढ़े, गुना।

हिन्दी भाषा में प्राप्त संख्यावाचक विशेषण पदों का वर्णीकरण निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) गणनात्मक या पूर्ण संख्यावाचक (2) क्रमात्मक या क्रम संख्यावाचक (3) गुणात्मक (Denominatives), (4) समूह वाचक (Collective Numerals) (5) भिन्नात्मक या अपूर्ण संख्यावाचक (Fractional Numerals), (6) समानुपातीय या आवृत्ति संख्यावाचक (Proportional numerals), (7) ऋणात्मक।

इनके अलावा अन्य प्रकार के संख्यावाचक हैं—

(8) प्रत्येकवाची संख्यावाचक, (9) निश्चित संख्यावाचक, (10) अनिश्चित संख्यावाचक।

अत्र, क्रमशः इन समस्त प्रकारों में प्राप्त शब्दों की व्युपत्ति; मुख्य एवं आवश्यक परिवर्तन को बतलाते हुए दी जा रही है।

(1) गणनात्मक

(i) एक—सं० एक > प्रा० एक्का, एग > हि० एक। वास्तव में संस्कृत 'एक' का म० भा० आ० में 'एअ' रूप होना चाहिए था, किन्तु अधिक प्रयुक्त होने (Freqnency) के कारण अन्त्य 'क' शेष रह गया और प्रा० में द्वित्व की प्रवृत्ति के कारण 'क्क' तथा कहीं-कहीं घोष क् > अघोष 'ग्' में परिवर्तित हो गया। हिन्दी ने पुनः 'एक' ही ग्रहण किया। हिन्दी की उर्दू शैली में एक > इक होकर प्रयुक्त होता है। ऐसे ही एक से संयुक्त अन्य संख्यावाची पदों में 'इक' हो जाता है, यथा इक्कीस, इक्कावन। केवल 'ग्यारह या एगारह' में क् > ग् हो गया है (क घोष > ग अघोष), जो सम्भवतः अर्द्धमागधी 'एग' > सं० एक से प्रभावित है। सं० एकादश > प्रा० एगारह, एआरह > हि० ग्यारह। (एगारह-पूर्वी हि०) के रूप में विकसित है। पूर्वी हिन्दी वाला रूप 'एगारह' प्रा० एगारह ही है, जो वहीं से अपरिवर्तित रूप में गृहीत है। एक > इक में स्मरणीय यह है कि गुण ध्वनि 'ए' विकृत होकर 'इ' हो गई है।

(ii) दो—सं० द्वौ > प्रा० दो > हि० दो। यह संयुक्त संख्याओं में 'द्वा > दो, बा या 'व' के रूप में प्राप्त होता है। यथा—बारह, बत्तीस आदि। स्पष्ट है कि 'द्व' के 'द' का लोप हो गया है और शेषांश वा > बा, ब हो जाता है। सामासिक शब्दों में दो > दु हो जाता है, जैसे दुमुँहा, दुतल्ला आदि, किन्तु अनेक सामासिक पदों में 'दो' ही रहता है। यथा—दोपहर, दोरस, दोमट आदि।

(iii) तीन—सं० त्रीणि > म० भा० आ० तीणि > हि० तीन। अन्यत्र—संयुक्त संख्यावाची पदों में—तीन > ते, तें, तिर हो जाता है, तथा-तेरह तेइस, तेंतीस (तैंतीस भी), तिहत्तर, तिरसठ, तिरासी आदि ते, तें, तैं, तिर को सं० 'त्रय' एवं 'त्रि' से विकसित मानते हैं। द्विगु सामासिक पदों में भी ति, ते का प्रयोग मिलता है, यथा तिपाई, तिमंजिला, तेरह आदि। 'त्रि' का परिवर्तन 'टि' में भी द्रष्टव्य है, यथा—त्रि—काष्ठिका > टिकठी।

(iv) चार—सं० चत्वारि > म० भा० आ० चत्तारि, चारि > च्यारि, चार। अन्यत्र—संख्यावाची पदों में—इसके चौ, चौं, चोर रूप प्राप्त होते हैं, जो सं० चतुः > प्रा० चतु, अप० चउ, चउरो > हि० चौ, चौं, चौर के रूप में विकसित हुए हैं; यथा—चौदह, चौतीस, चौरासी। सामासिक पदों में चौ, चार का प्रयोग होता है, यथा—चौपाल, चोपाया चौराहा, चारपाई। 'चवन्नी' में चौ > चव हो गया तथा औ > अव में बदल गया है।

(v) पाँच—सं० पञ्च > म० भा० आ०—पञ्च > हि० पाँच। संयुक्त संख्यावाची पदों में इसके पन्, वन्, अन्, पें, पँच रूप उपलब्ध होते हैं, तथा—पन्द्रह, इक्कावन, चौवन, पचपन, पैंतीस, पैंसठ, पच्चीस, पचहत्तर आदि। ये सभी रूप० म० भा० आ० के पण्ण, पञ्च, पन्न आदि रूपों से व्युत्पन्न हैं। सामासिक पदों

में पच, पंच रूप मिलते हैं 'जैसे—पचफेड़ा, पचरुखा' पचमेल या पंचमेल, पंचलत्ती आदि। पंसेरी या पसेरी में 'पन्' रूप प्राप्त होता है-पसेरी में न का लोप हो गया है। पंच, पच तो 'पाँच से ही स्वराघात के कारण परिवर्तित होकर बने हैं। पच या सरपंच में सं० पञ्च मौजूद है।

(vi) छः, छै या छह—सं० षट् (षष्) > म० भा० आ० छह, छअ > हि० छः, छै या छह। उक्त परिवर्तन में ष > छ का परिवर्तन एक समस्या है क्योंकि हि० 'सोलह' में सं० षोडस के 'ष' का परिवर्तन स् में, निकटवर्ती ध्वनि में हुआ है, परन्तु अन्यत्र छ्, छाया, रूप ही मिलते हैं। यथा—छब्बीस, छयालिस या छियालीस, छानवे या छियानवे। इस सन्दर्भ में डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का विचार है कि छा का सम्बन्ध प्रा० भा० आ० के कल्पित रूप *क्षश या *क्षक से होना चाहिए, क्योंकि 'क्ष' ही 'छ' में अन्यत्र परिवर्तित हुआ है। अपना विचार यह है कि मूर्द्धन्य 'ष' का परिवर्तन तालव्य 'छ' में सम्भव है।

(vii) सात—प्रा० भा० आ० सप्त > म० भा० आ० सत्त > हि० सात। संयुक्त संख्यावाची पदों से 'सत्त, सत' रूप मिलते हैं, जो म० भा० आ० के ही रूप हैं। सत्त > सत स्वाराघात के कारण हुआ है। उदा० सत्ताइस, सतासी, सतानवे आदि। अन्य स्थलों पर 'सैं, सड़या सर' रूप भी उपलब्ध है, यथा—सैंतीस, सैंतालिस, सड़सठ या सरसठ आदि। 'सैं' की व्युत्पत्ति 'सइ' से स्वर संगति के कारण है और इनकी अनुनासिकता 'पैं' (पैंतालिस) के सादृश्य के कारण है किन्तु 'सड़ या 'सर' का रूप असामान्य है, जो अड़सठ या अरसठ के सादृश्य के कारण माना जाता है। हो सकता है त > ट > ड > र के क्रम में परिवर्तन हुआ हो, जो सर्वथा संभव है। द्विगु सामासिक पदों में 'सत' रूप है यथा सतई, सतरिख (सप्तर्षि का तद्भव)।

(vii) आठ—प्रा० भा० आ० अष्ट > म० भा० आ० अट्ठ > हि० 'आठ'। अन्यत्र संख्यावाची पदों में अठ् अट्ठ, अठा, अड़या अर रूप मिलते हैं, यथा–अठारह, अट्ठाइस, अठानबे, अड़तीस, अड़तालिस, अड़सठ या अरसठ आदि 'आठ' रूप सामासिक पदों में भी है, यथा—अठखेलियाँ। अड़, अर, के अति शेष रूप तो स्पष्ट ही हैं, जो म० भा० आ० के 'अठ्ठ' से सम्बन्धित हैं, किन्तु 'अड्, अर' का परिवर्तन असामान्य है। सम्भव है किसी क्षेत्र में—म० भ० आ० में ही–अठ > अड (ठ > ड, अघोष > सघोष) > हिन्दी अड़, अर हो गया हो तथा कम व्यवहार के कारण कम ही शब्दों में रह गए हों।

(ix) नौ—प्रा० भा० आ० नव० > म० भा० आ० नअ, नड़ > हि० नौ। नौ की व्युत्पत्ति सात, आठ की तरह सर्वथा स्पष्ट है। संयुक्त संख्यावाची पदों में 'नौ' के स्थान पर 'उन' का व्यहवार (नवासी) को छोड़ कर सर्वत्र प्राप्त होता है। यह इस प्रकार व्युत्पन्न है—प्रा० भा० आ० ऊन > म० भा० आ० ऊण, उन > हिं० उन। उन = एक कम, यथा—प्रा० भा० आ० उनविंशति > प० भा० आ० उनवीसइ > हिन्दी उन्नीस।

परन्तु हिन्दी के निनानवे या निन्यानवे या निन्नानवे के 'निना' की व्युत्पत्ति संदिग्ध एवं अस्पष्ट है।

(x) दस—प्रा० भा० आ० दश > म० भा० आ० दस > हि० दस। संयुक्तावस्था में इसके दह, रह, लह रूप उपलब्ध होते हैं। ये सभी प्राकृत के रूप हैं और

वैसे ही हिन्दी में आए हैं। उदा०—चौदह, बारह, सोलह आदि। प्राकृत में द>र कैसे हो गया ? यह स्पष्ट है। परन्तु हिन्दी में र>ल स>ह का परिवर्तन साधारण है। सम्भवत: द>ड>र में परिवर्तित हुआ होगा।

(xi) बीस—प्रा० भा० आ० विंशति >म० भा० आ० बीसइ, वीस > हि० बीस। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने पालि के 'बीसति, बीसई' बीसइं; प्रा० बीसा, वीस, वीस रूप दिए हैं। उन्होंने लिखा है—'बीस की उत्पत्ति विंशति के सादृश्य पर विसत् से हुई प्रतीत होती है।' संयुक्त शब्दावली में 'वीस' या ईस (बीस के 'व' का लोम करके) रूप मिलते हैं। यथा>चौबीस, बाईस, तेइस आदि। द्रष्टव्य 'बीस' के लिए हिन्दी भाषा में एक शब्द 'कोड़ी' भी चलता है, जो कोल भाषा का है और हिन्दी के विदेशी शब्दों में गृहीत माना जाता है।

(xii) तीस—प्रा० भा० आ० त्रिंशत>म० भा० आ० तीस > हि० तीस। अन्यत्र सर्वत्र इसके रूप समान हैं, परिवर्तित नहीं होते।

(xiii) चालीस—प्रा० भा० आ० चत्वारिंशत=म० भा० आ० चत्तालीसा, चत्तालीस=हि० चालीस, चालिस। संयुक्त संख्यावाची पदों में इसके तालीस वालिस, यालिस रूप मिलते हैं, जिसका कारण संभवत: च् या त् का लोप तथा कहीं 'व्' कहीं य्—श्रुति का आगम है। यथा—इकतालीस, बयालीस, चवालिस या चौवालिस आदि।

(xiv) पचास—प्रा० भा० आ० पञ्चाशत >म० भा० आ० पचासा > हि० पचास। संयुक्त शब्दावली में इनके पन्, वन् रूप मिलते हैं, जो म० भा० आ० के पण, परण, पन्न से व्युत्पन हैं। उदा० बावन्, तिरपन आदि। उनचास में 'प' का लोप स्पष्ट है।

(xv) साठ—प्रा० भा० आ० षष्टि = म० भा० आ० सट्ठि = हि० साठ। संयुक्त स्थिति में साठ > सठ होकर आता है, जो स्वराघात के कारण है। यथा—इकसठ, बासठ आदि।

(xv) सत्तर—प्रा० भा० आ० सप्तति > म० भा० आ० सत्तति, सत्तरि > हि० सत्तर। प्राकृत और पालि में 'सत्तरि' प्राप्त होता है, जिसमें त>र में बदल गया है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार, 'त्>द्>ड्>र् रहा होगा और सम्भवत: ड>र परिवर्तन सप्तदश>सत्तरह से प्रभावित हुआ होगा। यही मान्यता डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी की भी है, जिसे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा सन्तोषप्रद नहीं मानते, किन्तु 'सत्तर' के 'र' का आगमन प्राकृत से ही वे भी मानते हैं हिन्दी में द्वित्व व्यंजन 'त्त' की उपस्थिति को हिन्दी पर पंजाबी का प्रभाव माना जाता है। भोजपुरी में म० भा० आ० का 'सत्तति' रूप ज्यों का त्यों पाया जाता है, यद्यपि 'सत्तर' भी उसमें चलता है; सही बात यह है कि हिन्दी और उसकी उपभाषाओं ने म० भा० आ० के रूप को ही अपनाया है। खड़ी बोली में द्वित्व व्यंजन होना उसकी स्थानीय विशेषता है। संयुक्तावस्था में 'सत्तर' का स> ह में परिवर्तित होता है और इसका 'हत्तर' रूप ही मिलता है, जैसे इकहत्तर, बहत्तर आदि। कुछ लोग सतहत्तर, अठहत्तर में 'ह' का लोप करके सतत्तर, अठत्तर भी प्रयोग करते हैं।

(xvii) अस्सी—प्रा० भा० आ० अशीमित >म० भा० आ० असीइ > हि०

अस्सी। हिन्दी में 'स्स' की द्वित्वता का कारण पंजाबी का प्रभाव माना जाता है। भोजपुरी में 'असी' भी बोला जाता है। संयुक्त शब्दावली में इसके रूप 'आसी' या यासी प्राप्त होते हैं, यथा—इक्यासी, बयासी, तिरासी आदि। अस्सी का आसी या यासी होना सर्वथा सम्भव है।

(xviii) नब्बे—प्रा० भा० आ० नवति > म० भा० आ० नब्बए > हि० नब्बे। इसमें भी 'व' का 'ब्ब' रूप से मिलना पंजाबी का ही प्रभाव है। किन्तु संयुक्त शब्दों में 'नबे' ही रूप मिलता है, यथा—इक्कानवे, इकानवे या इक्यानवे, वानवे आदि। इक्कानवे आदि में 'अ' या 'या' का आगम वास्तव में इक्यासी या इक्कासी का सादृश्य है—'या' में 'आ' के पूर्व —'य'—श्रुति स्वाभाविक है।

(xix) सौ—प्र० भा० आ० शत > म० भा० आ० सअ, सय, सव, सउ > हि० सौ। संयुक्त शब्दावली में 'सौ' के अलावा 'सै' रूप भी प्राप्त होता है। यथा—दो सौ, दो सै, सैकड़ा, सैकड़ों। 'सै' का विकास शत > सअ, सय, सए > सै के रूप में स्पष्ट है।

(xx) हज़ार—यह फ़ारसी का तत्सम शब्द है। ऐसा प्रतीत होता है कि सं० 'दश शत' की तुलना में यह शब्द सरल तथा हल्का होने के कारण हिन्दी में सामान्य प्रचार में आ गया। सं० 'सहस्र' हिन्दी में तत्सम और तद्भव 'सहस' रूप में प्राप्त है, पर इसका प्रयोग सीमित ही है। सामासिक शब्दों में 'सहस्र', 'सहस' 'सहस' दोनों रूप मिलते हैं—सहस्रबाहु या सहसबाहु, सहस-दस ('मानस' का प्रयोग) आदि।

(xxi) लाख—प्रा० भा० आ० लक्ष > म० भा० आ० लक्ख > हि० लाख। संयुक्तावस्था में, स्वराघात के कारण लाख > लख हो जाता है, यथा—लखपती, लखपतिया। 'लखा' रूप भी मिलता है—नौलखा।

(xxii) करोड़—की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। संस्कृत में 'कोटि' शब्द करोड़ के अर्थ में व्यवहृत है, जो म० भा० आ० में 'कोडि, कोड' के परिवर्तित रूप में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश काल से ही 'कोड' शब्द को संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों ने संस्कृत रूप देने के लिए 'करोड़' का प्रयोग शुरू कर दिया गया, जो हिन्दी में 'करोड़' रूप में साहित्य में भी चलने लगा। ऐसी प्रवृत्ति का परिचय श्राप (सं० शाप) जैसे शब्दों से स्पष्ट है।

(xxiii) अरब—सं० के 'अर्बुद' से व्युत्पन्न है इसके म० भा० आ० रूपों का पता नहीं लगता, कल्पना का ही आधार ले सकते हैं।

(xxiv) खरब—सं० 'खर्व' से है, जिसे विद्वान् 'अर्द्ध तत्सम' रूप कहते हैं, यद्यपि तद्भव कहना ही ठीक है।

2. क्रमात्मक या क्रम संख्यावाचक

विशेषण पदों की व्युत्पत्ति संस्कृत के क्रमवाचक विशेषज्ञ रूपों से ठीक से ज्ञात नहीं हो पाती, कल्पना का ही अधिक आश्रय लिया जाता है। विद्वानों का मत है कि 'इन रूपों की रचना बाद में 'नवीन प्रणाली' से हुई होगी।' परन्तु यह नवीन प्रणाली अभी तक प्रायः अज्ञात ही है। क्रमवाचक संख्या-सूचक विशेषण पदों में 'पहला, दूसरा तीसरा और चौथा' के रूप पृथक्-पृथक् हैं, शेष में वाँ प्रत्यय लगता है। छठवाँ का

छठाँ, छठा (भोजपुरी में छट्ठी, छठि) रूप भी प्राप्त होते हैं। अब इसकी व्युत्पत्ति दी जा रही है :—

पहला—सं० प्रथम— >प्रा० पढ़िल्ल (पढ़य + इल्ल)अपभ्रंश पहिला > हि० पहला, पहिला पहले। पहला की उपर्युक्त व्युत्पति डॉ० उदयनारायण तिवारी के मतानुसार दी गई है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'सं० प्र + घ + इल* > प्र० पढ़िल्ल > पथिल्ल > पहली, पहला'—इस प्रकार व्युत्पत्ति देते हुए कहा है कि 'सं० प्रथम से आधुनिक 'पहला' शब्द की व्युत्पति सम्भव नहीं है।' बीम्स का यह मत है कि 'पहला' सं० 'प्रथम' से निकला है।

दूसरा, तीसरा—इन दोनों की व्युत्पत्ति भी स्पष्ट नहीं है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने कहा है कि 'सं० द्वितीय, तृतीय से दूजा, तीजा तो निकल सकते हैं, किन्तु दूसरा तीसरा नहीं निकल सकने।' ध्यान देने की बात यह है कि दूजा, तीजा का प्रयोग अवधी, भोजपुरी आदि पूर्वी हिन्दी की बोलियों में पर्याप्त रूप में किया जाता है।

'बीम्स एवं हार्नली' के मतानुसार — 'सरा' < सं० सृतः से उत्पन्न है। इस प्रकार 'दूसरा,तीसरा' की व्युत्पत्ति सं० के त्रिसृतः (द्विस्सृतः—) एवं त्रिसृतः (त्रिस्सृत) से हो सकती है।

चौथा—सं० चतुर्थ से व्युत्पन्न है—सं० चतुर्थ > म० भा० आ० चउत्थ > हि० चौथा। इसी से हिन्दी का 'चौथा' रूप भी स्पष्ट हो जाता है।

पाँचवाँ—आदि में 'वाँ' का सम्बन्ध 'बीम्स' ने सं० 'तम' से बताया है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने इसकी व्युत्पत्ति इस तरह की है —'म० (यथा पञ्चमः आदि) वँ (+आ) > वाँ।' वास्तव में यह व्युत्पत्ति सर्वथा स्पष्ट एवं मान्य है।

छठा—'छठाँ, छठा का सं० षष्ठ से (छट्ठी > सं षष्ठी से) उत्पन्न है। प्राकृत में भी 'षष्ठ का 'छठा' रूप प्राप्त होता है। छठाँ की अनुनासिकता पाँचवाँ आदि के सदृश्य के कारण सम्भव है।

3. गुणात्मक

संख्यावाचक विशेषण पदों का प्रयोग 'वार' लगाकर या 'दूनी' दूना, तिया आदि के रूप में प्राप्त होता है इसकी व्युत्पत्ति निम्नांकित है —

(i) बार—सं० वारम् > वार (दो वार, तीन वार, दुवारा, तिवारा आदि में प्रयुक्त)।

(ii) इकम् एकम्—सं० एकम् > एकम्, इकम् (एक इकं, दो एक)।

(iii) दुना दूनी—सं० द्विगुणः > दूना, दूनी (दो दूना, तीन दूनी)।

(iv) तिया तियाँ—सं० तृतीयक > तिया, तियाँ, (तीन तिया आदि)।

(v) चौका—सं० चतुष्क > चउक्क > चौका, चौक (दो चौका, तीन चौके)।

(vi) पंजा, पचे, पंजे—सं० पञ्चक > पंजा, पंजे, पचा, पचे (पाँच, पचे आदि)।

(vii) छका, छक्का, छक्के— सं० षटक् > छका (पाँच छका आदि)।

(viii) सत्ता, सत्ते—सं० सप्तक >सत्ता, सते (सात सत्ते आदि)।
(ix) अट्ठा अट्ठे—सं० अष्टक >अट्ठा, अट्ठे (आठ अट्ठे आदि)।
(x) नवा नवाँ—सं० नवम् >नवा, (नौं, नवां, नवें आदि)।
(xi) दहाम्—सं० दशम् > प्रा० दशम > हि० दहाम् (छः दहाम् आदि)।

द्रष्टव्य : उक्त रूपों में कुछ विकारी रूप दिए गए हैं, अन्य के विकारी रूप भी प्राप्त होते हैं।

4. समूहवाचक

समुदाय वाचक संख्यावाची विशेषण पदों में चौका, पंजा का भी प्रयोग होता है, जिनकी व्युत्पत्ति दी जा चुकी है। शेष की व्युत्पत्ति निम्नांकित है :—

(i) जोड़ा-जोड़ी—सं० 'युट' (पुरानी सं० 'युटक') से व्युत्पन्न है।
(ii) गड़ा—(=चार) और कोड़ी—(=20)—गुण्डा भाषा के शब्द हैं।
(iii) सैकड़ा—(सौ) सं० 'शत-कृत' से उत्पन्न है।
(iv) लखा या लक्खा—सं० 'लक्ष'+कः' से व्युत्पन्न है।

(v) शेष गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण भी—'आ' या—'ई' प्रत्यय लगाकर समूहवाचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं, यथा—बीसा, चालीसा पचीसी, बत्तीसी आदि। 'सी' के 'सई, या 'सैया' रूप चलते हैं—सतसई, सतसैया आदि।

(vi) ताश से पत्तों के लिए प्रयुक्त गणनात्मक शब्दों—इक्का, दुक्की से दहला तक के विभिन्न शब्दों की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। यदि प्रयास करके कल्पना की जाय तो इन्हें सं० शब्दों से सम्बन्धित कर सकते हैं। वैसे, इनकी द्वित्वताँ से ऐसा प्रतीत होता है कि ये पंजाबी से हिन्दी में आये हैं।

5. भिन्नात्मक या अपूर्ण संख्यावाचक

विशेषण-पदों में पूर्णांश बोधक शब्दों की गिनती होती है। इनकी व्युत्पत्ति अधोलिखित रूप से स्पष्ट की जा सकती है—

(i) पौवा, पाव (1/4)—सं० पाद (+क) >म० भा० आ० पाअ > पाव (+उका), पउआ >पाव, पौआ, पौवा। संयुक्त रूपों में पादिका>पई, जैसे—अधपई। द्रष्टव्य—पौवा के और अर्थ में एक और शब्द है—चौथाई, जो सं० के चतुर्थिक से है।

(ii) तिहाई (1/3)—सं० त्रिभागिक>म० भा० आ० >तिहाई।

(iii) आधा, अद्धा (1/2)—सं० अर्द्धक>अद्धअ>आधा, अद्धा। संयुक्त शब्दों में स्वराघात के कारण आधा>अध हो जाता है, यथा—अधबीच, अधपई, अधरोरा, अधेला आदि।

(iv) पौन, पौना (3/4)—सं०—पादोन>पाउण>पौन, पौना। नोट—अन्य संख्याओं में इस पद के प्रयोग से 1/4 कम का अर्थ बोध होता है, जैसे पौने तीन =२+3/4 'पौने' विकारी रूप है।

(v) सवा (1+1/4 या $1\frac{1}{4}$)—सं० सपाद>सवाअ>सवा,सवाया। इसके अन्य विकारी रूप सवाई, सवाये, सवैया आदि हैं।

(vi) डेढ़, ड्योढ़ा—(1+1/2—सं० द्वि+अर्द्ध (क)> डिअड्ढ (अ)> ड्योढ़ा, डेढ़ा, डेढ़।

(vii) ढ़ाई, अढ़ाई (2 + 1/2)—सं० अर्द्ध + तृतीय(क) > अड़तीय, अड्ढइअ > अढाई, ढाई, अढाई।

(viii) साढ़े (— + 1/2)—सं० सार्द्ध > सड्ढ > साढे, साढ़े (विकृत रूप)।

6. समानुपातीय या आवृत्ति संख्यावाचक

विशेषण पदों में 'गुना' या 'हरा' का योग होता है। इनकी व्युत्पत्तियाँ हैं—
(i) गुना—सं० गुण—(+क) > गुणअ > गुणा, गुना जैसे दुगुना (दुगना)।
(ii) हरा—सं० हर > हरा। सं० हर = 'भाग', जैसे इकहरा, दुहरा, तेहरा।

7. ऋणात्मक संख्यावाचक

विशेषण पदों में 'कम' का प्रयोग होता है, जैसे—एक कम सौ; पाँच कम पचास आदि। यह 'कम' फ़ारसी का तत्सम रूप है।

8. प्रत्येकवाची संख्यावाचक

विशेषण पदों में गणनात्मक पदों की ही आवृत्ति की जाती है, यथा दो-दो, तीन-तीन, चार-चार।

9. निश्चित संख्यावाचक

विशेषण पदों में 'ओ', 'ओं' प्रत्यय लगते हैं; यथा दोनों, चारो-चारों आदि।

10. अनिश्चित संख्यावाचक

विशेषण-पदों में दस या दस गुणित संख्या बाधक पदों में—'ओ, ओं' प्रत्यय जोड़ते हैं। यथा दसो, बीसो, सैकड़ों, हजारों।

अन्यत्र 'एक' भी जोड़ते हैं, यथा—दो एक। कहीं-कहीं भिन्न संख्यावाची पदों का साथ-साथ प्रयोग करते हैं—यथा—दस-पाँच, दो-चार। ऐसे ही 'एकाध' में एक में 'आध' जुड़ा है। ये सभी प्रयोग अनिश्चत के द्योतक हैं।

•

अध्याय | 12

क्रिया

प्रश्न 92—हिन्दी की क्रियाओं का विकास-क्रम स्पष्ट करते हुए उनके विभिन्न रूपों का परिचय दीजिए।

उत्तर—हिन्दी की क्रियाओं का विकास-क्रम स्पष्ट करने की दृष्टि से हिन्दी की पूर्वजा भाषाओं—संस्कृत, पालि तथा प्राकृत—की क्रियाओं के विकास क्रम की

ओर दृष्टि-निक्षेप करना अतीव आवश्यक है। इसी विकास-क्रम से हिन्दी की क्रियाओं का विकास-क्रम सुस्पष्ट हो जाएगा।

संस्कृत के क्रिया रूपों में, एक-दो कालों के रूपों को छोड़कर, सर्वत्र संयोगात्मकता थी। वस्तुतः संस्कृत की क्रियाओं की रचना पर्याप्त जटिल है। प्रत्येक संस्कृत धातु के 6 प्रकार के प्रयोग, 10 कालों, 3 पुरुषों और 3 वचनों के अलग-अलग रूप बनते हैं, जिनकी संख्या 500 तक पहुँच जाती है। ये रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु, जब मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का विकास होने लगा, तो संस्कृत के जटिल क्रिया रूपों में सरलता आने लगी। उनका रूप तो इनमें भी संयोगात्मक ही रहा, पर उनकी संख्या घट गई। अब श्री राजनाथ शर्मा के शब्दों में 'संस्कृत गणों की संख्या में लगभग आधे ही रह गए। वचनों में से द्विवचन का लोप हो गया। छः प्रयोगों में से केवल पाँच रह गए। लकारों की संख्या भी कम रह गई। इस तरह पालि में एक धातु के लगभग 240 रूप रह गए।' इस प्रकार स्पष्ट है कि पालि में ही संस्कृत-क्रिया रूपों की संख्या आधे से कम हो गई।

पालि के पश्चात् प्राकृतों का युग आया और सरलीकरण की प्रवृत्ति और विकसित हुई। फलतः प्राकृतों में क्रिया-रूप और भी सरल हो गए। महाराष्ट्री प्राकृत में गणों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। पालि के पाँच प्रयोग भी घटकर प्राकृतों में तीन ही शेष रहे। तीन प्रयोग हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और प्रेरणार्थक के प्रयोग। कालों में कमी हो गई, मात्र वर्तमान आज्ञा, भविष्यत् एवं कुछ विधिलिंग के रूप ही बचे रह सके। कालों की कमी होने के फलस्वरूप कृदन्तों का प्रयोग अधिक होने लगा। कृदन्त-प्रयोगों से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ अधिक प्रभावित हुईं। प्राकृतों में भी क्रिया-रूप संयोगात्मक ही रहे, फिर भी वियोगात्मक के दर्शन यत्र-तत्र होने लगे। बात यह हुई कि प्रयोगों, कालों, वचनों आदि की दृष्टि से धातुओं के अनेक अलग रूपों का लोप या अभाव होने लगा, तो क्रिया के संयोगात्मक रूप, वियोगात्मक रूप ग्रहण करने लगे और इनसे नवीन रूपों की रचना होने लगी।

हिन्दी में आकर क्रिया रूप बहुत सरल हो गए हैं। श्री राजनाथ शर्मा ने लिखा है—'पाँच धातुओं को छोड़कर शेष हिन्दी धातुओं में किसी प्रकार का भी श्रेणी विभाग नहीं है। प्रयोगों के भावों को नए ढंग से प्रकट किया जाता है। कालों की संख्या पन्द्रह के लगभग है, किन्तु ये प्रायः कृदन्त अथवा कृदन्त और सहायक क्रिया के संयोग से बने हैं। वचन भी दो ही हैं, जिनके तीन पुरुषों में तीन-तीन रूप होते हैं। हिन्दी क्रियाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी बहुत बड़ी संख्या वियोगात्मक हो गई है।' अब हम हिन्दी क्रियाओं की विकास स्थिति स्पष्ट करने के उपरान्त उनके विविध रूपों का विवरण दे देना उपयुक्त समझते हैं। ये विविध रूप अधोलिखित हैं—

(1) धातु—क्रिया के उस अंश को कहते हैं, जो उसके सभी रूपों का मूल होता है। धातु का अर्थ है मूल भाग। उदाहरणार्थ - खाना, खाता, खाया, खायेगा आदि विविध रूपान्तरों में 'खा' अंश समान रूप में विद्यमान और व्यवहृत हैं, इस तरह इन रूपों की धातु 'खा' है। ऐसे ही अनेक उदाहरण लेकर इसको समझा जा सकता है। हिन्दी क्रियाओं में प्रायः 'ना' को हटा देने पर शेषांश रूप धातु के रूप में दृष्टिगत होता है, जैसे जाना, चलना, लेना, देना, पीना, गाना, रोना आदि में क्रमशः

जा, चल, ले, दे, पी, गा, रो आदि को धातु कहेंगे। वैसे संस्कृत के अनुसार हिन्दी धातुओं को अन्य रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं। पर उन्हें हम शुद्ध रूप में हिन्दी की धातुएँ नहीं कह सकते। संस्कृत में धातुओं की संख्या लगभग 2000 हैं किन्तु 'हार्नली' के अनुसार हिन्दी धातुओं की संख्या मात्र 500 है। हिन्दी की धातुओं को दो वर्गों में बाँटा गया है—(क) मूल और (ख) यौगिक।

(क) मूल धातुएं—वे हैं, जो संस्कृत से हिन्दी में आई हुई हैं। 'हार्नली' ने इनकी संख्या 393 बतलाई है।

(ख) यौगिक धातुएँ—वे हैं—'जो संस्कृत धातुओं से तो नहीं आई हैं, किन्तु जिनका सम्बन्ध संस्कृत रूपों से है और वे आधुनिक काल में गढ़ी गई हैं। इनकी संख्या 189 है।' इनके अलावा विदेशी भाषाओं की कुछ धातुएँ अथवा पूर्ण शब्द हिन्दी में धातुओं के समान व्यवहृत होते हैं।

(2) प्रेरणात्मक धातु—जब किसी सामान्य धातु में 'आ' या 'वा' प्रत्यय जुड़ा होता है, तब वह प्रेरणार्थक (प्रेरणा देने के निमित्त) धातु बन जाती है और ऐसी धातुओं से बनी हुई क्रियाएँ प्रेरणार्थक क्रियाएँ कही जाती हैं। जैसे पढ़वाना, लिखाना, लिखवाना आदि में पढ़वा, लिखा, लिखवा को प्रेरणार्थक धातुएँ कहेंगे।

(3) नाम धातु—संज्ञा या विशेषण में क्रियात्मक प्रत्यय लगा देने से नाम धातुएँ बन जाती हैं, जैसे बात से बतियाना, लात से लतियाना आदि में बतिया, लतिया आदि को नाम धातु कहते हैं। रचना की दृष्टि से हिन्दी में प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आ' ही नाम धातुओं में मिलता है; 'य' यो श्रुति होती है। ऐसी स्थिति में 'या' के पूर्व 'इकार' का आगम भी पूर्ण दीर्घ के ह्रस्व हो जाने के कारण होता है।

(4) सहायक क्रिया—हिन्दी क्रियाओं की काल रचना में सहायक क्रियाओं का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं का बाहुल्य है। विभिन्न अर्थों और विभिन्न कालों में—हुँ, हैं, है, होऊँ, होऊँगा, होयेंगे, होवेंगे, हों, हो, होता, होके, था, थी, थे आदि का प्रयोग देखने को मिलता है। ये सभी वास्तव में 'होना' क्रिया के रूपान्तर हैं, किन्तु व्युत्पत्ति संस्कृत के किसी एक शब्द से नहीं हुई है, वरन् भिन्न-भिन्न शब्दों से ये विभिन्न रूप निस्सृत हैं। अन्य कई क्रिया शब्द भी सहायक क्रिया का कार्य करते हैं। यहाँ उनका विस्तृत वर्णन सम्भव नहीं है।

(5) संयुक्त क्रिया—प्राचीन भाषाओं में विभिन्न अर्थों और कालों के लिए 'प्रत्यय'—संयोग किया जाता था। हिन्दी में यही काम संयुक्त क्रियाओं-मुख्य क्रिया + सहायक क्रिया-द्वारा पूरा होता है।

(6) क्रियार्थक संज्ञा—क्रियार्थक संज्ञाएँ 'धातु + ना' के रूप में हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होती है। यथा—'टहलना' (टहल + ना) एक अच्छा व्यायाम, इसमें टहलना क्रियार्थक संज्ञा है। ऐसे ही अनेक प्रयोग उपलब्ध हैं, जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। कतिपय बोलियों में 'ना' के स्थान पर 'न' का प्रयोग मिलता, है साहित्यिक हिन्दी में भी ये प्रयोग देखे जा सकते हैं। अवधी में 'देखने, अवधी-बिहारी में, चलन (सा० हिन्दी में चलन, प्रचलन आदि प्रयुक्त हैं)। ब्रजभाषा, गुजराती, बँगला, उड़िया आदि में 'धातु + ब' के रूप में मिलता है, जैसे 'कर + ब' 'करब'। (भोजपुरी के 'ब'–संयुक्त रूप इस कोटि में नहीं हैं; वे भविष्य काल के रूप है। साहित्यिक हिन्दी में 'रहन-सहन' का प्रयोग और ऐसे अन्य प्रयोग क्रियार्थक संज्ञाओं के ही हैं।

(7) कर्त्तृ वाचक संज्ञा—कर्त्तृ 'वाचक संज्ञाएँ—क्रियार्थक संज्ञाओं के विकृत रूपों में 'वाला' 'हारा' आदि प्रत्यय लगाकर बनाई जाती है, जैसे मारने वाला। बोलियों में 'अइया' या ऐया'—प्रत्यय लगाते हैं—जैसे गवैया, पढ़ैया, गवइया आदि। भोजपुरी में 'पढ़इया' के अलावा 'पढ़ाकू'—जैसे शब्द भी मिलते हैं। अवधी में 'जाननिहारा' 'पालनहारा' आदि प्रयोग उपलब्ध हैं।

(8) कृदन्त—हिन्दी (खड़ी बोली) के अन्तर्गत अनेक क्रियाएँ कृदन्त-रूप में व्यवहृत होती हैं। इनका सम्बन्ध काल रचना से है, अतः ये दो रूपों में प्रयुक्त होती हैं—(क) वर्तमानकालिक कृदन्त और (ख) भूतकालिक कृदन्त।

(क) वर्तमानकालिक कृदन्त—'धातु + ता' के रूप में है, जैसे खाता, खाती,

(ख) भूतकालिक कृदन्त—'धातु + आ' के रूपों में हैं, खाया, पढा आदि। बिहारी उपभाषाओं 'धातु + ल' के रूप मिलते हैं, 'गइल,' 'कहल' आदि।

इसी प्रकार (अ) तत्कालीन या तात्कालिक कृदन्त—वर्तमानकालिक कृदन्तों में 'ह' संयुक्त करके बनाए जाते हैं, जैसे—सुनते ही, पढ़ते ही आदि।

(ब) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त—वर्तमानकालिक कृदन्तों के विकारी रूप है, जैसे मुझे पुस्तक 'पढ़ते' विलम्ब हो गया।

(स) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त—भूतकालिक कृदन्तों के विकृत रूप होते हैं। यथा—मुझे 'आए' बहुत समय हो गया।

(9) वाच्य—हिन्दी क्रियाओं में वाच्य रचना की प्रणाली सर्वथा आधुनिक है। मूल क्रिया के भूतकालिक कृदन्तों में 'जाना' क्रिया के विविध रूपों का योग करके वाक्य परिवर्तन अर्थात् कर्त्तृ वाच्य से कर्मवाच्य कर लेते हैं। जैसे—राम ने रावण को मारा (कर्त्तृ वाच्य)। रावण राम के द्वारा मारा गया (कर्मवाच्य)। वाक्य परिवर्तन की विविध स्थितियाँ द्रष्टव्य हैं। कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दी के आदर-सूचक आज्ञार्थ-रूप-कीजिए, लीजिए—आदि भी इससे प्रभावित हैं। बोलियों में 'आ' प्रत्यय संयुक्त करके कर्मवाच्य बनाने के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। यथा—बुझाय, कहावै आदि। विद्वानों का विचार है कि 'हिन्दी में भूत' निश्चयार्थ काल संस्कृत के भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त से सम्बद्ध हैं।'

(10) क्रिया के प्रयोग—कारकों की दृष्टि से हिन्दी क्रियाओं के तीन प्रयोग बताए जाते हैं। (क) कर्त्तरि (ख) कर्मणि और (ग) भाव।

(क) कर्त्तरि का प्रयोग—इसमें क्रिया कर्त्ता से अनुशासित होती है, अतः क्रिया का लिंग, वचन आदि कर्त्ता के अनुसार होता है। उदाहरणर्थ वह गया, वे गए वह गई, वे गईं आदि। यह प्रयोग अकर्मक क्रियाओं में होता है। वर्त्तमान और भविष्य कृदन्तों में भी केवल कर्त्तरि प्रयोग होता है।

(ख) कर्मणि का प्रयोग—सकर्मक क्रिया में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है, जैसे उसने रोटी खाई।

(ग) भावे प्रयोग—जब कर्मणि प्रयोग में कर्म के साथ 'को' परसर्ग लग जाता है, तब क्रिया स्वतन्त्र हो जाती है और वह प्रयोग कर्मणि न रह कर भावे प्रयोग हो जाता है। यथा—उसने लड़की को मारा।

द्रष्टव्य यह है कि कर्मणि और भावे दोनों प्रयोग सकर्मक क्रियाओं के ही होते हैं, अकर्मक के नहीं।

(11) **काल-रचना**—हिन्दी क्रियाओं के कालों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इनकी संख्या 15-16 है, परन्तु वास्तव में प्रधानतः तीन ही काल हैं—(क) वर्तमान, (ख) भूत और (ग) भविष्यत्। इन्हीं के साथ तीन रूप और पाए जाते हैं—(अ) निश्चयार्थ, (ब) आज्ञार्थ और (स) सम्भावनार्थ। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी क्रियाओं के कालों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—(i) संस्कृत कालों के अवशेष; (ii) संस्कृत कृदन्तों से बने हुए काल तथा (iii) आधुनिक संयुक्त काल। इनकी चर्चा अगले प्रश्न में है।

प्रश्न 93—कृदन्तीय काल का क्या तात्पर्य है? हिन्दी क्रियाओं की काल-रचना में कृदन्ती रूपों का प्रयोग बताकर उनकी व्युत्पत्ति भी दीजिए।

उत्तर—हिन्दी भाषा में क्रिया की काल-रचना के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषा की क्रियाओं की काल-रचना प्रणाली प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की काल-रचना पद्धति से बहुत ही भिन्न और बहुत दूर है।

रचना की दृष्टि से हिन्दी भाषा की क्रियाओं का काल विभाजन अधोलिखित रूप से किया जाता है —

(1) सामान्य या मूल काल (Simple Tenses) और
(2) संयुक्त काल (Compound Tenses)

इसमें मूल या सामान्य काल में धातु के तिङन्त या कृदन्त रूप का व्यवहार होता है, जिसके साथ अन्य कोई सहायक क्रिया व्यवहृत नहीं होती। इस प्रकार मूल काल के दो भेद हो जाते हैं—

(1) तिङन्तीय काल और, (2) कृदन्तीय काल।

किन्तु, संयुक्त काल में केवल कृदन्त रूपों का ही प्रयोग किया जाता है तथा साथ में सहायक क्रिया भी प्रयुक्त होती है। इस तरह इसके भी दो भेद हो जाते हैं—

(1) भूतकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया वाले और
(2) वर्तमानकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया वाले

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी भाषा की क्रियाओं के कालों के तीन वर्ग बनाए जाते हैं—

(1) संस्कृत कालों के अवशेष काल—वर्तमान सम्भावनार्थ एवं आज्ञा।

(2) संस्कृत कृदन्तों से बने काल—भूत निश्चयार्थ, भूत सम्भावनार्थ एवं भविष्यत् आज्ञा।

(3) आधुनिक संयुक्त काल—कृदन्त तथा सहायक क्रिया के संयोग से बने समस्त काल, जो आधुनिक समय में बने हैं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भविष्य-निश्चयार्थ को कृदन्त रूप में संयोग के कारण दूसरे वर्ग में ही स्थान देना चाहिए, वैसे यह उक्त तीनों वर्गों से पृथक् है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिन कालों में केवल कृदन्त रूपों का व्यवहार होता है उन्हें ही कृदन्तीय काल कहा जाता है। इससे यह भी प्रकट हो जाता है कि कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग कहीं होता है और कहीं नहीं होता। इस प्रकार की काल रचना की प्रमुख पहचान यह है कि इसमें लिंग भेद होता है। शुद्ध रूप से देखा जाय, तो हिन्दी भाषा में कृदन्तीय काल (Participle Tenses) तीन ही हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) भूत निश्चयार्थ—भूतकालीन कृदन्त रूप वाले, यथा—'चला'।
(2) भूत सम्भावनार्थ—वर्तमानकालिक कृदन्त रूप वाले, यथा—'चलता'।
(3) भविष्यत्—आज्ञा—क्रियार्थक संज्ञा वाले, यथा—चलोगे।

इन्हीं कालों को डॉ० उदयनारायण तिवारी ने क्रमशः (i) साधारण या नित्य अतीत (Simple Post), (ii) कारणात्मक अतीत (Past conjunctive) एवं (iii) भविष्यत्-आज्ञार्थक नाम दिया है।

अव, हम कृदन्ती रूपों के प्रयोग एवं व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे—

संस्कृत के कृदन्तों से बने हुए हिन्दी भाषा की क्रियाओं के कृदन्तों से कालों का संस्कृत की काल-रचना पद्धति से सीधा सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाता। कारण यह है कि संस्कृत कृदन्तों के आधार पर हिन्दी भाषा में जिन कृदन्तों की रचना हुई है, उन कृदन्तों का प्रयोग काल रचना के लिए अत्यन्त आधुनिक है। कृदन्तों से काल-रचना की पद्धति प्राचीन है, संस्कृतकालीन है और संस्कृत के वाद भी म० भा० आ० भाषाओं के साहित्य में भी यह प्रणाली या प्रवृत्ति पाई जाती है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में जब भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था में चलने लगी, तो इस प्रकार के प्रयोग में पर्याप्त वहुलता आ गई। आधुनिक काल में भाषा के पूर्ण वियोगात्मक हो जाने के कारण कृदन्त रूपों का काल-रचना के लिए पर्याप्त व्यवहार करने की प्रवृत्ति हिन्दी को भी उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई। परिणामस्वरूप, हिन्दी भाषा में मूल और संयुक्त दोनों प्रकार के कालों में कृदन्तों का प्रयोग मिलता है। जिनमें वर्तमानकालिक और भूतकालिक दो प्रकार के कृदन्त रूप पाए जाते हैं।

(1) वर्तमानकालिक कृदन्त की रचना—धातु के अन्त में—'ता' लगाकर की जाती हैं, यथा—चलता (चलते, चलती, चलतीं)। इनका प्रयोग कारणात्मक अतीत (भूत सम्भावनार्थ) में किया जाता है। इन रूपों की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमानकालिक कृदन्त रूपों से हुई है, जिनमें—'अन्त' (शतृ-प्रत्यय) का प्रयोग होता है, जैसे—(i) चलन्त, चलन्तीं, चलन्ती > चलता, (ii) चलन्ती > चलती। बहुवचन में आ > ए और ई > इ में परिवर्तित हो जाता है।

(2) भूतकालिक कृदन्त की रचना—धातु के अन्त में—'अ' प्रत्यय का संयोग करके की जाती है, यथा—चला (चले, चली, चलीं)। इनका प्रयोग नित्य अतीत (भूत निश्चयार्थ) में होता है। इनकी व्युत्पत्ति सं० के उन भूतकालिक कृदन्त कर्म-वाचीय रूपों से हुई है। जिनके अन्त में 'तः' या 'इतः' (क्त-प्रत्यय) का प्रयोग होता है। यथा—

(i) चलितः > चलिदो, चलिओ > चलिय (चलिअ) > चला।
(ii) व्रजभाषा में प्राप्त 'चल्यो' रूप भी इसी प्रकार स्पष्ट है।

(iii) भोजपुरी आदि में—'ल' अन्त वाले रूपों का सम्बन्ध डॉ० चटर्जी ने प्रा० भा० आ०—ल—म० भा० आ०—इल्ल प्रत्यय से बताया है।

उपर्युक्त कृदन्तों के अलावा कुछ अन्य कृदन्त रूप भी विविध प्रयोगों में प्राप्त होते हैं, उनकी व्युत्पत्ति अधोलिखित है—

(1) पूर्वकालिक कृदन्त—या तो मूल धातु के रूप में मिलते हैं, जैसे—चल, सुन आदि अथवा 'कर' या 'के' या. 'करके' लगातार प्रयुक्त होते हैं, जैसे—सुनकर, चलके, चल करके आदि। इनकी व्युत्पत्ति के विषय में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि—'इस तरह धातु रूप में पाए जाने वाले हिन्दी पूर्वकालिक कृदन्त का सम्बन्ध सं०—'य' वाले रूप से है चाहे, सं० में इन विशेष शब्दों के अन्त में—त्वा ही लगाया जाता हो।' यथा—सं० श्रुत्वा > प्रा० सुनिअ > हि० सुन, ब्रजभाषा 'सुनि'।

ब्रज० इकारान्त रूप वास्तव में संयोगावस्था में है और इन रूपों का हिन्दी की उपभाषाओं या बोलियों में पर्याप्त प्रयोग है। खड़ी बोली में इकार का लोप हो गया है। इस लोप के ही कारण हिन्दी में धातु रूप तथा पूर्वकालिक कृदन्त का भेद समाप्त हो गया है। फलतः स्पष्टता के हेतु कर, के, करके का प्रयोग किया जाने लगा है। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—प्रा० 'करिअ'—हि० कर, प्रा० 'कइव' > हिन्दी के।

(2) तात्कालिक कृदन्त—रूपों की रचना वर्तमानकालिक कृदन्त के विकारी रूप में 'ही' का सयोग करके की जाती है, जैसे आते ही, जाते ही, सुनते ही कहते ही आदि।

(3) पूर्ण क्रिया का बोध करने वाले कृदन्त—रूप वर्तमानकालिक कृदन्त के विकारी रूप होते हैं, यथा 'मुझे स्कूल जाते देर हो गई।' अब तो अधिक स्पष्टता के लिए इनके साथ हुआ, हुए का भी प्रयोग होने लगा है। जैसे जाते हुए, कहते हुए, आता हुआ आदि।

(4) अपूर्ण क्रिया की सूचना देने वाले कृदन्त—रूप भूतकालिक कृदन्त के विकारी रूप होते हैं। जैसे—'मुझे ताजमहल देखे कई वर्ष बीत गए।' इसमें स्पष्टता के लिए हुआ, हुए लगाने की प्रणाली है।

(5) क्रियार्थक संज्ञा—का प्रयोग भविष्य आज्ञा में होता है। इसकी रचना धातु + 'ना' से होती है। जैसे—करना, चलना आदि। बोलीगत रूपों धातु + अन् प्राप्त होता है, जैसे चलन, देखन, कहन आदि।

(i) 'न' की व्युत्पत्ति 'बीम्स' ने सं० के भविष्य कृदन्त 'आनीय' से बताई है, जिसका प्रयोग सं० में 'लृट्' लकार में होता है। जैसे—करणीय—करणायं—करणअ, करना।

(ii) किन्तु; डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के विचार से—'ना' तथा 'अन' इन दोनों का सं० क्रियार्थक संज्ञा के 'अन' प्रत्यय से है, जैसे—करण—करना, करन।

(iii) ब्रजभाषा में—'व' का योग करके क्रियार्थक संज्ञा के रूप बनते हैं। यह प्रत्यय सं० के कर्मवाच्य भविष्य कृदन्त प्रत्यय—'तव्य' से निःसृत है, यथा—कर्त्तव्यम्—करे अब्वं, करिअब्वं—करब। पूर्वी हिन्दी में ऐसे रूप भविष्यत् काल में प्रयुक्त होते हैं।

(6) कर्त्तृ वाचक संज्ञा—की रचना क्रियार्थक संज्ञा के विकारी रूपों में 'ला' हारा आदि प्रत्यय लगाकर की जाती हैं, यथा—जाने वाला, खाने वाली, पालनहारा, खेवनहार आदि। इनकी व्युत्पत्ति निम्नांकित ढंग से हुई है—

(i) सं० पालक—*पालअ—वाला।

(ii) सं० धारक—*हारअ—हारा, हार। कुछ लोग इसे 'कारक' से व्युत्पन्न मानते हैं, जो संदिग्ध है।

(iii) हिन्दी की बोलियों में—'अइया'। प्रत्ययान्त कर्त्तृवाचक संज्ञाएँ पर्याप्त संख्या में प्राप्त होती हैं, जिनमें से अधिकांश तो हिन्दी साहित्य में भी गृहीत हैं, जैसे पढ़ैया, पलवैया। बोलियों में—पढ़इया, पढ़वइया आदि। इसकी व्युत्पत्ति सं० कर्तृ-वाचक संज्ञा प्रत्यय तृ+क से बताई गई है, जैसे—

पठतृक+पडढ़इअ, पढ़ईअ—पढ़इया, पढ़ैया।

उपर्युक्त कृदन्त रूपों में से वर्तमानकालिक और भूतकालिक कृदन्त रूपों में सहायक क्रिया का संयोग करके संयुक्त कालों की रचना की जाती है। यहाँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का यह कथन स्मरणीय है कि—'इन कालों का सम्बन्ध संस्कृत के कालों से बिल्कुल ही नहीं है, केवल क्रिया के कृदन्त रूप तथा सहायक क्रिया का विकास संस्कृत रूपों से अवश्य हुआ है। दोनों को मिलाकर काल-रचना के लिए व्यवहार आधुनिक है।'

अध्याय 13

अव्यय

प्रश्न 94—हिन्दी भाषा के अव्यय 'शब्दों' का वर्गीकरण करके उनका व्युत्पत्ति मूलक परिचय दीजिए।

'अव्यय' का अर्थ है जो व्यय न हो। व्याकरण में, इस शब्द में व्यय का अर्थ 'परिवर्तन' लिया जाता है। अर्थात् अव्यय वह है, जो परिवर्तित न हो। कहा गया है-'सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु, वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्'। अर्थात् जो लिंग, विभक्ति, वचन के अनुसार परिवर्तित न हो वह 'अव्यय' है। हिन्दी में अधिकांश अव्यय (यहाँ, इधर, नीचे, आगे, अब, यों) तो ऐसे हैं, किन्तु ऐसे भी क्रियाविशेषण अव्यय हैं जो परिवर्तित (वह दौड़ता आया, वह दौड़ती आई, वे दौड़ते आए; भागा आया, भागी आई, भागे आए; वह बड़ा सुन्दर है, वह बड़ी सुन्दर है, वे बड़े सुन्दर हैं, अच्छा करता है, अच्छी करती है; बड़ा तेज दौड़ा, बड़ी तेज दौड़ी)

होते हैं। ऐसे शब्द मूलतः अव्यय या क्रियाविशेषण न होकर और कुछ (विशेषण, कृदन्त आदि) होते हैं।

अव्यय चार प्रकार के होते हैं—क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, सम्बन्ध-सूचक, विस्मयादिबोधक।

क्रियाविशेषण

हिन्दी के क्रियाविशेषण कुछ तो सर्वनामों के आधार पर बने हैं, कुछ मूलतः संज्ञा, क्रिया विशेषण हैं, तथा कुछ संस्कृत एवं फारसी क्रियाविशेषणों से संवद्ध हैं। नीचे प्रमुख क्रियाविशेषण दिए जा रहे हैं।

(1) सार्वनामिक क्रियाविशेषण

सार्वनामिक या सर्वनाममूलक क्रियाविशेषण सार्वनामिक तत्त्वों में कुछ जोड़-कर बनाए गए हैं :

सर्वनाम	सार्वनामिक तत्त्व	काल (ब)	स्थान (हाँ)	दिशा (धर)	रीति (यों)
निश्चयवाचक					
निकटवर्ती—यह	य, इ, अ	अब	यहाँ	इधर	यों
दूरवर्ती—वह	व, उ	×	वहाँ	उधर	×
प्रश्नवाचक—कौन, क्या	क	कब	कहाँ	किधर	क्यों
सम्बन्धवाचक—जो	ज	जब	जहाँ	जिधर	ज्यों
नित्यसंबंधी—तिस, तिन (सो का विकृत रूप)	त	तब	तहाँ	तिधर	त्यों

इनमें 'तिधर' का प्रयोग प्रायः नहीं होता। 'क्यों' रीतिवाचक न रहकर 'किस लिए' अर्थ का व्यंजक प्रश्नवाचक हो गया है। उपर्युक्त क्रियाविशेषणों की रचना जैसा कि स्पष्ट है सार्वनामिक तत्त्व में 'ब' 'हाँ', 'धर', 'यों' जोड़कर हुई है।

(अ) कालवाचक--कालिक अंश 'ब' का सम्बन्ध बीम्ज, केलाग सं० वेला (समय) से मानते हैं। मेरी भी इससे विनम्र सहमति है। भोजपुरी में 'ये वेला' (अब), 'जे वेला' (जब), 'ते वेला' (तब), 'के बेळा' या येबेर, जेबेर, तेबेर, केबेर तथा इसी प्रकार उड़िया 'एते वेळे' या एबे, जेबे, तेबे, केबे; बंगाली अबे, जबे, तबे, कबे एवं मैथिली ब्रज आदि के रूप इस व्युत्पत्ति के समर्थक हैं। डॉ० चटर्जी 'ब' का सम्बन्ध वैदिक अव्यय 'एवं' (इस प्रकार) से मानते हैं। यह बाद में ही—अर्थक बलात्मक अव्यय हो गया था। उनके अनुसार प्राकृतों में यह 'एवं' एव्वं' होता *एव्वं हो गया और इसमें बाद में समय का भाव विकसित हो गया। इसका सप्तमी रूप *एव्वहि ही विकसित होकर 'बे' हुआ और अपभ्रंश काल में इसमें सार्वनामिक रूपों के जुड़ने से आधुनिक रूपों के पूर्वरूप बने। मेरे विचार में इस मत में तथ्य से अधिक कल्पना का आश्रय लिया गया है। पूर्ववर्ती मत इससे कहीं अधिक तथ्यपरक है। अपभ्रंश में 'जब्बे' 'तब्बे' तथा प्राकृत पैंगलम्, कीर्तिलता तथा उक्तिव्यक्तिप्रकरण में 'जब' 'तब' रूप मिलने लगते हैं।

(ब) स्थानवाचक—स्थानिक अंश 'हाँ' को बीम्ज तथा केलाग सं० 'स्थाने' से

विकसित मानते हैं। जैसे तत्स्थाने > तहाँ यत्स्थाने > जहाँ। टर्नर इस सम्बन्ध में तीन सम्भावनाओं का संकेत करते हैं : (1) सं० इह (= यहाँ), कुह (= कहाँ) के 'ह' प्रत्यय से; (2) कथं (= कैसे), तथा (इस प्रकार) के 'थ' से; या (3) सप्तमी विभक्ति-अस्मिन्, प्रा० हिं से। डॉ० चटर्जी सं० -त्र (यत्र, तत्र, कुत्र,) > प्रा० त्थ से 'हाँ' का विकास मानते हैं। मेरे विचार में इदम्, तद्, यद्, किम्, *अव के सप्तमी एक० 'अस्मिन्' 'तस्मिन्', यस्मिन्', कस्मिन्', *अवस्मिन्', से अप० *यहिं, तहिं, जहिं, कहिं, *वहिं (स > ह, मिन् > इँ) विकसित हुए हैं जिनसे प्राचीन हिन्दी के इहँ, तहँ, जहँ, कहँ, *वहँ तथा इनके आ-युक्त यहाँ, जहाँ, कहाँ, वहाँ निकले हैं। अन्त में 'अ' से 'आ' जोर देने की प्रवृत्ति से विकसित हुआ ज्ञात होता है। हिन्दी की आकारान्त वाली प्रवृत्ति भी जो अपभ्रंश में ही स्पष्ट हो चुकी थी, इसका कारण हो सकती है। कीर्तिलता में 'जहाँ', 'तहाँ' प्रयुक्त हुए हैं।

(स) दिशावाचक—बीम्ज़ ने 'धर' का सम्बन्ध सं० मुख के लघुत्वबोधक कल्पित रूप *मुखर (मुख + ओर; + लघ्वर्थी र; जैसे कुटी-कुटीर) > म्हर (भोज० एम्हर, ओम्हर) > न्हर, हर(भोज० एहर- केहर, ओहर, तेहर) > न्धर > धर रूप में माना है, किन्तु 'मुखर' से 'धर' का विकास सम्भव नहीं है। हार्नले इद्दश > प्रा० एद्रिह > 'इदह' + प्राचीन सप्तमी प्रत्यय 'र' से इसे जोड़ते हैं। किशोरीदास बाजपेयी सं० इह (= यहाँ) का पूर्व रूप या इससे विकसित रूप *इध + स्वार्थे प्रत्यय र (जैसे मधु—मधुर) से इधर, और उसी के सादृश्य पर अन्यों को मानते हैं। मेरे विचार में यह 'धर' या तो 'धृ' धातु (= धारण करना) से सम्बद्ध है या त्र (यत्र, तत्र आदि) से *तर > *दर > धर रूप में इसका विकास हुआ है। महाप्राणीकरण र के कारण है। भोजपुरी 'सभत्तर' (सर्वत्र) या सं० 'लोत्र' से हिन्दी 'लोथ' र-जन्य महाप्राणता के लिए द्रष्टव्य है। उल्लेख्य है कि धर वाले रूपों की परम्परा प्राचीन नहीं है। अपभ्रंश अवहट्ठ, गोरख, चन्द, कबीर, सूर, तुलसी आदि में ये नहीं है।

(द) रीतिवाचक—बीम्ज़ 'यों' का संबन्ध सं० 'वतुप्' प्रत्यय से मानते हैं, यद्यपि इसके योग से बने शब्द (इदम् + वतुप् = इयत्; किम् + वतुप् = कियत्) परिमाणबोधक (यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप—पाणिनि) होते हैं। केलाग ने कभी सं० इत्थं (= इस प्रकार) कथं (किस प्रकार) जैसे रूपों से इनके (यों, क्यों) विकास की सम्भावना स्वीकार की थी। पीशेल तथा तेसितोरी के आधार पर डॉ० चटर्जी ने वैदिक 'एव' (इस प्रकार) के सादृश्य पर बने संस्कृत रूप *येव, *तेव, *केव से अपभ्रंश जेंव, तेंव, केंव तथा इनसे ज्यों, त्यों आदि का विकास माना है। डॉ० वर्मा यों की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हैं। मेरे विचार में इनका सम्बन्ध किम् + एव (क्यों) यत् + एवं (ज्यों) तत् + एवं (त्यों), तथा एतत् + एवं (यों) से है। अप० में एउँ (यों), इउँ (यों), एवँ (यों) आदि रूप मिलने लगते हैं।

(2) अन्य क्रियाविशेषण

हिन्दी में अनेक क्रिया-विशेषण संज्ञा (सवेरा—सवेरे, समय; सामना—सामने फुर्ती, घड़ी); क्रिया (जानना—जानो, मानना—मानो) तथा विशेषण (पहला—पहले, वह बड़ा तेज दौड़ता है, वह बड़ी अच्छी है, वह बड़े सवेरे आया) पर आधारित हैं, या, वे संस्कृत (अद्य > अज्ज > आज, कल्य > कल्ल > कल, काल) एवं फ़ारसी (नज़दीक) अव्ययों से सम्बद्ध हैं। आगे कुछ प्रमुख क्रिया-विशेषण दिए जा रहे हैं—

(अ) कालवाचक—**आज** (<प्रा० अज्ज<सं० अद्य) **कल** (<प्रा० कल्ल< सं० कल्य; इसका मूल अर्थ उषाकाल है, हिन्दी में अर्थ-परिवर्तन हो गया है); **परसों** (<सं० परश्व; सं० में इसका प्रयोग बीते हुए के लिए था); **नरसों**—इसकी व्युत्पत्ति विवादास्पद है। 'अन्य+तरसों' से इसके विकास का सुझाव कुछ लोगों ने (बीम्ज; पैरा० 82) दिया है किन्तु इसे सन्दिग्ध माना गया है। मेरे विचार में द्रविण 'नाल (=4; मलयालम, तमिल नालु; कन्नड़ नाल्कु, तेलुगु, नालुगु)+सं० श्वः' से इसका सम्बन्ध है। एक अन्य व्युत्पत्ति सं० चतुर्+श्वः>चरसों>नरसों रूप में भी सुझाई गई है। 'नरसों' का प्रयोग 'चौथे दिन' के अर्थ में होता है। इसके स्थान पर कुछ लोग **चौथ** (<सं० चतुर्थ) का भी प्रयोग करते हैं। **अतरसों** या **तरसों** (अतरसों का सम्बन्ध डॉ० वर्मा अन्तर+श्वः से मानता है। मेरे विचार में यह 'अति+परश्वः' है। 'तरसों' का सम्बन्ध डॉ० वर्मा सं० त्रिश्वः से मानते हैं। मुझे लगता है कि यह 'अतरसों' का ही विकसित रूप है। इसका अर्थ चौथे दिन या पाँचवें दिन होता है) भी कभी-कभी प्रयुक्त होते हैं। **अभी, जभी, कभी, तभी** अव आदि में 'ही' (सं० हि) मिलने से बने हैं। **तुरत, तुरन्त** (सं० त्वरित), **फ़ौरन** (फ़ा०)।

(ब) स्थानवाचक—**बाहर** (प्रा० बाहिरअ, पा० बाहिरो, सं० बहिः); **भीतर** (सं० अभ्यन्तर, प्रा० भित्तर); **अन्दर** (फ़ा०); **ऊपर** (सं० उपरि, प्रा० उप्पर); **नीचे** (सं नीचैः), **आगे** (सं० अग्रे, प्रा० अग्गे), **पीछे** (पश्च, प्रा० पिच्छ)।

स्वीकारबोधक—**हाँ**: केलाग ने इसकी तुलना मराठी क्रिया आहें, आहों से की है। डॉ० वर्मा इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हैं। डॉ० तिवारी सं० आम्, पा० आम से इसे जोड़ते हैं। मेरे विचार में इसका सम्बन्ध तुर्की 'हा' (उज़्बेक, ताजिक आदि में अब भी 'हाँ' अर्थ में 'हा' का प्रयोग होता है) से है। हिन्दी 'हाँ' में अनुनासिकता आ गई है, पर मुल्तानी आदि में तुर्की रूप 'हा' ही चलता है।

(द) निषेधबोधक—**न** (सं० न; ताकै भरमि न भूलौ काजौ—गोरख); **ना** (सं० न का बल के कारण प्रलम्बित रूप); **नहीं**—केलाग न+आहि से मानते हैं। चटर्जी के आधार पर डॉ० तिवारी सं० अस्ति>असति>अहइ में न जोड़कर प्रा० *न-अहइ' से मानते हैं। मेरे विचार में सं० नास्ति>प्रा० णत्थि>अप० नहिं अथवा सं० 'न हि' से यह विकसित है। कीर्तिलता में नहिं तथा नहीं दोनों रूप मिलते हैं। गोरख—बिनु गुर गुदड़ी नहीं बेसास; चन्द—कलि अथ्थि नहीं अर्जुन सु भीव। **मत**—सं० 'मा' से इसका सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु 'त' स्पष्ट नहीं है। वास्तव में इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। 'मा+अति' से कुछ सम्भावना हो सकती है। मत घालौ जम की खबरी—कबीर।

समुच्चय बोधक

और (<प्रा० अवर<सं०अपर; प्राचीन प्रयोग; त्यागै-माया और मँगावै—गोरख); **कि** (फ़ा०); **जो** (<अप० *जउ, *जदु<प्रा० जद>सं० यदि); **तो** (सं० ततः); **व** (फ़ा०); **तथा** (सं०); **या** (अर०); **अथवा** (सं०) आदि।

सम्बन्ध-सूचक

कारक-चिह्न के प्रसंग में इनमें से प्रमुख दिए जा चुके हैं।

विस्मयादिबोधक

हैं (सं० अइ); ऐं (सं० अइ); ओहो (सं० अहो); वाह (फ़ा०); शाबाश (फ़ा० शाबाद<शादबाश); हा (सं० हा); हाय (सं० हा); दुहाई (दो+हाय), आह (सं० आ:); जी (सं० जीव) अच्छा (सं० अच्छ:>पा० अच्छो>प्रा० अच्छअ) आदि।

अध्याय | 14

लिंग-व्यवस्था

प्रश्न 95—हिन्दी-भाषा की लिंग-व्यवस्था पर सभी दृष्टियों से विचार करते हुए उसकी जटिलता के कारण बतलाइए।

उत्तर—हिन्दी-भाषा की लिंग-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में तीन लिंग थे (1) पुंलिंग, (2) स्त्रीलिंग और (3) नपुंसकलिंग। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में—पालि तथा प्राकृत में—भी लिंगों की संख्या तीन ही रही, परन्तु अपभ्रंश भाषा-काल में नपुंसक लिंग समाप्त हो गया और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में केवल दो ही लिंग—पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग ही शेष रह गए। अस्तु, हिन्दी में केवल ये ही दो लिंग प्राप्त होते हैं।

हिन्दी भाषा में लिंगों की संख्या तीन से घटकर दो ही रह जाने का कारण यह है कि संस्कृत, पालि तथा प्राकृत में (प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० के अपभ्रंश के पूर्व) लिंग-विधान प्राकृतिक न होकर व्याकरणिक था। संस्कृत में प्रत्ययों के आधार पर लिंग-विधान निश्चित किया गया था। किन्तु म० भा० आ० के अन्तिम काल—अपभ्रंश में नपुंसक लिंग इस कारण समाप्त हो गया कि उस समय भाषा-परिवर्तन के क्रम में शब्द रूपों में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति कार्यशील थी। फलतः नपुंसकलिंग-शब्दों के रूप पुंलिंग-शब्दों की भाँति बनाए जाने लगे जिससे पुंलिंग और नपुंसकलिंग का अन्तर सर्वथा समाप्त हो गया। इस प्रकार हिन्दी में नपुंसक लिंग परम्परागत उत्तराधिकार के रूप में न आकर सर्वथा लुप्त हो गया। शेष दो लिंगों—पुंलिंग एवं स्त्रीलिंग का लिंग-विधान हिन्दी में भी मात्र व्याकरणिक है, प्राकृतिक अवस्था का परिचायक नहीं।

यद्यपि हिन्दी भाषा का लिंग-विधान व्याकरणिक ही है और इसमें नपुंसक-लिंग अप्राप्त है, तथापि भाषा की प्रकृति के अनुसार पुंलिंग एवं नपुंसक लिंग में कर्म कारक परसर्ग 'को' के प्रयाग में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य दिखाई देता है। साधारण

रूप से कर्म-परसर्ग 'को' का प्रयोग निर्जीव पदार्थ सूचक संज्ञाओं के साथ नहीं होता, मात्र प्राणिवाचक संज्ञा शब्दों के साथ ही इस परसर्ग का व्यवहार होता है। यथा— हिन्दी भाषा में 'मोहन को बुलाओ', 'हाथी को बाँधो' आदि वाक्यों में मोहन, हाथी आदि के साथ 'को' कर्म-परसर्ग का प्रयोग होता है; परन्तु 'कलम खरीदो', 'कपड़ा बाँधो' आदि में कलम, कपड़ा के साथ 'को' का व्यवहार नहीं होता; क्योंकि ये निर्जीव पदार्थ सूचक संज्ञाएँ हैं। यदि ऐसे वाक्यों में 'को' परसर्ग का प्रयोग करें तो यह हिंदी भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होगा।

हिन्दी के लिंग-विधान पर इसके विकास-क्रम को ध्यान में रखकर ही विचार करना चाहिए; तभी उसे सरलता समझा जा सकतया है। प्रायः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा की लिंग-व्यवस्था जटिल या दुरूह है। इस सम्बन्ध में यदि भाषा-विदों के अब तक के निष्कर्षों को समझ लिया जाय तो हिन्दी व्याकरण-सम्बन्धी लिंग भेद की जटिलता के कारणों का भी भली-भाँति पता चल जाएगा और उसकी दुर्बोधता या दुरूहता की सरल व्याख्या का मार्ग भी प्रशस्त हो जाएगा।

अस्तु; हम यहाँ पर हिन्दी व्याकरण-सम्बन्धी लिंग-भेद की जटिलता के कारण प्रस्तुत कर रहे हैं —

हिन्दी-व्याकरण के लिंग-भेद की जटिलता के कारण

(1) हिन्दी भाषा में पुलिंग एवं स्त्रीलिंग तद्भव शब्दों का लिंग साधारण रूप से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की तरह ही है। परन्तु यह स्पष्ट है कि संस्कृत में लिंग विधान प्रत्ययों के आधार पर ही निश्चित किया गया था, वे प्रत्यय हिन्दी तक आते-आते इतने घिस गए हैं, कि सहसा उनके मूल रूप का ज्ञान नहीं हो पाता। परिणामतः अहिन्दी प्रदेशों एवं विदेशी लोगों तथा अन्य भाषा भाषियों को हिन्दी के लिंग-विधान को समझने में कठिनाई होती है—वे हिन्दी भाषा के लिंग-निर्णय में जटि-लता का अनुभव करते हैं और हिन्दी पर यह आरोप लगा कर संतोष कर लेते हैं कि हिन्दी का लिंग-विधान बहुत जटिल है, अनियमित है। किन्तु डॉ० उदयनारायण तिवारी का कहना है कि 'भाषा के विकास क्रम को ध्यान में रखने पर हिन्दी के लिंग-विधान की सरलतया व्याख्या की जा सकती है।'

(2) हिन्दी भाषा में नपुंसक लिंग का लोप हो गया है और पुलिंग तथा स्त्री लिंग—दो ही लिंग शेष रह गए हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृत के नपुंसकलिंग वाले शब्दों को हिन्दी में या तो पुलिंग में रखा जाता है या स्त्रीलिंग में। साथ ही तत्सम्बन्धी रूप परिवर्तन भी इन शब्दों में कर लिया जाता है। फल यह होता है कि इतर भाषा भाषियों (अहिन्दी प्रदेशों एवं विदेशी लोगों) को हिन्दी शब्दों का लिंग—सम्बन्धी शुद्ध प्रयोग समझने में कठिनाई होती है।

(3) हिन्दी भाषा में संस्कृत से लिए गए अनेक शब्दों का लिंग संस्कृत से भिन्न है। यथा संस्कृत में 'अग्नि' पुलिंग है पर हिन्दी में इसका तद्भव रूप 'आग' स्त्रीलिंग है (अग्नि को भी हिन्दी में अधिकांश लोग स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त करते हैं)। इसी प्रकार सं० स्त्रीलिंग शब्द 'देवता' हिन्दी में पुलिंग के रूप में प्रयुक्त होता है और सं० पुलिंग शब्द 'आत्मा' हिन्दी में स्त्रीलिंग के रूप में व्यवहृत है। इस प्रकार के कई शब्दों में लिंग व्यत्यय के कारण हिन्दी का लिंग-विधान अन्य भाषा-भाषियों

के लिए दुर्बोध जान पड़ता है। वास्तव में इस लिंग व्यत्यय का कारण यह है कि अपभ्रंश में शब्द-रूपों में जो एकरूपता लाने की प्रवृत्ति काम कर रही थी, वह हिन्दी में आकर और भी विकसित हो गई। परिणाम यह हुआ कि अन्य शब्दों के सादृश्य पर लिंग परिवर्तन होता रहा और इस प्रकार अनेक शब्दों के लिंग परम्परागत विधान से भिन्न हो गए।

(4) हिन्दी भाषा की क्रियाओं में भी लिंग भेद के कारण विकार आ जाता है, परिवर्तन हो जाता है—यह हिन्दी के लिंग विधान की सबसे बड़ी विशेषता है। लिंग-भेद के कारण हिन्दी भाषा की क्रियाओं में भी पुलिंग, स्त्रीलिंग के दो भेद हो जाते हैं और शब्दों का रूप बदल जाता है। यथा—बालक जाता है, बालिका जाती है, साँड़ चर रहा है, गाय चर रही है, वह (पु०) गाता है, वह (स्त्री०) गाती है—आदि। इसका कारण यह है हिन्दी भाषा की क्रियाओं में कृदन्त रूपों की अधिकता है। हम जानते हैं कि संस्कृत में कृदन्त रूपों में लिंग भेद तो होता था, किन्तु क्रिया में लिंग-भेद नहीं होता था हिन्दी कृदन्त रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के कृदन्तों से है, अतः उनके लिंग भेद हिन्दी में भी परम्परागत उत्तराधिकारी रूप में चला आया और साथ ही कृदन्तों से बनी हुई क्रियाओं में भी यह लिंग भेद प्रविष्ट हो गया। इस तरह हिन्दी क्रियाओं में लिंग के अनुसार ही भेद—पु० और स्त्री०—होना संस्कृत का ही प्रभाव है। अतः यह तथ्य हिन्दी भाषा के लिंग-विधान के अध्ययन के सम्बन्ध में सदैव ध्यान में रखना चाहिए। ऐसा ज्ञान न होने के कारण ही अन्य भाषा-भाषी हिन्दी के लिंग विधान को दुरूह समझते हैं और हिन्दी भाषा को अशुद्ध रूप में व्यवहृत करते हैं।

(5) हिन्दी भाषा में आकांरात विशेषणों में भी लिंग के कारण रूप परिवर्तन होता है, जैसे—अच्छी > अच्छे, भला, भली, भले। यह परिवर्तन प्रायः इसी रूप से निश्चित रूप से होता है। अन्य अन्त वाले विशेषण पदों में इस प्रकार भेद या परिवर्तन नहीं किया जाता है। हाँ, संस्कृत के कुछ तत्सम पु० विशेषण पदों के तत्सम स्त्रीलिंग रूप हिन्दी में व्यवहृत होते हैं, यथा—श्रीमान् > श्रीमती, कवि > कवियित्री, विद्वान् > विदुषी, नेता > नेत्री (सभानेत्री > अभिनेत्री आदि में), लेखक > लेखिका, गायक > गायिका, नर्तक > नर्तकी, पूज्य > पूज्या आदि।

यदि उपर्युक्त कारणों को ध्यान से समझ लिया जाए, तो हिन्दी भाषा के लिंग विधान को दुरूह नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि लोगों को हिन्दी भाषा के विकास-क्रम तथा उसकी विशेषताओं का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है, इसलिए उसके लिंग-विधान को जटिल कह दिया करते हैं।

हिन्दी के लिंग विधान की जटिलता के विवेचन में संज्ञा, विशेषण एवं क्रिया पदों के अन्तर्गत परिवर्तन को स्थिति स्पष्ट की गई है। साथ में यह भी जान लेना उपयुक्त है कि हिन्दी के सर्वनामों में लिंग-भेद के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता, हाँ प्रयोग की दृष्टि से पुलिंग-स्त्रीलिंग का भेद कर लेते हैं—यह देखना पड़ता है कि कोई सर्वनाम-विशेष किसके लिए प्रयुक्त है? प्रायः क्रिया विशेषणों में भी यही स्थिति है। प्रायस करने पर एकाध अपवाद ढूंढ़े जा सकते हैं।

अब, हिन्दी भाषा के संज्ञा-पदों की व्युत्पति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। 'बीम्स' का मत है कि 'तत्सम तथा तद्भव संज्ञाओं में प्रायः वही

लिंग हिन्दी में भी माना जाता है, जो संस्कृत में उनका लिंग रहा हो । संस्कृत नपुंसक लिंग शब्द हिन्दी में प्रायः पुलिंग हो जाते हैं ।'

कहना न होगा कि 'बीम्स' के उक्त नियम के सैकड़ों अपवाद भी मिलते हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस संदर्भ में 'बीम्स' के विस्तृत नियमों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है, उसे ही यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है—

(1) हिन्दी की पुलिंग आकारांत संज्ञाओं की व्युत्पत्ति नीचे लिखे रूपों से हो सकती है —

(i) संस्कृत की—'अन्'-अंत वाले संज्ञाओं से, जिनके प्रथमा में आकारांत रूप होते हैं, जैसे राजा (सं० राजन्) ।

(ii) संस्कृत की—'तृ'—अंत वाली संज्ञाओं से, जैसे कर्त्ता, दाता ।

(iii) कुछ विदेशी शब्दों से, जो प्रायः फ़ारसी, अरबी या तुर्की से आए हैं, जैसे—दरिया, दरोग़ा ।

(2) साधारणतया ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं, किन्तु कुछ शब्द पुलिंग भी पाए जाते हैं । ये निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(i) संस्कृत — 'इन'—अंत वाले शब्द, जैसे—हस्तिनी > हाथी ।

(ii) संस्कृत — 'तृ' — अंत वाले पुलिंग शब्द, जैसे — भ्रातृ > भाई ।

(iii) संस्कृत—इकारांत या नपुंसकलिंग शब्द, जैसे — दधि > दही (नपुं० लिंग) भगिनीपति (पु०) > बहिनोई (बहनोई) ।

(iv) संस्कृत—इक, इय और ईय — अंत वाले पुलिंग या नपुंसकलिंग शब्द, जैसे ताम्बूलिक > तम्बोली (तमोली), पानीयं > पानी, क्षत्रिय > खत्री ।

(v) संस्कृत के उपान्त्य इकार या ईकार वाले पुलिंग या नपुंसक लिंग शब्द अन्त्य ध्वनि-लोप से ये शब्द हिन्दी में ईकारान्त हो जाते हैं, जैसे — जीव > जी । शेष ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं ।

(3) पुलिंग ऊकारान्त शब्द प्रायः संस्कृत ऊकारान्त शब्दों से सम्बद्ध तथा पुलिंग व्यंजनांत शब्द प्रायः संस्कृत के अन्त्य ह्रस्व-स्वर के लोप से हिन्दी में आए हैं ।

(4) हिन्दी में कुछ आकारांत स्त्रीलिंग शब्द हैं । ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से नीचे लिखी श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—

(i) संस्कृत के आकारांत स्त्रीलिंग शब्द, जैसे कथा, यात्रा ।

(ii) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले शब्द, जैसे डिबिया, चिड़िया ।

अन्य — (क) पूर्वोक्त पुलिंग इकारांत शब्दों के अतिरिक्त शेष ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं ।

(ख) संस्कृत के उकारांत स्त्रीलिंग शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे—वधू > वहू ।

(ग) जाति तथा व्यापार आदि से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों में पुलिंग रूपों से स्त्रीलिंग रूप बना लिए जाते हैं । पुलिंग आकारांत शब्द स्त्रीलिंग में इकारांत हो जाते हैं जैसे — लड़का > लड़की, घोड़ा > घोड़ी । स्मरणीय है कि यही-ई-स्त्री प्रत्यय विशेषणों में भी लगता है ।

(घ) अन्य बहुत से शब्दों में विभिन्न प्रत्ययों के द्वारा स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं। सामान्य रूप से स्त्री-प्रत्यय निम्नांकित हैं—

(1)-ई, (2)-इया, (3)-इन, (4)-नी, (5)-आनी।

इन प्रत्ययों के सम्बन्ध में अधोलिखित बातें जानने योग्य हैं—

(1)—ई एवं (2) -इया प्रत्यय पुंलिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए सर्वाधिक प्रयोग किए जाते हैं। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार, मूलतः वस्तुओं के लघु रूप प्रकट करने के लिए इन प्रत्ययों का व्यवहार होता था। यथा—पोथा > पोथी, घड़ा > घड़ी, चिड़ा > चिड़िया। स्त्रीत्व के साथ कोमलता, लघुता के भावों का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ये प्रत्यय स्त्री प्रत्यय बन गए।'

इन स्त्री-प्रत्ययों की व्युत्पत्ति 'हार्नली' ने इस तरह दी है—

सं० — इका > -इआ, > इअ > -इया, ई।

प्रायः सभी भाषा-शास्त्री 'हार्नली' के इस मत को स्वीकार करते हैं।

(3) -इन एवं (4) -नी का प्रयोग प्रायः व्यवसायवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग रूप बनाने में किया जाता है, यथा—धोबी > धोबिन। सुनार > सुनारिन। चमार > चमारिन आदि। -नी का प्रयोग पशुओं के पुंलिंग शब्द रूपों को स्त्रीलिंग बनाने में अधिक किया जाता है, जैसे—शेर > शेरनी, मोर > मोरनी आदि। यहाँ यह ध्यान देने वाली बात है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'इनी' प्रत्यय माना है, जैसे हाथी > हथिनी। परन्तु, वास्तव में ई > इ हो गया है। अतः—'नी' प्रत्यय मानना ही उचित है। उपर्युक्त प्रत्यय संस्कृत के -इन -इनी, नी, से व्युत्पन्न हैं।

(4) '-आनी' प्रत्यय का व्यवहार मुख्य रूप से तत्सम शब्दों के ही स्त्रीलिंग रूप बनाने में किया जाता है, जैसे — इन्द्र > इन्द्राणी, पण्डित > पण्डितानी किन्तु, इसका प्रयोग कुछ विदेशी शब्दों के स्त्रीलिंग रूप बनाने में भी किया जाता है यथा — मुग़ल > मुग़लानी, मेहत्तर > मेहतरानी। इस '-आनी' प्रत्यय की व्युत्पत्ति सं० के '—आनी' प्रत्यय से ही स्वीकार की जाती है।

अध्याय 15

कारक

प्रश्न 96 — हिन्दी कारक-चिन्हों का उद्‌गम बतलाइए अथवा हिन्दी भाषा के कारणों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार कीजिए।

उत्तर — विश्व की भाषाओं के विकास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि योरोपीय भाषा में उपसर्गों (Prepositions) के द्वारा संज्ञा-सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने

की प्रणाली थी, किन्तु प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में उपसर्ग क्रिया के साथ संयुक्त किए जाने लगे, परिणामस्वरूप संज्ञाओं के कारक सम्बन्धों का नियमन उपसर्गों के द्वारा होना असम्भव हो गया। अतः शब्दों के प्रातिपदिक रूप में ही विभक्ति-प्रत्यय लगाकर विभिन्न कारक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की जाने लगी।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं—वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में कारकों की संख्या आठ थी और वचनों की संख्या भी तीन थी—एक़ वचन, द्विवचन और बहुवचन। प्रत्येक कारक का विभिन्न वचनों में विभिन्न विभक्ति प्रत्यय लगाकर—पृथक्-पृथक् रूप बनाने की प्रणाली थी। इस तरह प्रत्येक शब्द के कारक एवं वचनों के अनुसार (8 × 3) कुल 24 (चौबीस) रूप होते थे।

किन्तु, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के समय में, जब भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था में विकसित होने लगी, तब शब्दों के कारक रूपों में भी समीकरण होने लगा। शब्द-रूपों के समाकृत होने का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में जहाँ एक शब्द के अनेक रूप हुआ करते थे, वहाँ मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में अनेक रूपों में बहुत कमी होने लगी। एक ही विभक्ति-युक्त शब्द से दो-दो, तीन-तीन कारकों को व्यक्त किया जाने लगा। इस प्रकार चौबीस रूपों के स्थान पर केवल पाँच-छह (5-6) रूप ही शेष रह सके अपभ्रंश भाषा-काल में तो कारकों के केवल 3 (तीन) ही रूप प्राप्त होते हैं।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में कारकों के रूपों में भी कमी होने के साथ ही साथ ध्वनि परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभक्ति प्रत्यय घिस-घिस कर लुप्त होने लगे और अपभ्रंश-काल तक आते-आते उनके मूल रूप इतने अस्पष्ट हो गए कि कारक सम्बन्धों को समझना बहुत कठिन हो गया। फल यह हुआ कि कारक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए सहायक शब्दों का संयोग किया जाने लगा। सबसे पहले सम्बन्ध कारक में सहायक शब्दों का प्रयोग होने लगा और बाद में अनेक कारकों के निमित्त भी इनका (सहायक शब्दों का) व्यवहार किया जाने लगा। इस तरह संस्कृत के 'रामस्य' (= राम का) का विभक्ति प्रत्यय, जो सम्बन्ध कारक को प्रकट करता था, अपर्याप्त माना गया और इसके साथ संस्कृत 'कार्यक' से उत्पन्न 'करे'—जैसा सहायक शब्द जोड़ा जाने लगा।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में आते-आते विभक्ति—प्रत्ययों में और भी कमी हो गई। केवल कर्त्ता बहुवचन, करण कारक, सम्बन्ध बहुवचन और अधिकरण एक वचन के विभक्ति-प्रत्यय ही किसी प्रकार शेष रह गए। हिन्दी भाषा के करण-कारक बहुवचन तथा सम्बन्ध-कारक बहुवचन के रूपों से कर्त्ता बहुवचन का काम लिया जाने लगा, यथा—

घोटकेभि > घोडहि, घोडही > घोडइ > घोड़े। और अधिकरण एक वचन से विकारी कारकों के रूपों की उत्पत्ति हुई, यथा—'घोड़े' के 'ए' प्रत्यय की व्युत्पत्ति सं० स्मिन से है। तथा सम्बन्ध कारक बहुवचन के रूपों से सबल प्रातिपदिकों (Strong Bases) के विकारी रूपों की रचना हुई, यथा—घोटकानाम > घोड़ों।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट निष्कर्ष यही निकलता है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं—हिन्दी आदि—में विभक्ति-प्रत्यय वाले रूपों की कमी हो गई और

कारक-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में अपभ्रंश भाषा से भी अधिक अस्पष्टता आ गई। ऊपर कहा जा चुका है कि अपभ्रंश भाषा काल में ही इस अस्पष्टता को दूर करने के लिए 'सहायक शब्द' जोड़े जाने लगे थे। वही प्रवृत्ति हिन्दी में भी और भी अधिक रूप में विकसित हुई। वास्तव में हिन्दी भाषा के परसर्ग (Post Positions) या कारक चिह्न अपभ्रंश भाषाकालीन 'सहायक शब्दों' के अवशेष-मात्र हैं। यहाँ पर स्मरणीय है कि अपभ्रंश भाषा कालीन 'सहायक शब्द' भी ध्वनि परिवर्तन के कारण हिन्दी भाषा तक आते-आते इतने घिस गए हैं कि उनके मूल रूपों को सहसा पहचान पाना सर्वथा दुस्तर है।

हिन्दी में शब्दों का सम्बन्ध दो प्रकार से अभिव्यक्त किया जाता है—

(अ) प्राचीन आर्य भाषा के अवशिष्ट विभक्ति प्रत्ययों से यद्यपि इन प्रत्ययों का सविस्तार विवेचन और अध्ययन 'वचन' के अन्तर्गत ही किया जा सकता है, तथापि संक्षेप में उन विभक्ति-प्रत्ययों का उल्लेख कारकों के सन्दर्भ में किया जा रहा है—

(i) कर्त्ता कारक एक वचन में हिन्दी में कोई प्रत्यय नहीं लगता, बल्कि शब्द का प्रातिपादिक रूप ही व्यवहृत होता है। कारण यह है कि संस्कृत के कर्त्ता कारक का एक वचन का प्रत्यय—ह[:] शौरसेनी प्राकृत में 'ओ' में परिवर्तित होकर अपभ्रंश भाषा में 'उ' में बदल गया और पदान्त स्वर लोप की प्रवृत्ति के कारण हिंदी में आते-आते यह भी समाप्त हो गया।

(ii) पुलिंग तद्भव-आकारान्त शब्दों के विकारी कारकों के एक वचन में 'आ' को हटाकर 'ए' प्रत्यय का प्रयोग करते हैं, अन्यत्र केवल प्रातिपदिक रूप ही व्यवहृत होता है। इसकी व्युत्पत्ति निम्नांकित है —

म० भा० आ० —अको > अओ + हि,-हिं > -अइ > ए।

यहाँ पर-हि, हिं के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि म० भा० आ० में सम्बन्धकारक प्रत्यय 'हि' > सं०–'स्य' और अधिकरण प्रत्यय > 'हि' > सं० 'स्मिन', कर्म, सम्प्रदाय तथा अपादान कारक एक वचन में प्रयुक्त किए जाते थे। जब '-अको,-अओ' —अन्त वाले शब्दों — में 'हि–हिं' का योग हुआ, तब 'ह' का लोप हो गया आर–'अई' शेष जो संधि के कारण 'ए' प्रत्यय के रूप में आया।

(iii) पुलिंग अकारान्त तद्भव शब्दों के कर्त्ता बहुवचन में भी 'आ' का लोप कर दिया जाता है और 'ए'—प्रत्यय का संयोग किया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध और अस्पष्ट है। फिर भी, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने इस 'ए' की व्युत्पत्ति संस्कृत के करण कारक बहुवचन-प्रत्यय 'एभिः' से बताई है, जो सम्भवतः ठीक ही है—सं० एभिः > म० भा० आ०-अहि,–अही > अई + ए।

(iv) इ, ई—कारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में कर्त्ता कारक बहुवचन में 'आँ' तथा अन्य शब्दों में 'एँ' प्रत्यय लगाया जाता है। इस 'आँ', 'एँ' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

सं० नपुंसकलिंग बहुवचन प्रत्यय—आनि > म० भा० आ०—आइँ > हिन्दी एँ।

" " " " " " > " —आँ > हिन्दी आँ।

(v) समस्त शब्दों के विकारी कारकों में बहुवचन का प्रत्यय 'ओं' लगता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

सं० आनाम् > म० भा० आ० > आनं > आणं + हु > अउँ > ओं।

(ब) हिन्दी भाषा में शब्दों का सम्बन्ध प्रकट करने की दूसरी प्रणाली है विभक्ति-प्रत्यत सहित या विभक्ति-प्रत्यय रहित शब्दों के साथ कारक चिह्नों अथवा परसर्गों का संयोग करके। यहाँ पर परसर्ग (Post Positions) क्या है? इस सम्बन्ध में संक्षेप में जान लेना आवश्यक है। संस्कृत में विभक्ति-प्रत्यय शब्द के साथ सटाकर लिखे जाते थे, किन्तु हिन्दी में 'ने'; 'को', 'से', आदि 'को', शब्द में पृथक् हटा कर लिखा जाता है, मात्र कुछ सर्वनाम शब्दों में जैसे 'उसने, उसको, हमको' आदि में ही 'ने' को 'से' आदि कारक सम्वन्धों को प्रकट करने वाले शब्दों को ही पूर्ववर्ती शब्द में सटा कर लिखने की प्रणाली दिखाई पड़ती है। साथ ही ये 'ने, को, से' आदि पुराने पूर्ण शब्दों के घिसे हुए संक्षिप्त रूप हैं। अस्तु इन्हें उपसर्गों (Prepositions) की ही तुलना में अनुसर्ग या परसर्ग (Post Positions) की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इन्हीं को कुछ विद्वान् कारक-चिह्न कहते हैं, क्योंकि इनसे कारक-सम्वन्धी अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। 'ने, को, से' आदि को कारक-चिह्न कहें या अनुसर्ग अथवा परसर्ग कहें, इस बात को लेकर पर्याप्त विवाद चलता रहा है और विद्वान् लोग अपनी-अपनी राय प्रकट करते रहते हैं। इसी सन्दर्भ में हिन्दी भाषा तत्त्व के प्रकाण्ड-पण्डित आचार्य किशोरीदास बाजपेयी का कहना है 'सं० की विभक्तियाँ पूर्ण शब्दों के घिसे हुए रूप ही हैं और हिन्दी में दोनों प्रकार से 'ने, को, से' आदि का व्यवहार होता है—हटाकर भी और सटाकर भी। विभक्ति ही नहीं, हिन्दी में अन्य साधारण प्रत्यय भी पृथक् लिखे जाते हैं। जैसे 'शहरों', 'सावधानी' 'ई' तद्धित प्रत्यय सटाकर लिखते हैं, पर 'गाड़ी छूटने ही वाली है' में 'वाली' कृदन्त प्रत्यय प्रकृति से बहुत दूर है, तो क्या इन्हें 'अभिसर्ग' कहा जाय?' इसका मतलब यह है कि आचार्य बाजपेई जी इन्हें 'विभक्ति' कहना ही ठीक समझते हैं और 'परसर्ग' नाम को अनुचित बताते हैं। इसीलिए उन्होंने कारकों के दो रूपों—मूल और विकारी—को क्रमशः 'संश्लिष्ट' एवं 'विश्लिष्ट' नाम दिया है तथा 'ने, को, से' आदि को विश्लिष्ट विभक्तियाँ कहा है। फिर भी इन्हें 'परसर्ग' कहने का प्रचलन अधिक है। वस्तुतः किसी विवाद में न पड़कर 'परसर्ग' नाम अपना लेनें में कोई त्रुटि या हर्ज की बात नहीं है, क्योंकि 'ने, को, से' आदि के अलावा अन्य क्रिया-विशेषण पद भी, जो कारक-सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए व्यवहृत होते हैं, वे भी इस 'नाम' की सीमा में समेटे जा सकते हैं। इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'ने, को, से' आदि यद्यपि मूलतः स्वतन्त्र शब्द हैं, तथापि ध्वनि-परिवर्तनों के कारण घिसते-घिसते अपनी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट कर चुके हैं। अन्य शब्दों में भाषा की सामान्य शब्दावली में इनका स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है, यही कारण है कि कुछ लोग इन्हें संज्ञा शब्दों के साथ सटाकर भी लिखने हैं, यद्यपि प्रवृत्ति कम लोगों की है (एकाध 'पत्रों' में भी यही प्रवृत्ति है), यथा—राम ने मोहन को आदि। परन्तु परसर्गों के रूप में व्यवहृत होने वाले क्रिया-विशेषण का अपना स्वतन्त्र-अस्तित्व सुरक्षित है, यथा—आगे, पीछे, बिना, समेत आदि। इस प्रकार हिन्दी में परसर्गों की श्रेणियाँ हैं—

(1) स्वतन्त्र सत्ता विहीन परसर्ग पर
(2) स्वतन्त्र सत्ता वाले परसर्ग।

स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी में 'ने, को, से, के लिए, का, के, की, में, पर (पै)' परसर्गों को माना जाता है और दूसरी श्रेणी में क्रिया-विशेषण पद (Participles) हैं, यथा—आगे, ऊपर, पर, ओर, कारण, ख़ातिर, वास्ते, नीचे, पीछे, पास, बाहर, भीतर, करीब, निकट, समीप, नज़दीक, बिना, अलावा, अतिरिक्त, बीच, मध्य, मारे, सङ्ग, साथ, सनेत, भय, भर, तक, तले आदि।

हिन्दी भाषा में कर्त्ता कारक का चिह्न या परसर्ग 'ने' माना जाता है। परन्तु, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि "'हिन्दी में कर्त्ता के रूपों में कोई भी कारक-चिह्न प्रयुक्त नहीं होता।' डॉ० उदय नारायण तिवारी के शब्दों में 'कर्त्ता के कर्त्तरि प्रयोग में कोई परसर्ग नहीं लगता, मात्र कर्मणि एवं भावे प्रयोग में ही 'ने' का प्रयोग होता है।'

डॉ० वर्मा ने अपनी मान्यता के समर्थन में यह भी लिखा है कि 'संस्कृत तथा प्राकृत में भी अधिकांश संज्ञाओं में प्रथमा के रूपों में परिवर्तन नहीं होता।' यह उल्लेख करते हुए उन्होंने 'बीम्स' आदि विद्वानों के आधार पर 'ने' का विचार करण कारक में ही किया है। इसका मतलब यह हुआ कि डॉ० वर्मा के अनुसार हिन्दी भाषा में कर्त्ता के रूपों में कारक चिह्नों के प्रयोग न होने का कारण संस्कृत एवं प्राकृत में अधिकांश संज्ञाओं में प्रथमा के रूपों में परिवर्तन न होने की प्रवृत्ति की देन है। किन्तु, आचार्य बाजपेई का मत है कि 'ने कर्त्ता की ही विभक्ति है, भूल से इसे करण की विभक्ति कहा जाता है।'

हिन्दी भाषा में सम्बोधन कारक में भी कोई परसर्ग प्रयुक्त नहीं होता। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्त्ता के कर्त्तरि प्रयोग और सम्बोधन कारक के अतिरिक्त शेष सभी कारकों में परसर्गों या कारक चिह्नों का व्यवहार किया जाता है। ये कारक-चिह्न या परसर्ग अधोलिखित हैं—

(i) कर्त्ता—कर्मणि एवं भावे प्रयोग में—'ने'
(ii) कर्म और
(iii) सम्प्रदान में—'को' और केवल
(iv) सम्प्रदान में—'के लिए' ('को' के अतिरिक्त)
(v) कारण—और
(vi) अपादान में—'से'
(vii) सम्बन्ध में—'का, के, की'
(viii) अधिकरण में 'में, पर, (पै)'।

इस प्रकार, संख्या की दृष्टि से हिन्दी में उतने ही कारक हैं, जितने प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में थे।

प्रश्न 97—हिन्दी भाषा में व्यवहृत होने वाले कारक-चिन्हों अथवा परसर्गों की व्युत्पत्ति बतलाइए तथा परसर्गीय शब्दावली की एक सूची भी प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के सविभक्तिक बहुत कम मात्रा में मिलते हैं और जो मिलते भी हैं, उनमें अपभ्रंश

भाषा-काल से भी अधिक अस्पष्टता आ गई है। अपभ्रंश भाषा-काल में ही इस प्रकार की अस्पष्टता को दूर करने के लिए 'सहायक शब्द' जोड़े जाने लगे थे। अपभ्रंश भाषा की इस प्रवृत्ति का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में और भी विकास हुआ। 'सहायक शब्दों' के द्वारा कारक-सम्बन्धों को प्रकट करने की प्रवृत्ति हिन्दी में भी अपभ्रंश की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त इस प्रकार के 'सहायक शब्द' मिलते हैं, वे ध्वनि-परिवर्तनों के फलस्वरूप घिसते-घिसते इतने छोटे हो गए कि उनके मूल रूप का सहसा पता लगाना असम्भव-सा है। इन सहायक शब्दों को ही 'परसर्ग (Post Position) नाम दिया गया है, जो 'उपसर्ग' (Preposition) की तुलना में है। इनमें जो 'परसर्ग' घिसकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर चुके हैं, उन्हें ही 'कारक-चिह्न' कहते हैं। आचार्य पं० किशोरी-दास वाजपेयी इन्हें 'विभक्ति' कहना ही उचित मानते हैं। इन कारक-चिह्नों अथवा परसर्गों के अलावा हिन्दी में कुछ क्रिया विशेषण-पद (Participles) भी परसर्गों की भाँति प्रयुक्त होते हैं, जिनकी स्वतन्त्र-सत्ता अभी हिंदी शब्द समूह से सुरक्षित है। हिन्दी भाषा में कर्त्ता कारक का चिह्न अथवा परसर्ग 'ने' माना जाता है। किन्तु, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि 'हिन्दी में कर्त्ता कारक के रूपों में कोई भी कारक चिह्न प्रयुक्त नहीं होता !' परन्तु डॉ० उदयनारायण तिवारी के मतानुसार 'कर्त्ता के कर्त्तरि प्रयोग में ही कोई परसर्ग नहीं लगता; कर्मणि एवं भावे प्रयोग में 'ने' का प्रयोग किया जाता है। डॉ० वर्मा ने 'बीम्स' आदि विद्वानों के आधार पर 'ने' का विचार 'कर्त्ता या करण' कारक शीर्षक में करते हुए अपने मत के समर्थन में यह लिखा है कि 'संस्कृत तथा प्राकृत में भी अधिकांश संज्ञाओं में प्रथमा के रूपों में परि-वर्तन नहीं होता।' इसी संदर्भ में आचार्य पं० किशोरीदास बाजपेयी लिखते हैं कि 'ने' कर्त्ता की ही विभक्ति है, भूल से इसे करण की विभक्ति कहा जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में भी कारकों की संख्या आठ ही थी। हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी उक्त पूर्वजा भाषाओं से परम्परागत उत्तराधिकार के रूप में आठ ही कारक प्राप्त हुए हैं। हिन्दी भाषा में आठों कारणों में प्रयुक्त होने वाले कुछ कारक चिह्न अथवा परसर्ग—इस प्रकार हैं —

'कर्त्ता' कारक में ने 'ने' परसर्ग का व्यवहार होता है, जिस पर मतभेदों को ऊपर बताया जा चुका है। कर्म और सम्प्रदान कारक का परसर्ग 'को' है, परन्तु सम्प्रदान 'को' के अतिरिक्त 'के लिए' भी प्रयुक्त होता है। करण और अपादान कारक में 'से' परसर्ग लगता है। सम्बन्ध कारक में 'का, की, के' तथा अधिकरण कारक में —'में, पर, (पै),का परसर्गीय प्रयोग होता है। केवल सम्बोधन में हिन्दी में कोई परसर्ग नहीं लगाया जाता। उन क्रिया-विशेषण-पदों की चर्चा आगे की जायगी, जो परसर्गों की भाँति प्रयुक्त होते हैं। अब इन परसर्गों की व्युत्पत्ति नीचे दी जा रही है।

(i) 'ने'—

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में, 'सप्रत्यय कर्त्ता कारक का चिह्न 'ने' पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है।' यहाँ पश्चिमी हिन्दी से तात्पर्य खड़ी बोली से है, उसी में 'ने' का प्रयोग प्राप्त होता है, पश्चिमी हिन्दी की उपभाषा 'ब्रजभाषा' में इसका प्रयोग नहीं होता। पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं अवधी और बिहारी में भी 'ने' पर-

सर्ग का सर्वथा अभाव है। बुन्देली कन्नौजी में 'नै' तथा 'ने' का प्रयोग कर्त्ताकारक में होता है। पं० कामता प्रसाद गुरु के अनुसार, 'हिन्दी में ने का प्रयोग बोलना, भूलना, वकना, लाना, समझना, जानना आदि सकर्मक क्रियाओं को छोड़कर शेष सकर्मक क्रियाओं के और नहाना, छींकना, खाँसना आदि अकर्मक क्रियाओं के भूत-कालिक कृदन्त से बने कालों के साथ किया जाता है।' आचार्य पं० किशोरी दास बाजपेयी के अनुसार, 'हिन्दी में 'ने' का प्रयोग वहीं होता है, जहाँ संस्कृत-प्राकृत में तृतीया का प्रयोग होता है। संस्कृत प्राकृत में तृतीया का प्रयोग कर्त्ता, करण तथा हेतु आदि विविध अर्थों में होता है, परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग केवल कर्त्ता कारक में होता है, क्योंकि संस्कृत-प्राकृत में भूतकाल में कृदन्त—तिङन्त दोनों क्रियाएँ प्रयोग में आती हैं, पर हिन्दी में केवल कृदन्त क्रियाएँ ही भूतकाल में प्रयुक्त होती हैं।'

आचार्य बाजपेयी के ही शब्दों, में 'सबसे बड़ी बात यह है कि संस्कृत-प्राकृत में सभी संज्ञा सर्वनामों के तृतीया अलग-अलग सैकड़ों रूप होते हैं; परन्तु हिन्दी में सरलता और सुविधा के लिए सभी संज्ञाओं के आगे 'ने' का प्रयोग किया है।'

व्युत्पत्ति—'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं जो अधोलिखित हैं —

(1) 'ट्रम्प' आदि कुछ विद्वानों ने संस्कृत के करण कारक एक वचन की विभक्ति 'एन' से हिन्दी 'ने' का सम्बन्ध जोड़ा है और बताया है कि वर्ण व्यत्यय से 'एन' > 'ने' हो गया है। इसका कारण यह है कि वे 'ने' का कर्मणि तथा भावे प्रयोग देखते हैं।

(2) आचार्य पं० किशोरी दास बाजपेयी ने भी 'ने' की—व्युत्पत्ति 'एन' से ही मानी है। किन्तु, 'एन' से 'ने' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० उदयनारायण तिवारी ने अनेक आपात्तियाँ उठाई हैं; जो निम्नलिखित हैं —

(क) 'ने' विभक्ति-प्रत्यय नहीं है, अपितु 'को', 'में', 'पर' इत्यादि के समान एक परसर्ग है। अतः इसकी व्युत्पत्ति किसी स्वतन्त्र शब्द से ही खोजनी ठीक होगी, न कि विभक्ति प्रत्यय 'एन' से।

(ख) 'एन' > 'ने' होना अन्य विभक्तियों के परिवर्तन को देखते हुए असामान्य परिवर्तन प्रतीत होता है। सं० 'आनि' > 'एँ' और 'आनाम' > 'ओं' के परिवर्तन में 'न्' का परिवर्तन अनुस्वार में होकर लघु रूप ही हिन्दी में आए हैं। फिर 'एन' के वर्ण-व्यत्यय और दीर्घता को बहुत स्पष्ट एवं दृढ़ प्रमाणों के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ग) 'ने' का प्रयोग अत्यन्त आधुनिक है। पश्चिमी अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी में इसका कहीं प्रयोग नहीं हुआ है।

(घ) पुराने लेखकों ने सर्वनाम के कर्त्ता कारक में कितने ही ऐसे स्थानों पर केवल विकारी रूप का ही प्रयोग किया है, जहाँ खड़ी बोली में 'ने' आवश्यक होता है। अतः यदि 'ने' कोई विभक्ति-प्रत्यय था भी तो पुरानी हिन्दी के काल तक वह लुप्त हो चुका था।

डॉ० तिवारी के उक्त तर्कों में बीम्स एवं हार्नली के तर्कों का भी समावेश हो

गया है। इनके अतिरिक्त डॉ० वर्मा ने एक बात यह कही है कि 'यदि 'एन' के स्थान पर संस्कृत में 'नेन' कोई चिह्न होता, तो उससे 'ने' होना सम्भव था, किन्तु ऐसा कोई भी चिह्न संस्कृत, प्राकृत में भी नहीं मिलता।

(3) वीम्स ने भी भावे तथा कर्मणि अर्थ देने के कारण ही 'ने' का विचार करण कारक के अन्तर्गत ही किया है : पादरी 'केलॉग' ने भी इसी का समर्थन किया है।

इन विद्वानों के अनुसार 'ने' का सम्बन्ध सं० 'लग्य' (लग् के भूतकालिक कृदन्त कर्मवाच्य) से जोड़ा है। इसका परिवर्तन क्रम यों है—लग्य > लग्गिओ > लगि > लागि > लाइ; लइ > ले > ने।

इन विद्वानों ने अपने मत के समर्थन में यह कहा है कि 'ने' गुजराती में कर्म-सम्प्रदान के प्रयोग में आता है और करण कारक का परसर्ग भी सम्प्रदान में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में 'ने' करण कारक का ही परसर्ग है। (शायद इसी आधार पर डॉ० वर्मा ने कर्त्ता या करण कारक लिखा है।) अतः गुजराती और हिन्दी 'ने' की व्युत्पत्ति एक ही है। साथ ही दोनों भाषाएँ पश्चिमी अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हैं। तब गुजराती और हिन्दी 'ने' के मूल रूप की, इन विद्वानों ने 'नेपाली' भाषा के सम्प्रदान कारक के परसर्ग 'लाइ' और करण करक के परसर्ग 'ले' से जोड़ा है। नेपाली 'ले' और गुजराती 'ने' को एक ही शब्द की ही उपज मानकर इन दोनों का सम्बन्ध संस्कृत 'लग्य' से जोड़ा गया है।

(4) ब्लॉख तथा डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार 'ने' का सम्बन्ध सं० 'तन' से है। पर इस मत को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

(5) डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ० सुकुमार सेन ने इसका सम्बन्ध संस्कृत 'कर्ण' से माना है। इन विद्वानों के मतानुसार 'ने' का पुराना रूप 'कने' था जो आज भी कन्नौजी में समीपता का बोधक है। अतः 'कर्ण' से उत्पन्न 'ने' का प्रयोग भी संज्ञा एवं क्रिया के बीच सम्बन्ध जोड़ने के लिए हिन्दी में व्यवहृत हुआ। 'कर्ण' से 'ने' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है —कर्ण >कन्न > अपभ्रंश (अधिकरण) कन्नहि >नइ (क् तथा ह् के लोप से) > ने (गुण सन्धि द्वारा)।

'ने' की यही अन्तिम व्युत्पत्ति अधिक मान्य है।

(ii) 'को'

परसर्ग कर्म एवं सम्प्रदान कारक में प्रयुक्त होता है। हिन्दी की उपभाषाओं में इस 'को' का व्यवहार मात्र कन्नौजी में होता है। ब्रज भाषा में यह 'कौ' तथा अवधी एवं बिहारी (पूर्वी हिन्दी) में 'क' रूप में प्रयुक्त होता है। राजस्थानी में कर्म सम्प्रदान कारक का परसर्ग मारवाड़ी में 'नै' और मेवाड़ी में 'ऐ' प्रयुक्त होता है। रीवाँ की बोली में 'केहे' मिलता है। इनमें 'क' वाले सभी परसर्गों की व्युत्पत्ति वीम्स एवं हार्नली ने ('कक्ष' का अधिकरण एक वचन रूप) से मानी है। संस्कृत 'कक्षे' 'कक्षे' के 'कक्ष' रूप का अर्थ है—बगल, काँख। अर्थ की दृष्टि से बगल (निकट और) 'को' से साम्य रखता है। परिवर्तन इस प्रकार है —कक्षे > कक्ख > कांख > काँह; कहुँ, कहुँ > कौं, को, 'केहे', 'क'।

यहाँ स्मरणीय यह है कि 'काँख' कर्म कारक एक वचन का रूप है और

'ख' > 'ह' होकर लुप्त हो गया है। तब सभी रूपों की उत्पत्ति हुई है। उक्त व्युत्पत्ति को ही डॉ० चटर्जी आदि विद्वानों की भी मान्यता प्राप्त है। 'ट्रम्प' का विचार है कि 'को' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कृत' से हुई है, जो इस प्रकार सम्भव है—कृत > कितो किअरे > को। यद्यपि इस विचार को मान्यता अधिक नहीं दी जाती, फिर भी डॉ० चटर्जी आदि विद्वान् इसे असम्भव नहीं मानते। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस सम्बन्ध में कहा है—'प्राकृत में वास्तव में 'कतऊँ' और 'कटऊँ, रूप मिलते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई हिन्दी के प्राचीन रूप 'कतु' के सम्बन्ध में है। 'ट्रम्प' का अनुमान है कि 'कृत' के जब 'ऋ' का लोप हुआ होगा, तब 'त्' महाप्राण हो गया होगा। यह विचार-शैली बहुत मान्य नहीं दिखाई पड़ती।'

(iii) 'से'—

परसर्ग व्यवहार हिन्दी करण एवं अपादान—दोनों कारकों में होता है। अवधी में इसका रूप 'से', 'सन', ब्रजभाषा में 'सों, 'सौं, सूँ' और बुन्देली में 'सैं' मिलता है। 'ने' एवं 'को' की भाँति ही 'से' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत मत-भेद है। (1) बीम्स इसका सम्बन्ध सं० अव्यय 'सम' से मानते हैं, क्योंकि इसका अर्थ 'साथ' और 'अलग-होना' है। (2) हार्नली के मतानुसार, 'से' की उत्पत्ति संस्कृत 'अस्' > प्रा० सुन्ती, सुन्तो से है। (3) केलॉग के अनुसार इसका सम्बन्ध सं० 'संगे' से हैं। (4) अब तक प्रायः बीम्स का मत ही मान्य समझा जाता रहा है, किन्तु डॉ० उदयनारायण तिवारी का कहना है कि '........................'से' का रूप 'सम-एन्' है, जिससे इसकी उत्पत्ति निम्न प्रकार से हुई है—सम-एन् > सएँ, सइँ > से।' अवधी के सन् और बुन्देली 'सें' भी उक्त ढंग से ही निष्पन्न हैं। हाँ, ब्रज-भाषा 'सौं' की उत्पत्ति 'सयं' से हुई है। 'सों' 'सूँ' भी इसी से निष्पन्न हो ही सकते हैं।

(5) ब्रजभाषा में 'से' के अर्थ में 'ते', भी मिलता है। 'केलॉग' के अनुसार सं० प्रत्यय 'तू' से इनकी उत्पत्ति है, जो संस्कृत में आपदान कारक में प्रयुक्त होता है।

(iv) 'के लिए'—

ऊपर सम्प्रदान कारक के 'को' परसर्ग पर विचार हो चुका है। यहाँ उसके विशेष परसर्ग 'के लिए' की ही व्युत्पत्ति दी जा रही है—सं० कृते > कए > के— हुआ है। 'लिए' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। वैसे इसका सम्बन्ध सं० 'लग्ने' > प्रा० लग्गे से जोड़ा जाता है। 'हार्नली' के अनुसार 'लिए' का सम्बन्ध संस्कृत 'लब्धे' से है, किन्तु आधुनिक विद्वान् इस मत को मान्यता नहीं देते। डॉ० वर्मा ने लिखा है— 'सम्भव है, इसका सम्बन्ध प्राकृत 'ले' से हो।' सत्यजीवन वर्मा का विचार है कि 'के' सम्बन्ध कारक के प्राचीन चिह्न 'केरक' का रूपान्तर है और 'को' भी 'केहि' का रूपान्तर है। परन्तु अधिकारी विद्वानों द्वारा इस मत की पुष्टि नहीं हुई है। हिन्दी बोलियों 'लागि', लगे आदि रूप 'लिए' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इनका सम्बन्ध संस्कृत 'लग्गे' से जोड़ा जा सकता है—

लग्गे > लग्गे, लग्गि > लगे लागि।

(v) 'का, के, की'—

सम्बन्ध कारक के परसर्ग हैं, जिनमें 'का' एक वचन पुल्लिंग, 'के' बहुवचन

पुंलिंग और 'की' स्त्रीलिंग एक और बहुवचन—दोनों में, व्यवहार में आता है। ब्रज-भाषा में 'को, कौ' अवधी में 'केर, कर' और बिहारी 'क' आदि भी इसी प्रकार के परसर्ग हैं। (1) वीम्स एवं हार्नली ने इन रूपों की व्युत्पत्ति सं० 'कृतः' तथा प्राकृत 'केरो' या 'करक' से मानी है। हार्नली के अनुसार इनका परिवर्तन क्रम इस प्रकार सम्भव है —कृत>करितो, करिओ, केरको> करेओ, केरो>केर, का। (2) पिशेल तथा कुछ अन्य पुराने विद्वान् 'करे' का सम्बन्ध सं० 'कार्य' से मानते हैं। (3) 'केलाग' का मत है कि 'का' का विकास—कृतः> किदः, कदः (>कअ>का) से है।

(4) डॉ० चटर्जी 'का' का सम्बन्ध प्राकृत 'क्क' से जोड़ते हैं, क्योंकि 'कृतः' के प्राकृत रूप 'कअ' में आज तक 'क' का बना रहना उन्हें सम्भव नहीं प्रतीत होता। वास्तव में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि उक्त सभी रूप संस्कृत की 'कृ' धातु से सम्बन्ध रखते हैं।

(5) डॉ० उदयनारायण तिवारी की मान्यता इसी प्रकार की है। उनके अनुसार 'का' की व्युत्पत्ति सं० 'कृतः' से इसी प्रकार है—कृतः>कअ >का। 'के', 'का' का बहुवचन विकारी रूप है और 'की' में स्त्री-प्रत्यय-'ई' लगाया गया है।

(vi) 'में, पर'—

हिन्दी भाषा में अधिकरण कारक के परसर्ग हैं। ब्रजभाषा में ये क्रमशः 'मैं, पै' के रूप में प्राप्त होते हैं। 'पै' का प्रयोग उर्दू वाले लोग भी काफ़ी करते हैं। अवधी में 'माँ, मँह' का प्रयोग किया जाता है। अन्यत्र 'में' चलता है। (1) 'में' की व्युत्पत्ति सभी विद्वान् सं० 'मध्ये' से मानते हैं—मध्ये>मज्झे, मज्झ, मज्झहि> माँहि, महि>में। ब्रजभाषा के 'मैं' और अवधी के 'माँ, मँह' रूप भी इसी प्रकार से निष्पन्न हैं। (2) पर—की व्युत्पत्ति बीम्स ने सं० 'उपरि' से मानी है। किन्तु डॉ० उदयनारायण तिवारी ने सं० उपरे से इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार स्पष्ट की है—परे> परि>पर। ब्रजभाषा के 'पै' की व्युत्पत्ति परि>पइ>पै के रूप में सुस्पष्ट की जा सकती है।

(ब) हिन्दी में प्रधानतया निम्नांकित स्वतन्त्र शब्द (क्रिया विशेषण पद) पर-सर्गों की भाँति व्यवहृत होते हैं —

(i) कर्म कारक में—प्रति (सं०), विना (सं०), (बिना का अर्द्ध तत्सम या तद्भव रूप), तई (सं० तरिते>तरिए>तइए>तईं।)

(ii) करण कारक में—द्वारा (सं०) कारण (सं०), मारे (सं० मार्या या मारितेन से उत्पन्न), जरिये (अरबी शब्द)।

(iii) सम्प्रदान कारक में—हेतु, निमित्त, अर्थ (तीनों स०) ख़ातिर, वास्ते (दोनों अरबी)।

(iv) अपादान कारक में—अपेक्षा (सं०), आगे (सं० अग्रे>आगे); सामने (सं० सन्मुख), बनिस्व (फ़ारसी)।

(v) अधिकरण कारक में—मध्य (सं०), बीच (सं० विच्), भीतर (सं०

29

अभ्यन्तर), ऊपर (सं० उपरि), नीचे (सं० नीचैः), पास (सं० पार्श्व), ओर, तरफ़, अन्दर (फ़ारसी), पीछे (सं० पृष्ठ+पश्च), बाहर (सं० बाह्य)।

यहाँ पर द्रष्टव्य है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'साथ' (सं० सार्थ) को भी अपादान कारक का परसर्ग लिखा है तथा डॉ० उदयनारायण तिवारी ने संग, समेत, साथ—तीनों शब्दों को 'सम्पर्क द्योतित करने वाला' कहा है। वस्तुतः, हमारी दृष्टि में, इन परसर्गों से पृथकता या अलगाव का बोध नहीं होता, अतः इन्हें करण कारक का परसर्ग कहना ही अधिक समीचीन होगा। ऐसे अन्य शब्द भी ढूँढ़ने पर मिलते हैं, जो उक्त परसर्गों की भाँति ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे—भर, तक, भले आदि। अधिकरण कारक में 'दर' का भी प्रयोग होता है, जैसे दर असल=असल में, यद्यपि यहाँ 'दर' उपसर्ग की भाँति दिखाई देता है, पर है यह परसर्ग ही। हाँ, इसका प्रयोग बहुत कम होता है, पर होता ज़रूर है।

अध्याय | 16

उपसर्ग तथा प्रत्यय

प्रश्न 98—हिन्दी के उपसर्गों एवं प्रत्ययों का संक्षिप्त व्युत्पत्ति मूलक परिचय दीजिए।

उत्तर—कतिपय ध्वनियाँ ऐसी होती हैं, जिनका अलग से अपना कोई अर्थ नहीं होता किन्तु वे ही ध्वनियाँ जब किसी शब्द के साथ मिल जाती हैं, तब अनेकानेक विशिष्ट तथा नवीन अर्थ देने लगती हैं। ऐसी आश्रित ध्वनियों को शब्दांश के नाम से अभिहित किया जाता है। ये शब्दांश दो प्रकार के हैं—(1) उपसर्ग, (2) प्रत्यय।

उपसर्ग

शब्द-प्रकृति के पूर्व लगने वाले शब्दांश को उपसर्ग कहते हैं। हिन्दी में इसे 'पूर्व-प्रत्यय' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। हिन्दी में तीन प्रकार के उपसर्ग—तत्सम, तद्भव एवं विदेशी प्राप्त होते हैं। ये उपसर्ग निम्नोक्त रूप में द्रष्टव्य है :

तत्सम उपसर्ग

इस कोटि के उपसर्ग संस्कृत के हैं और इनका प्रयोग भी प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ किया जाता है। उदाहरणार्थ—

(1) अ—सं० में 22 उपसर्गों में यह नहीं है। न (नञ्) 'गति' का इसे रूपांतर माना गया है। इसका अर्थ 'अभाव', 'हीनता', 'शून्यता' आदि है।

(2) अनु—इस सं० उपसर्ग का अर्थ है 'पीछे' तथा 'समान' आदि। यह प्रायः केवल तत्सम शब्दों के साथ आता है : अनुरूप, अनुशासन, अनुताप, अनुवाद।

(3) अन्—यह सं० के 22 उपसर्गों में नहीं है। यह 'न' (नञ्) गति का वह रूप है जो सं० में स्वर से प्रारंभ होने वाले शब्दों के पूर्व जोड़ा जाता था : अनायास, अनर्थ, अनादि, अनंत। इसके भी अर्थ 'अ' की भाँति ही 'अभाव', 'शून्यता 'निषेध' आदि हैं।

(4) अप—इस सं० उपसर्ग का अर्थ है 'बुरा'।

(5) अभि—इस सं० उपसर्ग का अर्थ है 'ओर', 'अधिक' 'अतिरिक्त, आदि।

(6) अव—इस सं० उपसर्ग का अर्थ है 'बुरा', 'हीन', 'नीचे', 'दूर' आदि।

(7) आ—इस सं० उपसर्ग का अर्थ है 'तक', 'समेत', 'ओर' 'कम' आदि।

(8) उत्—'ऊपर', 'ऊँचा' आदि का अर्थ देने वाला सं० उपसर्ग।

(9) उप—'सहायक', 'गौण', 'छोटा', 'निकट' अर्थों का द्योतक सं० उपसर्ग।

(10) कु—यह सं० उपसर्गों या गति आदि में तो नहीं है, किंतु इसका संस्कृत में उपसर्गवत् प्रयोग खूब हुआ है : कुरूप, कुयोग, कुख्यात, कुपथ।

(11) दुर्—'बुरा' 'कठिन' आदि अर्थों में प्रयुक्त होने वाला एक सं० उपसर्ग।

(12) नि—सं० उपसर्ग में इसका अर्थ नीचे समूह, आदेश, समीप आदि था।

(13) निर्—'नहीं' 'रहित' 'दूर' 'बाहर' आदि अथ देने वाला सं० उपसर्ग।

(14) परा—'उलटा' 'पीछे' आदि का अर्थ देने वाला एक सं० उपसर्ग।

(15) परि—'चारों ओर', 'पूर्ण' आदि अर्थों का द्योतक सं० उपसर्ग।

(16) वि—'अभाव' 'दूसरा' 'अधिक' 'विशेष' आदि अर्थों का सं० उपसर्ग।

(17) स—साहितार्थी सं० अव्यय जिसका उपसर्गवत् प्रयोग हुआ है।

(18) सु—'अच्छा' 'सरल' 'ज्यादा' आदि अर्थों का द्योतक सं० उपसर्ग।

तद्भव उपसर्ग

(1) उ—यह सं० उपसर्ग उद् से सम्बन्ध है, जो प्रा० में ही यह उ हो गया था। इसका मूल अर्थ ऊपर, ऊँचा आदि है।

(2) उन—सं० एकोन > पालि एकून < प्रा० ऊन (सं में भी ऊन है) > उन > हि० उन। इसका अर्थ है 'एक नहीं' या 'एक कम'। यह केवल संख्यावाचक शब्दों में ही आता है : उन्नीस, उन्तिस, उन्तालीस, उनचास, उनसठ, उनहत्तर, उन्यासी।

(3) औ—सं० अव > प्रा० अव, ओ > हि० औ। इसका अर्थ 'हीन'; 'नीचे', 'दूर' आदि है।

(4) क—सं० कु > प्र० कु > हि > क। यह केवल 'कपूत' में आता है।

(5) दु—सं० दुर् > प्रा० दू,दु > हि० दु। 'दु' का अर्थ 'बुरा'; 'हीन', आदि है।

(6) नि—सं० निर्>प्रा० नी, नि>हि० नि। इसका अर्थ 'बिना', 'रहित' निषेध' आदि है।

(7) पर—सं० प्र>हि० पर। इसका अर्थ है 'पहले की पीढ़ी का'।

(8) स—सं० सु>हि० स। सपूत (सुपुत्र)।

विदेशी उपसर्ग

विदेशी उपसर्गों में फ़ा० तथा अं० उपसर्ग आते हैं। अरबी उपसर्ग भी हिन्दी में फ़ा० के माध्यम से ही आए हैं, अतः उन्हें भी फ़ा० का ही मानना उचित है।

फ़ारसी उपसर्ग

(1) अल—यह मूलतः अरबी का निश्चयार्थी निपात है।

(2) दर—मूलतः यह फ़ा० का 'दरवाज़ा' का समानार्थी शब्द 'दर' (सं० द्वार) है। 'दरवाजे' के अर्थ से विकसित होकर यह फ़ा० 'में' का अर्थ रखने वाला एक अव्यय बन गया।

(3) ब—फ़ा० का एक उपसर्ग जिसका अर्थ 'के साथ' 'से' आदि होता है।

(4) बा—फ़ा० उपसर्ग जिसका अर्थ 'साथ' या 'से' होता है ? बाक़ायदा।

(5) बे—यह फ़ा० उपसर्ग 'बिना' (तुलनीय सं० वि०) 'रहित' आदि का वाचक है : बेरहम, बेईमान, बेचारा, बेइज्ज़ती, बेतुका।

(6) ला—'अभाव' या 'नहीं' अर्थ का बोधक एक अर० उपसर्ग जो फ़ा० के माध्यम से हिन्दी में आया है।

(7) हम—फ़ा० उपसर्ग जिसका अर्थ 'आपस में,' 'साथ' या 'बराबर' आदि होता है।

अँगरेज़ी उपसर्ग

अँगरेज़ी के केवल पाँच शब्द या उपसर्ग ही हिन्दी में उपसर्ग जैसे प्रयुक्त होते हैं, डिप्टी, वाइस, सब, हाफ़, हेड। इनमें 'डिप्टी सुपरिंटेंडेंट' या 'डिप्टी कलेक्टर' आदि रूप में आता तो है, किन्तु स्वतन्त्र भी (डिप्टी साहब आए हैं) आता है, अतः इसे उपसर्ग नहीं माना जा सकता। किन्तु शेष माने जा सकते हैं।

(1) वाइस—इसका अर्थ है 'उप'।

(2) सब—इसका अर्थ है 'उप', 'नायब' या 'छोटा'।

(3) हाफ़—इसका अर्थ है 'आधा'।

(4) हेड—इसका अर्थ है 'प्रधान'।

प्रत्यय

'प्रत्यय'-शब्द 'इ' (=जाना) धातु में 'प्रति' उपसर्ग लगकर बना है, जिसका अर्थ है 'की ओर जाना' या 'पास जाना'। अर्थात् 'प्रत्यय' शब्द अथवा 'धातु' के पास जाता है या इससे जुड़ता है। प्रत्यय की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—'प्रत्यय' ध्वनि या ध्वनिसमूह की वह इकाई है, जो व्याकारणिक रूप या अर्थ की दृष्टि से परिवर्तन लाने के लिए, किसी शब्द या धातु (या अपवादतः कभी-कभी उपसर्ग; जैसे हिन्दी की दृष्टि से 'विज्ञ') के अन्त में जोड़ी जाती है, किन्तु जिसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता।' प्रत्यय मूलतः सार्थक शब्द रहे होंगे, किन्तु धीरे-धीरे उनकी स्वतन्त्र अर्थवत्ता समाप्त हो गई, और वे मात्र प्रत्यय रह गए।

हिन्दी प्रत्यय ऐतिहासिक दृष्टि से चार प्रकार के हैं : तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी। आगे सभी को अलग-अलग लिया जा रहा है।

तत्सम प्रत्यय

इसके अंतर्गत वे प्रत्यय आते हैं, जो संस्कृत के हैं।

(1) आ—स्त्री प्रत्यय।

(2) आलु—इससे संज्ञा से विशेषण बनाते हैं : दयालु, कृपालु, लज्जालु।

(3) जीवी—जीने वाला। परजीवी, बुद्धिजीवी, श्रमजीवी, प्रणजीवी।

(4) तः—संज्ञा (अंशतः) सर्वनाम (स्वतः), विशेषण (यथार्थतः) तथा क्रियाविशेषण (अग्रतः) से क्रियाविशेषण बनाने में प्रयुक्त।

(5) तया—यह मूलतः संस्कृत के लकारन्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एक-वचन के रूप का अंत्य भाग है।

(6) ता : संज्ञा (जनता), विशेषण (सुन्दरता), तथा सर्वनाम (ममता) से संज्ञा बनाने में प्रयुक्त।

(7) त्व—भाववाचक संज्ञा बनाने में प्रयुक्त : कवित्व, लघुत्व।

(8) दा—वार—एकदा, सर्वदा।

(9) धा—शतधा, बहुधा, द्विधा।

(10) वर्ती—वाला। परवर्ती, पूर्ववर्ती, चक्रवर्ती, अनुवर्ती।

(11) वान्—वाला। गुणवान्, रूपवान्, स्वरूपवान्, धनवान्।

(12) शाली—वाला। बलशाली, भाग्यशाली, शक्तिशाली।

तद्भव प्रत्यय

(1) अंग्—वाला करनेवाला। इसका सम्बन्ध सं० अंग+क (>प्रा० अंगअ>हि० अंग) से ज्ञात होता है।

(2) अंगड़—बड़ा (अंगोंवाला)। अंग+प्रा० अट>अंगड़्।

(3) अंत्—किया हुआ। सं० अन्त (शतृ प्रत्यय) >प्रा० अन्त > हि० अंत।

(4) अक्—हिन्दी में 'अक्' का प्रयोग कई अर्थों में होता है। इसका सम्बन्ध संस्कृत के एकाधिक प्रत्ययों से है। कर्तृवाचक स्वार्थे, एवं समूहार्थी प्रत्यय के रूप में 'अक् सं० 'क' से संबद्ध है। अन्य रूपों में यह सं० कृत् से निकला ज्ञात होता है। ह्नार्नली इसे 'अक्' से जोड़ते हैं।

(5) अज्—जन्मनेवाला। यह संस्कृत का, 'ज' है जो संस्कृत के अकारांत शब्दों के हिन्दी में प्रायः व्यंजनान्त हो जाने से विकसित हो गया है।

(6) अज्ञ्—जाननेवाला। यह संस्कृत का 'ज्ञ' है, जो संस्कृत के अकारान्त शब्दों के हिन्दी में प्रायः व्यंजनांत हो जाने से विकसित हो गया है।

(7) अट्—इसका सम्बन्ध संस्कृत 'वत्' से ज्ञात होता है।

(8) अत्—इसका सम्बन्ध सं० त्व >प्रा० त्त से ज्ञात होता है।

(9) अत्व—यह संस्कृत का 'त्व' है, जो संस्कृत के अकारान्त शब्दों के हिन्दी में प्रायः व्यंजनान्त हो जाने से विकसित हो गया है।

(10) अन् — इसका सम्बन्ध सं० अन, प्रा० अण से है।

(11) अल् — वाला इसका सम्बन्ध सं० 'आलु' से माना गया है। किन्तु वस्तुतः यह सं० ल (मंजुल) है।

(12) आँध — यह आइँध, आँयध, आँइद, आइँद, रूपों में भी मिलता है। इसका सम्बन्ध सं० (आगन्ध >आइन्ध> आइँध) से है।

(13) आ — इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आ' का सम्बन्ध स्वार्थिक प्रत्यय 'क' और पूर्ववर्ती अ, अर्थात् 'अंक' से है।

(14) आई — हार्नले इसका सम्बन्ध सं० तिका (सं० भाववाचक प्रत्यय -ता का स्वार्थिक प्रत्यय क-युक्त रूप) से मानते हैं : सं० -तिका > प्रा० > *दिगा > इआ — हि० आई (विपर्यय से)। चटर्जी इसका सम्बन्ध धातु के प्रेरणार्थक रूप (-अ॰प-) से -इका जोड़कर बनाई गई स्त्रीलिंग संज्ञा से मानते हैं : सं० आपिका > आविआ > आवी=आई। तीसरा मत डॉ० बानीकान्त काकती का है। उन्होंने आसामी भाषा-विषयक अपने ग्रन्थ में अपना मत दिया है। वे आधुनिक आर्यभाषाओं की -आई का सम्बन्ध दो स्रोतों से मानते हैं। धातु से संज्ञा बनाने में चटर्जी का समर्थन करते हैं, किन्तु दूसरे का सम्बन्ध वैदिक प्रत्यय -ताति (> प्रा० *ताइ > आई) से जोड़ते हैं। मेरे विचार में धातु से बनाने वाली संज्ञाओं में तो -आई का सम्बन्ध सं०—आपिका से है, जैसा कि चटर्जी, काकती आदि मानते हैं, किन्तु विशेषण से संज्ञा बनाने में यह प्रत्यय, वैदिकी प्रत्यय *तातिका ('ताति' का 'क' ·युक्त रूप; > *दादिगा > *दाइआ > दाई > आई) से निकला है।

(15) आऊ—हार्नले के अनुसार 'आऊ' का सम्बन्ध सं० तृ या स्वार्थे 'क' -युक्त 'तृक' से है। प्लाट्स इसका सम्बन्ध सं० 'उक' से मानते हैं। चटर्जी इन्हीं का अनुसरण करते हैं। मेरे विचार में इसका सम्बन्ध 'उक' से न होकर 'ऊक' से है।

(16) आड़ी—आड़ी का सम्बन्ध सं० आरी से है : द्यूतकारी > जुआड़ी।

(17) आन्—इससे धातु से भाववाचक संज्ञा बनाते हैं : उठ्-उठान्, मिल्-मिलान्, उड़-उड़ान्, थक्-थकान्। सं० प्रेरणार्थक 'आप्-अन' या इसका स्वार्थिक प्रत्यय '-क' युक्त रूप 'आप्-अन-क' से इसका विकास हुआ है : आपनक या आपन > आवणअ, आवण > आणव > आण आन्।

(18) आना — यह स्थानवाचक प्रत्यय है। इसकी व्युत्पत्ति सं० स्थान + क (> थानअ > आना) से हुई है।

(19) आनी—सं में 'आनुक्' एवं 'ङीष' दो प्रत्ययों का संयुक्त रूप आनी था।

(20) आप्, आपा—'आप' का सम्बन्ध सं० 'त्व' से तथा 'आपा' एवं 'पा' का सम्बन्ध सं० 'त्व + स्वार्थिक प्रत्यय क' से है : सं०-त्व, -त्वक > प्रा०-प्प, -प्पअ > -प, -पा।

(21) आयत्—इसका सम्बन्ध हार्नले, बीम्स ने सं० वत्, मत् (> पूर्ववर्ती अ के साथ) से माना है। यह मत बहुत सन्तोषजनक नहीं है। वस्तुतः इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध ज्ञात होती है।

(22) आर्—'आर्' या 'र' का सम्बन्ध सं० कार (> आर) से है।

(23) आल्—स्थानवाचक प्रत्यय। सं० आलय > आलअ > आल। श्वसुरालय > ससुरालअ > ससुराल।

(24) आला—स्थानवाचक। सं० आलय > आलअ > आला।

(25) आलू—इससे विशेषण बनाते हैं। 'आलू' का सम्बन्ध सं० आलु + क से है।

(26) आव्—हार्नले इसका सम्बन्ध सं० 'त्व' त्वनं > त्तं, त्तणं या अअं, अअणं > अप० अउ, अअणु से मानते हैं। बीम्स इसे सं० अतु, आतु से सम्बन्धित करते हैं। डॉ० चटर्जी इसका सम्बन्ध प्रेरणार्थक 'आप + उक् + आ' से मानते हैं। डॉ० उदय नारायण तिवारी इसका सम्बन्ध प्रेरणार्थक 'आप + अ + क' से मानते हैं। डॉ० तिवारी का मत ठीक ज्ञात होता है।

(27) आवट्—इसका सम्बन्ध चटर्जी आदि ने प्रेरणार्थक 'आप् + वृत्ति' से माना है : आप + वृत्ति > आवट्ट > आवट। मेरे विचार में यह सं० तव्य + क + त्वं > प्रा० अव्वट्ट > आवट रूप में विकसित हुआ है।

(28) आव्न् 'आव्न्' का विकास प्रेरणार्थक 'आप् + न' से हुआ है।

(29) आस् हार्नले तथा प्लाट् इसका सम्बन्ध 'वांछा' से मानते हैं। डॉ० उदय नारायण तिवारी 'आस् को सं० 'आप + वश' से मानते हैं, किन्तु यह मत संदिग्ध है।

●

अध्याय | 17

नये आयाम : पाठालोचन, ग्लासेमेटिक्स, टेग्मीम, रचनान्तरण व्याकरण

प्रश्न 99—पाठालोचन (Textual Criticism) पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

पाठालोचन

पाठालोचन प्रक्रिया का प्रयोग बहुधा ऐसे ग्रन्थों के लिए किया जाता है जो मुद्रण यंत्र के आविष्कार के पहले लिखे गए थे। अंगरेजी में प्रधानतः चॉसर, स्पेंसर और शेक्सपिअर की ध्यानपूर्वक पाठालोचना हुई है।

अठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में टरहिट ने अँगरेजी साहित्य-प्रेमियों को

चॉसर का आलोचनात्मक संस्करण किया। भारतीय भाषाओं में सम्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अध्ययन कुछ देर से आरम्भ हुआ। संस्कृत के कई ग्रन्थों के प्रामाणिक पाठ स्थिर हुए—हर्टेल तथा एजर्टन ने 'पञ्चतन्त्र', पिशेल ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', स्टेन कोनो ने राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी', मैक्समुलर ने 'ऋग्वेद', लड्विग ने 'हरिवंश' के प्रमाणिक संस्करण प्रस्तुत किए। पाश्चात्य विद्वानों से प्रेरणा पाकर कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इस दिशा में चिरस्मरणीय कार्य किया। 'महाभारत' के आदिपर्व का संपादन डॉ० सुकथनकर के हाथों पूरा हुआ। हिन्दी में 20वीं शताब्दी के आरम्भ में बिहारी, सतसई, पद्मावत, रामचरितमानस, सूरसागर, कवित-रत्नाकर आदि का सम्पादन हुआ। किन्तु ये सभी कार्य वैज्ञानिक दृष्टि से पूरे खरे नहीं उतरते।

हिन्दी में वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वप्रथम इस प्रकार का कार्य आरम्भ करने का श्रेय डॉ० माता प्रसाद गुप्त को है। उन्होंने 'रामचरितमानस का पाठ' नामक दो पुस्तकें नामक ग्रन्थ दो भागों में 1949 में प्रकाशित करवाया। 1921 में 'जायसी ग्रन्थावली' का प्रकाश हुआ।

पाठालोचक के वहुत से काम हैं—पाठालोचक किसी कृति का रचनाकाल स्थिर करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य का उपयोग करता है। अन्तःसाक्ष्य में समकालीन घटनाओं का संकेत रहता है और उस तिथि को नियत करता है जिसके पीछे ही कृति की रचना हुई होगी। बहिः साक्ष्य में उन पुस्तकों की ओर संकेत होता है जिनमें कृति का उल्लेख होता है और जिनका रचनाकाल हम जानते हैं। यह साक्ष्य ऐसी तिथि स्थिर करता है जिससे पहले कृति किसी-न-किसी रूप में अवश्य वर्त्तमान थी।

ग्रन्थ का काल-निर्णय बहिरंग परीक्षा से किया जाता है। इस उद्देश्य से यह देखा जाता है कि ग्रन्थ की भाषा की ऐतिहासिक दशा कैसी है। उसमें किन-किन मतों, घटनाओं और व्यक्तियों का उल्लेख है। उसमें व्यक्त विचार बाहर से लिए गए हैं या स्वतंत्र में, यदि बाहर से लिए गए हैं तो कहाँ से? उसमें लेखन शैली प्रौढ़ है या अप्रौढ़।

अन्य कक्षाओं में बँट जाती है। हर एक कक्षा की संतुलित प्रति हस्तलिखित असली प्रति की नकल मानी जाती है। इन संतुलित प्रतियों का फिर वर्गीकरण होता है और ऐसे वर्गीकरण द्वारा मूल प्रति से उत्पन्न कल्पित वंशों का अनुमान लगाते हुए संपादक कृति की प्रति के पाठ तक पहुँचने का प्रयास करता है।

मौलिक पाठ निर्णय में 'कठिनतर पाठ' का सिद्धान्त बड़ा सहायक होता है। नकल करने वाला सादृश्य के आधार पर कठिन शब्द को आसान शब्द में बदल देता है। ऐसे मौके पर संपादक को बिना खटके कठिनतर पाठ ग्रहण करना साधारणतः उपयुक्त माना गया है।

पुनर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त पाठ को भी मूल पाठ नहीं माना जाता। संपादक को यह देखना होता है कि पाठ कहाँ सत्य है और कहाँ असत्य? जहाँ असत्य है, वहाँ उसे वह ठीक करे। यही संशोधित क्रिया है।

कभी-कभी ध्वनि-सादृश्य से संपादक को संकेत मिल जाता है।

कभी-कभी कवि की पद-योजना संपादक की पाठ-शुद्धि में सहायक होती है।
कभी-कभी प्रसंग से पाठ-शुद्धि की सूचना मिलती है।

पाठालोचक को किसी विशेषकाल की प्रचलित लिपि-शैली परखने में बड़ी होशियारी होनी चाहिए।

पाठालोचक किसी कृति के आधारों का पता लगाता है। पाठालोचक यह भी निश्चित करता है कि कृति का लेखक कौन है, और यदि उसके निर्माता बहुत से लेखक हैं तो यह निश्चित करता है कि प्रत्येक लेखक का उस संयुक्त निर्माण में क्या भाग है?

रचना को क्षेपकों से अलग करना भी पाठालोचक का ही काम है।

पाठालोचक का मुख्य काम पाठ का ऐसा संशोधन करना है कि फिर से मूल पाठ स्थापित हो जाए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आलोचक हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य का सहारा लेता है। इस साक्ष्य को आलोचक पाठक के सामने इस तरह उपस्थित करता है कि वह उन प्रभावों को जिन पर पाठ आधारित है भली-भाँति समझ जाए और संपादक की निर्णयात्मक पटुता का उसे पूरा भरोसा हो जाए।

पहले संपादक जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ पा सकता है, इकट्ठा करता है। उनकी तिथियों का अन्वेषण करता है। प्रतियों के पाठ की कड़ी जाँच करता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म मिटे शब्दों, शून्य स्थानों, खरोंचों या दुबारा लिखे हुए अक्षरों को ध्यान से देखता है। इस प्रकार पाठान्तरों की परीक्षा करता हुआ प्रतियों का सन्तुलन करता है। हस्तलिखित प्रतियाँ सन्तुलन के पश्चात कुछ एक कक्षा में, कुछ दूसरी कक्षा में, कुछ तीसरी कक्षा में और अन्य प्रतियाँ संपादक को ऐसे विचारों से पद-भ्रष्ट न होना चाहिए कि अमुक पाठ सुगम होगा अथवा श्रवणप्रिय होगा अथवा भाव में सुन्दर होगा। जहाँ पर पाठ अशुद्ध है वहाँ पर संपादक कार्य सुधार नहीं वास्तविक पाठ का प्रत्यान्वयन है।

पाठ नकल करने वालों और संपादकों द्वारा विकृत और भ्रष्ट होता है, जो अज्ञानवश नहीं परन्तु दुरुपयुक्त ज्ञानवश भी होता है।

पाठ-विज्ञान-संबंधी अनुसंधान की सहायता से पाठालोचक ने निस्संदेह साहित्य की अमूल्य सेवा की है। यह पाठालोचकों के अश्रान्त परिश्रम का ही फल है कि पुराने पाठ पश्चादागत पाठकों के लिए सुबोध हो गए हैं, विशेषतया ऐसे पाठकों के लिए जिनमें आलोचना की क्षमता न थी।

प्रश्न 100—ग्लासेमेटिक्स (Glossematics) क्या है? कोपेनहागेन स्कूल का इसके विकास में क्या योगदान रहा है?

ग्लासेमेटिक्स : कोपेनहागेन स्कूल

उत्तर—ग्लासेमेटिक्स के अध्ययन का विषय टेक्स्ट है और उसके अध्ययन विश्लेषण का उद्देश्य भाषायिक व्यवस्था की तलाश है। विश्लेषण का पहला चरण अभिव्यक्ति स्तरण को आशय स्तरण से अलग करता है। फिर प्रत्येक स्तरण को लघु-तर इकाइयों में विभाजित करते हैं।

किसी स्तरण पर किन्हीं भाषायिक इकाइयों के मध्य सम्बन्ध को येम्सलेव ने सबसे पहले सुचारू रूप से व्याख्यापित किया। व्यवस्था में श्रेणियों के तत्वों के मध्य

सम्बन्ध श्रेणियों एवम् तत्वों के मध्य संबंध अथवा व्यवस्था में श्रेणियों के मध्य संबंध को निर्धारित किया। इसी तरह टेक्ट में अक्षरों में स्वनिमो के मध्य सम्बन्ध, शब्दों मे रुपिमों के मध्य संबन्ध अथवा वाक्यों में शब्दों के मध्य संबंध की व्याख्या की।

1935 में ग्लासेमेटिक्स के आरम्भ के पूर्व येम्स्लेव ने अपनी पहली पुस्तक 'Principles de gramrairc generale' 1928 ई० में प्रकाशित की थी। 1931 में कोपेन हागेन ने कार्य कर रहे भाषा वैज्ञानिकों ने आपसी सलाह मशविरा के आधार पर स्वप्न प्रक्रिया विज्ञान और व्याकरण के अध्ययन के लिए दो समितियाँ बनायी। स्वाप्न प्रक्रिया विज्ञान के लिए जो समिति बनी उसमें येम्सलेव उल्डाव तथा लायर ने मिलकर स्वप्न प्रक्रिया विज्ञान के क्षेत्र में नवीन पद्धतियों को रखा, जिसे 1935 में लन्दन में स्वप्न विज्ञान के दूसरे अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में पेश किया गया। बाद में येम्स्लेव और उल्डाव ने व्याकरण के अध्ययन के लिए नवीन पद्धतियों को ग्लाइमेटिक्स के रूप में प्रस्तुत किया जिसके सिद्धान्त पहले से संरचनात्मक भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों से अलग थे। यह नई पद्धति येम्स्लेव एवम् उल्डाव द्वारा आरहूस में 18 दिसम्बर 1935 में प्रस्तुत की गई।

येम्स्लेव एवम् उल्डाव ने 'Synopsis of an ot line of Glosmatic's प्रकाशित की। येम्स्लेव ने दो अन्य पुस्तकों को प्रकाशित कराया। पहली कृत्ति ग्लासे-मेटिक्स के पद्धति संबंधी सिद्धान्तों को लेकर 1943 में डेनिश भाषा में प्रकाशित हुई। 1953 में यही पुस्तक अंग्रेजी में 'प्रोलेगोमेना हुअकियरी आव लैंग्वेज' नाम से प्रकाशित हुई। यह पुस्तक उनके सिद्धान्तों के मूल कथ्य को संजोये हुए है। यद्यपि येम्स्लेव ने बाद में कुछ पारिभाषिक शब्दों और सिद्धान्तों में हेर फेर भी किया। दूसरी पुस्तक 1963 में Sproget नाम से प्रकाशित हुई, जिसमें ग्लासेमेटिक्स की शब्दा-वली में सामान्य और तुलनात्मक भाषा विज्ञान की मुख्य समस्या पर विचार है।

ग्लासेमेटिक्स ने दो द्वंध विभाजनों को जोड़ने का काम किया। फार्म बनाम सबस्टैंस तथा एक्प्रेशन (सिगानिफिएट) बनाम काटेन्ट (सिगनिफाई)। इस तरह उसमें चार स्तर (स्ट्रेता) प्राप्त हुए। कांटेंट फार्म तथा एक्प्रेशन फार्म कांटेंट सब्सटेंट तथा एक्प्रेशन सब्सटेंस।

येम्स्लेव ने कहा कि वैज्ञानिक विश्लेषण का उद्देश्य संबंध हुआ करते हैं। जिसे उन्होंने डिसेंडेसेज था फन्कशन्स कहा। कोई वस्तु स्वयं में कुछ नहीं वरन् यह Dependences का कटाव (Intersections) है। प्रकायों का टर्मिनल (Terminal)) अर्थात Functives (फंकतिव्ज्) है। उन्होंने कार्य के तीन भेद बताए—अन्योन्याश्रम (Interdependence) जैसेक द्वारा ख क पूर्वानुमान या 'रू' द्वारा 'रू' पूर्वानुमान, निश्चयन (Determination) जैसेक द्वारा'ख' का पूर्वानुमान लेकिन 'ख' द्वारा 'क' का पूर्वानुमान नहीं होता तथा राशि (Consfetation) जिसमें न तो 'क' द्वारा 'ख' पूर्वा-नुमान होता है न 'ख' द्वारा 'क' का।

प्रकार्य दोनों-तथा (Both-And) प्रकार्य हो सकता है या संयोजक या संवंध जब प्रकार्यों के मध्य सहअस्तित्व हो) (या अथवा-या) Either का प्रकार्य, या वियो-जन या सह संबंध < जब प्रकार्यों के मध्य एकान्तरण हो सकता है। यहाँ प्रक्रिया स्वयं व्यवस्था का अन्तर हो सकता है। प्रक्रिया और व्यवस्था क्रमशः भाषा विज्ञान में क्रमशः टेस्ट और भाषा है। प्रक्रिया और व्यवस्था प्रकार्य के तीनों भेदों के भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं।

अंत में कहा जा सकता है कि ग्लाइमेटिक्स ने फार्मल का कार्णिक का जो उपयोग किया वह बहुत संतोषजनक ढंग से नहीं हो पाया। पर यह सही है कि सासू द्वारा दिए गए कुछ द्वैध विभाजनों की कार्य क्षमता में ग्लाइमेटिक्स ने बढ़ोत्तरी की और इसकी वजह से उनमें अधिक परिष्करण आया।

येम्स्लेव के अध्ययन के अतिरिक्त कोई भी उल्लेखनीय कार्य ग्लासेमेटिक्स की प्राथमिक उपयोगिता को सावित करने के लिए नहीं हुआ। अतः इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर खत्म कर बात चीन नहीं हो सकी।

प्रश्न 101—टेग्मीम विज्ञान (Tagmemics) की मान्यता एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

टेग्मीम विज्ञान

उत्तर—टेग्मीम विज्ञान की मान्यता यह है कि भाषा का अध्ययन मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार के एक अंग के रूप में ही समुचित ढंग से हो सकता है। इस सिद्धान्त के प्रणेता कैनेल की पाइक बहुधा कहा करते हैं कि भाषा अन्य मानव व्यवहारों से काट कर विश्लेषित नहीं हो सकती। इस तरह सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि भाषा को समस्त मानव व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए।

इस सिद्धान्त में तीन उत्तराधर क्रमों (हायरार्की) को बताया गया है—व्याकरणिक, स्वप्न प्रक्रियात्मक एवम् शब्द कोशीय। इन तीनों उत्तराधर क्रमों की अपनी मूलभूत इकाइयाँ हैं। व्याकरणिक की टेग्मीम स्वप्न प्रक्रियात्मक की स्वनिम और शब्द कोशीय की रूपिम। व्याकरण की मूलभूत इकाई टेग्मीम पर ही इसका नामकरण हुआ। यह इकाई दूसरी ईकाइयों के समानान्तर है। टेग्मीम को स्लाट जो एक व्याकरणिक प्रकार्य है और श्रेणी (Class) जो उस स्लाट की पूर्ति करने वाले प्रकरण हैं, के सह संबंध के रूप में बताया गया। जैसे 'लड़का गया' में एक प्रकार्यात्मक स्लाट है जो जाने की क्रिया सम्बन्ध करने वाला कर्त्ता है और दूसरी पूर्ति करने वाली श्रेणी है, जो संज्ञा के रूप में है। तथा एक प्रकार्यात्मक स्लाट क्रिया विधेयक (Action Predicator) का है, जिसकी पूर्ति करने वाली श्रेणी अकर्मक क्रिया के रूप में है।

टेग्मीम के सम्बन्ध में एक बात खास कही जा सकती है कि यह सिद्धान्त आधुनिक भाषा विज्ञान के दूसरे सिद्धान्तों की उपयोगी और संबंधित बातों को खुले दिल-दिमाग से ग्रहण करती है। हालिडे के स्केल और कैटेगरी व्याकरण से तो इसकी काफी निकटता है।

1949 में जहाँ टेग्मीम विज्ञान का वास्तविक प्रारम्भ माना जा सकता है—एक प्रश्न उभर कर आया कि क्या स्वनिम (जिसे बाद में लोगों के स्वन भी कहा) और रूपिम जो कि स्वप्न प्रक्रिया विज्ञान और शब्दकोश (केक्सिकन) की क्रमशः इकाइयाँ हैं के समानान्तर व्याकरण की भी कोई इकाई हो सकती है? टेग्मीम विज्ञान ने इसे स्वीकारात्मक उत्तर में टेग्मीम इकाई को प्रस्तुत किया है।

1950 के पश्चात अमरीकी संरचनात्मक भाषा विज्ञान की धारा में एक परिवर्तन यह आया कि अमरीकी भाषा वैज्ञानिकों का ध्यान प्रागीय संरचनात्मकता

की ओर झुक गया। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि गुण स्कूल के रूसी भाषा वैज्ञानिक रोमन याकोब्सन दूसरे विश्व युद्ध के दौरान अमरीका के हर्वर्ड विश्व विद्यालय में आ गए और हार्वर्ड अमरीका के प्राग स्कूल का केन्द्र बन गया। अमरीकी वितरण पद्धति एवं प्राग के व्यवच्छेदक कक्षण में एक तरह की प्रतिद्वन्दिता आ गई। अमरीकी भाषा वैज्ञानिक वितरण पद्धति पर जोर देते रहे और प्रागीय व्यवच्छेदक कक्षणों पर। हालांकि हार्वर्ड के प्राग स्कूल के भाषा वैज्ञानिक व्यवच्छेदक लक्षणों के साथ वितरण पद्धति के विश्लेषण के यथा योग्य स्थिति को भी अपनाए हुए थे। परन्तु वाद में स्वप्न प्रक्रिया विज्ञान के क्षेत्र में तो लगभग सभी ने यह स्वीकार कर लिया व्यवच्छेदक लक्षण वितरण पद्धति से अधिक वैज्ञानिक है। हाँ रूप प्रक्रिया विज्ञान के अध्ययन में वितरण पद्धति अधिक सफल रही।

प्रश्न 102—नोअम चॉम्स्की को आधुनिक पाणिनि कहा जाता है? रचनान्तरण व्याकरण के क्षेत्र में उसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

रचनान्तरण व्याकरण

उत्तर—चॉम्स्की को प्रकाश में आने के पहले ब्लूम फील्डीय भाषा विज्ञान के केन्द्र चेल विश्व विद्यालय तथा प्राग स्कूल का अमरीकी केन्द्र हार्वर्ड (जिसके प्रमुख रोमन याकोब्सन थे) में आपस में काफी प्रतिद्वंदिता थी। यह प्रतिद्वंदिता विश्लेषण की पद्धति की केकर थी। चेल समुदाय का विश्वास था कि भाषा में विश्लेषण के लिए एक मात्र उपयुक्त साधन वितरण पद्धति है। जब कि हार्वर्ड के लोग व्यवच्छेदक लक्षण पद्धति की सर्वोपयुक्त वताते थे। हालां कि ये लोग वितरण पद्धति का यथा वसर प्रयोग के विरुद्ध नहीं थे। तभी चाम्स्की का प्रादुर्भाव हुआ और उनके प्रादुभाव के संख्या इन दोनों पद्धतियों में मतभेद भी खत्म हुआ। चॉम्स्की ख्याति प्राप्त ब्लूमफील्डीय भाषा वैज्ञानिक जेलिंग हैरिस के विद्यार्थी थे और हार्वर्ड समुदाय के कार्य के प्रति भी आश्वस्त थे। साथ ही पारस्परिक भाषा विज्ञान का भाषा विज्ञान का समुचित उपयोग करने के पक्ष में थे। यही नहीं वल्कि चॉम्स्की विलर्ड क्विन के तर्कशास्त्र सम्बन्धी विचारों से भी काफी प्रभावित थे। इस तरह से चॉम्स्की ने अनेक स्रोतों से विचारों को ग्रहण करके रचनान्तरण व्याकरण की नींव रखी। यह नींव उनकी पुस्तक सिंटेक्टिक स्ट्रक्चर्ज) के रूप में है, जिसका प्रकाशन 1957 में हुआ। यह पुस्तक न केवल अमरीकी बल्कि सम्पूर्ण भाषा विज्ञान के इतिहास में एक नये नई युग की शुरूआत करती है। चॉम्स्की ने कहा कि भाषा के इस्तेमाल में यह जरूरी नहीं है कि आप केवल उन्हीं उच्चारों का उपयोग कर सकते जिन्हें पहले कभी सुना हो या जिसकी सूची आपके मस्तिष्क में हो। भाषा का उपयोग करने वाला अनसुने और अन कहे उच्चारों का उत्पन्न कर सकता है। भाषा पर अधिकार चॉम्स्की ने उत्पादक क्षमता के रूप में माना है।

विवरणात्मक व्याकरण मुख्यतया वर्गीकरण व्यवस्था के रूप में है, जबकि रचनान्तरण व्याकरण का उद्देश्य ऐसे नियमों की व्यवस्था को बताना है, जो रूपिमों के मान्य अनुक्रमों (Seguences) की उत्पन्न करते हैं।

प्रत्येक भाषा-भाषी के मस्तिष्क में उसकी भाषा का व्याकरण होता है। चॉम्स्की ने व्याकरण के ऐसे साधन (Device) के रूप में माना है, जो भाषा के सभी

व्याकरणिक अनुक्रमों को उत्पन्न करता है। उन्होंने व्याकरण को स्वायत्त और अर्थ से स्वतंत्र कहा है, और इसके निम्नलिखित तीन गुण बताए हैं—(1) इसे परिमित (finite) होना चाहिए (2) इसे वाक्यों की अपरिमित (Infinite) संख्या का पूर्वानुमय होना चाहिए (3) अर्थ पर आश्रित हुए वगैर शुद्ध औपचारिक शब्दों में इसे वर्णनीय होना चाहिए।

वाक्य-विज्ञान को परिभाषित करते हुए चॉमस्की ने उसे उन सिद्धान्तों और प्राक्रियाओं का अध्ययन माना है, जिसके द्वारा भाषा में वाक्यों का निर्माण होता है। भिषा को उन्होंने वाक्यों के सेट (परिमित या अपरिमित) के रूप में बताते हुए कहा कि प्रत्येक सैट अपने दैर्घ्य में परिमित होता है, और तत्त्वों के अपरिमित सेट से निमत होता है। चॉम्स्की ने भाषा इस्तेमाल के सृजनात्मक पक्ष पर जोर दिया। उनका कहना है कि भाषा इस्तेमाल में दोहराव नहीं मिलता। जो वाक्य उच्चरित होता है उसे वोकर्न वालें ने ठीक उसी तरह से पहले कभी उच्चरित नहीं किया होगा। भाषा के प्रत्येक वाक्य में मूलभूत तत्त्वों की परिमित संख्या होती है। परन्तु भाषा में वाक्यों की संख्या अपरिमित होती है। इसी तरह उन्होंने भाषा—भाषा की सामर्थ्य (Compitence) और निष्पादन (Perfornamce) की बात कही है। सामर्थ्य भाषा-भाषी का अपनी भाषा का ज्ञान है और निष्पादन ठोस स्थितियों में उसकी भाषा का स्वतंत्र उपयोग है।

रचनांतरण व्याकरण का मूलरूप त्रिपक्षीय था। इसमें पहला फ्रेज संरचना नियमों के अनुक्रम का है। जो आधार पर लागू होते हैं। दूसरा रचनान्तरण नियमों के अनुक्रम का है जो अनिवार्यतम वैकल्पिक योग, विलोप और पुर्नविन्यास के द्वारा भाषा में सभी वाक्यों अंतिम व्याकरणिक प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करते हैं, और तीसरा रूप स्वविभात्मक नियमों के अनुक्रम का है, जो वाक्यों को स्वनिमों के उचित अनुक्रमों में पुर्नलेखन करते हैं।

(डीवीन 1967)

'सिंटैक्टिक स्ट्रक्चर्ज' के प्रकाशन के बाद धीरे-धीरे रचनांतरण व्याकरण में काफी परिवर्त्तन और विस्तार आता गया। नो आन चॉम्स्की 1965 में दूसरी-पुस्तक निकली, 'Aspects of the theory of Synatox' Combridge Mas. (1965) जिनमें इन परिवर्त्तनों को देखा जा सकता है। अपने नये रूप में व्याकरण के तीन घटक बताए गए। पहला वाक्यात्मक घटक जो सृजनात्मक घटक है और किसी वाक्य में स्वप्न प्रक्रियात्मक अर्थात्मक व्याख्या से सम्बन्धित सृजनाओं को समाहित करता है, इसके अन्तर्गत मूल आता है, जो मूलभूत शृंखला के सेट को उत्पन्न करता है। ये नियम वाक्यात्मक संरचनाओं के अपरिमित सेट उत्पन्न करते हैं। जिसकी ध्वनि संरचना स्वप्न प्रक्रियात्मक नियमों द्वारा नियोजित होती है और अर्थ का नियोजन अर्थात्मक नियम द्वारा होता है। दूसरा घटक स्वप्न प्रक्रिया का है, जो वाक्यात्मक नियमों द्वारा उत्पन्न वाक्य के ध्वन्यात्मक रूप का निर्धारण करता है। तीसरा अर्थात्मक घटक है। जो वाक्य की अर्थात्मक व्याख्या को निश्चित करता है। इनमें से वाक्यात्मक घटक को मूल (Base) कहा जा सकता है, जो उत्पन्न (Generate) करता है और शेष दो की व्याख्या करने वाले घटक के रूप में देखा जा सकता है। ये व्याख्या करने वाले दोनों घटक मूल से भिन्न रूप से और स्वतंत्र रूप से सम्बन्धित है।

वाक्यात्मक घटक के अन्तर्गत रचनान्तरण उपघटक भी होता है। जो गहन संरचना (Deep Structures) से औपचारिक संकार्य, जिसे रचनान्तरण कहते हैं, के द्वारा वहिस्तकीय रचना (Surface Structures) को उत्पन्न करता है। गहट रचनायें अर्थात्मक घटक की निविष्ट (Inuput) है, जो उन्हें व्याख्यायित करता है, वहिस्तकीय रचनाएँ स्वप्न प्रक्रियात्मक घटक की निविष्ट जो उन्हें स्वनात्मक प्रतिनिधित्त्व सौंपता है। इस तरह वावयात्मक घटक अन्तर्गत मूल है, जो मूलभूत संरचनाओं को उत्पन्न करता है और रचनान्तरण उपघटक है, जो उन्हें वहिस्तकीय संरचनाओं में चित्रित करता है।

इस तरह वाक्य विज्ञान के दो स्तरणों—गहन और वहिस्तकीय की अवधारणा को व्यक्त किया। वाक्य स्वप्न प्रक्रियात्मक व्यूह (मेट्रिक्स तथा अर्थगत लक्षणों को समाहित करता है। उदाहरण के लिए ध्वनि अनुक्रम जाओ कहा जाये तो इसमें ध्वनि संरचना के साथ अर्थसंरचना वक्ता द्वारा श्रोता को जाने का आदेश मिली हुई है।

चॉम्स्की के गहन एवं वहिस्तकीय संरचना की धारणा को हम वोक्त की वाक्य का 'Inner Form' और वाक्य का 'outer Form' तथा आधुनिक ग्रामर में प्रयुक्त Depth Grammar तथा Surface Grammar की धारणाओं के समकक्ष बताया।

संरचनात्मक भाषा विज्ञान ने प्रमुख रूप से अपना ध्यान स्वप्न-प्रक्रिया विज्ञान पर लगाये रखा। वाक्य के अनेकानेक जटिलताओं को सुलझाने में वे आगे नहीं बढ़ पाए। इस दिशा में आगे बढ़ने का श्रेय रचनान्तरण व्याकरण को है। नोअप चॉम्स्की ने वाक्य विज्ञान के अध्ययन में नई जान डाल दी। यही नहीं बल्कि उन्होंने सम्पूर्ण भाषायिक अध्ययन के लिए बहुत विस्तृत कैनवस प्रदान किया।

खण्ड 3 : लिपि

अध्याय | 1

लिपि : उद्भव, विकास तथा विविध रूप

प्रश्न 1—लिपि-विकास की ऐतिहासिक परम्परा का संक्षिप्त विवेचन कीजिए तथा भारतीय लिपियों का विकास भी स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—मानव-भाषा को अंकित करने का साधन ही लिपि है। जब भाषा का कुछ विकास हो गया, तब उसको नेत्र ग्राह्य बनाने, दूरस्थ व्यक्ति को अपनी भावनाओं या विचारों से परिचित या सूचित करने के लिए, भावी पीढ़ी तक ज्ञान राशि की स्मृति सँजोये रखने के लिए विविध प्रकार के जाने-अनजाने प्रयत्न किए जाने लगे। प्रारम्भ में जादू-टोने के लिए खींची गई लकीरें, धार्मिक प्रतीकों के चित्र, पहचान के लिए घड़ों इत्यादि पर बनाए गए चित्र, किसी वस्तु को सजाने के लिए बनाये हुए चित्र आदि ही लिपि की मूल सामग्री कहे जा सकते हैं।

अब तक प्राप्त प्राचीनतम सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 40000 ई० पू० तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित प्रणाली का विकास विश्व के किसी भी क्षेत्र में नहीं हुआ था। इस प्रकार के प्राचीनतम प्रयास 10,000 ई० पू० से भी कुछ पहले किए गए थे। इसके बीच में—10,000 ई० पू० से 4000 ई० पू० तक—लिपि का विकास धीरे-धीरे होता रहा।

लिपि के विकास-क्रम का ऐतिहासिक रूप डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार अधोलिखित है :

(1) चित्र लिपि, (2) सूत्र लिपि, (3) प्रतीकात्मक लिपि, (4) भावमूलक लिपि, (5) भाव ध्वनिमूलक लिपि, (6) ध्वनिमूलक लिपि।

अब हम इसी क्रम में इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) चित्र लिपि—आदियुगीन मानव के व्यवहार में जो वस्तुएँ आती थीं, उन पर वे प्राय: अनेक प्रकार के जीव जन्तुओं, प्रतीकों आदि के अव्यवस्थित चित्र खींचा करते थे। ऐसे प्राचीन चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उज़्बेकिस्तान, सीरिया, मिश्र, ग्रेट-ब्रिटेन, केलिफोर्निया आदि अनेक देशों में प्राप्त हुए हैं। ये चित्र पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथी दाँत, वृक्षों की छाल, जानवरों की खाल एवं मिट्टी के बर्तनों पर निर्मित हैं।

चित्रलिपि के अन्तर्गत किसी विशेष वस्तु के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था। अनुमान है कि यह लिपि पर्याप्त व्यापक रही होगी, क्योंकि इसे लोग सर्वत्र समझ लेते थे।

किन्तु इस लिपि में कठिनाइयों और अभावों की ओर विद्वानों ने संकेत किया है। वे निम्नलिखित हैं —

(1) इस लिपि में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को प्रकट करने के हेतु कोई साधन नहीं था—साधारण मनुष्य का चित्र तो खींचा जा सकता था, किन्तु किसी विशिष्ट व्यक्ति को संकेतित करना सर्वथा असम्भव था।

(2) इसमें स्थूल वस्तुओं का चित्रण तो हो सकता था, परन्तु सूक्ष्म भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति असम्भव थी।

(3) अत्यन्त शीघ्रता में इस लिपि का कोई उपयोग सम्भव नहीं था, क्योंकि आवश्यकतानुसार चित्रण करने में पर्याप्त समय की आवश्यकता होती थी।

(4) मानव-समाज के समस्त व्यक्ति चित्रांकन नहीं कर सकते थे, सभी के लिए चित्र बनाना सम्भव नहीं था और न यह कभी सम्भव हो ही सकता था।

(5) समय अथवा काल की अभिव्यक्ति भी इसके द्वारा सम्भव नहीं थी।

क्रमशः चित्र लिपि प्रतीकात्मक होने लगी। शीघ्रता की स्थिति में किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का चित्रण पूर्ण में न करके उसके स्थान पर प्रतीक मात्र से ही काम चला लिया जाने लगा। ऐसी स्थिति में प्रतीकों की स्मरण रखने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

(2) सूत्र लिपि—सूत्रों (रस्सियों) में गाँठ लगाकर भावों-विचारों की अभिव्यक्ति की कला 'सूत्र-लिपि' की संज्ञा से अभिहित की जाती है। आजकल भी 'वर्ष गाँठ' के अवसर पर इसके उपयोग को देखा जा सकता है। सूत्र लिपि के प्रयोग की स्थितियाँ अधोलिखित थीं—

(i) रस्सी में रंग बिरंगे सूत्र बाँधकर,

(ii) रस्सी को रंग बिरंगे से रंगकर'

(iii) रस्सी अथवा जानवरों की खाल आदि में विभिन्न रंगों के मोती घोंघे, मूँगे या मनके आदि बाँधकर।

(iv) रस्सियों की विभिन्न लम्बाइयाँ बनाकर,

(v) रस्सियों की विभिन्न मोटाइयाँ बनाकर।

(vi) रस्सियों में भाँति-भाँति की विभिन्न दूरियों पर गाँठें लगाकर।

(vii) डण्डों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न मोटाइयाँ या रंगों की रस्सी बाँधकर।

पीरू देश की 'क्वीपू' लिपि इस लिपि का अच्छा उदाहरण है। इसमें विभिन्न लम्बाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत लटकाकर भाव-विचारों की अभिव्यक्ति की जाती थी। कहीं-कहीं गाँठें भी लगाई जाती थीं। चीन तथा तिब्बत में भी प्राचीन युग में सूत्रलिपि का प्रयोग किया जाता था। 'संथालों' तथा जापान के कतिपय द्वीपों में आज भी इसका व्यवहार किया जाता है।

(3) प्रतीकात्मक लिपि—वस्तुतः भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक प्रणाली थी। इसे शुद्ध रूप में लिपि तो नहीं कह सकते, किन्तु दूरस्थ व्यक्ति या व्यक्तियों के लिए यह भावाभिव्यक्ति का एक साधन अवश्य थी। बताया जाता है कि तिब्बती-चीनी सीमा

पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्च, लाल कागज में लपेट कर भेजने का अर्थ होता था कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। झंडियों द्वारा बात-चीत (स्काउटिंग में), गुड़, हल्दी आदि भेज कर विवाह की बात पक्की करना या निमंत्रण देना इसी प्रतीक-प्रणाली के अंग हैं। कहना न होगा कि इस पद्धति का प्रयोग अतीव सीमित था। इस प्रकार के प्रतीक सभी लोग समझ नहीं सकते थे।

(4) **भावमूलक लिपि**—वास्तव में चित्रलिपि से ही विकसित हुई थी। इसमें स्थूल चित्रण न होकर भावाभिव्यक्ति के निमित्त सूक्ष्म संकेतों का प्रयोग किया जाता था। चित्र लिपि के एक पैर से मात्र एक पैर की ही अभिव्यक्ति होती थी, किन्तु भावमूलक लिपि में इसके चलने का भाव भी प्रकट होता था। आँखों के साथ ही आँसू चित्रित करने का भाव था—दुःखी होना। इस लिपि के प्रमाण उत्तरी अमेरिका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि देशों में प्राप्त हुए हैं।

(5) **भाव ध्वनिमूलक लिपि**—इस लिपि को भी चित्र लिपि का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। इस लिपि में भावमूलक और ध्वनि मूलक दोनों ही प्रकार के संकेत होते थे। चित्रात्मकता तो इसमें रही ही। मेसोपोटैमियन, मिश्री तथा हित्ती आदि लिपियाँ इसी लिपि के अन्तर्गत आती हैं।

(6) **ध्वनिमूलक लिपि**—इस लिपि में संकेतों से किसी वस्तु या भाव की अभिव्यक्ति न करके उसकी ध्वनि को प्रकट करने का विधान है। इस लिपि के दो प्रकार पाए जाते हैं—

(अ) **अक्षरात्मक लिपि**—में संकेत किसी अक्षर को व्यक्त करता है, वर्ण को नहीं। नागरी लिपि को अक्षरात्मक लिपि का उदाहरण कह सकते हैं। इसके व्यंजनों में दो ध्वनियाँ होती हैं, जैसे 'क' वर्ण में 'क्+अ'। यही कारण है कि व्यवहार में उचित होते हुए भी इस लिपि के वैज्ञानिक विश्लेषण में कठिनाई होती है।

(ब) **वर्णात्मक लिपि**—इस लिपि में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक संकेत होता है। इसका वैज्ञानिक विश्लेषण सरलता से किया जा सकता है। रोमन लिपि को इसका उदाहरण कह सकते हैं।

लिपि-विकास के इसी क्रम में भारतीय लिपियों का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। अतः हम भारतीय लिपियों पर अब प्रकाश डालेंगे।

प्राचीन '**भारतीय लिपियों**' के अन्तर्गत तीन लिपियों का व्यवहार बताया जाता है—

(1) सिन्धु घाटी की लिपि, (2) ब्राह्मी लिपि, और (3) खरोष्ठी लिपि।

(1) **सिन्धु घाटी की लिपि**—इस लिपि का तो अभी अध्ययन किया जा रहा है, अभी इसके विषय में पर्याप्त तथ्य प्रकाश में नहीं आए हैं।

इसकी उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत दिए गए हैं—

(अ) कुछ विद्वान् इसे द्रविड़ लिपि मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता द्रविड़-सभ्यता थी। इसके समर्थक हैं—एच० हेरास तथा जॉन मार्शल।

(ब) कुछ विद्वान् इसको सुमेरी लिपि से प्रसूत मानते हैं, क्योंकि उनके मता-

नुसार 4000 ई० पू० में सिन्धु-घाटी में सुमेरी लोग थे और उनकी भाषा तथा लिपि ही वहाँ व्यवहृत थी। इसके समर्थक हैं—एल० ए० वैडेल तथा डॉ० प्राणनाथ।

(स) कतिपय विद्वानों का यह कहना है कि आर्य अथवा असुर (जो आर्यों से सम्बन्धित थे) लोग ही सिन्धु-घाटी के निवासी थे और इस लिपि का आविष्कार उन्होंने ही किया था।

सिन्धु घाटी लिपि को भाव-ध्वनिमूलक लिपि बताया जाता है। अभी इसके संकेतों की समुचित गणना नहीं की जा सकी है—इस पर काफ़ी मतभेद है।

(2) **खरोष्ठी लिपि**—इस लिपि में चौथी शताब्दी ई० पू० से लेकर तीसरी शताब्दी ई० तक के प्राचीनतम लेख प्राप्त हुए हैं। इस लिपि का खरोष्ठी नाम क्यों पड़ा ?—यह काफ़ी मतभेद का प्रश्न है।

यहाँ इसके नामकरण के विषय में विविध मत संक्षेप में प्रस्तुत हैं—

(अ) चीनी विश्वकोश 'फ़ा-वान-शु-लिन' में यह बताया गया है कि इसका निर्माता कोई 'खरोष्ठी' नामधारी व्यक्ति रहा होगा।

(ब) पश्चिमोत्तर प्रदेश (भारत) के अर्द्ध सभ्य खरोष्ठ जाति के लोगों की यह लिपि थी, अतः खरोष्ठी कहलाई।

(स) मध्य एशिया के काशगर-क्षेत्र मे यह लिपि व्यवहृत होती थी और काशगर को संस्कृत में 'खरोष्ठ' कहते हैं, अतः यह लिपि 'खरोष्ठी' कही जाने लगी।

(द) कुछ लोग कहते हैं कि यह गदहे की खाल पर लिखी जाती थी जिसे ईरानी में 'खरपोस्त' कहते थे। इसी 'खरपोस्त' का परिवर्तित रूप 'खरोष्ठ' है और खरोष्ठी नाम का यही मूल है।

(य) डॉ० प्रज़िलुस्की का यह मत है कि गदहे की खाल पर लिखी जाने के कारण यह खरपृष्ठी कही गई, जो बाद में 'खरोष्ठी' हो गई।

(र) आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' संस्कृत में 'खरोष्ठ' रूप में ग्रहण करके इस लिपि को खरोष्ठी कहा गया।

(ल) डॉ० राजबली पाण्डेय का मत है कि गदहे के ओंठ (खर+ओष्ठ) की तरह बेढंगी, भोंडी होने के कारण इसे 'खरोष्ठी' संज्ञा दी गई।

(व) डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के मतानुसार हिब्रू भाषा में 'खरोशेथ' एक शब्द है, जिसका अर्थ है—'लिखावट'। उसी से गृहीत होने के कारण इस लिपि को 'खरोशेथ' कहा गया, जो संस्कृत में 'खरोष्ठ' हो गया।

खरोष्ठी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतभेद है—

(क) डॉ० बूलर के मतानुसार यह आर्मेइक लिपि से प्रसूत है।

(ख) डॉ० राजबली पाण्डेय इसकी उत्पत्ति भारत में ही मानते हैं।

खरोष्ठी लिपि पर्याप्त अंशों में अक्षरात्मक है।

(3) **ब्राह्मी लिपि**—प्राचीनतम लिपियों में सर्वप्रमुख रही। यह अन्य लिपियों की तुलना में अधिक वैज्ञानिक थी। इसमें प्राचीनतम लेख 5वीं शताब्दी ई० पू० से लेकर 350 ई० तक के मिले हैं।

इसके नामकरण के विषय में निम्नांकित मत प्रस्तुत किए जाते हैं—

(अ) पुराने चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शु-लिन' में ब्रह्म या ब्रह्मा नाम के आचार्य को इसका निर्माता बताकर उन्हीं के नाम पर इसे 'ब्राह्मी' कहा गया है।

(ब) डॉ० राजवली पाण्डेय के मतानुसार ब्रह्मा (वेद=ज्ञान) की रक्षा के लिए भारतीय आचार्यों ने इसका निर्माण किया, अस्तु यह 'ब्राह्मी' कही गई।

(स) ब्राह्मण समाज में प्रयुक्त होने के कारण ही इसे 'ब्राह्मी' नाम दिया गया।

इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में तो बीसों भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने तर्क देकर अपने-अपने मत प्रकट किए हैं—

(1) डॉ० अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिंसेप तथा सेनार्ट प्रभृति विद्वान् ब्राह्मी लिपि को 'यूनानी लिपि' से प्रसूत मानते हैं। यह मत अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है।

(2) फ्रांसीसी विद्वान् कुपेरी के अनुसार ब्राह्मी लिपि का उद्भव 'चीनी लिपि' से हुआ है। यह मत बिल्कुल अवैज्ञानिक है क्योंकि इन दोनों में तनिक भी साम्य दृष्टिगत नहीं होता।

(3) अनेक विद्वान् इसे सामी लिपि से उत्पन्न मानते हैं—

(i) वेबर, कस्ट वेनफे, जेनसन एवं बूलर आदि विद्वानों का मत है कि ब्राह्मी लिपि 'फ़ोनेशीय लिपि' से उद्भूत है। ब्राह्मी लिपि के एक तिहाई वर्ण फ़ोनेशीय से मिलते हैं—यही इस मत का आधार है। किन्तु, डॉ० राजबली पाण्डेय ने ऋग्वेद से प्रमाणित किया है कि फ़ोनेशीय लोग भारत के ही निवासी थे। और उन्होंने बाहर जाने पर ब्राह्मीलिपि के आधार पर फ़ोनेशीय लिपि की रचना की।

(ii) टेलर डीके, सेथ केनन आदि ने यह बताया है कि ब्राह्मी लिपि का विकास 'दक्षिणी सामी लिपि' से हुआ है। यह मत भी पूर्णतः अवैज्ञानिक है, क्योंकि इन दोनों में साम्य का पूर्णतः अभाव है। डॉ० बूलर ने इस मत का अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा खण्डन किया है।

(iii) डॉ० बूलर तथा डॉ० डिरिंजर का कहना है कि ब्राह्मी लिपि 'उत्तरी सामी लिपि' से विकसित हुई है। किन्तु डॉ० राजबली पाण्डेय ने इस मत का भी प्रबल तर्कों के आधार पर खण्डन कर दिया है और अमान्य सिद्ध कर दिया है।

(iv) चौथा मत है—ब्राह्मी लिपि की 'भारतीय उत्पत्ति' का, इसमें भी मतभेद पाया जाता है—

(1) एडवर्ज थॉमस एवं कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ लोग थे और उनसे ही यह लिपि आर्यों ने सीखी। किन्तु ब्राह्मी का कोई भी प्राचीनतम नमूना अभी तक दक्षिण-भारत (जो द्रविड़ों का निवास क्षेत्र था) से नहीं प्राप्त हुआ है और द्रविड़ों की प्राचीनतम तमिल लिपि अपूर्ण लिपि है, उससे ब्राह्मी जैसी पूर्ण लिपि का विकास सम्भव नहीं है। अस्तु, यह मत अमान्य है।

(2) कनिंघम, डाउसन, लेसेन आदि विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मी लिपि का विकास प्राचीन भारतीय चित्र लिपि से हुआ है। किन्तु डॉ० डिरिंजर ने इस मत के विरुद्ध अनेक तर्क दिए हैं, पर इनके तर्क भी ठोस नहीं है, जिससे इनको मान्यता भी प्रमाणित नहीं हो सकी है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने ब्राह्मी की निम्नांकित विशेषताएँ बताते हुए सिद्ध किया है कि यह लिपि सामी आदि सभी विदेशी लिपियों से सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र और मौलिक है।

ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ

(1) इसमें सभी वर्ण जिस प्रकार उच्चरित होते हैं, उसकी प्रकार लिखे जाते हैं।

(2) सभी उच्चारित ध्वनियों के लिए निश्चित चिह्न हैं।

(3) ध्वनियों के उच्चारण स्थान के अनुसार इनके वर्ग सुनियोजित हैं।

(4) स्वरों और व्यंजनों की संख्या पर्याप्त है।

(5) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए भिन्न-भिन्न चिह्न हैं।

(6) स्वरों और व्यंजनों का संयोग मात्राओं द्वारा होता है।

(7) अनुस्वार, अनुनासिक और विसर्ग के लिए भी चिह्न हैं।

लिपि-विशेषज्ञ गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी ब्राह्मी लिपि को भारतीय आर्यों का अपना आविष्कार माना है। स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि किसी विदेशी लिपि कीन तो अनुकृति है और न ही किसी विदेशी लिपि से प्रसूत ही हुई है। वरन् यह भारतीय मनीषियों के स्वतन्त्र चिन्तन-मनन का प्रतिफलन है।

ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि से भारत की द्रविड़ लिपियों को छोड़कर, शेष समस्त लिपियाँ उद्भूत हैं, विकसित हैं। मौर्ययुगीन ब्राह्मी लिपि पूर्णतः विकास कर चुकी थी, मात्र द्वित्व व्यंजन ही इसमें नहीं लिखे जा सकते थे। उस समय यह समग्र भारत में प्रचलित थी और सिंहल तक पहुँच गई थी। आगे चलकर गुप्तों के शासन काल में इसे 'गुप्त ब्राह्मी' में कहा गया। उस समय इसका प्रचार-प्रसार दक्षिण पूर्वी एशिया मध्य एशिया तक हो गया, जहाँ की अनेक आधुनिक लिपियों का विकास इसी लिपि से हुआ है। गुप्त ब्राह्मी की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से एक विशेष लिपि—सिद्ध मात्रिका अथवा न्यूनकोणीय लिपि का विकास हुआ। इसके विकास का समय लगभग 6वीं शताब्दी माना जाता है। 7वीं शताब्दी के निकट उत्तर भारत की गुप्त ब्राह्मी लिपि तीन प्रमुख रूपों में विकसित हुई, जिन्हें (1) शारदा, (2) कुटिल और (3) नागरी अथवा प्राचीन नागरी कहा जाता है। ये तीनों लिपियों ही आधुनिक उत्तर भारतीय लिपियों की जननी है।

शारदा लिपि—इस लिपि के उत्तरी पश्चिमी भारत, कश्मीर, पंजाब और सिन्धु के क्षेत्रों में प्रसार के फलस्वरूप (1) कश्मीर, (2) टाकरी, (3) गुरुमुखी और (4) लण्डा लिपियों का विकास हुआ।

कश्मीरी लिपि कश्मीर प्रदेश में प्रचलित है। टाकरी लिपि टक्क जाति के लोगों की लिपि थी, जिससे डोगरी, चमेआली, सिरमौरी, जौनसारी, कोछी आदि कई लिपियाँ उत्पन्न हुईं।

लण्डा लिपि का प्रचलन सिंध एवं एवं पंजाब के कुछ भागों में है। इसके दो रूप विकसित हो गए हैं—(1) सिन्धी लिपि और (2) मुल्तानी (यह स्थानीय लिपि है)। गुरुमुखी लिपि को इसी का संशोधित रूप माना जाता है।

कुटिल लिपि—इस लिपि का प्रचार-प्रसार पूर्वी उत्तर भारत में रहा। इससे (1) कैथी, (2) मैथिली, (3) बँगला, (4) असमिया, (5) उड़िया, (6) नेपाली एवं (7) मणिपुरी लिपियाँ विकसित हुईं। कैथी लिपि बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में चलती है। इसका व्यवहार भोजपुरी तथा मगही बोलियों के लिखने में किया जाता है। मैथिली का प्रयोग मैथिल उपभाषा के लिखने में होता है। बँगला लिपि का विकास बँगला-प्रदेश में हुआ। इसी से असमिया, उड़िया, मणिपुरी तथा नेवारी आदि लिपियाँ विकसित हुईं, जिनका प्रचार घट रहा है।

नेपाली लिपि—नेपाल राज्य की नेपाली के लिखने में प्रयुक्त की जाती है।

नागरी या प्राचीन नागरी—सम्पूर्ण मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र में प्रचलित थी। यहीं देवनागरी लिपि का प्राचीन रूप मानी जाती है; इसी से गुजराती तथा मुड़िया लिपियों का भी विकास हुआ।

गुजराती लिपि नागरी से बहुत मिलती-जुलती है। इसमें शिरोरेखा नहीं लगाई जाती है और कुछ अक्षर भी भिन्नता लिए हुए हैं। मुड़िया का प्रयोग राजस्थान में व्यापारी वर्ग के लोगों द्वारा किया जाता है। इसे ही 'महाजनी' भी कहते हैं। इसमें स्वरों का अभाव होता है और पढ़नें में दुरूह होती है।

●

अध्याय | 2

देवनागरी लिपि : विकास, वैज्ञानिकता, दोष, सुधार

प्रश्न 2—देवनागरी लिपि एवं अंकों के विकास-क्रम को सविस्तार स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3—नागरी लिपि के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—देवनागरी तथा अन्य समस्त उत्तर भारतीय लिपियों का विकास प्राचीनतम भारतीय लिपि से हुआ है। अस्तु इस विकास-क्रम को समझने के लिए ब्राह्मी लिपि का विकास जान लेना आवश्यक है। भारतवर्ष में प्राचीन-काल में 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ठी'—ये दो लिपियाँ व्यवहार में रहीं। प्राचीन शिलालेखों तथा ताम्रपात्रों

से इनके रूपों का पता चलता है। अशोक के द्वारा खुदवाए गए शहबाजगढ़ी के मनसेहरा के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में प्राप्त हुए हैं। अब तक के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मी की तुलना में खरोष्ठी लिपि बहुत कम व्यवहृत थी। इसमें खुदे हुए शिलालेख बहुत कम ही हैं। वस्तुतः खरोष्ठी उस युग में सीमित क्षेत्र (पश्चिमोत्तर प्रदेश) की लिपि थी और ब्राह्मी सम्पूर्ण भारत की लिपि थी।

प्राचीन नागरी या नागर लिपि

इस लिपि का प्रचार उत्तर भारत में नवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है, किन्तु दक्षिणी भारत में भी कतिपय स्थानों में इसका व्यवहार आठवीं शती से मिलता है। दक्षिणी भारत में इस लिपि को नागरी न कहकर 'नन्दिनागरी' कहा जाता है। आज भी दक्षिणी भारत में संस्कृत की पुस्तकों के लिखने में इस लिपि का व्यवहार किया जाता है।

देवनागरी लिपि का उद्भव

उपर्युक्त प्राचीन नागरी लिपि के ही विकसित होने पर इसके पश्चिमी रूप से आधुनिक नागरी या देवनागरी लिपि का प्रदुर्भाव हुआ। गुजराती, महाजनी, राजस्थानी तथा महाराष्ट्री (मराठी) लिपियाँ भी इसी के द्वारा प्रसूत हुई हैं। इसी के पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बंगला आदि लिपियों का उद्भव हुआ है। इस प्राचीन नागरी का प्रचार-प्रसार 16वीं शताब्दी तक पाया जाता है।

देवनागरी के विषय में डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है—

'प्राचीन काव्य में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र में इसका प्रचार एवं प्रसार था।......मध्यदेश की लिपि होने के कारण देवनागरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लिपि है। इसमें लिखित सबसे प्राचीन लेख सातवीं-आठवीं शताब्दी के हैं। ग्यारहवीं शताब्दी तक यह लिपि पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी और उत्तरी भारत में सर्वत्र इसका बोलबाला था। गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में इसमें ताड़पत्र पर लिखे हुए अनेक प्राचीन हस्तलिखित-ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं।'

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी बताया है कि 'राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यभारत, विन्ध्यप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में इस काल के लिए प्रायः समस्त शिलालेख, ताम्रपत्र आदि में नागरी-लिपि ही पाई जाती है।'

नागर नागरी या देवनागरी लिपि नाम पड़ने के कारण

देवनागरी लिपि के नागर, नागरी या देवनागरी नाम पड़ने के विविध कारण बताये गए हैं। वे सभी कारण, संक्षेप में, यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

(1) कतिपय भाषाविदों का मत है कि गुजरात के 'नागर-ब्राह्मणों' में प्रचलित होने के कारण 'नागरी' कहलाई।

(2) कुछ लोग इसका सम्बन्ध 'नगर' से जोड़ते हैं अर्थात् नगरों में प्रचलित होने के कारण यह 'नागरी-लिपि' कही जाने लगी।

(3) कुछ विद्वानों का विचार है कि नागरी का उद्भव बौद्धग्रन्थ 'ललित विस्तार' की 'नाग लिपि' से है। किन्तु डॉ० एल० डी० बार्नेट के मतानुसार 'नाग-लिपि तथा नागरी में कोई सम्बन्ध नहीं है।

(4) कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि तांत्रिक यंत्रों में बनने वाले चिह्न 'देव-नगर' से मिलते-जुलते अक्षरों के कारण इस लिपि को 'देवनागरी' कहा गया। इस मत के प्रतिपादक हैं—श्री आर० शाम शास्त्री और इसका समर्थन किया है—ओझा जी जैसे लिपि विशेषज्ञ ने। ओझा जी ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन लिपि माला' में लिखा है —

'तांत्रिक समय में 'नागरी लिपि' नाम प्रचलित था।'

(5) दक्षिण भारत में इसका नाम 'नन्दिनागरी' होने के कारण इसका सम्बन्ध किसी 'नन्दि नगर' नामक राजधानी से जोड़ा जाता है।

(6) डॉ० उदयनारायण तिवारी का मत है कि 'चूंकि देवभाषा, संस्कृत के लिखने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया, अतः इसे देवनागरी नाम से ही अभि-हित किया गया।' ध्यान देने की बात है कि डॉ० तिवारी का यह तर्क अत्यन्त प्रवल है।

(7) 'देनवगर' अर्थात् काशी में प्रचलित होने के कारण इसे 'देवनागरी' नाम दिया गया—ऐसी धारणा भी कुछ लोगों की है।

इन्हीं समस्त मतों और धारणाओं पर विचार करते हुए डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते हैं कि 'ये मत कोरे अनुमान पर आधारित हैं, अतएव किसी को भी बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यों दूसरा मत विद्वानों को अधिक मान्य है।'

किन्तु, इन्होंने डॉ० उदयनारायण तिवारी के मत का उल्लेख नहीं किया है। हमारा विचार है कि अनुमान पर आधारित होते हुए भी डॉ० उदय नारायण तिवारी का मत अधिकतम पुष्ट, तर्क संगत और समीचीन हैं, अतः मान्य भी है। जो भी हो, डॉ० उदयनारायण तिवारी के ही शब्दों में, 'नागरी का मूल अर्थ क्या है? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है।' अभी तक इसकी प्रामाणिक व्युत्पत्ति नहीं दी सकी है।

उपर्युक्त पंक्तियों में देवनागरी लिपि के उद्भव तथा इसके नाम की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। अब इसके विकास पर दृष्टि निक्षेप करना वांछनीय है।

देवनागरी लिपि का विकास

विकास की दृष्टि से 10वीं शताब्दी से ही देवनागरी के वर्णों में क्रमशः विकास होता रहा है। माननीय ओझा जी के मतानुसार 'ई० सन् की 10वीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की भाँति अ, आ, घ, प, म, य, ष, और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं; परन्तु 11वीं शताब्दी से ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाते हैं और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है, जितनी कि अक्षर की चोड़ाई होती है। 11वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और 12वीं शताब्दो से वर्तमान नागरी वन गई है।.........ई० स० की 12वीं शताब्दी से लगातार अब तक नागरी लिपि वहुधा एक ही रूप में चली आ रही है।'

ओझा जी के कथन से स्पष्ट है कि 11वीं शताब्दी की नागरी लिपि में प्रर्याप्त विकास हो गया था और 11वीं शताब्दी से इस लिपि का वर्तमान रूप

मिलता है फिर भी, 'इ' और 'घ' की आकृति पुरानी ही है। दसवीं शती के अनेक वर्ण आधुनिक वर्णों से बहुत अधिक भिन्न हैं उदाहरणार्थ 'उ' और 'ण' के रूपों को देखा जा सकता है। ऐसे ही 'अ' के आधुनिक रूप 'अ, अ' किस प्रकार एक ही मूल के दो विकासत रूप हैं; आदि अनेक पहलुओं पर भी दृष्टि डाली जा सकती है। यह सब ओझा जी की पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपि माला' में दिए हुए तथा अन्य विद्वानों की पुस्तकों में भी उन्हीं के आधार पर दिए हुए देवनागरी लिपि के विकास क्रम सम्बन्धी चित्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। यहाँ चित्र देना सम्भव नहीं है अतः पाठकगण अन्यत्र देखने का कष्ट करें।

देवनागरी लिपि के वर्णों के क्रमिक विकास में प्रारम्भिक रूप ब्राह्मी के हैं। पुनः विकास-क्रम में गुप्त एवं कुटिल लिपियों का क्रमशः योगदान है। इस प्रकार लिपि ही गुप्त एवं कुटिल के माध्यम से आधुनिक देवनागरी के रूप में परिणत हुई है।

उपर्युक्त विवेचन में यह बताया गया है कि देवनागरी लिपि प्रारम्भ से लेकर अब तक परिवर्तित होती आई है। इस सम्बन्ध में डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 5 प्रमुख बातों का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं —

(1) धीरे-धीरे कठिनता से सरलता की ओर आई है, आगे भी इसी ओर जा रही है।

(2) लिखने में प्रायः अब शिरोरेखा का प्रयोग नहीं किया जा रहा है। लगता है धीरे-धीरे लेखन और मुद्रण दोनों में शिरोरेखा का प्रयोग बन्द हो जायेगा।

(3) विराम-चिह्नों का पर्याप्त प्रयोग होने लगा है। संगम (Juncture) की दृष्टि से अब उन्हें भी लिपि का एक अंग-सा माना जाना चाहिए।

(4) पंचम अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

(5) ड़, ढ़, ज़, फ़, ख़, ग़, क़, आदि कई नये चिह्न भी आवश्यकतानुकूल बना लिए हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि मुद्रण कला के आविष्कार के बाद अब मुद्रण में संयुक्त व्यंजनों के ऊपर-नीचे के मिले हुए रूपों को बदल कर आगे-पीछे कर दिया गया है, यथा—च्च, क्क के स्थान पर च्च, क्क आदि। साथ ही भ्रम से बचने के लिए 'ष' का 'ख' रूप अपनाया गया है। अधिकांश लोग लिखने में और अधिकांश प्रेस छपाई में अरबी-फ़ारसी की आगत ध्वनियों— क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि—के नीचे बिन्दी नहीं लगा रहे हैं या यों कहें कि उनका उच्चारण हिन्दी ध्वनियों के अनुसार बनाकर लिखने में भी नागरीकरण कर दिया। यद्यपि ग़ोरी, गोरी ज़रा, जरा आदि कुछ शब्दों के अन्तर्गत गाज़ आदि अलग ध्वनि-ग्राम (Phoneme) सिद्ध होते हैं, इस आधार पर कहा जा सकता है कि इन ध्वनियों का रूप न बदला जाय तथापि एक दृष्टि से इनको नज़र अन्दाज़ करना ठीक भी है, क्योंकि देवनागरी की वर्णमाला वैसे ही बड़ी है, इसे जहाँ तक हो सके, बड़ी न होने देना उचित है।

इस प्रकार देवनागरी लिपि का अद्यावधि विकास सुस्पष्ट हो जाता है। आगे हम देवनागरी अंकों के विकास पर प्रकाश डालने जा रहे हैं।

देवनागरी अंकों का विकास

जिस प्रकार देवनागरी अंकों का विकास ब्राह्मी-लिपि से हुआ है, उसी प्रकार वर्तमान नागरी अंकों का विकास भी ब्राह्मी के अंकों से ही हुआ है।

1	[illegible]	१
2	[illegible]	२
3	[illegible]	३
4	[illegible]	४
5	[illegible]	५
6	[illegible]	६
7	[illegible]	७
8	[illegible]	८
9	[illegible]	९

नागरी अंकों के विकास पर विचार करते हुए ओझा जी ने बताया है कि "लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचिन अंकों में भी अन्तर है। यह अन्तर केवल उनकी आकृति में ही नहीं, किन्तु अंकों के लिखने की रीति में भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से लेकर ९ तक अंक और शून्य (०) है, इन १० चिन्हों से अंक विद्या का सम्पूर्ण व्यवहार चलता है, वैसा प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य व्यवहार में नहीं था और दहाइयों, सैंकड़ों, हजारों आदि के लिए भी अलग चिन्ह थे। यह पिछले पृष्ठ के चित्र से भी स्पष्ट हो जाता है।

स्पष्ट है कि अंकों की दो शैलियाँ कही जा सकती हैं, जिन्हें विद्वानों ने 'प्राचीन शैली' और 'नवीन शैली' का नाम दिया है।

अंकों की 'प्राचीन शैली' के रूप को सबसे पहले अशोक के शिलालेखों में देखा गया है। पाश्चात्य विद्वान बूलकर का मत है कि इन अंकों के आविष्कर्त्ता भारत के ब्राह्मण थे। कतिपय अन्य विद्वानों के मतानुसार ब्राह्मी लिपि के समान ये अंक भी विदेशी देन हैं अथवा विदेशी अंकों से प्रभावित हैं। किन्तु, ओझाजी ने जिस प्रकार ब्राह्मी लिपि को भारतीय आर्यों का मौलिक आविष्कारमाना है, उसी प्रकार अंकों के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यता यही है कि ये अंक भारतीय आर्यों के ही मौलिक आविष्कार हैं।

5वीं शताब्दी के लगभग 'प्राचीनशैली' के अंक परिवर्तित होकर जनसाधारण में प्रचार पाने लगे थे, तभी से 'नवीन-शैली' का उद्भव माना जा सकता है। इतना

आवश्यक है कि शिलालेखों आदि के अन्तर्गत 'प्राचीन शैली' ही प्रचलित थी। 'नवीन शैली' में 'शून्य का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया और इसके व्यवहार से दहाई, सैकड़ा हजार आदि की अभिव्यक्ति सरल हो गई। कहना न होगा कि देवनागरी लिपि के वर्णों की भाँति ही अंक-विकास में भी 'कठिन से सरल की ओर' जाने की प्रवृत्ति रही है। शून्य की नवीन शैली भी भारतीय आविष्कार है—यह भी ओझाजी ने स्पष्ट किया है।'

भारत से अंकों का ज्ञान 'अरबों' ने प्राप्त किया और अरबों से सीखा यूरोपियनों ने। यह प्रसार बहुत प्राचीन है, जो व्यापारियों तथा यात्रियों के द्वारा सम्भव हुआ। अरब वाले अंक को 'हिन्दसा' कहते हैं। इससे भी यह प्रमाणित है कि भारत से ही यह विद्या उन्हें प्राप्त हुई। अतः यही कारण है कि आधुनिक देवनागरी अंक लगभग कई भाषाओं से साम्य रखते हैं। नवीन और प्राचीन भाषाओं को अंकों में भी साम्य है।

प्रश्न 4—हिन्दी-क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न लिपियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर—हिन्दी का क्षेत्र उत्तर भारत के सात राज्यों—हरियाणा, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और बिहार के विस्तृत भूभाग को माना जाता है। भारतीय संविधान में भी इस समूचे प्रदेश की एक ही प्रधान साहित्यिक भाषा हिन्दी ही मानी गई है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी इसी भू-भाग को हिन्दी-प्रदेश स्वीकार किया है। हिन्दी-प्रदेश की सीमा, डॉ० वर्मा के शब्दों में 'पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है।'

हिन्दी प्रदेश अथवा हिन्दी क्षेत्र का संक्षिप्त विवरण देकर हम इस क्षेत्र में व्यवहृत विभिन्न लिपियों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) **महाजनी लिपि**—इस लिपि का व्यवहार बहीखाता लिखने के लिए व्यापारी द्वारा किया जाता है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश आदि अनेक राज्यों में आज भी महाजनी पाठशालाएँ हैं, जहाँ इस लिपि का ज्ञान कराया जाता है और हिसाब-किताब सिखाकर 'मुनीम' तैयार किए जाते हैं। धन तो व्यापारी के पास होता ही है और धनवान होने से ही व्यापारी लोग 'महाजन' भी कहे जाते हैं। उनके विशेष काम में आने वाली और उनके द्वारा ही प्रयुक्त होने वाली विशेष लिपि को 'महाजनी' की संज्ञा दी गई—ऐसा हमारा मत है।

महाजनी लिपि का उद्भव देवनागरी से ही हुआ है। इसमें कुछ ही अक्षर देवनागरी से भिन्नता रखते हैं। इसमें मात्राओं का अभाव होता है, अतः इस लिपि का पढ़ना सर्वसाधारण के लिए सर्वथा कठिन होता है। यह शीघ्र लिपि की भाँति लिखी जाती है, जिसका कारण स्वरों की मात्राओं का न होना ही है।

(2) **बिहारी अथवा कैथी लिपि**—पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार की उपभाषाओं के लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग किया जाता है। कैथी नाम पड़ने का कारण यह है कि सरकारी कार्यालयों में लिखने-पढ़ने का सबसे अधिक काम कायस्थ लोग करते रहे और लिपि कायस्थ लोग ही प्रयुक्त करते थे, फलतः कायस्थों

में प्रचलित होने के कारण यह 'कैथी' लिपि कही जाने लगी—उस क्षेत्र में 'कायस्थ' का तद्भव 'कायथ' शब्द है, जिससे 'कैथी' शब्द बना लिया गया।

डॉ० उदयनारायण तिवारी का यह मत है कि यह लिपि कुटिल-लिपि से प्रसूत है, किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार इसका उद्भव प्राचीन नागरी लिपि के पूर्वी रूप से हुआ है। वस्तुतः ये दोनों मत एक ही हैं, लिपि-विकास से यह सिद्ध हो जाता है।

कैथी के निम्नलिखित तीन स्थानीय रूप पाए जाते हैं—

(अ) तिरहुती-कैथी-लिपि—इस लिपि का व्यवहार 'तिरहुत' क्षेत्र के लोग करते हैं। वास्तव में यह लिपि देखने में बहुत सुन्दर लगती है।

(ब) भोजपुरी-कैथी-लिपि—इस लिपि का प्रयोग 'भोजपुरी' भाषा के लिखने में किया जाता है। यह लिपि देवनागरी के बहुत निकट है, अतः यह सरलता से पढ़ी जा सकती है।

(स) मगही-कैथी-लिपि—इस लिपि का व्यवहार बिहारी उपभाषा की एक शाखा 'मगही' के लिखने में किया जाता है। पटना, गया आदि ज़िलों में इसका पर्याप्त प्रचार देखा जाता है। पहले तो छपाई में भी इस लिपि का प्रयोग होता था, पर अब देवनागरी के प्रचार-प्रसार के कारण इसका व्यवहार छपाई में नहीं हो रहा है।

(3) मैथिली लिपि—इस लिपि को भी हम 'बिहारी' लिपि की संज्ञा के अन्तर्गत अन्तर्भूत मान सकते हैं, परन्तु 'कैथी' की संज्ञा में इसे अन्तर्भूत नहीं मान सकते। अस्तु इसे अलग स्थान दिया गया है।

इस लिपि का प्रयोग क्षेत्र 'मिथिला' है, मिथिला—क्षेत्र की बोली मैथिली, जो बिहारी उपभाषा वर्ग की एक प्रधान बोली है, इस लिपि में लिखी जाती है। इसी बोली के नाम पर ही इस लिपि का नामकरण हुआ है।

कुछ लोगों ने 'मैथिली' लिपि को 'तिरहुती' कहा है, जो असंगत और अनुचित जान पड़ता है। बात यह है कि 'मिथिला और तिरहुत के क्षेत्र पास-पास हैं और मिथिला-क्षेत्र में मैथिली के साथ-साथ तिरहुती-कैथी-लिपि का भी प्रयोग होता है, इसीलिए कुछ लोगों ने 'मैथिली' लिपि को भी तिरहुती कह दिया है। यह ज्ञातव्य है कि 'मैथिली' का प्रयोग मैथिलो-ब्राह्मणों तक ही सीमित है, शेष वर्गों या जातियों के लोग इसका प्रयोग नहीं के बराबर करते हैं।

मैथिली-लिपि बँगला के समीप है, परन्तु पढ़ने में उससे कठिन है। इसका विकास भी प्राचीन नागरी लिपि के पूर्वी रूप से ही हुआ है—ऐसा विद्वानों का मत है।

उपर्युक्त लिपियों के अतिरिक्त हिन्दी प्रदेश में हिन्दी अथवा उनकी उपभाषाओं के लिखने में देवनागरी-लिपि ही प्रयुक्त होती है, जिसका विवरण हम आगे देंगे। यहाँ हम अभी कुछ अन्य उन लिपियों का विवरण भी देना उचित समझते हैं जिनका सीमित व्यवहार हिन्दी प्रदेश के अन्तर्गत विविध भाषाओं के लिखने में किया जाता है, ऐसी लिपियाँ निम्नांकित हैं—

(1) उर्दू-लिपि—वस्तुतः अरबी-फ़ारसी लिपि है, जो हिन्दी भाषा की उर्दू

शैली की लिपि के रूप में प्रयुक्त होती है। पहले तो इसका प्रचार और प्रसार काफ़ी था। मुसलमानों और अँगरेजों के शासन-काल में इनका खूब व्यवहार था। परन्तु अब यह पुराने पढ़े-लिखे हिन्दुओं, कुछ सिन्धियों, पंजाबियों और मुसलमानों तक सीमित है। नयी पीढ़ी के हिन्दू छात्र-छात्राओं को शायद ही इसका परिचय हो। छपाई में भी इसका व्यवहार होता है, किन्तु वह भी सीमित ही है। इस लिपि में में स्वरों का कोई मूल्य नहीं है तथा कई व्यंजनों का रूप भी एक ही तरह का है और केवल नुक्तों (बिन्दुओं) से ही उसका अन्तर-स्पष्ट किया जाता है। अतः हस्त-लिखित उर्दू पढ़ने में अत्यन्त दुरूह होती है। अखबार की छपाई भी बड़ी कठिनाई से पढ़ी जा सकती है।

(2) **सिन्धी एवं गुरुमुखी लिपि**—इन दोनों लिपियों का व्यवहार भी सिन्धी तथा पंजावी शरणार्थियों द्वारा, इधर आकर बस जाने के बाद, होने लगा है। इनमें कुछ तो उर्दू लिपि ही प्रयक्त करते हैं, पर कुछ सिन्धी अथवा गुरुमुखी को ही अपनाए हुए हैं। इनके बच्चे भी इन लिपियों को सीखते और प्रयुक्त करते हैं। सिन्धी लिपि उर्दू-लिपि से मिलती-जुलती है। सिन्धी पंजावी निजी शिक्षण-संस्थाओं में इन लिपियों में छपी हुई पुस्तकें भी चलती हैं। ये दोनों ही लिपियाँ 'लंडा-लिपि' से उत्पन्न हुई हैं। गुरुमुखी-लिपि सिक्ख गुरु 'अंगद' द्वारा 'लंडा-लिपि' में थोड़ा सुधार करके निर्मित की गई। कुछ लोग इसे पंजाबी लिपि भी कहते हैं, पर ऐसा नाम देना भ्रमात्मक तथा अनुचित है। हाँ इतना अवश्य है कि पंजावी लिखने के लिए इसका व्यवहार किया जाता है, जिसे सिक्खों तक ही सीमित समझना चाहिए। अन्य लोग इस लिपि का प्रयोग विल्कुल नहीं करते।

(3) **बँगला लिपि**—इस लिपि का प्रयोग भी इधर रहने वाले बंगाली परिवारों में किया जाता है। कई निजी शिक्षा संस्थाएँ, जो बँगाली ट्रस्टों द्वारा संचालित हैं, इस लिपि में लिखित बँगला पुस्तकें पढ़ाने की व्यवस्था बँगाली बच्चों के अलावा अन्य, बच्चों के लिए भी करती हैं। अतः वहाँ उस लिपि के सीखने-सिखाने का कार्य होता है। कुछ अन्य लोग विविध परीक्षाओं—जैसेसाहित्य रत्न आदि—के लिए भी इस लिपि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पुरानी नागरी लिपि की पूर्वी शैली से ही यह लिपि भी उत्पन्न हुई है।

(4) **टाकरी, चमेआली, जौनसारी, कुल्लुइ लिपियाँ**—पर्वतीय भागों के निवासियों द्वारा क्षेत्र-विशेष के अनुसार प्रयुक्त की जाती है। ये लिपियाँ पढ़ने में विशेष कठिन हैं। ये सभी लिपियाँ प्राचीन 'शारदा' लिपि से ही विकास हुई हैं।

(5) **रोमन या रोमन-लिपि**—इस लिपि का प्रयोग अँगरेज़ी लिखने तथा छापने में किया जाता है। इसे लैटिन लिपि भी कहते हैं। इस लिपि का प्रचार प्रसार विश्व के अनेक देशों में है। अन्य लिपियों की तुलना में रोमन लिपि वर्णात्मक है तथा अन्य अनेक विशेष गुणों से युक्त है, इसीलिए इसे संसार की सर्वोत्तम लिपि कहा जाता है किन्तु यदि वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से इसका विवेचन करें, तो ज्ञात होता है कि समस्त दृष्टियों से यह लिपि भी पूर्ण नहीं कही जा सकती है। किसी भी भाषा की समस्त ध्वनियों की अभिव्यक्ति के लिए उसमें स्वतन्त्र ध्वनि चिह्नों का अभाव है। स्वरों तथा कुछ संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण इसमें निश्चित नहीं है। कई व्यंजनों के लिए एक से अधिक अक्षरों का संयोग करना पड़ता है।

पढ़ने में उच्चारण-सम्बन्धी अनेक भ्रम होते हैं, और लोग प्रायः अशुद्ध उच्चारण करते हैं।

उपर्युक्त समस्त लिपियों का हिन्दी क्षेत्र में सीमित रूप में ही व्यवहार किया जाता है। इसमें महाजनी लिपि तो प्राचीन नागरी की पश्चिमी शैली से और कैथी, मैथिली, बँगला आदि लिपियाँ इसकी पूर्वी शैली से प्रसूत हुई हैं। सिन्धी, गुरुमुखी लिपियाँ प्राचीन शारदा लिपि से विकसित लंडा-लिपि से उद्भूत हुई हैं। इस प्रकार से ये सभी भारतीय लिपियाँ हैं और इन सबका मूलाधार प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी ही है।

इसी तरह पहाड़ी वर्ग की बोलियों में व्यवहृत जौनसारी, चमेआली, कुल्लुई तथा टाकरी लिपियाँ भी शारदा लिपि से ही प्रसूत हुई हैं, किन्तु नागरी से अधिक प्रभावित हैं। चमेआली लिपि तो नागरी की भाँति ही पूर्ण लिपि है। ये लिपियाँ भी भारतीय ही हैं और उपर्युक्त लिपियों की श्रेणी में ही हैं।

इन भारतीय लिपियों के अतिरिक्त उर्दू तथा रोमन लिपियाँ विदेशी हैं और इनका प्रयोग भी विदेशी भाषाओं के लिए ही किया जाता है।

अभी तक हमने हिन्दी-प्रदेश में व्यवहृत विभिन्न लिपियों का, जो या तो क्षेत्रीय उपभाषाओं के लिखने में या विदेशी भाषाओं के लिखने और छापने में प्रयुक्त होती हैं, संक्षिप्त विवरण दिया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी-प्रदेश की सर्वप्रमुख लिपि 'देवागरी' है। यही लिपि समस्त हिन्दी-क्षेत्र की साहित्यिक भाषा के लिखने और मुद्रण में प्रयुक्त होती है।

देवनागरी लिपि के गुण : वैज्ञानिकता

प्रश्न 5—देवनागरी लिपि की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 6—एक उत्तम लिपि के कौन-कौन से गुण होते हैं? हिन्दी भाषा के लिए प्रयुक्त 'नागरी लिपि' इस माने में कितनी समर्थ है?

प्रश्न 7—देवनागरी लिपि में एक आदर्श लिपि के प्रायः सभी गुण विद्यमान हैं। अपनी विशेषताओं के आधार पर यह एक पूर्ण वैज्ञानिक लिपि कही जा सकती है।

प्रश्न 8—राष्ट्रीय लिपि के रूप में देवनागरी के गुण दोषों की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 9—वैज्ञानिक लिपि के गुण-दोषों के आधार पर देवनागरी लिपि की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—जिन गुणों ने देवनागरी को वैज्ञानिक होने का गौरव प्रदान किया वे रोमन तथा उर्दू की तुलना में निम्न हैं—

(1) यह भाषा के अन्तर्गत आने वाले अधिक से अधिक ध्वनि चिह्नों से सम्पन्न है।

(2) इसमें स्वरों-व्यंजनों का अलग-अलग वर्गीकरण है। अरबी अथवा यूरोपीय लिपियों की तरह दोनों मिला-जुलाकर (अलिफ, बे, पे, लाम, ए, बी, सी, डी, ई)

दिए गए हैं। स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ के जोड़े (अ-आ, इ-ई) साथ-साथ हैं। प्रारंभ में मूल स्वर (अ, आ, इ, ई) हैं और उनके बाद संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ)। व्यंजन विशेष स्पर्श एवं अनुनासिक का विभाजन तो भी वैज्ञानिक है। क, च, ट, त, प के वर्ग स्थान पर आधारित हैं, और हर वर्ग के व्यंजन घोषत्व के आधार पर दो प्रकार के हैं : प्रथम दो अघोष तथा अंतिम तीन घोष। इनके साथ ही इनके वर्गीकरण या विभाजन में प्राणत्व का भी ध्यान रखा गया है। पहले, तीसरे और पाँचवें अल्पप्राण हैं तथा इसके चौथे महाप्राण। अनुनासिक व्यंजन वर्गों के अंत में है।

(3) नागरी में जो लिपि-चिह्न जिस ध्वनि का द्योतक है, उसका नाम भी वही है, जैसे अ, ओ, क, च, प आदि। अंगरेज़ी (एक्स, जेड, डवल्यू) तथा उर्दू (डाल, दुचश्मी है) में ऐसा नहीं है।

(4) इसमें एक ध्वनि के लिए एक चिह्न है। उर्दू में 'स' ध्वनि के लिए—से, स्वाद, सीन; 'ज़' के लिए—जे, जाल, जोय, ज्वाद, ज़्भे चिह्न हैं। इसी प्रकार रोमन लिपि में 'क' ध्वनि के लिए K, C, Ch, Ck, Q आदि हैं।

(5) लिपि-चिह्नों की पर्याप्तता की दृष्टि से नागरी बड़ी सम्पन्न है। उर्दू में ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, ढ़, ड, थ, ध, फ, भ आदि के लिए चिह्न वह है, दुचश्मी हे जोड़ कर काम चलाते हैं। इसी अपर्याप्तता के कारण 'मोहन अज़मेर गए' को उर्दू में 'मोहन आज मर गये' भी पढ़ा जा सकता है। रोमन में Agradas को 'अग्रदास' और 'आगरादास' दोनों पढ़ा जा सकता है। वस्तुतः अँगरेज़ी में ध्वनियाँ तो चालीस से ऊपर हैं, किन्तु केवल 26 लिपि-चिह्नों से काम चलाना पड़ता है। हिन्दी के 'ह्रस्व ए' और 'ह्रस्व 'ओ' के लिपि चिह्न की अवश्य कमी है, किन्तु नये लिपि-चिह्नों द्वारा विद्वानों ने इस कमी को पूरा कर दिया है।

(6) ह्रस्व तथा दीर्घ स्वर के लिए नागरी में स्वतन्त्र चिह्न है जबकि उर्दू और रोमन में नहीं। उर्दू में ज़बर, जेर, पेश की अव्यवस्था है तो रोमन में 'ए' 'अ-आ' का तथा 'यू' 'अ, उ, ऊ' का द्योतक है।

(7) उच्चारण की दृष्टि से समान लिपि-चिह्नों की आकृति में भी देवनागरी में समानता मिलती है, जैसे ट-ठ-ड-ढ-ड़-ढ़। रोमन तथा उर्दू में यह गुण प्रायः नहीं के बराबर हैं।

(8) इसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है और जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है।

(9) यह देश के एक बहुत बड़े क्षेत्र में प्रयुक्त होती है। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, तथा यत्किंचित् भेद के साथ बंगाली, उड़िया, असमी, गुजराती आदि में भी इसी का प्रयोग होता है। ब्राह्मी की उत्तराधिकारिणी होने के कारण समस्त आधुनिक भारतीय लिपियों से इसका यत्किंचित् साम्य है।

(10) इसका वर्त्तमान स्वरूप युगों के प्रयोग पर आधारित है, इस कारण इसे दीर्घ परम्परा का बल प्राप्त है।

(11) संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश का समस्त वाङ्मय इसी लिपि में है। अहिंदी भाषाभाषी भी चाहे हिन्दी से अनभिज्ञ रहें किन्तु संस्कृत के माध्यम से देवनागरी

आदि से अधिकांश लोग परिचित रहते हैं। भारत की सांस्कृतिक एकता में देवनागरी आदि का भारी योगदान हो सकता है और है।

(12) भारत की दक्षिणी भाषाओं में वर्णमाला का क्रम भी देवनागरी से मिलता-जुलता है। काश्मीर की शारदा लिपि से लेकर दक्षिण की तमिल लिपि तक सभी में वर्णों की समानता देखी जा सकती है।

(13) थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर देने पर संसार की कोई भी भाषा इसके माध्यम से सफलतापूर्वक लिखी जा सकती है।

(14) इसके वर्णों में रोमन वर्णों के समान छोटे-बड़े (कैपिटल और स्माल) वर्णों के अलग-अलग रूपों की उलझन नहीं है।

इन विशेषताओं के कारण देवनागरी लिपि अत्यधिक वैज्ञानिक, सरल और देश की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल है।

दोषों के लिए अगले प्रश्न का उत्तर देखिए।

देवनागरी लिपि के दोष : अवैज्ञानिकता

प्रश्न 10—देवनागरी लिपि के अभाव और उनके निराकरण के उपाय बताइए।

कतिपय विद्वानों द्वारा देवनागरी लिपि में निम्नलिखित दोष गिनाए गए हैं—

(1) नागरी में वर्णों की संख्या अधिक है, इसलिए उसे सीखने में तथा उसके टंकण-मुद्रण आदि में कठिनाई होती है।

(2) नागरी में शिरोरेखा का प्रयोग अनावश्यक अलंकरण के रूप में होता है, इससे लेखन में अतिरिक्त श्रम पड़ता है।

(3) भारतीय आर्य भाषाओं की अनेक प्राचीन ध्वनियाँ लुप्त हो गई हैं। उनके लिए जो लिपि चिह्न थे, वे अब केवल परम्परा पालन के लिए रहे हैं और वैज्ञानिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण हैं जैसे 'ॠ' का उच्चारण आज 'रि' की तरह होता है, 'ष' का 'श' या 'ख' की तरह होने लगा है। ङ, ञ का भी प्रयोग केवल संयुक्ताक्षरों में यदा-कदा होता है और इनका उच्चारण वस्तुतः 'न्' की तरह हो गया है। इनका काम ं से चलाया जा सकता है। क्ष, त्र, ज्ञ, भी वैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक हो गए है क्योंकि 'क्ष' और 'ज्ज' के समान उच्चारण आजकल बहुत कम लोग कर पाते हैं—केवल गुरुकुल के स्नातक और अन्य परम्परा के पुजारी ही करते हैं। 'त्र' तो एकदम ही अनावश्यक है क्योंकि यह स्पष्ट ही 'त्' और 'र्' का संयुक्त रूप है।

(4)—'र' ध्वनि कई रूपों में लिखी जाती है—र (राग), ˚ (धर्म), ्र (चक्र), ‸ (ट्रेन), ृ (कृष्ण)। इसमे नौसिखुओं को कठिनाई होती है और साथ ही टंकण तथा मुद्रण में लिपि-चिह्न बढ़ जाते हैं।

(5) देवनागरी में 'इ' की मात्रा अवैज्ञानिक है। उसका उच्चारण वर्ण क के बाद होता है लेकिन लगती है पहले और संयुक्ताक्षरों में तो इसकी स्थिति और भी जटिल हो जाती है, जैसे 'निश्चित' में। इसीलिए कभी-कभी लोग इसे 'निश्चित, लिख देते हैं। इसी अवैज्ञानिकता को दृष्टि में रखते हुए उत्तर प्रदेश सरकार की

नई लिपि में 'इ' सम्बन्धी सुधार किया गया किन्तु वह व्यवहार में नहीं चल पाया। इसी प्रकार ु ू े ै को अक्षर के बाद होना चाहिए किन्तु इन्हें अक्षर के ऊपर नीचे लगाया जाता है।

(6) नागरी में कई वर्णों के दो-दो रूप प्रचलित हैं, जिनसे अनावश्यक उलझनें उपत्पन्न होती हैं— अ-अ, छ-छ, झ-झ, ण-ण, क्ष-क्ष ल-ळ। अंकों में भी यही स्थिति है—१-1, ४-४, ५-५ ६-६ ८-८, ९-९-९।

(7) नागरी में वर्णों को संयुक्त करने की कोई निश्चित पद्धति नहीं है। कभी वर्णों का संयोग आमने-सामने होता है, जैसे वक, ख्ख, ग्ग आदि और कभी ऊपर-नीचे, जैसे —ट्ट, ड्ड आदि। कभी-कभी तो कोई वर्ण अन्य वर्णों के ठीक माथे पर जा विराजता है, जैसे कर्म, धर्म में 'र्'।

(8) ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ की आवश्यकता पड़ती है (जैसे एहि, कोइला आदि में) किन्तु उनके लिए अलग लिपि-चिह्न नहीं हैं।

(9) 'य' और 'व' अर्द्धस्वर के रूप में प्रयोग होने के कारण भी कुछ शब्दों के वर्ग-विन्यास में भ्रम चल गया है, जैसे—गयी-गई, लिये-लिए, कौवा-कौआ, जाये-जाए-जाय। वस्तुतः इनके लिए कुछ नियम हैं किन्तु प्रायः मनमाना व्यवहार चल रहा है जिसे रोका भी नहीं जा सकता।

(10) 'न्न', 'म्ह', 'ल्ह' संयुक्त व्यंजन नहीं बल्कि स्वतन्त्र ध्वनियाँ हो गई हैं लेकिन उनके लिए लिपि-चिह्न नहीं हैं।

(11) बोल-चाल में कुछ मध्य तथा अन्त्य वर्णों का उच्चारण व्यंजनान्त हो गया है लेकिन लिखने में वह भेद नहीं दिखाया जाता, जैसे—उनके, कल क्रमशः 'उनके' और 'कल्' उच्चारित होते हैं किन्तु प्रचलित शैली में इस प्रकार लिखे नहीं जाते। किन्तु यह नागरी लिपि का दोष नहीं बल्कि उसके उपयोग का दोष है—हम चाहें तो इस प्रकार लिख सकते हैं।

(12) अनेक वर्णों का रूप ऐसा है कि थोड़ी-सी असावधानी से कुछ के कुछ बन जाते या पढ़ें जा सकते हैं, जैसे—

ख-र व, ध-घ, भ-म, क-फ, म-न, प-ष श-रा, रा ए, ग-रा आदि।

(13) हिन्दी में दन्त्योष्ठ्य 'व' (वीर) और द्वयोष्ठ्य 'व' (स्वाद) दो स्वतंत्र ध्वनि-तत्त्व हैं, किन्तु इनके लिए लिपि-चिह्न एक है।

(14) आक्षरिक होने के कारण इसमें ध्वनि विश्लेषण में सरला नहीं है। 'मर्म' में स्वर-व्यंजन अस्पष्ट हैं।

(15) अनुस्वर तथा चन्द्रविन्दु के प्रयोग में मानमानी चल रही है। सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण आज में, हैं, नहीं में चन्द्रविन्दु के प्रयोग की रीति अब उठ गई है, जो वैज्ञानिकता के प्रतिकूल है। उच्चारण के अनुसार इन्हें मेँ, हैँ और नहीँ होना चाहिए।

(16) नागरी वर्णमाला बड़ी होने के कारण हिन्दी का टाइपराइटर बड़ा बनाना पड़ता है—मुद्रण में केस में अधिक टाइप रखने पड़ते हैं। इसमें उतनी शीघ्रता से टाइप आदि नहीं हो सकता जितनी शीघ्रता से 'अँगरेज़ी में। संयुक्ताक्षरों की भी कठिनाई इस दृष्टि से विचारणीय है।
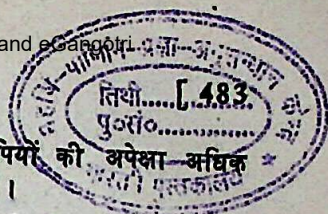
(17) मात्राओं के कारण नागरी अक्षर अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक स्थान घेरते हैं। छापे में मात्राएँ कभी-कभी टूट भी जाती हैं।

(18) नागरी में कई भारतीय तथा विदेशी भाषाओं की अनेक ध्वनियों के वर्णों का आभाव है।

(19) नागरी का स्वरूप संकेत-शब्द, शीघ्र-लिपि, तार तथा दूरालेखन आदि के अनुकूल नहीं है।

(20) देवनागरी-लेखन में बार-बार हाथ उठाना पड़ता है, कभी मात्रा-प्रयोग के लिए, कभी शिरोरेखा देन के लिए, कभी अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु लगाने के लिए और कभी विराम-चिह्न के लिए। इसलिए इसमें अधिक श्रम पड़ता है और गति मन्द हो जाती है।

निराकरण के उपाय के लिए कृपया अगले प्रश्न का उत्तर देखिए।

देवनागरी लिपि में सुधार के प्रयत्न

प्रश्न 11—देवनागरी लिपि के सुधार के लिए किए गए प्रयत्नों का खाका खींचिए।

प्रश्न 12—नागरी लिपि के सुधार सम्बन्धी प्रयत्नों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 13—देवनागरी लिपि के दोषों के सुधार के लिए दिए गए सुझावों से आप कहाँ तक सहमत हैं? युक्तियुक्त मीमांसा कीजिए।

बहुत पहले वर्धा की राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति की ओर से सुधार का प्रयत्न किया गया था। इस सुधार को महात्मा गाँधी का आशीर्वाद भी प्राप्त था। यह सुधार 'अ' की बारह खड़ी या 'स्वर खड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके अनुसार स्वरों और मात्राओं में समानता तथा सामंजस्य रखने के लिए, 'इ ई उ ऊ' के वर्त्तमान रूप छोड़कर केवल 'अ' में ही इन स्वरों की मात्राएँ लगा कर इन स्वरों के मूल स्वरूप का बोध करना प्रधान सुधार था अर्थात् 'अ' की बारह खड़ी कराना—अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अं, अः, । 1945 ई० में नागरी प्रचारणी सभा ने प्रति-संस्कृत देवनागरी लिपि का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसमें अनेक नवीन कल्पनाएँ और चिंत्य बातें थीं—जैसे 'अ् (अ), अ (आ) आदि और प्राचीन रूप से बहुत पार्थक्य था। तो भी टाइपराइटर, प्रेस आदि की दृष्टि से उसमें काफी सुविधाएँ थीं। हिंदी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ने भी सुधार सम्बन्धी चौदह सुझाव रखे जिनमें शिरोरेखा की अनावश्यकता, प्रत्येक वर्ण का ध्वनि के उच्चारण-क्रम से लिखना, जैसे 'ए, 'ऐ, की मात्राएँ वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर जरा हटा कर लगाना 'उ' 'ऊ' 'ऋ' की मात्राएँ और अनुस्वर तथा अनुनासिक के चिह्न अक्षर के बाद लगाना, रेफ से व्यक्त होने वाले अर्द्ध 'र' को उच्चारण-क्रम से योग्य स्थान पर लिखना, संयुक्ताक्षरों में उच्चारण-क्रम का निर्वाह करना आदि, वर्धा की 'अ' की बारहखड़ी, वर्तमान 'ख' के रूप में परिवर्तन आदि प्रधान थे। उसमें भारत की अन्य ध्वनियों का भी ध्यान रखा गया था और वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ नये रूप सम्मिलित कर लिए गए। संस्थागत प्रयासों के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत प्रयासों में नागरी लिपि-सम्बन्धी सुधार पर विचार किया गया है। टेलीप्रिंटर और

टाइप-राइटर की दृष्टि से भी अनेक व्यक्तियों ने यांत्रिक परिवर्तन उपस्थित करने की कोशिश की है। इन सब प्रयासों में गुण-दोष दोनों हैं।

अन्त में 1947 ई० में उत्तर प्रदेश की सरकार ने 'नरेन्द्र देव नागरी लिपि सुधार समिति' का संगठन किया। कुछ अड़चनों के कारण पाँच-छह महीने कार्य रुका रहने के बाद 1949 ई० में समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस समिति में आचार्य नरेन्द्र देव (अध्यक्ष), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० मंगल देव शास्त्री आदि विद्वान् थे। सुधार-सम्बन्धी जितने भी संस्थागत और व्यक्तिगत सुझाव थे उन सब पर समिति ने विस्तारपूर्वक विचार किया और रूपों तथा सिद्धान्तों की दृष्टि से उसे वर्धा, नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के प्रस्ताव पूर्णतः स्वीकृत न हुए। 'अ' की बारहखड़ी तो उसे बिलकुल स्वीकृत न हुई। सम्मेलन के कुछ प्रस्ताव उसने अवश्य माने। यह समिति आमूल परिवर्तन या केवल मशीन की सुविधा के लिए ही कोई परिवर्तन करना न चाहती थी। नागरी लिपि के मूल रूप को बनाए रखते हुए अथवा उसमें न्यूनतम परिवर्तन से समस्त आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त करना उसका उद्देश्य था। इस दृष्टि से उसने जो सुझाव दिए उनमें से प्रमुख इस प्रकार थे—

(1) मुद्रण और टाइपराइटिंग की सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार मात्राओं को थोड़ा हटा कर केवल दाहिनी ओर बगल में, ऊपर और नीचे लगाया जाए।

(2) शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर '०' शून्य लगाया जाए। व्यंजन के हलन्त ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा वाङ्मय, तन्मय) शून्य लिखा जाए। अनुनासिक स्वर के लिए 'ं' बिन्दी का प्रयोग हो।

(3) शिरोरेखा लगाई जाए।

(4) ऋ, लृ की मात्राएँ भी अन्य मात्राओं के सदृश थोड़ी हटा कर दाहिनी ओर नीचे लगाई जाएँ।

(5) जिन वर्णों का उत्तरार्द्ध खड़ी पाई युक्त है उनका आधा रूप खड़ी पाई निकाल कर बनाया जाए, यथा 'ग्र' में ग पूर्ण रूप, र अर्ध रूप। उदाहरणतः वकग्र (वक्र)।

(6) जिन वर्णों का उत्तरार्द्ध खड़ी पाई युक्त नहीं है उनका आधा रूप 'क' और 'फ' को छोड़कर हल चिह्न '्' मात्राओं के ही समान बगल में नीचे की ओर लगा कर बनाया जाए। यथा ङ का आधा रूप ङ्। उदाहरण : राष्ट्र (राष्ट्र), विद्या (विद्या)।

(7) ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी दाहिनी ओर लगाई जाए।

इस सिद्धान्तगत प्रधान सुझावों के अतिरिक्त समिति ने कुछ रूपगत सुझाव भी दिए। रूपगत सुझावों के अनुसार निम्नलिखित परिवर्तन प्रमुख थे—

(1) 'अ' का रूप अब केवल 'अ' रहे।

(2) 'छ', 'झ', 'ण', 'ध', 'भ', 'र', 'ल', और 'ह' के रूपों में भी परिवर्तन स्वीकार किए जाएँ।

(3) मात्राओं में ह्रस्व 'इ' की मात्रा का रूप आगे की ओर भिन्न रूप में हो।

(4) 'क्ष' और 'त्र' के स्थान पर 'क्ष' और 'त्र' से काम लिया जाए।

(5) केवल पूर्ण विराम को छोड़कर अँगरेजी के विराम-चिह्न स्वीकार किए जाएँ।

संग्रथन (कम्पोजिंग), टाइप-राइटर आदि की दृष्टि से भी समिति के अपने कुछ सुझाव थे। समिति के सुझाव अभी कार्यरूप में परिणित नहीं हुए थे कि इस सम्बन्ध में 1953 ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने लखनऊ में एक सम्मेलन किया जिसमें उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य राज्यों के प्रतिनिधि और शिक्षाविद् भी आए थे। इस सभा के प्रमुख निर्णय इस प्रकार थे—

(1) छोटी 'इ' की मात्रा बाईं तरफ न लगाकर दाईं तरफ लगाई जाए और उसकी खड़ी पाई आधी कर दी जाय (ि)।

(2) 'र' के मेल से बने शब्दों में रेफ (ँ) लगाने के बजाय या तो उसमें जुड़े हुए अक्षर को आधा कर दिया जाए अथवा हलन्त का प्रयोग किया जाए (प्रीतम, 'श्री' आदि)।

(3) अ अ, झ झ, ण ण, ल ल और श श में से केवल 'अ, झ, ण, ल, श' रूप रखे जाएँ।

(4) संयुक्ताक्षर लिखते समय खड़ी पाई युक्त वर्ण में से खड़ी पाई हटा दी जाए और जिसमें खड़ी पाई नहीं है उसमें हलन्त लगाया जाए (ग्लानि, छप्पर आदि)। किन्तु 'क', 'फ', और 'ह' के चल रहे संयुक्त रूपों को बनाए रखा जाए।

(5) 'त्र' को निकाल दिया जाए।

1954 ई० में उस समय उप-राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् के सभापतित्व में भी एक सभा लिपि-सुधार के उद्देश्य से हुई थी। 1955 ई० में केन्द्रीय सरकार ने भी ये सुझाव स्वीकार कर लिए। किन्तु उत्तर प्रदेशीय सरकार के इन लिपि-संबंधी सुधारों का अच्छा स्वागत न हुआ—विशेषतः पहले और दूसरे सुधारों का। इसलिए 1957 ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने फिर लखनऊ में एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें केवल उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधि सामिल हुए थे। इस सम्मेलन में छोटी 'इ' और रेफ के सम्बन्ध में 1953 ई० के निर्णय को रद्द कर परम्परा से चल रही पद्धति को ही मान लिया गया। शेष निर्णय ज्यों-के-त्यों बनाए रखे गए। 1957 ई० के निर्णय के प्रकाश में अन्तर्राजकीय सहयोग स्थापित करने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के 8-9 अगस्त, 1959 के शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में लिपि-सुधार की समस्या प्रस्तुत की गई। काफी विचार विनिमय के पश्चात् सम्मेलन ने उत्तर प्रदेश के 1953 और 1957 के निर्णय स्वीकार किए। 'इ' की मात्रा और रेफ के सम्बन्ध में 1957 का निर्णय ही मान्य सिद्ध हुआ। साथ ही ऋ, लृ के रखने की कोई आवश्यकता न समझी गई। ड़, ढ़ जो 1953 और 1957 के सम्मेलनों में स्वीकृत नहीं हुए थे, रख लिए गए और

'श्री' का 'श्‍री' रूप अस्वीकृत ठहराया गया। संयुक्ताक्षरों की दृष्टि से 1953 और 1957 के सम्मेलनों के निर्णय ही स्वीकृत हुए।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग से प्रकाशित पुस्तकों में संयुक्ताक्षरों के स्थान पर हलन्त का और ह्रस्व 'इ' का प्रयोग दाईं ओर किन्तु 'ी' रूप में होने लगा था। किन्तु अब इनका प्रचार बन्द कर दिया गया है। उपर्युक्त अंतिम सुधार के बाद अब लिपि-सुधार-सम्बधी माँग मन्द पड़ गई है और एक प्रकार से परम्परा का ही पालन हो रहा है।

लिपि-सुधार : समीक्षा

'नागरी' में परिवर्त्तन करने का घोर आन्दोलन चल रहा है। व्यंजनों की भाँति स्वर की भी 'बारहखड़ी' चलाने का प्रयास हो रहा है—इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के स्थान पर भी अि, अी, अु, अू, अे, अै। बाल बुद्धि वालों के लिए चाहे यह सुगम हो पर है यह अत्यन्त अवैज्ञानिक विधान। अ, इ, उ तीनों स्वर भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रहना ही ठीक है। मात्रा वस्तुतः स्वर का प्रतीक या प्रतिनिधि होती है—क + इ = क् + ि = कि। स्पष्ट है कि 'ि' वस्तुतः 'इ' है। अतः अि = अ + ि = अ + इ = अइ याए। यदि कहिए कि 'ओ' में 'ो' की मात्रा क्यों लगी है, तो कहा जाएगा कि 'ओ' संयुक्त स्वर या सन्ध्यक्षर है, वह 'अ + उ' से मिलाकर बना है। अच्छा तो यही होता कि 'ओ' को व्यक्त करने के लिए कोई पृथक् चिह्न होता, जैसा ब्राह्मी के आरंभिक काल में था, पर ऐसा न करके संध्यक्षर के दोनों स्वरों (अ, उ) में से किसी एक का रूप लेकर 'ो' मात्रा उसके साथ लगाई गई; जैसे अब 'अ' में 'ो' लगाकर 'ओ' लिखते हैं वैसे ही पुराने हस्तलेखों में 'उ' मे 'ो' लगाकर 'उो' लिखते थे। 'ए' के भी दो रूप पाए जाते हैं; 'अ' में 'े' लगाकर 'अे' या 'इ' में 'े' लगाकर 'इे'। 'ए' में 'अ' और 'इ' का मेल है। 'ए' का वर्तमान रूपी ब्राह्मी के उस प्राचीन रूप से विकसित हुआ है जो त्रिकोण (△) था। 'ए' का प्रतिनिधि (े) है और ऐ का प्रतिनिधि (ै)। कुछ सुभीता हो सकता था यदि ए लिखा जाता 'ऐ' और ऐ 'ऐ'। क्योंकि जैसे 'ओ' में की मात्रा 'ो' निकालकर व्यंजन में लगाते हैं उसी प्रकार 'ऐ' से (े) और ऐं से (ै) मान लेते। ऐसा न होने पर 'ओ' और 'औ' की पद्धति पर 'अे' और 'अै' लिखा जा सकता है, जैसा हस्तलेखों में हुआ है। 'ए' का वर्त्तमान रूप जिलाए रखने की आवश्यकता है, नहीं तो तंत्र आदि के ग्रन्थों के त्रिकोण रूप से उसकी एकता न रहेगी।

व्यंजनों पर आइए। सुधारकों का कहना है कि नागरी में बहुत से वर्ण हो गए हैं इसलिए मुद्रायन्त्र (प्रेस) और छाप-यन्त्र (टाइप-राइटर) के सुभीते के लिए इन्हें कम करना चाहिए। उनकी दृष्टि में कुछ वर्ण भ्रामक भी हैं और कई संयुक्ताक्षरों के व्यर्थ ही स्वच्छन्द रूप हो गए हैं रोमन या अरबी-फारसी लिपि की भद्दी नकल पर जो 'ख' को 'क्ह' 'घ' को 'ग्ह' लिखना चाहते हैं उनकी बुद्धि तो अवश्य विलायती हो गई है। किसी परिवर्त्तन में परम्परा का विचार रखना ही बुद्धिमानी या वैज्ञानिकता हो सकती है, मनमानी नहीं। एक ही आँख से किसी का काम चल जाए तो क्या दो आँख वाले अपनी एक-एक आँख फोड़ लें। अतः ऐसों की बात पर विचार करना भी अविचार है। भ्रामक वर्णों में 'ख' और 'र' का नाम आता है। 'ख' का रूप 'र' और 'व' का मिला रूप-सा हो गया है। हिन्दी में तद्भव या संस्कृत के शब्दों

में 'ख' के 'र' 'व' समझे जाने की गुंजाइश नहीं हैं, अरबी-फारसी के शब्दों में ऐसा अवश्य हो सकता है, 'रवाना' को 'खाना' पढ़ा जा सकता है। पर प्रत्येक शब्द वाक्य में प्रयुक्त होकर कोई अर्थ भी व्यक्त करता है। आज तक हिन्दी में 'ख' और 'रव' की भ्रांति से कहाँ कठिनाई हुई ? 'र' का रूप 'रा' में भी दिखाई पड़ता है, अतः 'रा' को परिवर्तित करने की भी राय दी जा रही है। वस्तुतः सारे झगड़े की जड़ 'र' है। 'र' का व्यंजन रूप 'र' रेफ (ॅ) होकर वर्णों के मस्तक पर बैठता है। इसे भी भ्रामक कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि 'र' के रूप हिन्दी में दो हैं। उसका एक रूप 'कोणवत्' होता है जो प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है और कैथी, महाजनी आदि में चलता है। नागरी में वह रेफ और नीचे लगने वाले '्र' के रूप में बना है। संयुक्ताक्षरों में 'र' ऊपर रहकर रेफ होता है, जो पहले कोणवत् था पर अब गोल हो गया है। वर्णों के नीचे लगने पर उसकी दो रेखाओं में से एक व्यक्त रहती है और दूसरी वर्ण की खड़ी पाई में मिल जाती है। जहाँ मिलने का अवसर नहीं होता वहाँ वह अपने पूरे रूप में व्यक्त होता है। 'क्' में 'र' मिलकर 'क्र' होता है। इसमें वस्तुतः 'क्' के नीचे 'र' का रूप कोणवत् (‸) है, केवल एक रेखा ' ' मात्र नहीं। 'क' की खड़ी मध्यम रेखा में 'र' की दूसरी रेखा मिल गई है 'ट' में किसी खड़ी रेखा के न होने से 'र' अपने पूरे रूप में आता है—ट्र। अब यदि 'र' के स्थान पर उसका कोणवत् रूप '‸' हो जाए तो अन्यत्र 'र' रूप भ्रामक न माना जा सकेगा। नागरी में संयुक्त वर्णों में पहला वर्ण ऊपर और दूसरा नीचे लगता रहा है। छपाई के कारण उन्हें आगे-पीछे छापने लगे हैं। संयुक्त व्यंजनों में क्ष, त्र, ज्ञ विशेष ध्यान देने योग्य है। पहले वर्णमाला में ये अन्य व्यंजनों की भाँति पढ़ाए भी जाते थे। 'क्ष' 'क्+ष' से बना है। इसे 'क्ष' लिखा तो जा सकता है पर 'क्ष' और 'क्ष' के उच्चारण में भेद है। 'क्ष' से 'छ' इसी उच्चारण के कारण होता रहा है। तन्त्रों में इसके रूप का विशेष महत्त्व है, इसे भी ध्यान में रखना चाहिए। 'त्र' को 'त्र' भी लिख सकते हैं। मिलते समय 'त्' का रूप बेड़ी रेखा मात्र रह जाता है, जैसा दुहरे 'त्' (त्त) में। 'ज्ञ' में 'ज' और 'ञ्' का योग है। पर हिन्दी के उच्चारण के अनुसार उसे 'ज्ञ' लिखना ठीक न होगा। समष्टि में लिपि में बड़े-बड़े सुधार करना अवैज्ञानिक और अविचारित है। यह तो यन्त्रविद्याविशारदों का काम है कि वे इस लिपि के छापने का सरल मार्ग निकालने का प्रयत्न करें। बम्बई में 'खंड' और 'अखंड' अक्षर-पद्धति द्वारा काम लिया जाता है। 'खंड' में बहुत थोड़े खानों से ही काम निकल जाता है। उनके जोड़ने में अपेक्षाकृति समय अवश्य अधिक लगता है। स्मरण रखना चाहिए कि नागरी थोड़े में ही बहुत लिखा भी जा सकता है। जहाँ किसी विदेशी शब्द को लिखने में कई वर्णों का प्रयोग करना पड़ता है, वहाँ नागरी में, मात्राओं की योजना के कारण, थोड़े में ही काम हो जाता है। अँगरेजी 'थ' में सात वर्ण लिखने पड़ते हैं, नागरी में दो वर्ण और एक मात्रा ही। यह कहना ठीक नहीं कि नागरी में लिखने में देर होती है और अन्य लिपियों में बिना लेखनी उठाए लिखने से शीघ्रता होती है। नागरी में थोड़े में ही बहुत लिखा भी तो जा सकता है ? जो लिखा जाएगा वही पढ़ा भी तो जाएगा। फारसी लिपि की भाँति अटकलबाजी तो नहीं करनी होगी।

लिपी में सुधार हो जाने से पुराने छापे ग्रन्थों के लिए अलग लिपी जाननी पड़ेगी और नए ग्रन्थों के लिए अलग। 'नागरी' का व्यवहार संस्कृत के ग्रंथों में भी होता है, उन ग्रन्थों को पढ़ने में कठिनाई होने लगेगी। छात्रों के सिर पर बोझ बढ़ेगा।

इस प्रकार अनेक गौण उपद्रव भी खड़े होंगे जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। छापे के लिए नागरी वर्णों का जो माथा काटना चाहते हैं उन्हें गुजराती की भी ओर दृष्टि डालनी चाहिए, जिसमें वर्णों में शिरोरेखा नहीं लगती। वहाँ इससे कौन बहुत अन्तर पड़ गया है?

यह सभी जानते हैं कि नागरी का व्यवहार हिन्दी और संस्कृत के अतिरिक्त मराठी में भी होता है। पर मराठी के कई वर्णों का स्वच्छन्द विकास हुआ है। उत्तर में जो नागरी चलती है उसके वर्णों से मराठी के उन्हीं वर्णों के रूप में भिन्नता है। उत्तर भारत में भी मराठों के संसर्ग और छापेखानों में बम्बई से अक्षर (टाईप) मँगाने से नागरी के अक्षरों के स्थान पर मराठी के अक्षर व्यवहृत होने लगे हैं। कलकत्ता बम्बई से दूर पड़ता है, अतः वहाँ नागरी के अक्षर ज्यों-के-त्यों हैं। पर उत्तर प्रदेश और बिहार के छापेखानों में अब हिन्दी-नागरी और मराठी-नागरी के अक्षरों में विलक्षण मेल हो गया है। आरम्भ में यह बात नहीं थी। मराठी-नागरी या दक्षिणी नागरी के कुछ अक्षर ऐसे अवश्य हैं जिनके लिखने में हिन्दी-नागरी या उत्तरी नागरी के अक्षरों की अपेक्षा लाघव होता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उत्तरी नागरी में जिस रूप का विकास हुआ है वह मार ही डाला जाए। छपाई में और बच्चों को बारहखड़ी सिखाने में तो कोई बाधा नहीं है? जब एक ही पंक्ति में उत्तरी और दक्षिणी नागरी दोनों के अक्षर-छपाई में दिखाई पड़ता है तो एकरूपता न होने से आलस्य और अनवधानता का डंका पिटने लगता है। वैकल्पिक रूप में चाहे दक्षिणी नागरी के कुछ अक्षर भी हिन्दी में स्वीकृत कर लिए जाएँ पर काम से कम छापने में तो उनका व्यवहार न हो। जिन अक्षरों में स्पष्ट भिन्नता है वह ये हैं —

नागरी	अ	ऋ	छ	झ	ण	ल	श	क्ष
मराठी	अ	ऋ	छ	झ	ण	ल	श	क्ष

इनमें से अधिक व्यवहार अ, ण, ल और क्ष का होता है कुछ लोग यह भूल ही गए हैं कि नागरी (हिन्दी) का 'क्ष' मराठी के 'क्ष' से भिन्न होता है। वे मराठी वाले रूप को नागरी का और नागरी वाले रूप को मराठी का समझने लगे हैं। मिलावट में भी 'श् का जैसा रूप मराठी में होता है, हिन्दी में 'श्र' को छोड़कर, अन्यत्र नहीं होता। हिन्दी के 'विश्व' प्रश्न' आदि मराठी में 'विश्व, प्रश्न, आदि लिखे जाते हैं। अंको में भी भेद है। विशेषतः ५ ८, ९, के अंकों में। मराठी में इनके रूप ५, ८, ९ होते हैं।

वस्तुतः देवनागरी लिपि का विकास अपने स्वाभाविक रूप में हो रहा है, उसके विकास में अगर सुधारक आमूल परिवर्तन न करें तो अच्छा है।